CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लघुवासुदेवमननम्
एवम्
सिद्धान्तबिन्दुः

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—४३

श्रीवासुदेवयतीश्वरकृतं

लघुवासुदेवमननम्

पण्डित श्री थानेशचन्द्र उप्रेती कृत

हिन्दी भाषानुवाद

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृतः

सिद्धान्तबिन्दुः

सानुवाद

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराजके निर्देशानुसार

सम्पादित

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन,

वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४९/९,मिश्रपोखरा
वाराणसी २२१०१०

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द : १२१४
वैक्रमाब्द : २०५९
ख्रीष्टाब्द : २००२

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य :
120 रुपये मात्र

मुद्रक :
महीम पत्रन प्रा. लि.
5/161, सोंठ की मन्डी, आगरा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

भूमिका

मोक्षप्राप्तिकी औपनिषद साधना का प्रधान इतिकर्तव्य है विचार। मनुष्य स्वभावतः ही विचार करने में समर्थ प्राणी है। अपनी इस शक्ति के सदुपयोग से यह अद्वैतसाक्षात्कार द्वारा कैवल्य तक पा सकता है जबकि इसके दुरुपयोग से बहिर्मुखी अनात्मनिष्ठ होकर रेशमके कीड़े की तरह स्वयं अपने लिये ऐसे बन्धन बनाता चला जा सकता है जो इसके सर्वविध नाशके ही हेतु बनें। दृश्य जगत् पर किया विचार बाह्य प्रगति केलिये उपकारक है यह अधुनिक कालमें विज्ञान और तकनीक का विकास देखने वालों केलिये प्रत्यक्ष है। दृक् वस्तु पर विचार करने से आत्माकी पूर्णता का निरावरण संभव होता है जो पारमार्थिक नित्य आनंद का आविर्भाव करता है। अतीव अस्थायी तुच्छ मनोविनोद पाने में दुर्लभ मानव जीवन व्यतीत कर देना ही स्वयं से शत्रुताका बर्ताव करना है। स्वयं के प्रति बन्धुता का व्यवहार यही है कि अनन्त आनन्द पाने के उपाय किये जायें। इस दिशा में प्रवृत्तिका मूल है विचार। चित्तशुद्धि आदि केलिये भी कोई तभी प्रयास करेगा जब सांसारिक सुख-सुविधा आदि की असारता और इससे अतीत तत्त्व की विशेषता को समझे। अन्यथा, जगत् के अंदर ही विकास खोजता रहेगा, इससे परे केलिये कुछ करने को तैयार नहीं होगा। धर्मानुष्ठान तो संसार-अन्तःपाती फल ही देता है अतः धर्म-प्रवणता विचार की उतनी अपेक्षा नहीं करती जितनी अध्यात्मसाधना। अतीन्द्रिय हेतुफलभाव में श्रद्धा केलिये भी कुछ विचार चाहिये, इसलिये सर्वथा अविचारशील तो धर्म में भी निष्ठा नहीं रख पाता, यहाँ तक कि इहलोकमें भी अपनी ही हानि के कार्यों में संलग्न रहता है। वास्तविक सत्य के उद्देश्य से प्रतीयमान के सत्यत्वकी परीक्षा में वही लगेगा जो विचार करे तो उस परम सत्य को पाने केलिये अपरम सत्य को छोड़ना बिना गहन विचारपरता के असंभव है इसमें क्या कहना !

मनुष्यमें यद्यपि सोचना-समझना सहज है तथापि सूक्ष्म पदार्थों की ओर दृष्टि ले जा सकें यह सबके लिये स्वाभाविक नहीं, शिक्षासे ही वे उन वस्तुओं को ग्रहण कर पाते हैं। कोई समझा दे तब तो उन्हें वे तथ्य स्पष्ट, मान्य और स्वीकार्य भी हो जाते हैं पर स्वयमेव उन तत्त्वों पर वे चिन्तन करें, उनके बारे में कोई भावना या निश्चय रखें, उन्हें पानेका प्रयास करें इतनी सामर्थ्य नहीं होती। इसीलिये गुरुजनों की एवं सद्ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती है। जानकार विद्वान् समझाये तभी रहस्य पकड़ में आते हैं यह सामान्य पाकविद्या से लेकर ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त सभी ज्ञानों में अनुभवसिद्ध है। हर विद्वान् भी स्वयं इतना दक्ष नहीं होता कि सूक्ष्मतर विषयों को सिलसिलेवार व्यक्त कर सके। इसके लिये समर्थ आचार्यों ने अत्यन्त कृपा कर सद्ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनके सहारे गुरु उन वस्तुओं को हृदयंगम करा पाता है जिन्हें उसने अनुभव किया है। जिसने अनुभव ही नहीं किया वह तो ग्रंथों की सहायता से भी रहस्य नहीं खोल सकता, केवल शब्दार्थ बता सकता है। किन्तु अनुभव किया विद्वान् सद्ग्रन्थों के बताये ढंग से रहस्यों का अवश्य उद्घाटन कर देता है।

गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतिपादक साहित्य में प्रकरण-ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है। एक ओर जहाँ विषय-प्रवेश केलिये नवीन अध्येता के उपयोग की दृष्टिसे सरल-से-सरल अभिव्यक्ति वाले प्रकरणों की अनिवार्यता होती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है वहीं दूसरी ओर दार्शनिक विशिष्ट गुत्थियाँ सुलझाने और व्याख्याओं के परिष्कार केलिये भी प्रकरणों की ही आवश्यकता रहती है। वेदान्तसाहित्यमें प्रारंभसे ही आचार्यों ने दोनों प्रकारके ग्रंथ उपलब्ध कराये हैं जिनके व्यापक प्रयोगसे साधक हमेशा लाभ उठाते आये हैं और औपनिषद विचारों को समझकर उन पर स्वयं चिन्तन कर उन्हें तरह-तरह से पुनःपुनः अभिव्यक्त करते आये हैं। सारभूत बात एक ही होने पर भी विविध स्तरके साधकों को हृदयंगम हो सके इसलिये उसकी उपस्थापना अनेक प्रकारसे करनी पड़ती है। अत एव साम्प्रदायिक साहित्य समयानुसार परिवृद्ध होता रहता है। विचारक-समाजमें समादृत पद्धतियाँ बदलती रहती हैं इसलिये सामयिक विद्वान् अपने-अपने कालमें प्रचलित प्रक्रियाओं की भाषामें मूल सिद्धान्त प्रकट करते रहते हैं, तभी सत्यका सनातन प्रकाश बना रहता है। यदि केवल प्राचीन भाषामें, विचारप्रणालीमें ही बँधा रहे तो देश-कालके परिवर्तन से सत्य पहचानना कठिनतर होता जायेगा और कदाचित् उस प्रक्रिया की प्रधानता स्वयं ही सत्य को ढाँक लेगी। अनेक दर्शन आज इतिहासरूप में ही पढ़े जा रहे हैं जिसका प्रधान हेतु यही है कि उन्हें निरन्तर समसामयिक नहीं बनाया जाता रहा। शांकर दर्शन क्योंकि हमेशा जागरूकता से परमार्थ के अनुभव पर केन्द्रित रहा इसलिये प्रक्रियाके बंधनमें कभी नहीं फँसा; स्वयं उपनिषदों ने 'विगान' से यह मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस कारणसे आज तक अद्वैत दर्शन के मौलिक ग्रन्थ बन रहे हैं जो उपनिषदों के सिद्धांत को आधुनिक ढंगों से प्रकट कर वर्तमान अध्येताओं को भी उतना ही स्पष्ट अद्वैत समझा पा रहे हैं जितना पुरातन कालमें प्राचीन ग्रंथों ने समझाया।

प्रस्तुत संकलनमें पूर्वदर्शित दोनों प्रकार के ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि एकत्र किये गये हैं। प्रारंभिक जिज्ञासुओं केलिये **'लघुवासुदेवमननम्'** जितना उपयोगी है उतना ही परिष्कृत विचारकों केलिये **'सिद्धान्तबिन्दुः'**। प्रथम ग्रन्थ के रचयिता श्री वासुदेव यतीश्वर के बारे में किसी प्रकार की जानकारी दुर्लभ है। उनकी यह एक ही कृति प्रकाश में आयी है। इसमें उनकी अद्वैतनिष्ठा प्रतिपद प्रकट होती है और गम्भीरतर भावोंकी सरलतर अभिव्यक्ति स्पष्ट करती है कि उनके साक्षात्कार की प्रौढता अतीव गहन थी। दृष्टान्त-बाहुल्य, पुनःकथन आदि को इस प्रकार के प्रबंधों केलिये भूषण माना जाता है क्योंकि संश्लेष, परिमार्जन आदि के प्रयासमें दुरूहता बढ़ाना प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। सरलीकरण की प्रक्रिया में कदाचित् ऐसी भी व्याख्या हो जाती है जिसे न किसी संप्रदाय-प्रसिद्ध आचार्य ने व्यक्त किया है और न प्रतिवादियों के तर्कों के सम्मुख जिसकी रक्षा करना सरल होता है किन्तु प्रधान प्रमेय से अविरुद्ध होने के कारण और ग्रन्थाधिकारी को समझ आये इस प्रयोजन में सफल होने के कारण उस व्याख्या को समुचित मानना ही उचित प्रतीत होता है एवं उसका मान्य-प्रक्रियाओं के अनुसार कथंचित् नयन कर लेना ही शोभनीय होता है। 'मननम्' में ऐसे स्थल मिल सकते हैं, उनसे व्याख्येय तत्त्वकी महत्ता को ध्यानमें रखना चाहिये, व्याख्या-मात्र की बारीकी से परीक्षा में नहीं उलझना चाहिये क्योंकि उतनी सूक्ष्मता समझने वालों केलिये यह प्रकरण प्रवृत्त ही नहीं हो रहा। अद्वैत दर्शन में प्रवेश केलिये तथा थोड़ा-बहुत समझे हुए साधकों को विवेकाभ्यास केलिये 'लघुवासुदेवमननम्' अत्यन्त उपयोगी है इसमें संदेह नहीं। 'लघु'-पदसे इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि किसी बृहद् ग्रन्थका यह संक्षेपीकरण है। क्षिप्र और मनोज्ञ अर्थात् सुंदर लघु-शब्द के प्रसिद्ध अर्थ हैं अतः दार्शनिक जटिलताओं के विलम्बके बिना शीघ्र मनन कराने वाला होने से तथा मनोरम ढंगसे मनन कराने वाला होने से इस ग्रंथको 'लघु'-इस विशेषण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से युक्त किया है। दक्षिण भारत में वेदान्त के प्रारंभिक छात्रों में यह ग्रंथ प्रचलित रहा है, उत्तर में इसका प्रचार अभी कम ही है।

वर्तमान कालमें भारतीय जनता संस्कृतसे प्रायः विमुख होती जा रही है, फलतः पारम्परिक विद्याएँ भारतीयों के ही हाथों से निकलती जा रही हैं। आत्मकल्याण चाहने वाले भी देववाणी के अध्ययन को बोझ मानने लगे हैं जिससे अध्यात्मसाहित्य उनके लिये दुर्बोध हो गया है। यद्यपि संस्कृतके स्थानापन्न कोई भाषा हो सकती है यह मान्य नहीं तथापि जिज्ञासु यथाशक्ति अपने कल्याणमें लगे इसे संभव करने केलिये भाषान्तर-प्रयोग उचित और आज अनिवार्य है। 'लघुवासुदेवमननम्' का भी इसी उद्देश्य से अनुवाद पण्डितवर श्री थानेश चन्द्र उप्रेती द्वारा कराया गया है। साहित्य एवं दर्शन के प्रौढ मर्मज्ञ तथा अनेक ग्रंथों के अनुवादक व संपादक उप्रेती जी सफल अध्यापक भी रहे हैं। तीससे भी अधिक वर्षों से वे हमसे परिचित रहे हैं और देहली में श्रीविश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालयमें आज भी छात्रों को विद्यादानमें संलग्न हैं। मूल ग्रंथ जैसे सीधे-सादे अधिकारियों केलिये है वेसे ही अध्येताको ध्यानमें रखकर पण्डित जी ने ग्रन्थार्थ सुस्पष्ट किया है, दार्शनिक सूक्ष्मेक्षिकाओं से व्याख्या को बोझिल नहीं बनाया है। प्रौढ विद्वानों केलिये यह संयम अतिकठिन होता है पर उप्रेतीजी ने सफलतापूर्वक इसका निर्वाह किया है। टिप्पणों द्वारा आवश्यक प्रकाश डालकर सरलता ही बढ़ायी है, दुरूहता नहीं। मूल ग्रंथ को उपशीर्षकों में विभक्तकर संपादित करने से आधुनिक पाठकों का उपकार कर दिया है।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने दस श्लोकों में आत्मा की यथार्थता व्यक्त की जिस **दशश्लोकी** की गंभीरतासे अभिभूत हो आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने उसकी **'सिद्धान्तबिन्दुः'** नामक व्याख्या रची। प्रायः साढे चार सौ वर्ष पूर्व हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने दर्शन-जगत् में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। श्रीमद्भगवद्गीता पर 'गूढार्थदीपिका' तथा 'अद्वैतसिद्धि' आपकी कीर्ति की अमर पताकाएँ हैं। अत्यन्त परिष्कृत बात अतीव सुबोध बनाकर कहना आपकी विशेषता है। 'सिद्धान्तबिन्दुः' मधुसूदन सरस्वती की अतिगंभीर रचना है जिसके लिये उन्होंने स्वयं कहा है कि यह निबन्ध चिन्तामणि-सा है। अभीष्ट को तत्काल संपन्न करने वाली दिव्य मणि का नाम चिन्तामणि है। अद्वैत को तत्काल निरावृत करने में यह ग्रंथ भी सक्षम है। नव्यन्याय का सुप्रसिद्ध ग्रंथ भी चिन्तामणि है, उससे समानता बताकर ग्रंथकार ने स्पष्ट किया कि सिद्धान्तबिन्दु की प्रत्येक पंक्ति गहन शोध का निष्कर्ष है। अतः इसके अधिकारी सूचित करते हुए वे कहते हैं 'गुणिनां विनोदाय', विद्वानों को ही इस सद्ग्रन्थ से पूर्ण सन्तोष प्राप्त होगा। इसमें पर्याप्त प्रमाण है कि श्रीगौडब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'विचित्र रचना' करने केलिये सिद्धान्तबिन्दु की ही व्याख्या की ! यद्यपि प्रधानतः सिद्धान्तबिन्दु प्रौढ विचारकों केलिये है तथापि वेदान्त-प्रक्रियाओं में किञ्चित् प्रविष्ट साधकों केलिये इसका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। हर विषयमें इसके निष्कर्ष-वाक्य कण्ठाग्र रखने चाहिये क्योंकि वे ही दर्शनजगत् में समादृत निर्दुष्ट परिभाषायें हैं और अन्यान्य ग्रंथों का परिशीलन करते समय ये ही व्याख्यायें ग्रंथियाँ खोल देती हैं। अत एव इस रचना पर अनेक टीकाएँ हैं। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व अज्ञातनामा विद्वान् द्वारा कृतानुवाद यह ग्रन्थरत्न अच्युत-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ था जो अब सर्वथा दुर्लभ है। अन्य कोई हिंदी-अनुवाद दृष्टिगोचर नहीं हुआ। जिज्ञासुजनों के हितार्थ सिद्धान्तबिंदु का सटिप्पण अनुवाद सम्पादित कराया गया है जिसमें उक्त अनुवाद से अपार सहायता मिली।

शास्त्रीय ग्रंथ गुरु से पढ़ने चाहिये। अनुवाद केवल भाषागत व्यवधान हटाने केलिये होते हैं, विषयके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहस्य तो आचार्यसे ही समझने पड़ेंगे। जैसे अंग्रेज़ी का जानकार भूगोल, भौतिकी, रसायन आद विज्ञानोंके शोधपत्र पढ़े तो कुछ नहीं समझ पाता क्योंकि उसे उन विज्ञानों की प्रक्रियाओं के संस्कार ही नहीं हैं ऐसे ही शास्त्रीय ग्रंथों का अनुवाद पढ़कर स्वयमेव सारी बातें समझ आयेंगी यह आशा नहीं रखनी चाहिये। दार्शनिक शब्दावली लौकिक भाषा से पृथक्ता रखती है, संस्कृत साहित्यका भी जानकार संस्कृतमें ही लिखे दार्शनिक ग्रंथों का स्वयमेव सही अर्थ कर नहीं सकता यदि उस दर्शनको उसने समझा नहीं है। अतः गंभीर ग्रंथों के अनुवाद अध्येताकी सहायतार्थ होते हैं, अध्यापक के स्थानापन्न नहीं। इन्हें प्रयासपूर्वक प्रतिशब्द समझते हुए पढ़ना चाहिये तभी इनसे कोई लाभ होगा।

भगवान् उमारमण-रमारमण से प्रार्थना है कि इस संकलनके दोनों प्रकरणों का श्रवण-मनन कर सभी साधक मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ें।

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

श्रीशंकर मठ,
आबू
गीता जयन्ती २०५८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषयसूची

भूमिका	क
लघुवासुदेवमननम्	**१-१३८**
प्रथम वर्णक	**१-११**
मङ्गलाचरण	१
ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थ	२
अध्यारोप	३
माया, ईश्वर, कारणसृष्टि	४
सूक्ष्मसृष्टि	५
स्थूलसृष्टि	७
व्यष्टि-समष्टिभाव, त्रिमूर्ति	८
आवरण, तत्त्वज्ञान	९
अपवाद	१०
द्वितीय वर्णक	**१२-१५**
अनुबन्धचतुष्टय, साधनचतुष्टय	१२
गुरु-उपसत्ति	१४
तृतीय वर्णक	**१६-२०**
आत्मप्रपंच-अनात्मप्रपंच, एककी अनेकता	१६
जीव-ब्रह्मकी एकता	१८
चतुर्थ वर्णक	**२१-३१**
दुःखादि अनर्थपरंपरा, दुःख अस्वाभाविक	२१
दुःखहेतु है जन्म	२४
विवेकी-अविवेकी का निश्चय	२५
सशरीरता रहते दुःख	२६
चर्या आदि साधनों से चतुर्विध मुक्ति	२७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जन्महेतु है कर्म	२६
पंचम वर्णक	**३२-४७**
त्रिविध कर्म	३२
कर्तृत्व-विचार	३३
मानस आदि कर्म	३६
रागादि ही प्रेरक है	३६
आत्मा कराता भी नहीं	४०
पुण्यादि आत्माके नहीं	४२
प्रतिबन्धकत्रय	४३
वेदान्त-तात्पर्य-निर्णय	४४
सात अर्थवाद	४५
छठा वर्णक	**४८-६२**
रागादि विभिन्न वृत्तियाँ	४८
अभिमान	५०
अविवेक	५२
अज्ञान	५४
दुःखनिवृत्ति कैसे	५८
स्वरूपज्ञान, वृत्तिज्ञान, वृत्ति कर्म नहीं	५६
विचार	६१
सप्तम वर्णक	**६३-७३**
आत्मानात्मविवेक	६३
जीव-ईश्वर, समष्टि-उपाधिमें अभिमान-चर्चा	६४
त्रिमूर्ति	६५
एक परमात्मा	६६
सामानाधिकरण्यादि सम्बन्धत्रय	७०
लक्षणा	७१
तत्-त्वम् पदार्थ	७२
महावाक्यार्थ	७३
अष्टम वर्णक	**७४-६०**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीरत्रय	७४
क्रम-अक्रम सृष्टि	७६
सूक्ष्म-शरीर	७७
लक्षण का लक्षण	७६
इन्द्रियों के लक्षण	८०
प्राण	८३
अन्तःकरण, कारणशरीर	८४
आत्मा, विवेक	८५
नवम वर्णक	**६१-६८**
अवस्थात्रय	६१
अवस्था-साक्षी	६२
स्वप्रकाशता	६६
प्रमाण-चर्चा	६७
दशम वर्णक	**६६-१०८**
पाँच कोश	६६
कोशों से आत्माका विवेक	१००
सत् के प्रातिभासिकादि भेद	१०७
ग्यारहवाँ वर्णक	**१०६-१२४**
आत्मा का लक्षण, सत्त्व	१०६
चित्त्व	११४
आत्मा मनसे दृश्य नहीं	११७
आनन्दता	१२०
परोक्ष तत्त्वज्ञान, अपरोक्ष आत्मानुभव	१२३
बारहवाँ वर्णक	**१२५-१३८**
अखण्डार्थ-विचार	१२५
आत्माकी अखण्डता	१२६
अखण्डमें वाक्यप्रवृत्ति	१३०
अखण्डतामें युक्ति	१३३
अखण्डतानुभव	१३५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपदेशका सार १३६

सिद्धान्तबिन्दुः **१४०-२८२**

प्रथम श्लोक **१४०-२०५**

ग्रंथ-प्रयोजन १४०

आत्मतत्त्वमें प्रमाण १४१

पदार्थ १४२

लक्षणा १४३

अखण्ड निर्विकल्पक वाक्यार्थ १४४

जीवविषयक विवाद १४५

श्लोकार्थ १४६

संघातपरीक्षा १५०

आत्मा अपरिच्छिन्न १५३

सुषुप्तिमें आत्मा १५५

साक्षी १५७

प्रतिबिम्बन १५६

अध्यास पर आक्षेप १६५

समाधान १६८

अज्ञान १७३

अध्यास-क्रम १७७

अन्योन्याध्यास १७८

जीव-ईश्वर आदि व्यवस्था १८०

आभासवाद १८१

प्रतिबिम्बवाद १८३

अवच्छेदवाद १८५

एकजीववाद, दृष्टिसृष्टिवाद १८६

प्रक्रियाभेद का उपपादन १८८

प्रतिकर्म-व्यवस्था १६१

लौकिक ज्ञान की प्रक्रिया १६३

वृत्तिका उपयोग १६५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवरण-विचार	१६७
द्विविध कर्तृतादि पर शंका-समाधन	२०३
द्वितीय श्लोक	**२०५-६**
तृतीय श्लोक	**२०७-२०६**
सुषुप्ति	२०७
शून्यता नहीं	२०८
चतुर्थ श्लोक	**२१०-२१७**
तत्पदार्थविषयक विवाद	२१०
सांख्यमत का खण्डन	२१३
अन्य मतों का निरास	२१४
पञ्चम श्लोक	**२१८-२१६**
आत्मा व्यापक है	२१८
आत्मा चिदानंद है	२१६
छठा श्लोक	**२२०-२२१**
सातवाँ श्लोक	**२२१-२२३**
साधकता का उपपादन	२२१
आठवाँ श्लोक	**२२४-२७२**
जाग्रदादि अवस्थाओंका उपपादन	२२४
त्रिविध दृक्पदार्थ	२२५
त्रिविध ईश्वर	२२६
त्रिविध जीव	२२७
त्रिविध दृश्य	२२८
अव्याकृत	२२६
अमूर्त	२३१
मूर्त	२३४
पंचीकरण	२३५
लयक्रम	२३८
जागरणादि-व्यवस्था	२३६
स्वप्न का अधिष्ठान	२४३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुषुप्ति	२५२
परोक्ष भ्रम भी अविद्यावृत्ति	२५६
चार प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक	२६०
सुषुप्तिमें जीव	२६५
त्रिविध अवस्थात्रय	२६९
प्रणवार्थ	२७०
नवाँ श्लोक	**२७२-२७६**
आत्मा सुख है	२७५
दसवाँ श्लोक	**२७६-२८१**
एक नहीं, अनेक नहीं	२७७
अद्वैत	२७८
अविषय आत्मा	२७९
ग्रंथोपसंहार में मंगलाचरण	२८१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

लघुवासुदेवमननम्

प्रथमवर्णकम्

मङ्गलाचरणम्

सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय सदात्माद्वैतवेदिने।
श्रीमते शंकरार्याय वेदान्तगुरवे नमः।।१।।[1]
योऽवतीर्ण इहाचार्यरूपेण यतीनां मुदे।
श्रीमन्नारायणं वन्दे तं हरिं करुणानिधिम्।।२।।[2]
मननाख्यं प्रकरणं वासुदेवयतीश्वरैः।
रचितं विस्तरेणाद्य संग्रहेण प्रकाश्यते।।३।।[3]

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र (सभी शास्त्रों के पारङ्गत) सत् ब्रह्मसे प्रत्यगात्मा के अद्वैत को जानने वाले (सत् चित् व अद्वैतरूप जो आत्मतत्त्व है, उसको जानने वाले) वेदान्त शास्त्र के गुरु, श्री शंकराचार्य को मैं (वासुदेव यति) नमस्कार करता हूँ।।१।।

जो (भगवान् शंकराचार्य) यतियों की प्रसन्नता के लिए आचार्य रूप में इस संसार में अवतीर्ण हुए ऐसे करुणासागर, श्रीहरिस्वरूप श्रीमन्नारायण को मैं प्रणाम करता हूँ।।२।।

(श्रीमन्नारायणापरपर्याय) श्री वासुदेव यतीश्वर ने जिस बृहद्वासुदेवमननम् नामक वेदान्त विषयक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की, जो कि अत्यन्त विस्तृत है, उसी को मैं (वासुदेवयति) संक्षेप में प्रकाशित कर रहा हूँ।।३।।

---

१. ''ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयमिति शिष्टाचारः'' इस नियम के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ''श्री वासुदेव यतिवर'' अद्वैतवेदान्त के परमाचार्य श्री शंकराचार्य की प्रथमश्लोक द्वारा वन्दना कर रहे हैं।

२. द्वितीयश्लोक में जगद्गुरु का आचार्य रूप में अवतीर्ण होना, तथा करुणापूर्ण दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का उद्धार करना तथा उससे यतिवर्ग का संतोष होना सूचित होता है। इस द्वितीय पद्य में ''पञ्चमं लघु सर्वत्र'' इस छन्दः शास्त्र के नियमानुसार अनुष्टुप् छन्द में पाँचवाँ अक्षर लघु होना उचित है अतः ''यतीनाम्'' के स्थान पर ''यमिनाम्'' पाठ कर दिया जाय तो उच्चारण में सुविधा होगी।

३. तीसरे पद्य में ग्रन्थकर्ता ने बृहद्वासुदेवमननम् का संकेत किया है, जिसका ये संक्षेप कर रहे हैं। सम्भवतः इनके गुरु वासुदेव यतीश्वर हों, पर नाम में सन्देह होता है, क्योंकि गुरु-शिष्य का एक ही नाम प्रायः नहीं होता। या गुरु का नाम श्रीमन्नारायण था जिसका वासुदेव से अनुवाद किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बालानामुपकाराय मम विज्ञानसिद्धये।

तत्र श्रीबालगोपालकृष्णः सन्निहितो भवेत्।।४।।[1]

मोक्षः परमपुमर्थः

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां पुरुषार्थानां मध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थः, नित्यत्वात् "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते", (छा० ८।१५।१) इति श्रुतेः, इतरेषां त्रयाणां न तथात्वम्, अनित्यत्वात् "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा. ८।१।।६) इति श्रुतेः।

ज्ञानादेव मोक्षः

स च मोक्षो ब्रह्मज्ञानादेव सिद्ध्यति। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ६.५) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्तिरीय० २।१) इत्यादि-श्रुतिभ्यः।

तच्च ब्रह्म अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यम्। आरोपितनिवृत्त्यैवाधिष्ठानज्ञानोदयात्, "अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यस्तत्त्वनिर्णयः"। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" (कैवल्य. ३) इति वचनात्। तस्मान्मुमुक्षुणा अध्यारोपा-पवादाववश्यं ज्ञातव्यौ।

उक्त संक्षिप्त वेदान्त-प्रकरणग्रंथ के द्वारा वेदान्त शास्त्र के जिज्ञासु बालकों का उपकार होगा, और (मेरे) अपने ज्ञान की भी अभिवृद्धि होगी, अतः प्रकृत ग्रन्थलेखन कार्य में बालगोपाल भगवान् श्री कृष्ण मेरे साथ रहें (मेरे सहायक हों)।।४।।

इस संसार में धर्म अर्थ काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही नित्य होने से परमपुरुषार्थ है। इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि मुक्त पुरुष फिर इस संसार में नहीं आता। अन्य तीन पुरुषार्थ— धर्म, अर्थ, व काम, मोक्ष के समान नहीं हैं क्योंकि ये सब अनित्य हैं। इस विषय में भी छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि "जिस प्रकार यहाँ कर्म से प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पुण्योपार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है।"

वह मोक्ष ब्रह्मज्ञान से ही सम्पन्न होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि "उसी परमात्मा को जानकर संसार सागर से पार हो सकता है, और कोई गन्तव्य मार्ग नहीं है"। तैत्तिरीय श्रुति भी इसी बात का समर्थन करती है कि "ब्रह्मवेत्ता ही परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है।"

---

१. "लघुवासुदेवमननम्" नामक ग्रन्थ वेदान्त का एक प्रकरण ग्रन्थ है। लेखक ने अपने ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन चतुर्थ पद्य द्वारा बतलाया है, कि मैं कोमलमति बालकों के वेदान्त शास्त्रीय पदार्थों के ज्ञान के लिए तथा अपने भी तद्विषयक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए उक्त ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त का प्रारम्भिक प्रकरणग्रन्थ होने से, वेदान्त के जो अनुबन्ध अर्थात् विषय, संबंध, अधिकारी, प्रयोजन हैं, वे ही इसके भी अनुबन्ध होंगे। स्वयं ग्रन्थकार द्वितीय वर्णक में विस्तार से इसका वर्णन करेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यारोपः

तत्र अध्यारोपो[1] नाम—शुक्तिकायां रजतवत्, रज्जौ सर्पवत्, स्थाणौ पुरुषवत् च निष्प्रपञ्चात्मवस्तुनि प्रपञ्चारोपः। अयमध्यारोपो वस्त्वज्ञानादागतः। तदज्ञानमेवाविद्या तमो मोहो मूलप्रकृतिः प्रधानं गुणसाम्यमव्यक्तं मायेति चोच्यते।

ब्रह्मज्ञान से ही परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। वह ब्रह्मज्ञान अध्यारोप और अपवाद न्याय से हो सकता है। वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है, वस्तु परमार्थ सत् अर्थात सच्चिदानन्द ही है, उसमें अवस्तु संसार का आरोप करना अध्यारोप कहलाता है। और आरोपित का निषेध अपवाद है। जब अधिष्ठान का ज्ञान होता है अर्थात् अधिष्ठानभूत ब्रह्म में अज्ञानवश आरोपित जगत् का बाध हो जाता है, तब केवल सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप अधिष्ठान का प्रकाश होता है। इस प्रकार 'अध्यारोपापवाद न्याय' से तत्त्वज्ञान का निर्णय करना चाहिए।

तत्त्वज्ञान के विषय में कैवल्योपनिषद् में कहा है कि 'यह तत्त्वज्ञान रूपी अमृत, कर्म से, प्रजा से, और विपुल धन से भी प्राप्त नहीं होता है, इसे तो कुछ लोग केवल त्याग से ही प्राप्त किये हैं।' इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह सर्वप्रथम अध्यारोप और अपवाद का ज्ञान अवश्य करे।

किसी वस्तु में (उसी के समान) अन्य वस्तु के आरोप को अर्थात् भ्रम को अध्यारोप कहते हैं। जैसे शुक्तिका में रजत का आरोप, रज्जु में सर्प का आरोप, स्थाणु (खूँटे) में पुरुष का आरोप, निष्प्रपञ्च आत्मवस्तु में प्रपञ्च (संसार) का आरोप। यह वस्तु में अवस्तु का आरोप (अधिष्ठान वस्तु के) अज्ञान से होता है। इस (अधिष्ठान वस्तु के) अज्ञान को ही अविद्या, तम, मोह, मूलप्रकृति, प्रधान, गुणसाम्य, अव्यक्त व माया कहते हैं।

यह मूल प्रकृति, या माया, सफेद, लाल व काले तन्तुओं के समुदाय से बनी हुई रस्सी की तरह, सत्त्व-रज-तमो गुणों का समुदायरूप है, (अर्थात् सत्त्व रज व तमोगुणों की साम्यावस्था प्रकृति है)। प्रलय इसकी महासुषुप्ति है, प्रलयकाल में इस मूल प्रकृति में अनन्त कोटि जीव अपने-अपने कर्मों की वासनाओं के साथ जतुपिण्ड (लाहा) में सुवर्ण कणों की तरह लीन रहते हैं। सभी लोगों को यह अनुभव सुषुप्ति अवस्था में होता है।

---

१. अध्यारोप—अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी सर्प की तरह दिखाई देती है। उस समय देखने वाले का रस्सी का जो अज्ञान है वह सर्परूप में परिणत हो जाता है इसी से भय कम्पादि उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु लालटेन या टॉर्च से भली भांति देख लेने पर वह रज्जु-विषयक अज्ञान दूर हो जाता है, तब सर्प का भ्रम भी निवृत्त हो जाता है। प्रथम ज्ञान रस्सी में सर्प का भ्रमरूप था, यह अध्यारोप है। द्वितीय ज्ञान रस्सी में 'यह रस्सी ही है सर्प नहीं है' यह सम्यक् ज्ञान है। इसको अपवाद कहते हैं। इसी प्रकार इस स्वयंप्रकाश स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में अज्ञानवश यह सम्पूर्ण चराचर संसार आरोपित है, प्रतीत होता है। वेदान्तादि शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान से परमात्मा रुपी वस्तु का भलीभांति ज्ञान हो जाने पर, अवस्तुरूप आपाततः प्रतीत यह जो संसार है इसका भ्रम मिट जाता है, अर्थात् भ्रमवश प्रतीत हुआ यह संसार सम्यक् ज्ञान से कपूर की तरह विलीन हो जाता। ऐसे ज्ञानी के लिए फिर यह सब दृश्यमान जगत् सच्चिदानन्दघन के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता है। इसी अध्यारोपापवाद न्याय से गुरु शिष्य को वेदान्त का उपदेश देता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माया

मूलप्रकृतिर्नाम शुक्लरक्तकृष्णतन्तुसमुदायरूपरज्जुवत्, सत्त्वरजस्तमोगुणसमुदायरूपा। अस्याः प्रलयो महासुषुप्तिश्च नाम। अस्यां मूलप्रकृतावनन्तकोटिजीवाः स्वस्वकर्मवासनाभिः सह, जतुपिण्डे सुवर्णरेणव इव सृष्टेःपूर्वं लीना वर्तन्ते। अयमनुभवः सकलजनानां सुषुप्त्यवस्थायामस्ति। सा मूलप्रकृतिः सृष्टिकाले परिपक्वजीवकर्मवशाद् मायाऽविद्या तामसीति त्रिविधा जाता।

ईश्वरः

तत्र माया विशुद्धसत्त्वप्रधाना, तत्र प्रतिबिम्बितं सत् सृष्टेः पूर्वं विद्यमानं ब्रह्म चैतन्यमीश्वर इत्युच्यते। तस्याव्याकृतोऽन्तर्यामीति च नाम, स एव जगत्स्रष्टा, स एव परिपूर्णं ब्रह्मचैतन्यम्। तदेव तामस्यवच्छिन्नं सत् जगदुपादानमपि भवति। तन्तोरूर्णनाभवत् स्वोपाधिप्राधान्येनोपादानकारणं, स्वप्राधान्येन निमित्तकारणम्।

कारणसृष्टिः

अयमीश्वरः केन प्रकारेण जगत् सृष्टवानिति चेद्? उच्यते—पूर्वोक्ताऽविद्या रजः-प्रधाना बहुप्रकाराऽनन्ता, तदविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपा जीवा अप्यनन्ताः। अनयो-

यह मूलप्रकृति पुनः सृष्टि के समय लोगों के कर्मों के परिपाकवश अर्थात् जब लोगों के कर्म फलोन्मुख होते हैं तब यह प्रकृति भी माया, अविद्या व तमस् भेद से तीन प्रकार की हो जाती है।

उस त्रिविध मूल प्रकृति में—विशुद्धसत्त्व प्रधान माया है, अर्थात् वहाँ रज व तम का अभिभव कर सत्त्व प्रधानतया वर्तमान है। इसी सत्त्वप्रधाना माया में प्रतिफलित, सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान, जो ब्रह्मचैतन्य है, उसी को ईश्वर, अव्याकृत व अन्तर्यामी कहते हैं। वही जगत् का कर्त्ता है, वही जब निरवच्छिन्न या स्वरूपस्थित रहता है, तब पूर्ण, ब्रह्म, चैतन्य, या तुरीयचैतन्य आदि शब्दों से कहा जाता है।

यही चैतन्य जब तमोगुणप्रधान प्रकृति में प्रतिफलित होता है तब सृष्टिकाल में जगत् का उपादान कारण भी होता है। मकड़ी की तरह, अपने तमोगुणरूप उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण और चैतन्य की प्रधानता से निमित्त कारण बनता है।

विशुद्ध सत्त्वप्रधान माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जगत् की रचना करता है, यह पहिले कह चुके हैं। अब यह मायाप्रतिबिम्बित ईश्वर किस प्रकार संसार की सृष्टि करता है इसे बतला रहे हैं—त्रिविधा प्रकृति में पूर्वोक्त जो अविद्यारूपा रजोगुणप्रधाना प्रकृति या अविद्या है, वह अनेक प्रकार की और अनन्त है। इस अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव भी अनन्त ही हैं। इन जीवों और ईश्वर में क्रमशः अविद्या जीव का व्यष्टिगत कारण शरीर है और मूलप्रकृति या माया ईश्वर का समष्टिगत कारण शरीर है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवेश्वरयोर्व्यष्टिरूपाऽविद्या समष्टिरूपा मूलप्रकृतिश्च क्रमेण कारणशरीरे। तयोः कारणशरीरस्य चावस्थानं सुषुप्त्यवस्था, तयोः स्वस्वकारणशरीरमेवानन्दमयकोशः। एवं कारणप्रपञ्चसृष्टिः।।[1]

सूक्ष्मसृष्टिः

अथ सूक्ष्मप्रपञ्चसृष्टिरुच्यते ईश्वरस्येक्षणवशात्तमोगुणरूपा प्रकृतिरावरण-शक्तिर्विक्षेपशक्तिरिति द्विविधा जाता। तत्र विक्षेपशक्तिरेव[2] सूक्ष्म आकाशोऽभवत्।

इन जीव और ईश्वर के कारणशरीर का लय (लीन होना) सषुप्ति अवस्था है (अर्थात् सृष्टि से पूर्व प्रलय काल में समस्त प्रपञ्च अपने-अपने समष्टि-व्यष्टि रूप से कारण शरीर में लीन हो जाते हैं यही सुषुप्ति है)। इन ईश्वर व जीव का कारण शरीर ही आनन्दमय कोश है। इस प्रकार कारण प्रपञ्च की सृष्टि होती है।

जीवेश्वर के कारण शरीर के वर्णन के बाद अब सूक्ष्मप्रपञ्च की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—ईश्वर के ईक्षणवश (अर्थात् जगत्सर्जनेच्छावश) तमोगुणप्रधाना जो मूलप्रकृति है, उसकी आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं। इनमें विक्षेपशक्ति द्वारा आकाश की उत्पत्ति हुई फिर क्रमशः आकाश से वायु, वायु से

---

१. यह कारण प्रपञ्च की रचना अज्ञान अविद्या या माया के आधार पर अवलम्बित है। पहिले बता चुके हैं कि विशुद्ध सत्त्वप्रधान माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है, और रजोगुण तमोगुण की अधिकता से मलिनसत्त्व वाली अविद्या में प्रतिबिम्वित चैतन्य जीव या प्राज्ञ कहलाता है। यद्यपि चैतन्य उभयगत है तथापि माया व अविद्या उपाधि के निर्मलता व मलिनता के भेद से उपहित होने से ईश्वर व जीव में भी भेद है। वही माया व अविद्या रूप अज्ञान फिर समष्टि व व्यष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है अर्थात् अज्ञान समुदाय रूप में एक है, तो विभाग रूप में (अलग अलग रूप से) अनेक भी है। जैसे भिन्न भिन्न प्रकार से बहुत से वृक्षों के समुदाय को वन कहते हैं, यह वृक्षों की समष्टि है और व्यष्टि अभिप्राय से अर्थात् विभाग दृष्टि से अलग अलग इकाई में आम्र इत्यादि वृक्ष कहते हैं, यह वृक्षों की व्यष्टि हैं। इसी प्रकार समष्टि, समस्त अज्ञान का अवभासक ईश्वर है तो पृथक् पृथक्, अलग-अलग व्यष्टि अज्ञानों का अवभासक जीव है। ये समष्टि-व्यष्टि अज्ञानों के अवभासक ईश्वर व जीव प्रलयावस्था में जब अपने-अपने कारण शरीर में रहते हैं तब चैतन्य-प्रदीप्त वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं, इसलिए इसी को आनन्दमय कोश भी कहा जाता है।

२. ईश्वर की जो तमोगुणप्रधाना प्रकृति है वही मूलाविद्या या अज्ञान है। जब इसमें चिच्छायापत्ति होती है, अर्थात् चैतन्य प्रतिफलित होता है, तब यही जगत् का उपादान कारण बनती है, यही ईश्वर का ईक्षण या जगत्सर्जनेच्छा है। सृष्टि के समय इस अज्ञान या तमोगुणप्रधान माया की विक्षेप शक्ति कार्य करती है। यह पहिले कह चुके हैं कि इस माया या अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं, आवरणशक्ति व विक्षेपशक्ति। विक्षेपशक्ति ब्रह्माण्ड से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त नाम-रूपात्मक प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। यह सारे प्रपञ्च को उसी प्रकार उत्पन्न कर देती है जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी में अज्ञान से सर्प की भ्रान्ति होती है।

आवरण शक्ति प्रमाता के ज्ञान को ढक देती है। जिस प्रकार अज्ञान ने रज्जुविषयक ज्ञान को ढक दिया इसी प्रकार यह सच्चिदानन्द ही सब कुछ है, परन्तु आवरण शक्ति इस ज्ञान के ऊपर पर्दा डाल देती है और विक्षेपशक्ति प्रपञ्च की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति जो अज्ञान है, इसी से आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्च भूतों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां सूक्ष्मभूतान्य-पञ्चीकृतानि तन्मात्राणि चेति नाम। एतेषामपि सत्त्वरजस्तमोगुणाः कारणादज्ञानादागताः सन्ति।

एतेषामाकाशादीनां पृथक् पृथक् सत्त्वगुणांशाच्छ्रोत्रं त्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि क्रमेण जातानि। आकाशादिसत्त्वसमष्ट्याऽन्तःकरणं जातम्। तच्च मनोबुद्ध्यहंकारचित्तभेदेन चतुर्विधम्। तत्र बुद्धावहंकारस्य, मनसि चित्तस्य चान्तर्भावः।

अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। ये अपञ्चीकृत आकाशादि सूक्ष्म पञ्चभूत ही तन्मात्रा कही जाती हैं।

ये जो सूक्ष्म भूत (रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श) पञ्च तन्मात्रायें हैं, ये भी सत्त्व रज व तमो गुणात्मिका हैं। क्यों कि यह नियम है कि कारण के गुण कार्य में आते हैं, अतः त्रिगुणात्मक कारणरूप अज्ञान के कार्यभूत ये तन्मात्रायें भी त्रिगुणात्मक ही हैं।

इन त्रिगुणात्मक आकाशादियों के पृथक् पृथक् सत्त्वांशों से, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की क्रमशः उत्पत्ति होती है।

आकाशादि पञ्च भूतों के समुदाय के सात्त्विक अंशों से अन्तः करण की उत्पत्ति होती है, अर्थात् यह अन्तःकरण अपञ्चीकृत पञ्च भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य है। यह अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के भेद से चार प्रकार का है। इनमें अहंकार का अन्तर्भाव बुद्धि में हो जाता है और चित्त का अन्तर्भाव मन में हो जाता है।

इसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाशादि भूतों के रजोगुण से वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, व पायु—इन पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आकाशादि भूतों के रजोगुण के समुदाय से प्राण की उत्पत्ति होती है, यह प्राण—प्राण, अपान, व्यान, उदान, व समान के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

की उत्पत्ति होती है, अन्य दर्शनों में जिन्हें तन्मात्रा कहा है। ये तन्मात्रायें पाँच हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के भेद से। ये भी त्रिगुणात्मक ही हैं। इनके सात्त्विक अंशों से श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि सत्त्व प्रकाशक है, इसलिए सत्त्व के कार्यभूत ये ज्ञानेन्द्रियाँ भी प्रकाशशील हैं, जो कि आलोचनादि तत्तत् कार्य करती हैं।

इन्हीं पञ्च तन्मात्राओं के सत्त्व के समष्टि से अन्तःकरण की भी उत्पत्ति होती है। कोई दार्शनिक इसे त्रिविध मानते हैं, कोई चतुर्विध। यहाँ मन व बुद्धि के भेद से दो प्रकार का ही अन्तःकरण बतलाया है। बुद्धि में अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है, और मन में चित्त का। कुछ लोग एक ही अन्तःकरण की तत्तत् कार्यवश तत्तत् संज्ञा कर देते हैं, जैसे एक राम जब पढ़ाता है तब उसे पाठक जब पकाता है तब पाचक, और जब माँगता है, तब उसे याचक कहते हैं, इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण का संशयात्मक वृत्ति में मन, निश्चयात्मक वृत्ति में बुद्धि, चिन्तनात्मक वृत्ति में चित्त, और गर्वात्मक वृत्ति में अहंकार नाम से व्यवहार होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमाकाशादिरजोगुणाद् वाक्पाणिपादोपस्थपायव इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि जातानि। आकाशादिरजोगुणसमष्ट्या प्राणो जातः स च प्राणापानव्यानोदानसमानभेदेन पञ्चविधः।

एतज्ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, प्राणपञ्चकं, मनो, बुद्धिश्चैकी भूय सप्तदशात्मकं सूक्ष्मशरीरं लिङ्गाख्यमुच्यते। इदमेव भोगसाधनम्। अस्मिन् सूक्ष्मशरीरे जीवेश्वरयोरवस्थितिः स्वप्नावस्था। अस्मिन् विज्ञानमयकोशो मनोमयकोशः प्राणमयकोशश्च सन्ति, एवं सूक्ष्मसृष्टिप्रकारः।।

स्थूलसृष्टिः

अथ स्थूलसृष्टिप्रकार उच्यते— अथ तमोगुणप्रधानानि अपञ्चीकृतान्याकाशादीनि पञ्चापि भूतानि प्रत्येकं द्विधा विभज्य तथैकैकमर्धं चतुर्धा विभज्य, स्वार्धभागं विहायेतरभूतार्धभागेषु संयोजनं पञ्चीकरणम्।[1]

एवं कृते पञ्चापि पञ्चीकृतानि भवन्ति, एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो ब्रह्माण्डं तदन्तश्चतुर्दश भुवनानि, तेषु चाण्डजजरायुजस्वेदजोद्भिज्जरूपचतुर्विधस्थूलशरीराण्यन्नादि-भोग्यवस्तूनि च जातानि। अस्मिन् स्थूलशरीरे जीवेश्वरयोरवस्थानं जाग्रदवस्था। इदं स्थूलमेवान्नमयकोशः, एवं स्थूलसृष्टिप्रकारः।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन व बुद्धि, इन सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्मशरीर बनता है जिसे लिङ्गशरीर भी कहते हैं। यही सूक्ष्मशरीर सुखदुःखादि के भोग का साधन है। इस सूक्ष्मशरीर में जीव व ईश्वर की स्थिति ही स्वप्नावस्था है। इसी में विज्ञानमय, मनोमय व प्राणमय कोश भी हैं। इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टि का वर्णन है।

अब सूक्ष्मसृष्टि की उत्पत्ति बताने के बाद स्थूलसृष्टि का प्रकार बतलाया जाता है— यह पहिले भी कह चुके हैं कि तमोगुणप्रधाना जो प्रकृति है, उससे आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्च भूत उत्पन्न हुए। इन आकाशादि अपञ्चीकृत प्रत्येक पञ्चभूतों के दो-दो विभाग करके, उनमें से एक-एक आधे भाग के पुनः चार-चार भाग करके, अपने आधे भाग को छोड़कर अन्य भूतों के आधे भागों में, उस (आधे भाग के चतुर्थ) भाग को मिला देने से प्रत्येक भूत में पाँचों हिस्से आ जाते हैं, यही पञ्चीकरण है।

इस प्रकार एक-एक भूत में अपने से पृथक् चारों भूतों का अष्टमांश होने से ये पाँचों (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी) भूत पञ्चीकृत हो जाते हैं अर्थात् पहिले जो अपञ्चीकृत थे, पुनः वे अन्य भूतों के अष्टमांशों के मिला देने से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हो जाते हैं। इन्हीं पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत चतुर्दश भुवन, और उन भुवनों में अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज रूप चार प्रकार के शरीर व उनके भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

१- पञ्चीकरण प्रक्रिया के विषय में पञ्चदशी में यह प्रसिद्ध पद्य है "द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर-द्वितीयांशैः योजनात् पञ्च पञ्च ते।।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यष्टिसमष्टिभावः

इदं कारणशरीरं सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरं च प्रत्येकं व्यष्टिसमष्टिभेदेन द्विविधम्। 'वनम्', 'ग्रामः', इत्यादि समष्टिः, 'वृक्षः', 'गृहम्' इत्यादि व्यष्टिः। एवं सर्वशरीरं समष्टिः एकशरीरं व्यष्टिः। तत्र समष्ट्युपाधिक ईश्वरः, व्यष्ट्युपाधिको जीवः। तत्रापि कारणसमष्ट्येश्वरः, कारणव्यष्ट्या जीवः। सूक्ष्मसमष्ट्या हिरण्यगर्भः, सूक्ष्मव्यष्ट्या तैजसः। स्थूलसमष्ट्या वैश्वानरः, स्थूलव्यष्ट्या विश्वः। इति जीवेश्वरयोरवान्तरभेदः।।

त्रिमूर्तिः

अयमेवेश्वरः सत्त्वरजस्तमोगुणैरुपाधिभिर्ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण सृष्टिस्थितिसंहारान् करोति। ब्रह्मणो विराट्पुरुषेऽन्तर्भावः। विष्णोःहिरण्यगर्भेऽन्तर्भावः। रुद्रस्य चेश्वरेऽन्तर्भावः।

इस स्थूल शरीर में जीव व ईश्वर की स्थिति होने से, यह जाग्रत् अवस्था है, अन्न की प्रचुरता के कारण अथवा अन्न से ही पुष्ट होने से अन्नमय कोश है। इस प्रकार स्थूलसृष्टि की रचना होती है।

ये कारणशरीर सूक्ष्मशरीर व स्थूल शरीर (अपने में) समष्टि व व्यष्टि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जैसे वृक्षों के समष्टि के अभिप्राय से 'वन' यह व्यवहार होता है, और परिवारों की समष्टि के अभिप्राय से 'ग्राम' यह व्यवहार होता है और वृक्षों की व्यष्टि (इकाई) के अभिप्राय से (आम्र, खदिर) वृक्ष इत्यादि व्यवहार और परिवारों की व्यष्टि (एकत्व) के अभिप्राय से 'गृह' (एक परिवार) यह व्यवहार होता है इसी प्रकार सूक्ष्म व स्थूल सभी शरीरों का संघात समष्टि है और इनकी इकाई (एकत्व) व्यष्टि है। समष्टि उपाधि वाला ईश्वर है और व्यष्टि उपाधि वाला जीव है।

इन तीन प्रकार के शरीरों में भी, समस्त कारण शरीरों की उपाधि वाला ईश्वर है, अर्थात् कारण शरीरों की समष्टि का अभिमानी देव ईश्वर है, और कारण शरीर की व्यष्टि का अभिमानी प्राज्ञ है, अर्थात् एक ही शरीर की उपाधि वाला प्राज्ञ है। अथवा ईश्वर कारण रूप समस्त अज्ञान का अवभासक है तो प्राज्ञ कारण रूप एक ही अज्ञान का अवभासक है।

इसी प्रकार सूक्ष्मशरीरों की समष्टि का अभिमानी हिरण्यगर्भ है, और सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि का अभिमानी तैजस है। स्थूल शरीर की समष्टि का अभिमानी वैश्वानर है, तो स्थूलशरीर की व्यष्टि का अभिमानी विश्व है। इस प्रकार यह जीव व ईश्वर का अवान्तर भेद है।

यही कारणरूप समष्टि अज्ञान का अवभासक ईश्वर, (अथवा मायोपाधिक ईश्वर) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुत्यर्थानुसार अपने उपाधिभूत सत्त्व रज व तमो गुणों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र रूप से, सृष्टि स्थिति संहार रूप कार्य करते हैं, अर्थात् रजोगुणप्रधान उपाधि वाले ब्रह्मा सृष्टिरूपी कार्य करते हैं, और सत्त्वगुणप्रधान विष्णु स्थिति अर्थात् जगत्-पालनरूपी कार्य करते हैं और तमोगुणप्रधान रुद्र जगत्-संहार रूप कार्य करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं प्रपञ्चोत्पत्तिः। अयमेवाध्यारोपः। इदं विक्षेपशक्तिकार्यम्।

आवरणम्

अथावरणशक्तिकार्यमुच्यते—ईश्वरमात्मज्ञानिनं च विहायान्येषां सर्वेषां जीवानां पञ्चकोशानामात्मनश्च भेदमावरणशक्तिरन्धकार इवावृणोति। आवरणञ्च द्विविधम्—असत्त्वावरणम्, अभानावरणं चेति। "वस्तु नास्ति" इति व्यवहारकारणमसत्त्वावरणम्। "वस्तु न भाति" इति व्यवहारकारणमभानावरणम्। आवरणशक्तिकार्यमेव संसारवृक्षस्य मूलम्, न विक्षेपशक्तिकार्यम् एतन्मोक्षसिद्धेरपि हेतुः।

तत्त्वज्ञानम्

द्विविधमपि आवरणं तत्त्वज्ञानेन विनाश्यम्। तत्त्वज्ञानं च परोक्षज्ञानमपरोक्षज्ञानं चेति द्विविधम्। तत्र गुरुमुखाद् वेदान्तजन्यं ज्ञानं परोक्षज्ञानम्। इदमेव श्रवणम्, अनेन "वस्तु नास्ति" इत्येवं रूपमसत्त्वावरणं नश्यति, तदा "वस्त्वस्ति" इति व्यवह्रियते।।

यहाँ प्रस्तुत वेदान्त शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार ब्रह्मा का विराट् पुरुष में अन्तर्भाव होता है, विष्णु का हिरण्यगर्भ में, और रुद्र का ईश्वर में अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा वस्तु में अवस्तुरूप इस प्रपञ्च का आभास ही अध्यारोप है। यह सब विक्षेप शक्ति का कार्य है।

अब आवरण शक्ति के कार्य का वर्णन करते हैं। यह आवरण शक्ति ईश्वर व आत्मज्ञानी को छोड़कर अन्य सभी जीवों के लिये पञ्चकोशों से आत्मा के भेद का, अन्धकार की तरह आच्छादन कर देती है।

यह आवरण शक्ति भी दो प्रकार की होती है—असत्त्वावरण व अभानावरण। किसी (सत्य) वस्तु का निषेधात्मक व्यवहार असत्त्वावरण है, जैसे—अमुक वस्तु नहीं है, इत्यादि। जिसकी असत्ता नहीं उसकी असत्ता का आपादन कराने वाले को असत्त्वावरण कहते हैं। किसी (विद्यमान) वस्तु की प्रतीति न होना, यह अभानावरण है। यह आवरण शक्ति ही इस संसार वृक्ष का मूल है, न कि विक्षेपशक्ति क्योंकि वह तो मोक्षसिद्धि का हेतु भी है।

यह दोनों प्रकार का आवरण तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट होता है। यह तत्त्वज्ञान भी परोक्षज्ञान व अपरोक्षज्ञान भेद से दो प्रकार का है। गुरुमुख से वेदान्तशास्त्र के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान को परोक्षज्ञान कहते हैं। इसीको "श्रवण" भी कहते हैं।

आवरण शक्ति द्वारा वस्तु के विषय में जो 'सच्चिदानन्द रूप वस्तु नहीं है' इत्याकारक असत्त्वापादन है, उसे वेदान्तोपदेशरूप यह श्रवण नष्ट कर देता है। तब (अज्ञानावरण के हट जाने से) 'सच्चिदानन्द रूप वस्तु' है ऐसा व्यवहार होता है।

गुरुमुख से वेदान्त के श्रवण से (ब्रह्मविषयक) संशय नष्ट हो जाता है, मनन से असम्भावना नष्ट हो जाती है, और निदिध्यासन से विपरीतभावना निवृत्त होकर देहात्मज्ञान की तरह ब्रह्मात्मविषयक अपरोक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रवणेन संशयं, मननेनासम्भावनां, निदिध्यासनेन विपरीतभावनां च निवर्त्य देहात्मज्ञानवद् ब्रह्मात्मज्ञानं जायमानमपरोक्षज्ञानम्, अनेन ''वस्तु न भाति'' इति व्यवहार-हेतुरभानावरणं नश्यति। एवं परोक्षज्ञानेन[1] च ''ब्रह्म नास्ति न भाति'' इति व्यवहार-हेतुरावरणद्वयमपि नश्यति। तदाऽनर्थनिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च भवतः। इति सप्तावस्थाः सिद्ध्यन्ति।

सप्तावस्था नाम—

''अज्ञानमावृतिस्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकहतिस्तृप्तिर्निरंकुशा'' (प. द. ७।३३) इति।

एवमाकाशवन्निर्मले चैतन्यवस्तुनि मिथ्याभूतप्रपञ्चकल्पनमध्यारोपः।।

अपवादः

अथापवाद उच्यते—''कारणव्यतिरेकेण कार्यं नास्ति'' इति बोधेन शुक्तिकायां रजतवद् रज्जौ सर्पवच्च ''ब्रह्मणि प्रपञ्चो नास्ति'' इति निषेधोऽपवादः।

ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उक्त ज्ञान से ''वस्तु नहीं भासती'' इत्यादि व्यवहार का कारणीभूत जो अभानावरण है वह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार[2] (वेदान्तादि के श्रवण आदि) परोक्ष ज्ञान से तथा मनन निदिध्यासनादि उपाय से प्राप्त अपरोक्षज्ञान से ''ब्रह्म नास्ति'' और ''न भाति'' इत्यादि के व्यवहार में कारणीभूत असत्त्वापादनरूप व अभानापादनरूप दोनों आवरण नष्ट हो जाते हैं।

अज्ञानजन्य दोनों आवरणों के नष्ट हो जाने पर, समस्त अनर्थ की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ब्रह्मजिज्ञासु की सात अवस्थायें सिद्ध होती हैं, क्रमशः जिनका निर्देश इस प्रकार है—अज्ञान (१), (अज्ञान की दो शक्तियाँ) आवरण शक्ति (२) व विक्षेप शक्ति (३), (गुरुमुख से वेदान्त श्रवणरूप) परोक्षज्ञान (४), (ततः मनननिदिध्यासनजन्य) अपरोक्षज्ञान (५), (मिथ्याज्ञाननिवृत्तिरूप) शोकनिवृत्ति (६), निःसीम आनन्दावाप्ति (७)। इस प्रकार आकाश के समान स्वच्छ चिदानन्द वस्तु में (अवस्तुरूप) मिथ्याभूत प्रपंच का आरोप ही अध्यारोप है।

अब अपवाद के विषय में कहते हैं— कारण के अतिरिक्त कार्य की कोई खास सत्ता नहीं है, जैसे शुक्तिका में रजत मिथ्या है और रज्जु में सर्प मिथ्या है, अर्थात् उक्त रजत व सर्प के अधिष्ठानभूत शुक्तिका व रज्जु की ही वास्तविकता है, उसी प्रकार अधिष्ठानभूत ब्रह्म में प्रतीयमान इस प्रपञ्च की भी कोई खास

१. अपरोक्षज्ञानेनेति वक्तव्यम्। अभानावरणमपरोक्षधीनाश्यम् असत्त्वावरणं तु परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रनिवर्तनीयम् इति सम्मतत्वात्।

२. मूल में 'परोक्षज्ञानेन च' यही पाठ है ऐसा मानकर अनुवाद है। अतः 'च' से अपरोक्षका संग्रह है। 'अपरोक्षज्ञानेन' पाठ अधिक संगत होगा। अपरोक्षप्रमा उक्त दोनों आवरण मिटाती है यह सर्वसम्मत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"या मा सा माया" "या न विद्यते साऽविद्या" इति व्युत्पत्त्या मायाया कल्पितत्वं सिद्धम्। एवं यः "ब्रह्मव्यतिरेकेण किमपि नास्ति तद् ब्रह्माहमेव" इति विचार्य जानाति स एव जीवन्मुक्त इति वेदान्तसिद्धान्तः।।

।। इति प्रथमवर्णकम्।।

सत्ता नहीं है—इस प्रकार का निषेध ही अपवाद[1] है।

जो नहीं है, वह माया है; जो है ही नहीं, वह अविद्या है—इस व्युत्पत्ति से माया का कल्पितत्व निस्तत्त्वरूप सिद्ध होता है। इस प्रकार जो मुमुक्षु—'ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और मैं ही वह ब्रह्म हूँ' ऐसा विचारपूर्वक जानता है, वही जीवन्मुक्त है, यही वेदान्तसिद्धान्त है।

।। प्रथम वर्णक।।

---

१. परमार्थ सत् में अज्ञानवश प्रपञ्च का जो आरोप होता है, उसे अध्यारोप कहते हैं। भ्रमवश यह सारा जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है, अज्ञान या भ्रम को हटाकर, प्रतीयमान प्रपञ्च का निषेध कर परमार्थ सत् की स्थापना ही अपवाद है। परमार्थ सत् सच्चिदानन्द में जो यह जगत् की प्रतीति हो रही है, वह एक तरह की मिथ्या प्रतीति या अन्यथाभाव अथवा अन्यथा प्रतीति है।

इसी अन्यथाभाव को वेदान्त "विवर्त" कहता है। फलतः वेदान्तशास्त्र के अनुसार यह संसार ब्रह्म का विवर्त है। जो वस्तु अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए अन्यथा प्रतीत होवे उसे विवर्त कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति, या शुक्ति में रजत की प्रतीति।

वेदान्तसार में इसका लक्षण इस प्रकार किया है,— "अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः" अर्थात् वस्तु का अपने स्वरूप में कोई परिवर्तन न होते हुए अन्यथा प्रतीति होना विवर्त है, जैसे—रस्सी व शुक्ति का अपने स्वरूप में तो कोई परिवर्तन नहीं होता है पर अज्ञानवश या किसी दोषवश अन्यथा अर्थात् सर्पत्वेन या रजतत्वेन प्रतीति होती है।

सांख्यदर्शन परिणामवादी है, उसके अनुसार यह जगत् प्रकृति का परिणाम है, जैसे दूध का परिणाम या विकार दही है। इसमें वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर दूसरे रूप में परिणत हो जाती है, दूध अपने स्वरूप से प्रच्युत होता हुआ दधि रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भी गुणों के क्षोभ से अपने स्वरूप से विकृत होकर जगद्रूप में परिणत हो जाती है। परिणाम का लक्षण वेदान्तसार में इस प्रकार है—"सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः"।। अर्थात् परिवर्तित रूप और जिस वस्तु का परिवर्तन हुआ है दोनों समान सत्ता वाले हों तो परिवर्तन को विकार या परिणाम कहते हैं। इसे ही लोक में सत्य परिवर्तन मानते हैं। वेदान्तों में सभी परिवर्तनों अर्थात् विकारों को 'सिर्फ कहने भर को' (वाचारंभण) माना गया है अतः कार्यों को सत्य मानने वाले कार्यकारणवाद अस्वीकार हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

द्वितीयवर्णकम्

अनुबन्धचतुष्टयम्

अथ द्वितीयवर्णकेऽनुबन्धचतुष्टयमुच्यते। विषयः प्रयोजनं सम्बन्धोऽधिकारी चेत्यनुबन्धचतुष्टयम्।

अस्य वेदान्तशास्त्रस्य ब्रह्मैव विषयः, मोक्ष एव प्रयोजनम्। प्रतिपाद्य-प्रतिपादाक-भावो, बोध्यबोधकभावो वा सम्बन्धः। साधनचतुष्टयसम्पन्नोऽधिकारी। यथा बृहस्पति-सवने ब्राह्मण एव, राजसूये क्षत्रिय एव, तथा वेदान्तशास्त्रे साधनचतुष्टयसम्पन्न एवाधिकारी।

साधनचतुष्टयम्

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, (३) शमादिषट्कम्, (४) मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयम्।

अब द्वितीय वर्णक में अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण करते हैं। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी, इन चारों को अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं।[1]

प्रस्तुत वेदान्तशास्त्र का विषय ब्रह्म (या जीव व ब्रह्म की एकता) है। मोक्ष या निरतिशय आनन्दावाप्ति इसका प्रयोजन है। वेदान्तशास्त्र व उक्त विषय का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, या बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। साधनचतुष्टय-सम्पन्न साधक वेदान्तविद्या का अधिकारी है। जैसे बृहस्पतिसव नामक यज्ञ में ब्राह्मण ही अधिकारी होता है और राजसूय में क्षत्रिय ही अधिकारी होता है, वैसे ही वेदान्तशास्त्र में साधन-चतुष्टय-सम्पन्न ही (साधक या शिष्य) अधिकारी होता है।[2]

---

१. "लघुवासुदेवमननम्" यह वेदान्तशास्त्र का एक प्रकरण ग्रन्थ है, अतः वेदान्त के जो अनुबन्ध होंगे वे ही इस ग्रन्थ के भी अनुबन्ध होंगे। अनुबन्ध किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन की दिशा में प्रयोजक या प्रेरक होते हैं। नैय्यायिकों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "ग्रन्थाध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्" इत्यादि।

किसी ग्रन्थ के अध्ययन के प्रारम्भ में एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इस ग्रन्थ का कौन-सा विषय है, इसके पढ़ने से क्या लाभ होगा, उक्त विषय और ग्रन्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है, और इसको हम पढ़ सकते हैं या नहीं या इसके पढ़ने का अधिकारी कौन है। इन चारों प्रश्नों के उत्तर को अनुबन्ध कहते हैं। यही सब मिलकर अनुबन्धचतुष्टय कहलाते हैं।

२. पूर्वोक्त साधनचतुष्टय-सम्पन्न ही वेदान्तविद्या का अधिकारी है, अन्य नहीं। जिस प्रकार "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादि कहा। स्वर्ग सुखविशेष होने से मनुष्यमात्र के लिए अभीष्ट है, परन्तु उक्त दर्शपूर्णमासरूप कर्म में सुखेच्छुमात्र अधिकारी नहीं, अन्य भी अर्हताएँ होने पर ही सुखेच्छु अधिकारी बनता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधनचतुष्टय की अपेक्षा है। इसी बात को "उपदेशसाहस्री" में इस प्रकार कहा है "प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे" इति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मैव नित्यम् जगदनित्यम् इति श्रुतिस्मृतिपुराणादिना स्वयमेव[1] जायमानं ज्ञानम् नित्यानित्यवस्तुविवेकः।

इह स्रक्चन्दनादिविषयभोगोऽमुत्राप्सरःस्त्रीविषयादिभोगश्चेत्युभयमप्यनित्यम् इति श्ववान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत्तत्र वैरस्यमिहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धा इति शमादिषट्कम्। शमो नाम श्रवणादिव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्यात्मन्येव श्रवणादिविषये मनसः स्थापनम्। दमो नाम ज्ञानकर्मेन्द्रियनिग्रहः। उपरतिर्नाम संन्यासो, निष्कामकर्मानुष्ठानं[2] व्यवहारलोपो वा। तितिक्षा नाम प्रारब्धागतशीतोष्णादिसहनम्। समाधानं नाम श्रवणाद्यनुकूलविषये मनसः समाधिः। श्रद्धा नाम गुरुवेदान्तवाक्यविश्वासः। इति शमादिषट्कम्।

(१) नित्य व अनित्य वस्तुओं का विवेक। (२) लौकिक व पारलौकिक विषयों के प्रति फलाकाङ्क्षा न रखना। (३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान व श्रद्धा का आचरण करना। (४) मोक्षेच्छा का भाव रखना। ये चार ही साधनचतुष्टय कहलाते हैं।

ब्रह्म ही नित्य है, तदतिरिक्त यह सारा संसार अनित्य है, इस प्रकार वेद, स्मृति व पुराणादिकों से उत्पन्न होने वाला जो भेदज्ञान है, वही नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

इस लोक में प्राप्त होने वाले माला, चन्दन, वनितादि विषय, भोग्यवस्तु, तथा (यज्ञादि द्वारा) परलोक में प्राप्त होने वाला स्वर्गादि लोकों में जो अप्सरादि विषयभोग है, ये दोनों प्रकार के भोग अनित्य हैं, अतः कुत्ते के वमन (उल्टी) व मलमूत्रादि की तरह उन विषयों से वैरस्य (नितान्त अरुचि) रखना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, ये शमादिषट्क हैं।

(१) शम—बाह्य विषयों से मन को हटाकर केवल आध्यात्मिक विषय जो वेदान्तादि शास्त्र हैं, उनमें लगाना ही शम है।
(२) दम—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का (बाह्यविषयों से) निग्रह दम है।
(३) उपरति—प्रवृत्ति का उपराम रूप संन्यास, निष्काम कर्मानुष्ठान, अथवा व्यवहार के विराम को उपरति कहते हैं।
(४) तितिक्षा—प्रारब्धवश प्राप्त शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहना ही तितिक्षा है।
(५) समाधान—वेदान्तादि अनुकूल विषयों में मन की एकाग्रता समाधान है।
(६) श्रद्धा—गुरु व वेदान्तवाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है।

यही शमादि-षट्क है।

---

१. ब्रह्मैव नित्यमिति निश्चयरूपप्रमा तु साधनाफलमिति श्रद्धयाऽऽपातबोध एवंरूपोऽत्र विवेक इति 'स्वयमेव' इत्यस्य भावः।
२. अत्र गीता १८.२ मानम्। इदं संन्यासस्यैव व्याख्यानम्। व्याख्यान्तरमाह—व्यवहारलोप इति। व्यवहारः प्रवृत्तिधर्म इत्यर्थः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

द्वितीयवर्णकम्

अनुबन्धचतुष्टयम्

अथ द्वितीयवर्णकेऽनुबन्धचतुष्टयमुच्यते। विषयः प्रयोजनं सम्बन्धोऽधिकारी चेत्यनुबन्धचतुष्टयम्।

अस्य वेदान्तशास्त्रस्य ब्रह्मैव विषयः, मोक्ष एव प्रयोजनम्। प्रतिपाद्य-प्रतिपादाक-भावो, बोध्यबोधकभावो वा सम्बन्धः। साधनचतुष्टयसम्पन्नोऽधिकारी। यथा बृहस्पति-सवने ब्राह्मण एव, राजसूये क्षत्रिय एव, तथा वेदान्तशास्त्रे साधनचतुष्टयसम्पन्न एवाधिकारी।

साधनचतुष्टयम्

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, (३) शमादिषट्कम्, (४) मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयम्।

अब द्वितीय वर्णक में अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण करते हैं। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी, इन चारों को अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं।[1]

प्रस्तुत वेदान्तशास्त्र का विषय ब्रह्म (या जीव व ब्रह्म की एकता) है। मोक्ष या निरतिशय आनन्दावाप्ति इसका प्रयोजन है। वेदान्तशास्त्र व उक्त विषय का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, या बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। साधनचतुष्टय-सम्पन्न साधक वेदान्तविद्या का अधिकारी है। जैसे बृहस्पतिसव नामक यज्ञ में ब्राह्मण ही अधिकारी होता है और राजसूय में क्षत्रिय ही अधिकारी होता है, वैसे ही वेदान्तशास्त्र में साधन-चतुष्टय-सम्पन्न ही (साधक या शिष्य) अधिकारी होता है।[2]

---

१. "लघुवासुदेवमननम्" यह वेदान्तशास्त्र का एक प्रकरण ग्रन्थ है, अतः वेदान्त के जो अनुबन्ध होंगे वे ही इस ग्रन्थ के भी अनुबन्ध होंगे। अनुबन्ध किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन की दिशा में प्रयोजक या प्रेरक होते हैं। नैय्यायिकों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "ग्रन्थाध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्" इत्यादि।

किसी ग्रन्थ के अध्ययन के प्रारम्भ में एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इस ग्रन्थ का कौन-सा विषय है, इसके पढ़ने से क्या लाभ होगा, उक्त विषय और ग्रन्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है, और इसको हम पढ़ सकते हैं या नहीं या इसके पढ़ने का अधिकारी कौन है। इन चारों प्रश्नों के उत्तर को अनुबन्ध कहते हैं। यही सब मिलकर अनुबन्धचतुष्टय कहलाते हैं।

२. पूर्वोक्त साधनचतुष्टय-सम्पन्न ही वेदान्तविद्या का अधिकारी है, अन्य नहीं। जिस प्रकार "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि कहा। स्वर्ग सुखविशेष होने से मनुष्यमात्र के लिए अभीष्ट है, परन्तु उक्त दर्शपूर्णमासरूप कर्म में सुखेच्छुमात्र अधिकारी नहीं, अन्य भी अर्हताएँ होने पर ही सुखेच्छु अधिकारी बनता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधनचतुष्टय की अपेक्षा है। इसी बात को "उपदेशसाहस्री" में इस प्रकार कहा है "प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे" इति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मैव नित्यम् जगदनित्यम् इति श्रुतिस्मृतिपुराणादिना स्वयमेव[1] जायमानं ज्ञानम् नित्यानित्यवस्तुविवेकः।

इह स्रक्चन्दनादिविषयभोगोऽमुत्राप्सरःस्त्रीविषयादिभोगश्चेत्युभयमप्यनित्यम् इति श्ववान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत्तत्र वैरस्यमिहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धा इति शमादिषट्कम्। शमो नाम श्रवणादिव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्यात्मन्येव श्रवणादिविषये मनसः स्थापनम्। दमो नाम ज्ञानकर्मेन्द्रियनिग्रहः। उपरतिर्नाम संन्यासो, निष्कामकर्मानुष्ठानं[2] व्यवहारलोपो वा। तितिक्षा नाम प्रारब्धागतशीतोष्णादिसहनम्। समाधानं नाम श्रवणाद्यनुकूलविषये मनसः समाधिः। श्रद्धा नाम गुरुवेदान्तवाक्यविश्वासः। इति शमादिषट्कम्।

(१) नित्य व अनित्य वस्तुओं का विवेक। (२) लौकिक व पारलौकिक विषयों के प्रति फलाकाङ्क्षा न रखना। (३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान व श्रद्धा का आचरण करना। (४) मोक्षेच्छा का भाव रखना। ये चार ही साधनचतुष्टय कहलाते हैं।

ब्रह्म ही नित्य है, तदतिरिक्त यह सारा संसार अनित्य है, इस प्रकार वेद, स्मृति व पुराणादिकों से उत्पन्न होने वाला जो भेदज्ञान है, वही नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

इस लोक में प्राप्त होने वाले माला, चन्दन, वनितादि विषय, भोग्यवस्तु, तथा (यज्ञादि द्वारा) परलोक में प्राप्त होने वाला स्वर्गादि लोकों में जो अप्सरादि विषयभोग है, ये दोनों प्रकार के भोग अनित्य हैं, अतः कुत्ते के वमन (उल्टी) व मलमूत्रादि की तरह उन विषयों से वैरस्य (नितान्त अरुचि) रखना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, ये शमादिषट्क हैं।

(१) शम—बाह्य विषयों से मन को हटाकर केवल आध्यात्मिक विषय जो वेदान्तादि शास्त्र हैं, उनमें लगाना ही शम है।
(२) दम—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का (बाह्यविषयों से) निग्रह दम है।
(३) उपरति—प्रवृत्ति का उपराम रूप संन्यास, निष्काम कर्मानुष्ठान, अथवा व्यवहार के विराम को उपरति कहते हैं।
(४) तितिक्षा—प्रारब्धवश प्राप्त शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहना ही तितिक्षा है।
(५) समाधान—वेदान्तादि अनुकूल विषयों में मन की एकाग्रता समाधान है।
(६) श्रद्धा—गुरु व वेदान्तवाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है।

यही शमादि-षट्क है।

---

१. ब्रह्मैव नित्यमिति निश्चयरूपप्रमा तु साधनाफलमिति श्रद्धयाऽऽपातबोध एवंरूपोऽत्र विवेक इति 'स्वयमेव' इत्यस्य भावः।
२. अत्र गीता १८.२ मानम्। इदं संन्यासस्यैव व्याख्यानम्। व्याख्यान्तरमाह—व्यवहारलोप इति। व्यवहारः प्रवृत्तिधर्म इत्यर्थः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गृहे दह्यमाने तत्रस्थो दह्यमानः पुरुषो यथा कलत्रपुत्रादिकं परित्यज्य स्वतापोपशमनार्थमेव बहिर्निर्गत्य तापोपशमनं कर्तुमिच्छति, एवं सांसारिकतापोपशमनं संपादयितुं त्यक्तसर्वैषणस्य ब्रह्मतादात्म्यभावे मोक्षे तीव्रेच्छा मुमुक्षा।

लोके केषाञ्चिन्नित्यानित्यवस्तुविवेके सत्यपि, वैराग्यस्यादर्शनादिहामुत्रार्थफलभोग-विरागेणापि भवितव्यमित्युक्तम्। तदुभयसत्त्वेऽपि केषाञ्चिदृषीश्वराणां कोपतापादि-दर्शनाच्छमादिनापि भवितव्यमित्युक्तम्। एतत्त्रितये सत्यपि केषाञ्चिद्भक्त्येश्वरोपासकानां ज्ञानाधिकारादर्शनान्मुमुक्षयाऽपि भवितव्यम्।।

गुरूपसत्तिः

एवंरूपोऽधिकार्युपहारसमित्पाणिः सन् सद्गुरुमुपगम्य नमस्कृत्य विश्वासविनयाभ्यां सह 'हे स्वामिन्! हे भगवन् ! गुरो!' इति संबोध्य 'जीवः कः? ईश्वरः कः? जगत् कीदृशम्? एतत्त्रितयं कस्माद् आगतम्? कस्माद् गमिष्यति?' इति प्रश्नं कुर्यात्। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्। ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० १।२।१२) इत्यादिश्रुतेः। "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया, उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" (४।३४) इति गीतावचनाच्च।।

घर के जल जाने पर घर के अन्दर स्थित पुरुष स्वयं जलता हुआ, जैसे अपने पुत्र कलत्रादि को छोड़कर, ताप की शान्ति के लिए बाहर निकलकर अपने सन्ताप की शन्ति चाहता है, इसी प्रकार सांसारिक ताप की शान्ति के लिए सभी प्रकार की एषणाओं[1] को त्यागकर, साधक या शिष्य की जो ब्रह्मस्वरूपापत्ति विषयक तीव्र इच्छा हो वही मुमुक्षा या मोक्षेच्छा है।

संसार में किन्ही महापुरुषों को नित्यानित्यवस्तु-विवेक होने पर भी वैराग्य भावना या विरक्ति नहीं दिखाई देती है, इसलिए ऐहलौकिक व पारलौकिक विषयजन्य सुखों में वैराग्य का होना भी आवश्यक है। इन दोनों के होने पर भी, किन्हीं ऋषीश्वरों का क्रोधादि संताप दिखाई देता है, अतः मुमुक्षु के लिए शमादिषट्क भी अवश्यक हैं। ये सब (नित्यानित्यविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, व शमादिषट्क) होते हुए भी भक्ति के द्वारा जो ईश्वर की उपासना करते हैं उनमें ज्ञान की अधिकारिता नहीं रहती है, अतः मोक्षेच्छा का होना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार का अधिकारी पत्रपुष्पादि उपहार लेकर, सद्गुरु के पास जाकर, नमस्कार करके, विनय तथा विश्वास के साथ ब्रह्मनिष्ठ गुरु जी से यह प्रश्न करे कि 'हे स्वामिन्! हे गुरो! जीव का क्या स्वरूप है? ईश्वर का क्या स्वरूप है ? और इस जगत् का क्या स्वरूप है? ये तीन चीजें कैसे आ गईं, और कैसे जायेंगी? अर्थात् कैसे उत्पन्न हुईं? और कैसे मिटेंगी?' मुण्डकोपनिषद् में लिखा भी है कि कर्म के द्वारा उत्पन्न इन

१. मनुष्य की स्वभावतः तीन प्रकार की एषणायें होती हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा। इन्हीं तीन प्रकार की एषणाओं के चक्कर में पड़कर वह आत्मचिन्तन की उपेक्षा कर देता है। एषणा अर्थात् कामना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं शिष्येण प्रार्थितः सद्गुरुर्दयया सत्त्वरजस्तमोगुणैर्जीवेश्वरजगतामागमनप्रकारं[1] बोधयित्वा आत्मस्वरूपमपि करतलामलकवद् बोधयति।

अस्याधिकारिणः साधनचतुष्टयं च बहुजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाक-वशादीश्वरानुग्रहेण लब्धमिति वेदितव्यम्। एतत्तत्त्वज्ञानप्रदायकं गुरुमीश्वरमेव विद्यात्। एवं यो गुरुमुखाज्जीवात्मपरमात्मनोरभेदं विचार्य जानाति स एव मुक्तिं गमिष्यतीति सिद्धम्।।

।। इति द्वितीयवर्णकम्।।

लोकों की परीक्षा करके, ब्राह्मण संन्यास धारण करे, क्यों कि कर्म से मोक्ष नहीं मिलता है। गीता में भी कहा है 'हे! अर्जुन तुम मोक्ष के विषय में ज्ञानियों से विनम्रतापूर्वक और जिज्ञासु बनकर प्रश्न करो, वे तुम्हें इसका उपदेश करेंगे।'

इस प्रकार शिष्य के द्वारा प्रार्थित सद्गुरु दयापूर्वक अर्थात् शिष्य पर दया करके, बतलाता है कि इस संसार में जीव, ईश्वर व जगत् का आगमन अर्थात् जीव, ईश्वर व जगत् का जो भेदभाव हमारे सामने दिखलाई देता है, वह सत्त्व-रजः-तमोगुणात्मिका प्रकृति या माया का ही खेल है। वस्तुतः यह सब आत्मा ही है। जीवेश्वर व जगत् आदि का भेद तो सब माया-निर्मित ही है। पूर्वोक्त रीति से गुरु शिष्य को जीव, जगत् व ईश्वर के विवेकज्ञान पूर्वक आत्मतत्त्व को स्पष्टतया हथेली पर रखे आँवले की तरह बतला देता है।

इस अधिकारी को जो यह साधन-चतुष्टय की तथा सद्गुरु की उपलब्धि हुई, उसमें इसके पूर्वजन्म में अर्जित पुण्यपुञ्जों का सुपरिणाम ही कारण है, अथवा ईश्वर का इस शिष्य पर कोई असाधारण अनुग्रह है यह मानना चाहिए।

इस तरह के आत्मतत्त्व के उपदेष्टा गुरु को भी ईश्वर ही समझना चाहिए। इस प्रकार जो शिष्य गुरुमुख से जीवात्मा व परमात्मा के विवेकज्ञानपूर्वक उक्त तत्त्व को जानता है अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है वह मुक्ति को प्राप्त करता है, यह निश्चित है।।

।। द्वितीय वर्णक।।

---

१. यथा तत्त्वविवेके—विशुद्धसत्त्वप्रधानमायायां प्रतिफलितस्तां वशीकृत्य सर्वज्ञादिः सन्नीश्वरः। अविशुद्धसत्त्व-प्रधानाऽविद्यायां प्रतिफलितस्तत्परतन्त्रो जीवः। तमःप्रधानप्रकृतेर्भूतानि जायन्ते। भूतगतसत्त्वांशैर्ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणानि, रजोंशैः कर्मेन्द्रियाणि प्राणाः, तमोंशैश्च पञ्चीकृतभूतानि जायन्त इति जीवाद्यागमनप्रकारः। जीवेश्वरयोरागमनम् स्फुटव्यवहारः, स्वरूपतस्तयोरात्मत्वेन नित्यत्वात्। जीवत्वेश्वरत्वयोर्मृषात्वेऽपि जगदिव न स्वरूपतोऽध्यस्तत्वं तयोरिति 'स्वाऽज्ञानकल्पिते' त्यादिसर्वज्ञपद्ये स्पष्टम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

तृतीयवर्णकम्

द्विप्रकारः प्रपञ्चः

अयं प्रपञ्चः कतिविध इति चेद्? आत्माऽनात्मा चेति द्विप्रकारकः[1]। प्रपञ्चातीतस्यात्मनः कथं प्रपञ्चान्तर्भूतत्वमिति न शङ्कितव्यम्। कथमिति चेद् ? अस्य प्रपञ्चस्य चेतना- चेतनात्मकत्वादात्मनश्चेतनरूपत्वादात्मानं विना प्रपञ्चस्याभावादात्मनः प्रपञ्चान्तर्भावो वक्तव्य एव।

तर्हि चेतनं किमचेतनं किमिति चेत्? जङ्गमं सर्वं चेतनं, स्थावरं सर्वमचेतनम्। तर्हि चेतनानामचेतनानां च प्रत्येकं बहुप्रकारत्वात् कथं द्विप्रकार एव प्रपञ्च इति चेत्? शृणु—अनात्मैक एव, स कार्यरूपेणानेकरूपोऽभूत्। आत्मा चैकरूप एव। सोप्यनात्मकार्योपाधिभिरनेकजीवा इत्यनेकेश्वरा[2] इति च भाति।

एकस्यानेकता

एकस्येश्वरस्य जीववत् कथमनेकत्वमिति चेत्? पुण्यक्षेत्रेषु ग्रामेषु गृहेषु च शिवविष्ण्वादिमूर्तिभेदेन स्थितत्वादिति ब्रूमः। मृच्छिलादिरूपाणां तासां मूर्तीनां

प्रश्न—यह प्रपञ्च कितने प्रकार का है? उत्तर—यह प्रपञ्च आत्मा-अनात्मा के भेद से दो प्रकार का है। प्रश्न— जब आत्मा प्रपञ्च से परे है तो फिर आप आत्मा को प्रपञ्चान्तर्गत कैसे मान रहे हैं? उत्तर—यह कोई बात नहीं ! इसे इस तरह समझना चाहिए : क्योंकि यह प्रपंच चेतनाचेतनात्मक है, और आत्मा चेतनरूप है, आत्मा के बिना अचेतन प्रपञ्च का कोई अस्तित्व नहीं है, इसीलिए आत्मा को प्रपञ्चार्न्तगत मानना ठीक ही है।

प्रश्न—चेतन किसे कहते हैं और अचेतन किसे कहते हैं? उत्तर—जङ्गम अर्थात् गतिमान् जितना भी प्राणिवर्ग है, वह सब चेतन है, और अगतिमान्, स्थिर रहने वाला जो कोई पदार्थ है वह अचेतन है।

तब तो चेतन हो चाहे अचेतन पदार्थ, स्वयं में ये अनेक प्रकार के हैं, आपने दो प्रकार के ही भेद कैसे कह दिये ? उत्तर—सुनिये; अनात्मपदार्थ अर्थात् अचेतन पदार्थ "अनात्मत्वेन" एक प्रकार का ही है, कार्यरूप उपाधि के द्वारा अनेक प्रकार का मालूम पड़ता है। आत्मा भी एक ही है, वह भी अपने कार्य रूप उपाधि के द्वारा अनेक प्रकार के जीवों तथा ईश्वरों के रूप को धारण करता है।

---

१. 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः' इत्यादि भाष्यं, 'दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्त' इत्याद्यभियुक्तोक्तिः सर्वलोकानुभवश्च द्विविधतोक्तिमूलम्। न्यायरत्नावलीकृतोऽपि—'पदार्थो द्विविधिः—दृक्, दृश्यं च। दृगपि चिद्रूपा उपहिताऽनुपहितरूपेण द्विविधा।...उपहिता तु ईश्वरजीवभेदेन द्विविधा...।' इत्यादि व्युत्पादयाम्बभूवुः।

२. 'तत्रेश्वरोऽपि त्रिविधः स्वोपाधिभूताऽविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदाद्' इति सिद्धान्तबिन्द्वष्टमे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथमीश्वरत्वमिति चेत्? ईश्वरत्वमस्ति, सर्वैरपि तासु मूर्तिषु बहुद्रव्यव्ययं कृत्वा अभिषेक-नैवेद्यादेः क्रियमाणत्वात्। येषां शास्त्रे विश्वासो नास्ति ते म्लेच्छादयो मूर्तीनां पूजने नोदाहरणीयाः। सर्वतः श्रद्धावतामेवोदाहरणीयत्वात्। किं च हेये मलमूत्राद्यात्मकेऽस्मिन् शरीर आत्मबुद्धिं कुर्वतां जीवानामत्यन्तशुद्धासु मूर्तिष्वीश्वरबुद्धिकरणे को वा दोषः!

एवमेकस्यानात्मनः कार्यरूपेणानेकत्वे, एकस्यात्मनोऽनात्मकार्योपाधिभिरनेकत्वे च दृष्टान्तः क इति चेत्? शृणु—यथैकैव पृथिवी कार्यरूपेण परिणता सती पर्वतो वृक्षो गोपुरं कुड्यं कुसूलं गृहं मठो घटः शराव इत्यादिभेदं गच्छति, तथा मूलप्रकृतिरनात्मैक एव कार्यशरीररूपेणानेको जातः।

प्रश्न— एक ही ईश्वर जीव की तरह अनेक रूपों को कैसे धारण करता है?[1] उत्तर— पुण्यस्थान (तीर्थों) में, गाँव में, घरों में, शिव, विष्णु, ब्रह्मादि मूर्तियों के भेद से स्थित होने से तत्तत् रूपों को धारण करता है।

प्रश्न— ये मूर्तियाँ तो मिट्टी या पत्थर की बनी होती हैं, इनमें ईश्वरत्व कैसे रहता है? उत्तर— इनमें भी ईश्वरत्व रहता है, क्योंकि सभी श्रद्धालु जन उन मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा, अभिषेक, आरती, व नैवेद्य के द्वारा उनकी नित्य पूजा किया करते हैं। और जिनका शास्त्र पर विश्वास नहीं है, वे म्लेच्छ-नास्तिक मूर्तिपूजा के विषय में उदाहरणीय नहीं हैं।

अर्थात् जो लोग शास्त्र पर भरोसा नहीं करते हैं, वे नास्तिक (इस लोक में ईश्वर व परलोक में जन्म आदि पर जो विश्वास नहीं करते) इस पवित्र चर्चा में दृष्टान्त नहीं हैं। उन्हें उदाहरण के बतौर नहीं रखा गया है। यहाँ तो उन्हें उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है जो शास्त्र व अपनी संस्कृति में विश्वास रखते हैं। हम पूछते हैं कि जो नास्तिक क्षणभङ्गुर व मलमूत्रादि से अपवित्र अपनी काया में आत्मबुद्धि कर लेते हैं, उन्हें प्रतिष्ठा, अभिषेकादि से अत्यन्त पवित्र उन ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि की मूर्तियों में ईश्वरबुद्धि अर्थात् ईश्वर की तरह मानने में कौन-सा दोष है? क्या हर्ज है?

इसलिए यह समझना चाहिए कि एक ही अनात्मपदार्थ अपने कार्यरूप उपाधि के द्वारा अनेक प्रकार का हो जाता है और एक ही आत्मपदार्थ अनात्म-कार्यरूप उपाधियों द्वारा अनेक प्रकार का हो जाता है। यदि इसमें दृष्टान्त की जिज्ञासा हो, तो इसे इस प्रकार समझो—जैसे एक ही पृथिवी (उपाधि द्वारा) जब अपने कार्यरूप में परिणत होती है तब पर्वत, वृक्ष, गोपुर (नगर कर प्रधान दरवाजा), दीवाल, कुसूल (भक्कार), घर, मठ, घट, कसोरा इत्यादि नाना रूपों को धारण करती है, उसी प्रकार अनात्मरूप यह मूलप्रकृति भी, अर्थात् अनात्मा अपने कार्यरूप उपाधि (संनिवेश विशेष) से अनेक प्रकार का हो जाता है।

---

१. यहाँ मूलकार ने अनेक जीवों की तरह अनेक ईश्वरों की भ्रान्ति का वर्णन किया है। यद्यपि सनातन मानस एक ईश्वर को स्वीकारता है तथापि अविचार-बहुलता रहते अनेक व्यक्तिभूत ईश्वरों में समबलता भी मान ली जाती है। 'शिवजी ही सब कुछ करते हैं फिर भी विघ्न तो गणेश जी ही मिटायेंगे', 'विष्णु जी भगवान् हैं पर मनोरथ तो दुर्गा जी ही पूरे करेंगी' इत्यादि भावनाएँ जनता में हैं। वैष्णवों ने अर्चावतार की कल्पना से 'ढुंढिराज से सिद्धिविनायक बली हैं' इत्यादि और भी भ्रमजाल फैलने में मदद दी है। इस प्रकार की भ्रमावस्था में जो अनेक ईश्वर माने जाते हैं उन्हें ग्रंथकार ने समझाया है। इनका अभिप्राय अनेक ईश्वर उपपन्न करने में नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा आकाश एक एव पृथिवीकार्योपाधिषु प्रविष्ट इव प्रतीयमानः "अयं घटाकाशः, अयं मठाकाशः" इत्यादिरूपेणानेकधा भाति, तथा आत्मा स्वयमेकोऽपि तत्तच्छरीरोपाधिभिस्तत्र प्रविष्ट इव सन्, देवो मनुष्यो रामः कृष्णो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः पशुः पक्षी कृमिः कीट इति बहुधा भाति।

अयमवच्छिन्नपक्षे दृष्टान्तः। प्रतिबिम्बपक्षे तु—समुद्रो, नदी, तटाकः, कूपो घटजलमित्येकमेव जलं यथा बहुधा जातम्, तथाऽनात्मापि बहुधा जातः। तेषु समुद्रादिषु आदित्य एक एव प्रतिबिम्बितः सन् यथा बहुधा जातः, तथैक एवात्माऽन्तःकरणसहितेषु सर्वेष्वपि शरीरेषु प्रतिबिम्बितः सन्ननेको जातः, इत्युभयत्रापि दृष्टान्तो ज्ञातव्यः।

यथा जलधर्माः शीतचलनादयस्तज्जलनिष्ठप्रतिबिम्ब एव भान्ति बिम्बभूतमादित्यं न स्पृशन्ति, तथाऽन्तःकरणधर्माः कर्तृत्वभोक्तृत्वविकारा अपि तदन्तःकरणनिष्ठचिदाभास एव भान्ति, बिम्बभूतमात्मानं न स्पृशन्ति।

जीवब्रह्मैक्यम्

तस्माज्जीवात्मैव परमात्मा, परमात्मैव जीवात्मा। कथमिति चेत्? यथा घटाकाश एव महाकाशो महाकाश एव घटाकाश एवमिति जानीहि।

इसी प्रकार आत्मा के अनेकत्व के विषय में भी जानना चाहिए—जैसे एक ही आकाश घटादि पृथिवीरूप कार्योपाधि में जब प्रविष्ट होता-सा प्रतीत होता है तब "यह घटाकाश है", "यह मठाकाश है" इत्यादि प्रकार से विभिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वयं एक अद्वितीय रहते हुए भी, उन-उन शरीररूप उपाधियों के द्वारा तत्तत् शरीर से अवच्छिन्न होकर देव, मनुष्य, राम, कृष्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि अनेक प्रकार से प्रतीत होता है।

ये पूर्वोक्त दृष्टान्त अवच्छेदवाद के हैं, अब प्रतिबिम्बवाद के दृष्टान्त बतलाये जाते हैं—जैसे एक ही जल समुद्र, नदी, तालाब, कुआँ (वावली), घटस्थ जल, आदि अनेक प्रकार से प्रतीत होता है, इसी प्रकार अनात्मा यह प्रपञ्च भी अनेक तरह से प्रतीत होता है। जैसे—उन समुद्र, नदी आदि में प्रतिबिम्बित एक ही सूर्य अनेक रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा तत्तत् अन्तःकरणसहित तत्तत् शरीरों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकारका-सा प्रतीत होता है। यह बात (अवच्छेदपक्ष व प्रतिबिम्ब पक्ष) दोनों तरह के दृष्टान्तों से जाननी चाहिए।

जैसे जल के धर्म—शीतत्व चलनादि जलस्थ प्रतिबिम्ब में ही प्रतीत होते हैं, बिम्बभूत आदित्य का स्पर्श नहीं करते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण के धर्म—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्वादि विकार भी अन्तःकरणनिष्ठ चिदाभास या अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य में ही प्रतीत होते हैं, बिम्बभूत या निरवच्छिन्न आत्मा का स्पर्श नहीं करते हैं।

इसलिए (उपाधि के परामर्श के बिना अर्थात् अन्तःकरणादि उपाधि को छोड़कर) जीवात्मा ही परमात्मा है, और परमात्मा ही जीवात्मा है। यह इस प्रकार है—जैसे घटाकाश ही महाकाश है, और महाकाश ही घटाकाश है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु जीवात्मनः कल्पितत्वात् कल्पितस्य चासत्यत्वात् कथं तस्य सत्यपरमात्माभेद इति चेत्? पारमार्थिको व्यावहारिकः प्रातिभासिक इति जीवस्त्रिविधः। एते जीवाः क्रमेण सुषुप्ति-जाग्रत्-स्वप्नाभिमानिनः। यथा जले तरङ्गः कल्पितस्तरङ्गे च फेनः कल्पितः, तथा पारमार्थिके व्यावहारिकः कल्पितो व्यावहारिके च प्रातिभासिकः कल्पितः।

यथा माधुर्यद्रवत्वशैत्यादीनि पारमार्थिकजलनिष्ठान्येव सन्ति, तरङ्गे भान्ति, तद्द्वारा फेनेऽपि भान्ति, तद्वत् सच्चिदानन्दाः पारमार्थिककूटस्थनिष्ठा एव सन्तो व्यावहारिके भान्ति, तद्द्वारा प्रातिभासिकेऽपि भान्ति। यथा फेनस्तरङ्गं विना नास्ति, तरङ्गोऽपि जलं विना नास्ति, जलं तु परमार्थभूतम्, एवं प्रातिभासिकोऽपि व्यावहारिकं विना नास्ति, व्यावहारिकोऽपि पारमार्थिकं विना नास्ति।

प्रश्न— आपने अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के द्वारा जीव व आत्मा के विषय में जो दृष्टान्त दिया है, और जीव को कल्पित उपाधि से अवच्छिन्न माना है, तथा बिम्ब का प्रतिबिम्ब माना है, वे अवच्छेद या प्रतिबिम्ब जिस प्रकार कल्पित हैं, वैसे ही जीव भी कल्पित ही होगा; तो फिर कल्पित असत्य जीव का सत्य परमात्मा से अभेद कैसे होगा, क्यों कि सत्यासत्य का तो कहीं अभेद देखा नहीं गया है?

उत्तर—(क्योंकि वेदान्त दर्शन के अनुसार सत्ता तीन प्रकार की है--पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, और प्रातिभासिकी इसलिये) वेदान्त शास्त्र में जीव को तीन प्रकार का माना है—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। ये जीव क्रमशः सुषुप्ति, जाग्रत् व स्वप्नावस्था के अभिमानी हैं, अर्थात् यह जीव सुषुप्ति दशा में परमार्थसत् के सन्निकट-सा रहता है; वहाँ प्रपञ्च का कुछ भी आभास नहीं होता है, अतः जीव की यह दशा पारमार्थिक दशा है। जाग्रत् अवस्था में जीव अनेक तरह के प्रपञ्चों से घिरा रहता है, जीवन-निर्वाह के लिए अनेक प्रकार के व्यवहारों का आश्रय लेता है, अतः जीव की यह व्यावहारिक दशा है। स्वप्नावस्था में पुनः प्रतीयमान समस्त पदार्थ सत्य न होकर केवल आभासमात्र हैं, अतः जीव की यह दशा प्रातिभासिक है। ये दशायें परस्पर कल्पित तथा भिन्न हैं, वास्तविक रूप तो जीव का परमार्थसत् ही है। जैसे—जल में तरंग कल्पित है, तरङ्ग में फेन (झाग) कल्पित है वैसे ही परमार्थसत् में व्यावहारिक कल्पित है, और व्यावहारिक में प्रातिभासिक कल्पित है।

जैसे माधुर्य, द्रवत्व, और शैत्य ये गुण परमार्थतः जल के ही हैं, तरङ्ग में भी प्रतीत होते हैं, तरङ्ग द्वारा फेन (झाग) में भी प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार सत् चित् आनन्दरूपता तो परमार्थसत्-कूटस्थ में ही है, वह व्यावहारिक जीव में भी प्रतीत होती है, और जीव के द्वारा प्रातिभासिक (स्वप्नावस्थाविशिष्ट जीव) में भी प्रतीत होती है।

जैसे तरङ्ग के बिना फेन (झाग) की कोई सत्ता नहीं है, और जल के बिना तरङ्ग की कोई सत्ता नहीं है, जल परमार्थ सत् है, इसी प्रकार प्रातिभासिक की व्यावहारिक के बिना, और व्यावहारिक की पारमार्थिक के बिना कोई सत्ता नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्माद्यथा परमार्थत्वेन घटाकाशो महाकाश एव, एवं पारमार्थिकः कूटस्थः परमात्मैवेति सिद्धान्तः।

एवं "नेति नेति" (बृ. २।३।६) इति वाक्येन देहादिपञ्चकोशेभ्यः पारमार्थिकं कूटस्थं पृथक्कृत्य तं पारमार्थिकं कूटस्थम् "अहम्" इति जानन् सन् तद् "अहं ब्रह्मास्मि" इति श्रुतिविचारेण युक्तिभिर्दृढनिश्चयेन साक्षात्कृत्य तिष्ठति, स एष परिपूर्णब्रह्मस्वरूपः। तमेव पुण्यपापकर्माणि न स्पृशन्तीति सर्वा अप्युपनिषद एकतात्पर्येण घुष्यन्ति।।

।। *इति तृतीयवर्णकम्*।।

इसलिए जैसे परमार्थरूप में घटाकाश महाकाश ही है, इसी प्रकार यह (अवस्थात्रयविशिष्ट) जीव भी परमार्थसत् कूटस्थ[1], परमात्मा ही है। अत एव बृहदारण्यक के इस "नेति नेति" श्रुतिवाक्यसे देहादिपञ्चकोशों से कूटस्थ आत्मा को पृथक् कर "पारमार्थिक कूटस्थ सार ही मैं हूँ" इस प्रकार के वेदान्त-श्रवण से, युक्तिपूर्वक मनन के द्वारा और दृढ निश्चयपूर्वक निदिध्यासन के द्वारा (जीव) उस आत्मतत्त्व का जब साक्षात्कार करता है, तब वह पूर्णब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ऐसे स्वरूपावस्थित आत्मा का पुण्य व पाप कर्म स्पर्श नहीं करते हैं, ऐसी सभी उपनिषदों की घोषणा है।

।। *इति तृतीयवर्णक*।।

---

१. सुषुप्ति-अभिमानी को पारमार्थिक कहा जिससे भ्रम संभव है अतः यहाँ स्पष्ट किया कि पारमार्थिक तो कूटस्थ ही है। यद्यपि तुरीयको पारमार्थिक कह सकते थे तथापि व्यक्त प्रपंच से रहित होने के कारण प्राज्ञ को कह दिया ताकि प्रारंभिक साधक सुविधा से समझ सके कि निष्प्रपंच आत्मा सच्चा है। कुछ लोग कार्याऽविद्या से ही संसार-व्यवस्था बनाने के प्रयास में मूलाऽविद्या को अमान्य समझकर सुषुप्ति-मोक्षवादी बन जाते हैं किन्तु प्रकृत ग्रन्थकार का ऐसा कोई मन्तव्य नहीं है। प्राज्ञ को व्यावहारिक ही समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही वह बाध्य है। प्राज्ञ-ज्ञान से विश्व का बाध न होने से भी उसका पारमार्थिकत्व वाचोयुक्ति मानना ही संगत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

चतुर्थवर्णकम्

दुःखाद्यनर्थः

इदानीमस्य जीवस्य दुःखं च जन्म च कर्म च रागद्वेषादि चाभिमानश्चाविवेकश्चाज्ञानं चेत्येतेषु पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्तरोत्तरं हेतुः । तत्र दुःखादिचतुष्टयं चतुर्थपञ्चमवर्णकयोर्विचार्यते ।।

दुःखं न स्वाभाविकम्

जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं वा आगन्तुकं वेति चेत्? आगन्तुकमिति ज्ञेयम्। स्वाभाविकमिति चेदनेकदोषाः सन्ति।

तत् कथमिति चेत्? अस्य जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं चेद् दुःखनिवृत्तिः कदाचिदपि न स्यात्, सुखमपि कस्यापि न स्यात्, सत्कर्मयोगध्यानोपासनेषु कस्यापि प्रयत्नो न स्यात्, वेदशास्त्रपुराणानि च व्यर्थानि स्युरिति जानीहि।

पूर्वोक्त प्रकरण में जीव को तीन प्रकार का बतलाया है और यह जीव सुषुप्ति जाग्रत् व स्वप्न दशा का अभिमानी है यह भी बतलाया। अब प्रस्तुत प्रकरण में यह बतलाते हैं कि दुःख, जन्म, कर्म, राग-द्वेषादि, अभिमान, अविवेक और अज्ञान, ये सात इस जीव के धर्म या गुण हैं, इनमें पूर्व, पूर्व गुण के प्रति उत्तरोत्तर गुण हेतु हैं, अर्थात् दुःख के प्रति जन्म हेतु है, जन्म के प्रति कर्म हेतु है, कर्म के प्रति रागद्वेषादि हेतु हैं, और रागद्वेषादि के प्रति अभिमान हेतु है, अभिमान के प्रति अविवेक और अविवेक के प्रति अज्ञान हेतु हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सब दुःख जन्म कर्मादि की जड़ अज्ञान या अविद्या है, जैसा कि योगशास्त्र (२. २४) में भी कहा है "तस्य हेतुरविद्या" इत्यादि।[१] जीवात्मा के इन दुःखादि चार गुणों की व्याख्या चतुर्थ व पञ्चम वर्णक में की जायेगी।

सर्वप्रथम अब इस जीवात्मा के दुःख के विषय पर विचार करते हैं कि जीवात्मा का यह जो दुःख है वह स्वाभाविक है, या आगन्तुक? यदि इस दुःख को स्वाभाविक माना जाय तो अनेक दोष उपस्थित हो जाते हैं।

यदि जीवात्मा का दुःख स्वाभाविक है यह पक्ष मान लिया जाय, अर्थात् जल का जैसे शैत्य स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार जीवात्मा का भी यदि दुःख स्वाभाविक गुण माना जाय, तो फिर दुःख-निवृत्ति सर्वथा असम्भव है, क्यों कि कोई भी वस्तु कभी भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करती है। साथ ही साथ सुखप्राप्ति भी किसी को नहीं होगी। और भी, फिर दुःख-निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की ओर किसी का प्रयत्न भी नहीं होगा। इतना ही नहीं, वेद पुराणादि में निर्दिष्ट सत्कर्म, ध्यान, उपासना आदि की तरफ किसी का प्रयास ही नहीं होगा, तब इन सत्कर्मों के उपदेशक ये सारे वेद, शास्त्र, व पुराण व्यर्थ ही हो जायेंगे !

---

१. न्यायदर्शन (१.१.२) में भी इसी प्रकार का एक सूत्र है— 'दुःख-जन्म-प्रवृति-दोष-मिथ्याज्ञानानामू उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु दुःखं स्वाभाविकमस्तु तन्निवृत्त्यै च प्रयत्नं करोत्विति चेत्? कदाप्येतन्न संभवति, स्वाभाविकस्य स्वस्वरूपत्वात्। स्वस्वरूपनाशार्थं को वा प्रयत्नं कुर्यात् ? स्वस्वरूपनाशे सति पुरुषार्थाभावः स्यात्। स्वाभाविकमेव स्वस्वरूपं कथमिति चेत्? गुडस्य मधुरगुणः स्वभावः तस्य मधुरगुणस्य नाशे भवितव्ये गुडस्यैव नाशो भवेत्, तथा जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं चेद् दुःखनाशे भवितव्य आत्मस्वरूपनाश एव स्यात्। आत्मनो नाशो नास्ति। अविनाशी नित्य इति च "अविनाशी वा अरेऽयमात्मा" (बृहदा. ४।५।१४) "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" (कठ. २।१८) इत्यादिश्रुतयो वदन्ति। तस्मादात्मनो दुःखं स्वाभाविकं न भवति, किंत्वागन्तुकमेवेति जानीहि।

ननु स्वाभाविकं नश्यतु, स्वरूपं तिष्ठतु इति चेत्? तन्न सम्भवति। नन्वग्नेः स्वाभाविकमुष्णत्वं मणिमन्त्रादिभिर्गच्छति, स्वरूपनाशोऽपि नास्ति, अन्यच्चैत्यमप्यागच्छति, तथात्मनोऽपि दुःखं स्वाभाविकं भवतु, तदुत्कृष्टकर्मोपासनयोगबलेन गच्छतु, सुखञ्चागच्छतु,

पूर्व प्रकरण द्वारा दुःख की स्वाभाविकता निरस्त की गई थी। पुनः वादी हठ करता है कि दुःख को जीवात्मा का स्वाभाविक गुण मान लो, और उसकी निवृत्ति के लिए जो प्रयास है, उसे पुरुषार्थ कहा जाय। इस पर प्रतिवादी या गुरुजी समाधान देते हैं कि यह कभी भी संभव नहीं है, क्यों कि स्वभाव तो किसी भी वस्तु का अपना स्वरूप होता है। स्वभाव की निवृत्ति का मतलब है अपने स्वरूप का नाश। कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो अपने स्वरूप के नाश के लिए प्रयत्न करेगा? और अपने स्वरूप के नाश में कौन-सा पुरुषार्थ है? अपि तु पुरुषार्थाभाव ही है।

किसी वस्तु का स्वभाव ही उसका अपना स्वरूप कैसे होता है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही उसका अपना रूप है, जैसे गुड़ का जो मधुर गुण है, वही उसका अपना स्वरूप है, उसके माधुर्य स्वभाव के नाश से अपने स्वरूप का ही नाश है, अर्थात् व्यवहार जगत् में फिर गुड़ का कोई उपयोग ही नहीं रह जाता है। इसी प्रकार यदि दुःख जीवात्मा का स्वभाव मान लिया जाय, तो स्वभाव व स्वरूप के एक होने से दुःखनाश से उसके अपने स्वरूप का ही नाश हो जायेगा।

आत्मा का या जीवात्मा का नाश नहीं होता है, यह तो अविनाशी व नित्य है। इस विषय में श्रुतियां भी प्रमाण हैं, जैसा कि बृहदारण्यक में कहा है, "अरे! यह आत्मा तो अविनाशी है"। कठोपनिषद् का भी यही कहना है कि "यह आत्मा नित्य है तथा आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त है, न यह उत्पन्न होता है और ना ही मरता है, अकस्मात् कहीं से इसकी उत्पत्ति भी नहीं है, अपितु यह अज, नित्य, शाश्वत व पुराण है, शरीर के नाश होने पर भी यह (शरीरी) आत्मा नष्ट नहीं होता है" इत्यादि। इसलिए यह निश्चित जानो कि दुःख आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, अपितु यह आगन्तुक ही है।

प्रश्न—जीवात्मा का स्वाभाविक दुःख भी उपाय-विशेष से नष्ट हो सकता है और उसका अपना सच्चिदानन्द स्वरूप भी रह जाता है ऐसा मान लिया जाय ? उत्तर—तो यह भी सम्भव नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति वदसि चेत्?

सा निवृत्तिस्तात्कालिक्येव, नात्यन्तिकी। कथमिति चेत्? कर्मजन्यं सकलमपि कर्मनाशे[1] नश्यति। त्वदुक्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरग्न्यात्मनोरुष्णत्वं दुःखित्वं च मणिमन्त्रादिभिरुत्कृष्टकर्मोपासनयोगैश्च गतमपि मण्याद्यपनयने कर्मादिक्षये च शैत्यं च सुखं च गच्छेत्, पुनः स्वाभाविकमुष्णत्वं दुःखित्वं चागच्छेत्। एवं सति सर्वजीवानां तात्कालिकमुक्तिं विना पुनर्जन्मरहिता मुक्तिर्न स्यात्। किं च मोक्षस्य जन्यत्वे अनित्यत्वमपि स्यात् "न च पुनरावर्तते" (छां.८.१५.१) इति मुक्तेर्नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतेः "अखण्डमानन्दमरूपमद्भुतम्" (?) इति श्रुतेश्च विरोधः स्यात्।

प्रश्न—जिस प्रकार अग्नि का अपना स्वाभाविक उष्णत्व (चन्द्रकान्त) मणि मन्त्रादियों के द्वारा नष्ट किया जाता है, फिर भी उसके अपने स्वरूप में कोई फर्क नहीं आता है, और शीतलता भी उसमें आ जाती है, इसी प्रकार जीवात्मा का दुःख गुण स्वाभाविक मान लिया जाय और उसे उत्कृष्ट कर्मोपासना व योगबल आदि से नष्ट माना जाय, फिर भी उसका अपना आनन्दस्वरूप विद्यमान रह जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि ऐसा मानोगे तो वह दुःखनिवृत्ति तात्कालिकी होगी, आत्यन्तिकी नहीं।

यदि यह पूछो कि जीवात्मा की आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति कैसे नहीं होगी? तो इसके उत्तर में सुनो—संसार में जितना भी कार्य है वह कर्मजन्य है एवं अनित्य है। यह जीवात्मा की दुःखनिवृत्ति भी कर्मोपासनादि का फल होने से कर्मजन्य ही है, उपासनादि कर्मों के नाश (अभाव) से इसका भी नाश हो जाता है।

तुमने जो अग्नि का दृष्टान्त दिया है कि मण्यादि के द्वारा उष्णत्व दूर हो जायेगा, इसी प्रकार दार्ष्टान्त में आत्मा का दुःखित्व भी उत्कृष्ट कर्मोपासनादि से दूर हो जायेगा, (यह भी ठीक नहीं है—) मणि आदि के हटा देने से, और उपासनादि कर्मों के अभाव में, पुनः अग्नि का शैत्य और जीवात्मा का सुखरूप नष्ट हो जायेगा, उसके स्थान पर पुनः स्वभावसिद्ध उष्णत्व तथा जीवात्मा का दुःखित्व तो वैसा ही रह जायेगा।

इस प्रकार यदि तुम्हारे कथनानुसार कर्मोपासनाजन्य मुक्ति को माना जाय तो सभी जीवों को तात्कालिक मुक्ति के सिवाय पुनर्जन्मरहित मुक्ति न मिल सकेगी। और भी, मोक्ष के कर्मजन्य तथा अनित्य होने से 'मुक्त पुरुष का पुनः संसार में आगमन नहीं होता है' यों मुक्ति की नित्यता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का तथा आत्मा के मुक्त स्वरूप को अखण्ड बताने वाली श्रुतियों का भी विरोध होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि दुःख को जीवात्मा का स्वभाव माना जायेगा और उसे कर्मोपासनादि द्वारा निरस्त माना जायेगा तो फिर कर्मोपासना के अवसर पर ही जीव को सुख की प्रतीति होगी; परन्तु मुक्तावस्था में तो कर्मोपासना है नहीं, अतः वहाँ नित्यसुखरूपता व नित्यानन्दता का लाभ न होकर तात्कालिक सुखलाभ होगा और उक्त श्रुतियों का भी विरोध होगा।

---

१. तन्नाशश्च भोगादिना। 'नास्त्यकृतः कृतेने' ति श्रुतेः, कृतकताऽनित्यत्वयोर्व्याप्तेः, सकलदुःखनिवर्त्तकस्य कस्याऽपि कर्मणो वेदे विधानाऽश्रवणाच्च नाऽयं पक्ष आदरणीयः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मनो दुःखस्वभावत्वे सुषुप्त्यवस्थायां तूष्णींभावे योगिनां समाधौ च दुःखमेव प्रतीयेत! तथा न दृश्यते, किन्तु त्रयाणामपि व्युत्थानानन्तरम् "एतावत् पर्यन्तं सुखमेवाहमासम्" इति सुखमेव स्मर्यते। तस्मादात्मनः सुखमेव स्वाभाविकं दुःखमागन्तुकमिति जानीहि।।

दुःखहेतुर्जन्म

सुखस्वरूपस्यात्मनो दुःखं शरीरपरिग्रहेणागतम्, "यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्" इति व्याप्तेः। ननु लोके राजादीनामपि शरीरपरिग्रहेण दुःखमस्ति नवेति चेत्? अस्त्येव, तेषामपि शत्रुपीडया, राज्यभारेण, धनधान्यक्षयेण, स्त्रीपुत्रादिमरणेन जरादिना स्वमरणेन च दुःखदर्शनात्। लोके 'केचित् सुखेन वर्तन्ते' इति व्यवहारो वृथा मोह एव।

मोहेनापि दुःखस्य सुखत्वव्यवहारः कथमिति चेत्? भारवाहको बहुयोजनदूरं कार्यार्थं त्वरया धावन्, तथा सन्ततमपि कृष्यादिकर्मकरणशीलश्चेत्येवमादयः सर्वेऽपि स्वस्वकर्मणो दुःखरूपत्वेऽपि मोहेन तत्तत्कर्म सुखं मत्वा सन्तुष्टा गानं कुर्वन्त उत्सांहवन्तश्च वर्तन्ते। तस्मान्मोहेन दुःखमेव सुखमिव भातीति ज्ञातव्यम्।।

दूसरी बात यह है कि यदि दुःख आत्मा या जीवात्मा का स्वभाव मानोगे तो सुषुप्ति अवस्था में, मौनस्थिति में और योगियों की समाधि में, केवल दुःख ही अनुभव होना चाहिए ! परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इन तीनों अवस्थाओं से जागरण के बाद "इतने समय तक मैं सुखी था" ऐसा ही सबका अनुभव है, और इसी अनुभूत सुख का ही स्मरण भी होता है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि सुख या आनन्द आत्मा का अपना स्वभाव है, दुःख आगन्तुक एवं आकस्मिक है जिसके परिहार की चेष्टा की जाती है, ऐसा ही समझो।

सुखस्वरूप इस आत्मा का दुःख तो शरीरग्रहण के निमित्त से है। इसमें यह व्याप्ति भी है कि जहाँ-जहाँ शरीरपरिग्रह होगा वहाँ-वहाँ दुःख होगा।

प्रश्न— शरीरपरिग्रह तो राजा महाराजाओं का भी है, क्या उन्हें भी कोई दुःख है ?

उत्तर—उन्हें भी दुःख है। वे भी शत्रुपीडा से, दुर्भर राज्यभार के अशक्य प्रबन्ध से, धनधान्य के नाश हो जाने से, स्त्री पुत्रादि के मरण से, वृद्धावस्था आदि से, अपनी मृत्यु से दुःखी ही देखे जाते हैं।

जब सब दुःखी ही हैं तो फिर संसार में यह व्यवहार कैसे होता है कि अमुक व्यक्ति सुखी है ? यह व्यवहार तो केवल मोह के कारण होता है।

मोह के कारण ही दुःख में भी सुख का व्यवहार हो जाता है, यह कैसे? जैसे कोई भारवाह अपने कार्य को सम्पन्न करने के लिए कोशों दूर भारवहन करता हुआ जल्दी जल्दी दौड़ता हुआ भी (अपने कार्यसिद्धि के मोह से) उसे सुख ही मान लेता है। और जैसे—निरन्तर कृष्यादि में लगा हुआ किसान दुःसाध्य कठिन कृषिकर्म को (फसल के मोह से) सरल मान लेता है। इसी प्रकार सब लोग तत्तत् कर्मों के दुःखरूप होने पर भी केवल मोह के कारण तत्तत् कर्मों में सुख का आरोप कर सन्तुष्ट होकर गाते हँसते हुए बड़े उत्साह से काम करते हैं, अतः यह मानना पड़ेगा कि मोह से दुःख भी सुख की ही तरह मालूम पड़ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तर्हि विवेकिनामपि शरीरपरिग्रहाद् दुःखमस्ति वेति चेत्? तेषामपि क्षुत्पिपासादिना, शीतोष्णादिना, व्याधिना, सर्पवृश्चिकव्याघ्रादिना च दुःखमस्त्येव। तर्हि विवेक्यविवेकिनोः को विशेष इति चेत्? तयोर्बाह्यव्यापारेण विशेषाभावेऽपि आन्तरव्यापारेण विशेषोऽस्ति।

विवेकिनिश्चयः

यो विवेकी स महात्मा सकलमपि दुःखमन्तःकरणस्यैव नात्मनः सच्चिदानन्दस्वरूपस्यात्मनोऽनृतजडदुःखस्वरूपान्तःकरणधर्मैरणुमात्रमपि सम्बन्धो नास्ति इति श्रुतियुक्त्यनुभवैर्विचार्य ज्ञात्वा तिष्ठति। तथा हि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ. ४।३।१५) इति श्रुतिः, निरवयवत्वात् सत्यत्वादित्यादिका युक्तयः, सुषुप्तितूष्णींभावसमाधिष्वनुभवश्च वेदितव्याः।

अविवेकिनिश्चयः

योऽविवेकी स दुरात्मा त्वात्मस्वरूपमविचार्य देहादिकमेवात्मानं मत्वाऽनात्मधर्मानात्मन्यारोप्याऽऽत्मधर्मांश्च सच्चिदानन्दाननात्मन्यारोप्यैवमन्योऽन्याध्यासं कुर्वन्

प्रश्न— ज्ञानियों को भी शरीर के परिग्रह से दुःख होता है या नहीं?

उत्तर— विवेकशील ज्ञानियों को भी भूख व प्यास के निमित्त, सर्दी व गर्मी के निमित्त, व्याधि के कारण एंवं सर्पवृश्चिकव्याघ्रादि निमित्त से दुःख तो होता ही है।

प्रश्न—तब ज्ञानी और अज्ञानियों में क्या फर्क रहा, जबकि उक्त दुःखनिमित्तों से सबका दुःख समान है ? उत्तर—सुनो; यद्यपि बाह्य व्यापार से दोनों का (ज्ञानी व अज्ञानी का) दुःख समान है तथापि आन्तरिक व्यापार से दोनों में बहुत फर्क है।

जो विवेकी है, वह महात्मा तो समस्त दुःखों को अन्तःकरण का धर्म मानता है, न कि आत्मा का, क्योंकि सत् चित् आनन्दस्वरूप आत्मा का, अनृत जड दुःखरूप अन्तःकरण के धर्मों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। विवेकी पुरुष ये सब बातें श्रुति, वेद, युक्ति व अनुभव से मनन करके ठीक-ठीक जान लेता है। बृहदारण्यक श्रुति भी इसमें प्रमाण है जो कहती है कि यह आत्मा असङ्ग है इत्यादि। युक्तियाँ भी इस प्रकार हैं—निरवयव होने से आत्मा व्यापक है, सत्य होने से यह नित्य है इत्यादि। और सुषुप्ति, मौनावस्था व समाधि में इसके निःसङ्गत्व व नित्यत्व का अनुभव भी होता है।

जो अविवेकी है, वह दुरात्मा तो आत्मा के स्वरूप का विचार न करते हुए देह व इन्द्रियादि को ही आत्मा मानकर अनात्मा देहेन्द्रियों के धर्म जो सुख दुःखादि हैं, उन्हें आत्मा में आरोपित कर और आत्मा के धर्म जो सत् चित् व आनन्दादि हैं, उन्हें अनात्मा देहेन्द्रियों पर आरोपित कर लेता है; इस प्रकार परस्पर अध्यास करता हुआ, "मैं देवता हूँ", "मैं मनुष्य हूँ", "मैं आन्ध्रदेशीय हूँ", "मैं द्रविड़देशीय हूँ", "मैं ब्राह्मण जाति वाला हूँ", "मैं क्षत्रियजातीय हूँ", "मैं वैश्यजातीय हूँ", "मैं शूद्रजातीय हूँ", "मैं ब्रह्मचारी हूँ", "मैं गृहस्थ हूँ", "मैं वानप्रस्थ हूँ", "मैं संन्यासी हूँ" इत्यादि प्रकार से अपने ऊपर जाति वर्ण व आश्रमादि के अभिमान का आरोप करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अहं देवः", "अहं मनुष्यः", "अहमान्ध्रः", "अहं द्राविडः", "अहं ब्राह्मणः", "अहं क्षत्रियः", "अहं वैश्यः", "अहं शूद्रः", "अहं ब्रह्मचारी", "अहं गृहस्थः", "अहं वानप्रस्थः", "अहं संन्यासी" इत्यादिप्रकारेण जातिवर्णाश्रमाभिमानी तिष्ठति।

विवेक्यविवेकिविवेकः

एवं विवेक्यविवेकिनोर्बहु भेदोऽस्ति। विचार्यमाणे तयोर्बाह्यव्यापारेणापि न साम्यम्। कथमिति चेत्? विवेकी प्रपञ्चं सर्वमपि मिथ्येति निश्चित्य प्रारब्धभोगमपि स्वप्नभोगतुल्यं पश्यति। अविवेकी तु प्रपञ्चः सत्यः, आत्मनः सुखदुःखानुभवोऽपि सत्य एवेति पश्यति। एवं विवेकिनामपि शरीरपरिग्रहवशाद् दुःखमस्त्येव।

सशरीरत्वे दुःखनियमः

देवानामपि "वज्रहस्तः पुरन्दर" इत्यादिवेदवचनेषु शरीरपरिग्रहदर्शनाद् दुःखमस्त्येव। कथमिति चेत्? अन्योऽन्यं युद्धतः कोपशापाभ्यामसुरराक्षसोपद्रवात् पुण्यकर्मफलनाशे सति भाव्यधःपातभयादपि दुःखमस्त्येव। कथं दुःखितानामपि तेषामितरैरुपास्यत्वं, कथं वा सुखदातृत्वमिति चेत्? अस्मिन् लोके राजप्रभृतीनां दुःखिनामपि स्वाश्रितपरिपालनादिकं यथा तथेति ज्ञेयम्।

"देवलोके देवा आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति" इति श्रुतेर्देवा दुःखं सर्वमप्यन्तःकरणधर्मं मत्वाऽऽत्मानन्दस्वरूपं सदाऽनुभवन्त एव तिष्ठन्तीति तात्पर्यम्। तेषामपि

इस प्रकार विवेकी व अविवेकी में बहुत बड़ा भेद है। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो विवेकी तथा अविवेकियों के बाह्य व्यवहार में भी समानता नहीं है, क्योंकि विवेकी (ज्ञानी) समस्त प्रपञ्च को मिथ्या समझता है, और प्रारब्धवश प्राप्त भोग को भी स्वप्नतुल्य ही जानता है, अर्थात् भाग्यवश उपलब्ध भोगों की नश्वरता को समझते हुए उन पर अत्यासक्त नहीं होता है, जैसा कि अविवेकी आसक्त होता है, क्योंकि वह (अविवेकी) तो संसार को ही सत्य मान बैठा है, अतः देहेन्द्रियादियों के सुखदुःखों को भी सत्य ही मानता है। परन्तु देहपरिग्रह-वश यत्किञ्चित् दुःख विवेकियों को भी होता ही है।

'इन्द्र वज्रधारी हैं' इत्यादि वेदवचनों के द्वारा देवताओं का भी शरीर-परिग्रह होने से दुःख होता ही है। प्रश्न—यह कैसे? उत्तर— परस्पर युद्ध के कारण, कोप तथा शाप से, असुर व राक्षसों के उपद्रवों से, और पुण्यकर्मों के फलों की समाप्ति के कारण आगे अधःपतन के भय से देवताओं को दुःख होता ही है। प्रश्न— जब स्वयं देवता लोग दुःखी हैं, तो फिर और लोग सुख की आशा से उनकी उपासना क्यों करते हैं? उत्तर— इस संसार में जैसे राजा महाराजा लोग स्वयं दुःखी होते हुए भी अपने आश्रितों का पालन पोषण करते ही हैं वैसे ही देवता लोग भी अपने भक्तों का पालन करते हैं।

जब देवताओं को दुःख होता है तो फिर वेद में यह कैसे कहा है कि देवलोक में देवता आनन्द-निमग्न रहते हैं इत्यादि? उत्तर—उक्त श्रुति का तात्पर्य यह है कि देवता लोग सभी प्रकार के दुःखों को अन्तःकरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुःखमस्तीति वदन्त्याः "ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्" (ऐ. २।१) इति श्रुतेर्देवानामपि शरीरपरिग्रहाद् दुःखमस्त्येवेति तात्पर्यम्। तस्माद् विदेहमुक्त्यर्थमेव प्रयत्नः कर्तव्यः।।

चर्यादिसाधनैश्चतुर्विधमुक्तिः

नन्वशरीरमुक्तेरेव मुक्तित्वं चेत्, सशरीरा आकाशे नक्षत्ररूपेण परिदृश्यमानाः केचन देवा मुक्ता इति मनुष्यैः कथं कथ्यन्त इति चेत्?, शृणु—सालोक्यं, सामीप्यं, सारूप्यं, सायुज्यमिति चतुर्विधा मुक्तिः।

चर्या, क्रिया, योगो, ज्ञानमिति चतुर्णां क्रमेण साधनानि। भगवत्कैङ्कर्यरूपदासभावश्चर्या, शिवविष्ण्वादिपूजाविधिः क्रिया, यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगो योगः। जीवपरमेश्वर-

का धर्म मानकर सर्वदा आनन्द स्वरूप का अनुभव करते हैं। फर्क इतना है कि साधारण मनुष्य दुःखादि धर्मों को आत्मा में आरोपित कर लेता है, परन्तु देवता लोग उसे अन्तःकरण का ही धर्म मानते हैं। शरीर ग्रहण करने के निमित्त देवता लोग दुःखी होते ही हैं, इस बात को सूचित करने वाली श्रुति भी है जो स्पष्ट कहती है कि ईश्वर द्वारा उत्पादित ये महान् देवता इस विस्तृत संसार-सागर में गिर पड़े। इसलिए विदेह-मुक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न—पूर्व प्रकरण में आपने कहा था कि विदेह मुक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। यदि विदेह मुक्ति ही मुख्य मुक्ति है तो फिर लोग यह कैसे कहते हैं कि कुछ पुण्यात्मा लोग (ध्रुवादि) सशरीर मुक्त होकर आकाश में नक्षत्र रूप में दिखलाई देते हैं ?

उत्तर—सुनो, मुक्ति चार प्रकार की होती है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, और सायुज्य।[1]

चर्या, क्रिया, योग, व ज्ञान—ये चार उक्त चार प्रकार की मुक्ति के साधन हैं।

(१) चर्या—भगवान् की सेवा में दासभाव से रहना चर्या है। (२) क्रिया—शिव या विष्णु आदि की शास्त्रविधिपूर्वक पूजा ही क्रिया है। (३) योग—योग शास्त्र में बतलाये गये यम, नियम व आसन धारणा ध्यानादि का सम्यक् अनुष्ठान ही योग है। (४) ज्ञान—जीवात्मा व परमात्मा का ऐक्य-साक्षात्कार ही ज्ञान है।

---

१. उपनिषद् आदि में देवतादि की उपासनाओं के सालोक्यादि फल कहे हैं। तदनुसार पुराणादि में भक्तिरूप उपासना से चतुर्विध मोक्ष वर्णित हैं। भक्ति-सम्प्रदायों में भक्ति-प्रयुक्त ईश्वरानुग्रह से मोक्ष-प्राप्ति बतलायी है। यह मोक्ष चार प्रकार का होता है—(१) सारूप्यम्=भगवद्रूपताप्राप्तिः अर्थात् चर्या द्वारा ईश्वरानुग्रह से भगवद्रूपता की प्राप्ति। (२) सामीप्यम्=भगवत्समीपे स्थितिः अर्थात् कीर्तनादि द्वारा उनका सान्निध्य प्राप्त करना। (३) सालोक्यम्=भगवल्लोके निवासः अर्थात् यमनियमादि के अनुष्ठान से प्राप्त अनुग्रह द्वारा उनके लोक में निवास। (४) सायुज्यम्=भगवद्विग्रहे विलयः अर्थात् ज्ञान द्वारा भगवान्में ही लीन हो जाना। मूलकारोक्त सायुज्यसाधन ज्ञान वैष्णव-मान्यता से विलक्षण है यह ध्यान देना चाहिये। अतएव सायुज्य से कैवल्य समझना ठीक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योरैक्यसाक्षात्कारो ज्ञानम्। तत्राद्यास्तिस्रो मुक्तयो मुख्या न भवन्ति, पुनरावृत्तिसम्भवात्। सायुज्यमेव मुख्या मुक्तिः, पुनरावृत्तिवर्जनात्। "योगेन सायुज्यम्" इति शास्त्रं निर्गुणब्रह्मविषयम्।

सशरीरमुक्तानामिवाशरीरमुक्तानां कदाचिदपि कुत्रचिदपि केनाऽपि कथंचिदपि दर्शनाभावाच्छून्यमेवाशरीरमुक्तिरिति न मन्तव्यम्। अशरीरमुक्तानां शरीरस्यैव शून्यत्वं न स्वरूपसुखस्य, स्वरूपसुखं तु सुषुप्तिसुखवदशरीरत्वात् स्वसंवेद्यमेव, नान्यसंवेद्यम्।

सुषुप्तिर्मुक्तिसमाना चेत् सापि मुक्तिः स्यादिति न वाच्यम्। सुखानुभवमात्रेण साम्येऽपि सुषुप्तावज्ञानं पुनरुत्थानं चास्ति, मुक्तौ तदुभयमपि नास्ति। अतः सुषुप्तेर्मुक्तित्वं न सम्भवति। अत एव प्रलयस्यापि न मुक्तित्वम्। एवं सुषुप्तिसुखवन्मुक्तिसुखस्य स्वानुभवगम्यत्वात् प्रत्यक्षत्वमेव, न शून्यत्वम्।

तर्हि सशरीरमुक्तीनामिवाशरीरमुक्तेरपि[स्वरूपसुखस्य] प्रत्यक्षत्वे, तत्र को भेद इति चेत्? अज्ञाननिवृत्तिः पुनरुत्थानाभावश्च भेद इत्युक्तम्। एवं श्रुतियुक्तिभ्यामशरीरमुक्तेः परमसुखत्वं शरीरपरिग्रहेण दुःखं चोक्तम्।

इनमें से प्रारम्भ की सालोक्य, सामीप्य व सारूप्य, ये तीन प्रकार की मुक्तियाँ मुख्य नहीं हैं। क्यों कि इनमें तत्तत् लोकों से पुनरावृत्ति सम्भव है। सायुज्य ही मुख्य मुक्ति मानी गयी है, इससे फिर संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है। यद्यपि वैष्णव सम्प्रदायानुसार अष्टाङ्गयोग द्वारा सालोक्य मुक्ति ही प्राप्त होती है, तथापि अन्यत्र जो यह प्रमाण मिलता है कि योग के द्वारा सायुज्य (परामुक्ति) है वह निर्गुण ब्रह्मविषयक ही है[1]।

जीवन्मुक्ति या सशरीर मुक्ति में जैसे तत्तत् लोकों में नक्षत्रादि तत्तत् रूप में दर्शन होता है, वैसे विदेह मुक्ति में कहीं भी किसी प्रकार किसी के द्वारा दर्शन न होने से, उक्त मुक्ति को शून्य-स्वरूप नहीं मान लेना चाहिए, क्यों कि विदेह मुक्ति में केवल शरीर की शून्यता रहती है, न कि स्वरूप सुख की। सुषुप्ति में जैसे बिना शरीर के ही स्वरूप सुख का अनुभव होता है वैसे शरीर के बिना ही वहाँ भी स्वरूपसुख स्वसंवेद्य है, अन्य-संवेद्य नहीं।

प्रश्न—स्वरूप सुखानुभव के समान होने से सुषुप्ति को भी मुक्ति क्यों न मान लिया जाय ?

उत्तर— यद्यपि सुखानुभव दोनों में (सुषुप्ति व मुक्ति में) एक समान रहता है, फिर भी महान् अन्तर है : सुषुप्तिदशा में अज्ञान व पुनरुत्थान भी है, परन्तु मोक्षावस्था में ये दोनों ही नहीं रहते हैं इसलिए सुषुप्ति को मुक्ति नहीं कह सकते हैं। अत एव महासुषुप्तिरूप जो प्रलय है उसे भी मुक्ति नहीं कह सकते हैं। अतः सुषुप्तिदशा की तरह मुक्तावस्था भी स्वानुभव-गम्य होने से वहाँ भी स्वरूप सुख साक्षात् होता ही है, उसे शून्यावस्था नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न—सशरीर मुक्ति तथा विदेह मुक्ति में स्वरूपसुख की समान प्रतीति होती है तो फिर इनमें परस्पर क्या भेद है?

---

१. अर्थात् निर्गुणबोधकी दृढता से कैवल्यलाभ 'योगेन' आदि में अभिप्रेत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीरदुःखव्याप्तिः

इदानीमनुभवेनापि तदुभयं वदामः। नित्यं सुषुप्तौ शरीरपरिग्रहाभावाद् दुःखाभावश्च, जाग्रत्स्वप्नयोः शरीरपरिग्रहेण दुःखं च सर्वैरनुभूयते। तस्मात् "यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र दुःखम्" इति व्याप्तेरानन्दस्वरूपस्यात्मनः शरीरपरिग्रहादेव दुःखमागच्छति न तु स्वतः।

कर्म जन्महेतुः

तस्य शरीरस्य को वा हेतुरिति चेत्? पूर्वकर्मसहितपञ्चीकृतभूतान्येव, न केवलभूतानि, तेषां सर्वत्र वर्तमानत्वात्तेभ्यः शरीरं स्यादिति न वक्तव्यम्। ननु—शुक्रशोणितरूपेण परिणतानामेव भूतानां शरीरकारणत्वेन विवक्षितत्वात्तादृशान्येव शरीरस्य कारणम् इति न वक्तव्यम्, व्यर्थशुक्रशोणितेषु शरीरोत्पत्त्यदर्शनात्। तस्मात् कर्मसहितान्येव शरीरस्य कारणानि।

उत्तर—अज्ञान की निवृत्ति तथा पुनरुत्थानाभाव अर्थात् फिर से संसार में न आना—यही भेद है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार की मुक्तियों में यद्यपि स्वरूप सुखानुभव समान है, तथापि विदेह मुक्ति में सर्वथा अज्ञाननिवृत्ति होती है तथा पुनरावृत्ति नहीं होती है, यही विशेष है।

इस प्रकार श्रुति व युक्ति से विदेह मुक्ति की परम सुखरूपता तथा शरीरपरिग्रह की दुःखरूपता कहकर अब अनुभव द्वारा भी वर्णन करते हैं—नित्यप्रति सुषुप्ति में शरीर का भान न होने से दुःखाभाव की प्रतीति होती है, और जाग्रत् व स्वप्नावस्था में शरीर परिग्रह होने से सभी लोग दुःख का अनुभव करते हैं। इसलिए जहाँ जहाँ शरीर-परिग्रह होगा वहाँ दुःख होगा, इस व्याप्ति के आधार पर यह निश्चित है कि आनन्दस्वरूप आत्मा का केवल शरीर-परिग्रह के कारण दुःख है, न कि स्वतः।

प्रश्न—उस शरीर का कौन-सा कारण है? अर्थात् आत्मा जो शरीर का परिग्रहण करता है, इसमें कौन-सा हेतु है? उत्तर— पूर्वजन्मों के कर्म सहित पञ्चभूत ही इसमें कारण हैं, अर्थात् जीव जब देहरूप में जन्म लेता है, तो इसमें उसके पूर्वजन्म के कर्म निमित्त हैं और बिना पञ्चभूतों के देह का निर्माण असम्भव है इसलिए ये पञ्चभूत उपादान कारण हैं। अतः कर्म सहित पञ्चभूत कारण हैं, न कि केवल पञ्चभूत कारण हैं। क्योंकि पञ्चभूतों की सत्ता तो सर्वत्र है, इसलिए यदि कर्म को निमित्त न माना जाय तो सर्वत्र उनसे देह की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा, इसलिए केवल भूतों को देह का कारण नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न—आपने जो शरीर-परिग्रह या शरीरोत्पत्ति में पूर्वजन्म के कर्म को कारण माना है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती है। हमें तो यही मालूम है कि पुरुष व स्त्री के शुक्र व शोणित में परिणत हुए ये पंचमहाभूत ही शरीरोत्पत्ति में कारण हैं?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है। शुक्र व शोणित का ही परिणाम यह देह है ऐसा तुम्हें नहीं मानना चाहिए, क्यों कि व्यर्थ (अर्थात् जो देहाकार में विकसित नहीं होते उन) शुक्रशोणित से शरीरोत्पत्ति नहीं देखी गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चभूतानां देशकालादीनां च सर्वसाधारणत्वात्तत्तत्कर्मवैचित्र्यमेव शरीरवैचित्र्ये हेतुः, यथा मृदादीनां साधारणत्वेऽपि कुलालव्यापारवैचित्र्यमेव घटादिकार्यवैचित्र्यहेतुः। यथा दृष्टान्ते घटादेर्मृदुपादानकारणं कुलालव्यापारो निमित्तकारणम्, एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि शरीरस्य पञ्चीकृतभूतानि उपादानकारणं, तत्तत्कर्म निमित्तकारणम्[1]। तस्माद् भोगप्रदकर्मणि सति शरीरपरिग्रहः। यथा जाग्रत्स्वप्नयोः कर्मणो विद्यमानत्वाच्छरीरप्राप्तिः। कर्माभावे शरीराभावः, यथा सुषुप्तौ कर्माभावाच्छरीराभावः।

किं च यथा मृदि सत्यामपि कुलालव्यापाराभावे घटोत्पत्त्यभावः तथा ईश्वरसृष्टेषु पञ्चभूतेषु सत्स्वपि आत्मज्ञानेन कर्मसु नष्टेषु (सत्सु) तस्य ज्ञानिनः शरीरं नोत्पद्यते।।

ये पंचमहाभूत, देश व काल आदि किसी भी कार्य के साधारण कारण माने जाते हैं शरीर-परिग्रह में तो विशेषरूप से पूर्व कर्म ही हेतु हैं, क्योंकि शरीर की विभिन्नता में कर्म की विचित्रता ही हेतु है।

जैसे साधारण कारण मिट्टी आदि के विद्यमान रहने पर भी घटादि कार्य की विचित्रता में कुम्हार के व्यापार (प्रयत्न) की विचित्रता ही हेतु है, वैसे ही पञ्चमहाभूतों के सामान्यतया रहने पर भी शरीर की विचित्रता में पूर्वजन्मों के कर्म ही हेतु हैं। (यहां कर्म से मानस-कर्म भी समझना चाहिये जिसे उपनिषद् में 'श्रुत' कहा है।)

दृष्टान्त में जो घटादि उपस्थित किया है, इसमें घटरूपी कार्य के प्रति मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार का व्यापार (प्रयत्न) निमित्त कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कुलाल का जितना अधिक प्रयत्न रहेगा उतना ही सुन्दर व मजबूत घट भी निष्पन्न होगा। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में भी, इस शरीर रूपी कार्य के लिए पञ्चीकृत महाभूत उपादान कारण हैं, और पूर्वजन्म के तत्तत् कर्म निमित्त कारण हैं। तस्मात् यह निश्चित है कि भोगप्रद कर्मों के रहने पर ही शरीरपरिग्रह है अन्यथा नहीं। भोगयोग्य कर्म फलोन्मुख रहते ही शरीरलाभ होता है यह इससे निर्णीत है कि जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाओं में क्योंकि प्रारब्धफल भोगना आवश्यक है इसलिये शरीर भी बना रहता है तथा सुषुप्ति में क्यों कि कोई कर्मफल भोग्य नहीं होता इसलिये 'सकले विलीने' इत्यादि कैवल्यश्रुति से वहाँ शरीर भी रहता नहीं। (जो पड़ा सोता शरीर दूसरों को दीखता है वह जाग्रत् का है, *सुषुप्ति* में स्थूल-सूक्ष्म शरीर नहीं यह भाव है। तात्पर्य इस नियम में ही है कि कर्म रहते ही शरीर होगा, कर्मों के बिना नहीं।) और भी जैसे—मिट्टी के रहने पर भी, कुलाल के प्रयत्न के बिना घड़ा नहीं बन सकता है, वैसे ही ईश्वर-निर्मित पञ्चभूतों के रहते हुए भी पूर्वकर्म के बिना शरीरोत्पत्ति नहीं होती, अथवा आत्मज्ञान द्वारा पूर्वजन्मों में सञ्चित कर्मों के नष्ट हो जाने पर ज्ञानी के शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। (वस्तुतस्तु अविद्या की बाधात्मक निवृत्ति होने से ही भूत-भावी सभी जन्मों का निरास होता है। जैसे स्वप्नसे उठने पर जो स्वप्नगत शरीरों की निवृत्ति है वह कर्मादि की निवृत्ति के निमित्तसे नहीं वरन् स्वप्ननिवृत्तिसे ही है वैसे तत्त्वज्ञानसे जन्म-प्रबन्ध का मिटना अविद्या के हटनेसे ही है। हेतुपरम्परा तो समझाने का एक ढंग है।)

---

१. 'कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे' (सूत्रभाष्ये ३.१.२) इति भाष्ये व्यक्तम्। कर्मण एव प्राधान्यमार्तभागब्राह्मणे (बृ. ३.२.३) स्थापितम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु कर्मशास्त्रे "अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्", "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इति; ज्ञानशास्त्रे "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" (गीता ४।३७) इति च वचनयोः परस्परं विरोधे कथं निर्णयः कर्तव्य इति चेत्? शृणु— शास्त्रे प्रबलवचनं दुर्बलवचनं चास्ति। प्रबलं सिद्धान्तवचनम्। दुर्बलं पूर्वपक्षवचनम्। प्रबलं दुर्बलं निरस्यति। तद्यथा "अहिंसा परमो धर्मः" इति वचनं प्रबलमपि सत् "यागे पशुवधः कर्तव्यः" इत्यतिप्रबलेन वचनेन निरस्यते, एवम् "अवश्यमनुभोक्तव्यम्" इति वचनम् "तपसा किल्बिषं हन्ति", (मनु.१२।१०४) इति प्रबलवचनेन दुर्बलं सन्निरस्यते। तस्मात् सञ्चितेषु कर्मसु बहुषु सत्स्वप्यात्मज्ञानेन तानि नश्यन्त्येव। कर्माभावे जन्माभावः, जन्माभावे दुःखाभावः, दुःखाभावे आनन्दाविर्भाव इत्ययमेव सिद्धान्तः।।

।। इति चतुर्थवर्णकम्।।

प्रश्न—कर्मशास्त्र के अनुसार किये हुए शुभाशुभ कर्मों का भोग करना निश्चित किया है, क्योंकि बिना भोग किये हुए कर्मफल कभी भी क्षीण नहीं होता है। इसके विपरीत ज्ञान-शास्त्र का मत है कि ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है, इस प्रकार दोनों शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त होने से कैसे निर्णय किया जाय?

उत्तर—सुनो; शास्त्रों में जब दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं तब उनमें से कुछ वचन प्रबल होते हैं, कुछ दुर्बल, या कुछ सामान्य और कुछ विशेष। जहाँ परस्पर विरोध दिखाई दे, वहाँ विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्र का बाधक होता है, या प्रबल दुर्बल को बाँध लेता है। इसमें प्रबल वचन सिद्धान्त पक्ष कहा जाता है, और दुर्बल वचन पूर्वपक्ष कहा जाता है। प्रबलवचन या सिद्धांतपक्ष पूर्वपक्ष या दुर्बलवचन को निरस्त कर देता है।

जैसे 'अहिंसा परम धर्म है', 'सभी प्राणियों की हिंसा मत करो' इत्यादि शास्त्रानुमोदित प्रबल वचन भी 'यागांगरूपसे विहित पशुवध करना चाहिये', 'अग्नि-सोम देवताओं के लिये पशु का वध करे' इत्यादि अतिप्रबल या विशेष शास्त्र के द्वारा बाधित हो जाते हैं, इसी प्रकार 'किये कर्मों का फल जरूर भोगना पड़ता है' इत्यादि वचन भी 'तपस्वी तपस्यासे पाप समाप्त करता है' इत्यादि प्रबलवचनों के द्वारा निरस्त हो जाते हैं।[1] इसलिए कितने ही सञ्चित कर्म क्यों न हों, वे सब ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी के कर्माभाव से जन्म का अभाव और जन्माभाव में दुःखभाव है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष या आनन्दाविर्भाव है, यह सिद्धान्त है।

।। इति चतुर्थ वर्णक।

---

१. "तपसा किल्बिषं हन्ति" इत्यादि वचन सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म विषयक हैं, प्रारब्ध कर्मों का तो भोग द्वारा ही क्षय होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

पञ्चमवर्णकम्

कर्मभेदः

अस्यात्मनो दुःखं शरीरपरिग्रहाच्छरीरं च कर्मणेत्युक्तम्। तत्कर्म कतिविधमिति चेत्? शृणु। कर्म त्रिविधं—पुण्यं पापं मिश्रं चेति। देवादिशरीरं पुण्यकर्मफलम्। तिर्यगादिशरीरं सर्वं पापकर्मफलम्। मनुष्यादिशरीरं मिश्रकर्मफलम्।

एवमुक्तं त्रिविधमपि कर्मोत्कृष्टं मध्यमं सामान्यमिति प्रत्येकं त्रिविधम्। एवमुक्तकर्मभेदेन जन्मभेदश्च नानाप्रकारः।

तथाहि—हिरण्यगर्भादिशरीरं पुण्यकर्मोत्कृष्टम्। इन्द्रादिशरीरं पुण्यकर्ममध्यमम्। यक्षराक्षसपिशाचादिशरीरं पुण्यकर्मसामान्यम्।

परतापकरं कण्टकवृक्षविषवृक्षव्याघ्रसर्पवृश्चिकोलूकमशकजलूकादिशरीरं सर्वं पापकर्मोत्कृष्टम्। पनसाम्रकदलीनारिकेलादिफलपत्रपुष्पविनियोगवद्वृक्षलतादिकं, ग्रामसूकरमहिषगर्दभोष्ट्रादिकं च सर्वं शरीरं पापकर्ममध्यमम्। अश्वत्थतुलसी बिल्व-गवाश्वादिशरीरं पापकर्मसामान्यम्।

इस जीवात्मा को शरीरग्रहण करने के निमित्त दुःख होता है और शरीरपरिग्रह (शरीर प्राप्ति) कर्म द्वारा कहा गया है। तब प्रश्न यह है कि यह कर्म कितने प्रकार का है? उत्तर— कर्म तीन प्रकार का होता है—पुण्यकर्म, पापकर्म, व पुण्य-पाप मिश्रित कर्म। पुण्यकर्मों का फल है देवादि शरीर प्राप्त करना, पाप कर्मों का फल है पशुपक्षी आदि समस्त शरीरों की प्राप्ति, मिश्रकर्मों का फल है मनुष्यादि शरीर की प्राप्ति।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के कर्म भी उत्कृष्ट, मध्यम व सामान्य भेद से पुनः प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार उक्त कर्मभेद से जन्मभेद भी नाना प्रकार का होता है।

इन तीन प्रकार के पुण्य, पाप तथा मिश्र कर्मों में भी प्रत्येक के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं— उत्कृष्ट पुण्य, मध्यमपुण्य, और सामान्य पुण्य। उत्कृष्ट पाप, मध्यम पाप, और सामान्य पाप। उत्कृष्ट मिश्र, मध्यम मिश्र और सामान्य मिश्र। इस प्रकार देवादि शरीरों में हिरण्यगर्भादि शरीर-प्राप्ति उत्कृष्ट पुण्य कर्मों का फल है, और इन्द्रादि शरीर की प्राप्ति मध्यम पुण्य कर्मों का फल है एवं यक्ष, राक्षस, पिशाचादि के शरीर की प्राप्ति सामान्य पुण्यकर्मों का फल है।

इसी प्रकार पशु, पक्षी आदि के शरीरों में, दूसरों के लिए दुःखदायक जो सकण्टक-विष वृक्ष, व्याघ्र, सर्प, वृश्चिक, उल्लू, मच्छर, जौंक आदि शरीर की प्राप्ति है, वह उत्कृष्ट पाप कर्म का फल है। और कटहल, आम, केला, नारियल आदि जिनके फल, पत्र, पुष्पादि का विनियोग देवादि की पूजा में होय, इस प्रकार के वृक्ष व लतादि के रूप में जो शरीरप्राप्ति है, वह मध्यम पाप कर्म का फल है। और इसी मध्यम पाप कर्म के फल की कोटि में ग्रामसूकर, महिष, गर्दभ, उष्ट्र आदि की शरीरप्राप्ति भी है। पीपल, तुलसी, बिल्ववृक्ष, गाय, अश्व आदि की शरीरप्राप्ति सामान्य पाप कर्म का फल है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इह मनुष्यलोके तु निष्कामकर्मानुष्ठानसाधनचतुष्टयसद्गुरुलाभश्रवण-मननात्मज्ञानक्रमेण जीवन्मुक्तेर्विदेहमुक्तेश्च योग्यं मनुष्यशरीरं मिश्रकर्मोत्कृष्टम्। स्वाश्रमोचितकर्मणां काम्यकर्मणां चानुष्ठानयोग्यं शरीरं मिश्रकर्ममध्यमम्। चाण्डाल-पुल्कसकिरातयवनादिशरीरं मिश्रकर्मसामान्यम्।

विवेकिकर्त्तव्यम्

तस्माद् विवेकिना पुरुषेणैतत्कर्मफलतारतम्यं विचार्य भूमौ मनुष्यजन्मनि मिश्रकर्मोत्कृष्टं जन्म यथा सिद्ध्येत्तथा स्ववर्णाश्रमकर्माणि कृत्वा फलेच्छां विहायेश्वरार्पणं कृत्वा, आत्मविचारद्वारा मोक्षप्राप्तावेव प्रयत्नः कर्तव्य इति सिद्धान्तः।

कर्तृत्वविचारः

एतत् त्रिविधमपि कर्म केन क्रियत इति चेत्? त्रिविधकरणैरेव क्रियत इति जानीहि। नन्वस्मिँल्लोके ''अहं करोमि'' ''अहं करोमि'' इति वदतां सर्वेषामनुभवेनास्मिन् देहे देहाभिमानी सन्नहंशब्दार्थतया य आत्मा वर्तते, तस्यात्मनः कर्तृत्वे वक्तव्ये तं विहाय त्रिविधकरणानां भवद्भिः कर्तृत्वं कथमुच्यत इति चेत्? शृणु। आत्मा अविकारी निष्क्रियः स्वगतभेदशून्यः। तस्मादात्मनः कर्तृत्वं वक्तुं न शक्यते।

इस संसार में जो लोग निष्काम कर्मानुष्ठान करते हैं, और नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्र फलभोग-विराग, शमदमादिषट्सम्पत्ति, मुमुक्षा इत्यादि साधनचतुष्य से सम्पन्न हैं, सद्गुरु के लाभ से श्रवण मननादि क्रम से जो अपने शरीर को जीवन्मुक्ति या विदेह मुक्ति के योग्य बना चुके हैं, उनका शरीर उत्कृष्ट मिश्रित कर्मों का फल है। और जो लोग अपने वर्णाश्रम के उचित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, निषिद्ध कर्मों को छोड़कर काम्य कर्मों के अनुष्ठान के योग्य शरीर प्राप्त करते हैं उनका मानव देह मध्यम कोटि के मिश्र कर्मों का फल है। एवं चाण्डाल, पुल्कस, किरात व यवनादि शरीरप्राप्ति सामान्य मिश्रकर्मों का फल है।

इसलिए विवेकशील पुरुष को चाहिए कि वह तत्तत् कर्मों के फलों के तारतम्य (अर्थात् उत्कृष्ट व निकृष्ट परिणाम) का विचार करके इस संसार में मनुष्य जन्म में, जिस प्रकार भी उत्कृष्ट मिश्र कर्मों का फल मिले उसी प्रकार अपने-अपने वर्णाश्रम कर्मों को करके फलासक्ति को छोड़कर केवल ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करता हुआ आत्मविचार द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करे, यही सिद्धान्त है।

प्रश्न— यह पूर्वोक्त (पुण्य, पाप व मिश्र) तीन प्रकार का कार्य किसके द्वारा किया जाता है? उत्तर—यह पूर्वोक्त त्रिविध कर्म त्रिविध करणों के द्वारा ही किया जाता है, यह जानो।

प्रश्न—इस संसार में ''मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ'' इस प्रकार के व्यवहार से तो यही अनुभव होता है कि इस शरीर में जो देहाभिमानी आत्मा है, वही अहं-शब्दवाच्य (मैं इस शब्द का अर्थ) है, और वही कर्ता व भोक्ता आदि है। आप तो उस मुख्य आत्मा को कर्ता-भोक्ता न बतला कर त्रिविध करणों (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय व अन्तःकरण) को क्यों कर्ता भोक्ता बतला रहे हैं?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु कर्तृत्वं चात्मनिष्ठतया भाति, कर्ता चान्यो न दृश्यते, एतत्कथमिति चेत्? आत्मनि प्रतीयमानं कर्तृत्वमध्यासात्, न तु स्वभावतः, इति विजानीहि।

स्वाभाविकमिति चेत्? न केनापि वेदान्तविचारं कृत्वा ममेदं कर्तृत्वं परिहरणीयम्, अस्यानपाये संसारबन्धो नापयास्यति इति व्यर्थः प्रयत्नः करणीयः।

आत्मनः कर्तृत्वं स्वाभाविकं भवतु, प्रयत्नविशेषेण च नश्यत्विति चेत्? स्वभावस्य स्वरूपत्वात् स्वरूपनाशार्थं को वा प्रयत्नं कुर्यात्? स्वरूपनाशे सति कः पुरुषार्थमनुभवेत्? किं च, अकर्ता जीवन्मुक्तो न चेत्तदा वेदान्तसंप्रदायो गुरुशिष्यौ च न स्युः। किं च,

आत्मा अविकारी निष्क्रिय स्वगतभेद से रहित है[1] इसलिए आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्वादि नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न— हमें तो कर्तृत्व आत्मा में दिखाई दे रहा[2] है, तदतिरिक्त कोई कर्त्ता दिखाई भी नहीं देता है?

उत्तर— यह निश्चित जानो कि स्वभावतः आत्मा में किसी प्रकार का कर्तृत्व व भोक्तृत्वादि नहीं है। यह आपाततः जो तुम्हें आत्मा का कर्तृत्वादि मालूम पड़ रहा है, वह अध्यास[3] के कारण मालूम पड़ रहा है।

प्रश्न— यदि आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व मान लिया जाय तो क्या हानि है ? उत्तर— तब तो वेदन्त-विचार के द्वारा भी इसका कर्तृत्व दूर नहीं हो सकता है, और कर्तृत्वभोक्तृत्वादि के सम्बन्ध से आत्मा का संसारबन्धन से मोक्ष नहीं होगा अतः मुमुक्षुओं का वेदान्तादि शास्त्रों में परिश्रम भी व्यर्थ हो जायेगा अतः आत्मा में कर्तृत्वादि स्वाभाविक नहीं है।

प्रश्न—यदि आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक मान लिया जाय और प्रयत्न विशेष से उसका नाश मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? उत्तर—किसी भी वस्तु का स्वभाव उसका अपना ही स्वरूप होता है, अतः अपने स्वरूप के नाश के लिए कौन प्रयत्न करेगा ! फिर, स्वरूप नष्ट हो जाने पर पुरुषार्थ का अनुभव कौन करेगा? और भी, आत्मा को यदि अकर्ता, सुख दुःखादि भोक्तृत्वधर्म-रहित तथा जीवन्मुक्त नहीं मानोगे, तो फिर संसार में वेदान्त-प्रवचन परम्परा तथा गुरुशिष्यभाव ये कुछ भी न रह जायेंगे।

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा को निष्क्रिय शान्त व निरञ्जन कहा है। आत्मा के निष्कल व निरञ्जन होने से उसमें स्वगत सजातीय व विजातीय भेद भी सम्भव नहीं हैं। पञ्चदशी में स्वगतादि भेदों का वर्णन इस प्रकार है—

"वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षान्तरैः सजातीयो विजातीयः शिलादिभिः।" अर्थात् वृक्ष का जिस प्रकार अपना स्वगत भेद उसके पत्र पुष्प फलादि से है और सजातीय भेद आम्र खदिरादि अन्य वृक्षों से है और विजातीय भेद शिला पर्वतादि से है, आत्मा में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है।

२. नैय्यायिक लोग ज्ञान, इच्छा, कृति का आश्रय आत्मा को मानते हैं, और "चेतनोऽहं करोमि" इस सामानाधिकरण्य द्वारा कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आत्मा के ही मानते हैं, इसी आशय से पूर्वपक्षी या शिष्य आत्मनिष्ठ कर्तृत्व मान रहा है।

३. जो जहाँ नहीं वह वहाँ प्रतीत हो यह अध्यास है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्माऽकर्ता साक्षी निष्क्रिय इति प्रतिपादकस्य ''निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'' (श्वेता ६।१९) ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे० ६।११) इत्यादि-श्रुतिवाक्यस्यापि हानिः स्यात्।

सुषुप्तावात्मनि विद्यमानेऽपि कर्तृत्वं न दृश्यते। यदि कर्तृत्वं तस्य स्वाभाविकम्, अग्नेरुष्णत्वमिवोपलभ्येत, तथा नोपलभ्यते। तस्मादात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्।

ननु सुषुप्तौ कर्तृत्वानुपलम्भः करणवियोगात्, यथा तक्षादेः कर्तृत्वे विद्यमानेऽपि स्नानभोजनादिसमये तदनुपलम्भः, तद्वद् भवतु; इति चेत्? न; तूष्णींभावावस्थायामन्तः-करणसंयोगे विद्यमानेऽपि कर्तृत्वानुपलम्भादात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकं किं त्वाध्यासि-कमेव।

अध्यासो नामान्यनिष्ठधर्माणामन्यत्रावभासः। यथा नौनिष्ठगमनस्य तीरस्थवृक्षे, तीरस्थवृक्षनिष्ठाचलत्वस्य नावि चाध्यासवशाद् भानम्। एवं विविधकरणनिष्ठकर्तृत्वस्यात्मनि, आत्मनिष्ठाऽकर्तृत्वस्य विविधकरणेषु च भानमज्ञानवशादेव। तस्मादात्मनः कर्तृत्वमारोपादिति जानीहि।

किं च 'आत्मा कर्तृत्वादि धर्म से रहित साक्षी निष्क्रिय है' आत्मा के विषय में इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले श्रुति-वाक्य भी निरर्थक ही हो जायेंगे। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा के विद्यमान रहने पर भी उसमें कोई भी कर्तृत्वादि धर्म नहीं दिखाई देते हैं। यदि आत्मा का कर्तृत्वादि धर्म स्वाभाविक होता तो फिर अग्नि की उष्णता की तरह उपलब्ध होता, परन्तु उस तरह उपलब्ध नहीं होता है, अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है वह उष्णत्व धर्म कभी भी अग्नि से पृथक् नहीं रहता है इसी प्रकार यदि कर्तृत्व आत्मा का स्वभाव होता तो फिर कभी भी उससे पृथक् नहीं होता।

प्रश्न—आपने सुषुप्ति में जो आत्मा का अकर्तृत्व दिखलाया है, वह ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय-व्यापार उपरत हो जाता है, ऐसी स्थिति में करणों के अभाव में आत्मा का अकर्तृत्व होना उचित ही है, जैसे कोई तक्षादि (बढ़ई आदि) का उपकरणों के सद्भाव में कर्तृत्व रहता ही है, जब वह स्नान, भोजन इत्यादि करता है, उस समय उपकरणादि के अभाव में उसका अकर्तृत्व भी ठीक ही है; अर्थात् बढ़ई आदि का स्वाभाविक कर्तृत्व भी जैसे उपकरणसापेक्ष है, उसी प्रकार आत्मा का भी कर्तृत्व करणसापेक्ष मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर— यह उचित नहीं है, क्योंकि चुप्पी की अवस्था में करणव्यापार की विद्यमानता में भी आत्मा का कर्तृत्व नहीं देखा गया है। अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक न होकर आध्यासिक है।

अन्य वस्तु में रहने वाले धर्मों का अन्यत्र अवभास होना अध्यास कहा जाता है, इसी को ''अतस्मिन् तद्बुद्धिः'' भी कहते हैं। जैसे—नाव में रहने वाली गमनक्रिया की प्रतीति तीरस्थित वृक्ष में होती है, और वृक्ष में रहने वाली अचलस्थिति की प्रतीति नाव में होती है, यह सब अन्यधर्म का अन्यत्र भान अध्यास के ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु जडस्य त्रिविधकरणस्याऽचेतनत्वादचेतनस्य कथं कर्तृत्वम्, करणत्रयस्यैव कर्तृत्वे तस्य करणान्तरेणापि भवितव्यमिति चेत्? शृणु। यथा लोकेऽचेतनस्य वायोर्वृक्षाणामुन्मूलने तेषां दूरनिरसने च करणं विना कर्तृत्वम्, यथा च जलप्रवाहस्याप्यचेतनस्य वृक्षादीनामुन्मूलने तेषां दूरनिरसने च करणं विना कर्तृत्वं दृश्यते, तथा त्रिविधकरणस्यापि करणान्तरं विना कर्तृत्वमुपपद्यते।

मानसादिकर्मविभागः

एतत् त्रिविधकरणकृतानि कर्माणि कानीति चेत्? उच्यते। सविशेषचिन्ता, निर्विशेषचिन्ता, परलोकचिन्ता, भक्तिज्ञानवैराग्यचिन्तेत्यादिबुद्धिविकाराः सर्वेऽपि मनसा क्रियमाणानि कर्माणि मानसपुण्यकर्माणि। विषयचिन्ता, परेषामपकारचिन्ता, वेदशास्त्रयोरप्रामाण्यचिन्ता, धर्माधर्माद्यभावचिन्तेत्यादिबुद्धिविकाराः सर्वेऽपि मानसपापकर्माणि। सविशेषचिन्ताया निर्विशेषचिन्तायाः पुण्यचिन्ताया अपि, विषयचिन्तादिपापचिन्तया मिश्रीकृत्यानुष्ठानं मानसं मिश्रकर्म।

कारण होता है। इसी प्रकार अनेक करणों में रहने वाले कर्तृत्व का भान आत्मा में होता है (मैं करता हूँ इत्यादि), और आत्मा में रहने वाले अकर्तृत्व का भान तत्तत् करणों में होता है। यह विपरीत प्रतीति अज्ञानवश ही होती है। इसलिए आत्मा का जो कर्तृत्व है वह सब आरोपित है ऐसा समझो।

प्रश्न—जड निष्क्रिय ये त्रिविध करण तो अचेतन हैं, तब अचेतन त्रिविधकरण का कर्तृत्व कैसे सम्भव है? यदि आप अचेतन करणों का ही कर्तृत्व मानते हैं तो फिर उनके कोई अन्य करण होंगे? उत्तर—सुनो। लोक में, जैसे अचेतन वायु का वृक्षों को उखाड़कर उन्हें दूर फेंकने में कर्तृत्व दिखाई देता है, इसमें किसी अन्य करण की आवश्यकता नहीं होती और अचेतन जलप्रवाह जैसे किनारे के वृक्षों को उखाड़ कर उन्हें दूर फेंक देता है, इसमें स्वतः उसकी कर्तृता है, किसी करण की आवश्यकता नहीं दिखाई देती है, ऐसे ही त्रिविध करण की भी स्वतः कर्तृता है, उन्हें किसी करणान्तर की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न— इन तीन प्रकार के करणों के द्वारा किये जाने वाले कौन-कौन से कर्म हैं?

उत्तर— सविशेष चिन्ता (विशेषणों से युक्त परमेश्वर का चिन्तन), निर्विशेष चिन्ता (विशेषण से रहित आत्मस्वरूप का चिन्तन), परलोक के विषय में चिन्ता, भक्ति ज्ञान वैराग्य विषयक विचार, इत्यादि ये सब बुद्धि के ही विकार या विकल्प हैं, मन के द्वारा ही इनमें संकल्प-विकल्प किया जाता है, इसलिए ये मानसिक पुण्य कर्म हैं। व्यर्थ विषय सम्बन्धी चिन्ता, परापकार करने का विचार, वेदशास्त्रों का प्रामाण्य न मानना या इनकी निन्दा करना, अधार्मिक विचार करना, इत्यादि जो बुद्धि के विकार हैं, ये सब मनोजन्य होने से मानसिक पाप कर्म हैं। विशेषणयुक्त परमेश्वर का चिन्तन भी विवेकज्ञान का अङ्ग होने से पवित्र विचार है, अतः यह पुण्य-चिन्ता होने पर भी शास्त्रविरुद्ध विषयचिन्ता के साथ इसका मिश्रण हो जाने से यह मानसिक मिश्रकर्म कहा जायेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेदाध्ययनं शास्त्रपठनं गीतापठनं सहस्रनामपठनं पञ्चाक्षरादिमन्त्रजपो भगवन्नामकीर्तनं परोपकारवार्ता सत्यवाक्यं मृदुभाषणं पूर्वभाषणं[1] च वाचा क्रियमाणं (वाचिकं) पुण्यकर्म। वेदशास्त्रदूषणं देवतादूषणमसत्यपिशुनपारुष्यवार्ता अपहासवार्ता चेत्यादि वचनं सर्वं वाचिकं पापकर्म। वेदाध्ययने पूजाकाले, एवमादिपुण्यवार्तासु परनिन्दाया असत्यस्य परिहासस्य लौकिकवार्ताया एवमादिपापानां मिश्रीकृत्यानुष्ठानं वाचिकं मिश्रकर्म।

पुण्यतीर्थस्नानं गुरुदेवतानमस्कारो देवपूजा प्रदक्षिणं सज्जनदर्शनं त्यागो लोकानुग्रहसंचार एवमादिकर्माणि कायेन क्रियमाणानि कायिकं पुण्यकर्म। परहिंसा परस्त्रीसङ्गश्चौर्यं दुष्टसङ्ग इत्यादिकर्माणि कायेन क्रियमाणानि कायिकं पापकर्म। ब्राह्मणभोजनार्थं परोपद्रवो, देवालयनिर्माणार्थं परद्रव्यापहारः, प्रपां स्थापयित्वा भृतकस्याप्रदानमेवमादिकर्माणि पुण्यानि च पापानि मिश्रीकृत्य कायेनानुष्ठीयमानानि कायिकं मिश्रकर्म।

वेदाध्ययन, शास्त्रों का मनन, गीतापाठ, सहस्रनामपठन, "नमः शिवाय" इत्यादि पञ्चाक्षर मंत्रजाप, भगवन्नाम-कीर्तन, परोपकार-वार्ता, सत्य बोलना, मधुर भाषण व प्रियभाषणादि—ये सब वाणी के द्वारा किये जाने के कारण इन्हें वाचिक पुण्य कर्म कहते हैं।

वेदशास्त्र की निन्दा करना, देवताओं की निन्दा करना, असत्य भाषण, चुगली व चुभने वाली वार्ता एवं व्यर्थ उपहास वार्ता—ये सब वाणी द्वारा किये जाने वाले वाचिक पाप कर्म हैं। वेदाध्ययन के समय और पूजा पाठ के समय, अन्य पुण्य वार्ताओं के अवसर पर परनिन्दा करना, असत्यभाषण करना, परिहास करना या अप्रासङ्गिक लौकिक वार्ताओं का प्रसङ्ग ला देना इत्यादि शुभ कर्मों के साथ-साथ पाप प्रसङ्ग का भी मिश्रण होने से वाचिक मिश्रित कर्म कहे जायेंगे।

पुण्यतीर्थों में स्नान करना, गुरु व देवताओं को नमस्कार करना, देवपूजा व मन्दिरों की प्रदक्षिणा करना, सज्जनों का दर्शन करना, त्याग, लोक-कल्याणार्थ संचरण, इत्यादि कर्म शरीर के द्वारा किये जाते हैं, अतः इन्हें कायिक पुण्यकर्म कहते हैं।

दूसरों की हिंसा करना, परस्त्रीगमन, चोरी करना, कुसङ्गति इत्यादि कर्म शरीर के द्वारा किये जाने के कारण इन्हें कायिक पापकर्म कहते हैं। ब्राह्मण-भोजनार्थ परोपद्रव, देवालय-निर्माणार्थ द्रव्यहरण, प्याउ बनाकर मज़दूर की मज़दूरी न देना, इत्यादि कर्म पुण्य व पाप से मिश्रित होने से इन्हें कायिक मिश्रकर्म कहते हैं।

इन पूर्वोक्त त्रिविध कर्मों के विषय में भली भाँति विचार करना चाहिए। प्रश्न—इस प्रकार के विचार से क्या लाभ होगा? उत्तर— इसके दो लाभ हैं—मुख्य व अवान्तर। यह कैसे? उत्तर—ये तीन प्रकार के कर्म (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय व अन्तःकरण इन) करणों के ही द्वारा किये जाते हैं। आत्मा तो आकाश की तरह निःसङ्ग,

---

१. पूर्वभाषणं विनयद्योती व्यवहारः। प्रियभाषणमिति वा पाठः कल्प्यते 'सत्यं प्रियहितं च यद्' (गी. १७.१५) 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' (मनु. ४.१३८) इत्यादिस्मृतेः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्मविचारफलम्

एतानि त्रिविधान्यपि कर्माणि सम्यग् विचारणीयानि। विचारस्य फलं किमिति चेत्? मुख्यफलमवान्तरफलमिति फलद्वयमस्ति। कथमिति चेत्? इमानि त्रिविधानि कर्माणि त्रिविधैरेव करणैः क्रियन्ते। आत्मा त्वयमाकाशवदसङ्गो निरंशः परिपूर्णश्चैतन्यस्वरूपः, अतो न कस्यापि कर्मणः कर्ता। अत एव

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।

यच्चास्य संततो भावस्तेन चात्मेति गीयते।" (लिंगपु. १.७०.९६) इत्युक्त आत्मशब्दस्यार्थः। तस्माद् नैकमपि कर्म चिदाकाशस्वरूपं स्पृशति इति ज्ञात्वा संशयं विहाय दृढानुभवेनावस्थानं मुख्यफलम्।

ब्रह्मज्ञाने सत्यपि त्रिविधकरणमपि पुण्यकर्मण्येव स्थापयितव्यम्, तदसम्भवे मिश्रकर्मणि वा स्थापयितव्यम्, न कदाचिदपि पापकर्मणि—इति ज्ञात्वा तथैवावस्थानमवान्तरफलम्। यथा कदलीपोषकस्य कदलीफलं मुख्यफलम्, तत्पत्रपुष्पादिकमवान्तरफलम् तथैव त्रिविधकरणकृतकर्मज्ञानस्यापि पूर्वोक्तफलद्वयमिति ज्ञेयम्।

निरंश, परिपूर्ण व चैतन्यस्वरूप है, अतः वह किसी भी कर्म का कर्ता नहीं है। जैसा कि आत्मा के विषय में कहा है—जो सर्वत्र व्याप्त है, जो ग्रहण करता है, जो विषयों का उपभोग करता है, तथा जिसकी सत्ता शाश्वत है वही आत्मपद का वाच्य है।[1]

इसलिए उन तीन प्रकार के कर्मों में कोई भी कर्म चिदाकाशस्वरूप आत्मा का स्पर्श नहीं करते हैं, यह समझकर संदेह को छोड़कर दृढानुभव में स्थिर रहना अर्थात् ज्ञाननिष्ठा में निश्चल रहना ही उक्त कर्मज्ञान का मुख्यफल है।

ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भी त्रिविध करण को पुण्यकर्मों में ही स्थापित करना चाहिए। यह सम्भव न हो तो भी कम से कम मिश्र कर्मों में स्थापित करना चाहिए, पाप कर्मों की ओर करणों की प्रवृत्ति कभी भी नहीं होनी चाहिए। अतः कर्मों का सम्यक् विचार कर सन्मार्ग में अवस्थित रहना ही अवान्तर फल है। जैसे केला उगाने वाले के लिये केले का फल मुख्य है और उसके पत्र-पुष्पादि अवान्तर प्रयोजन हैं, इसी प्रकार त्रिविध करण द्वारा किये गये कर्मों के ज्ञान का भी आत्मा की निःसङ्गता का ज्ञान मुख्यफल है, पाप कर्मों का परिहार अवान्तरफल है।

प्रश्न—वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार तो जल में कमल की तरह ज्ञानी कर्मों से लिप्त नहीं रहता है और उसके लिए कोई शास्त्रीय विधि निषेध भी नहीं है। वह तो अकर्ता, कर्मसाक्षी, कृतकृत्य है। फिर आप उसके लिए यह नियम क्यों निश्चित करते हैं कि अज्ञानियों की तरह उसे भी पुण्यकर्म ही करने चाहिये?

---

१. उक्त श्लोक में जो "आदत्ते, अत्ति" पद हैं, ये आत्मा के जीवभाव में प्रयुक्त हैं अथवा सोपाधिक आत्मविषयक हैं। यत्=क्योंकि। आप्नोति=व्याप्त करता है। आदत्ते=स्वयं में उपसंहृत करता है। अत्ति=साक्षात्कार करता है। बृहद्वार्तिक में (१.४.७३७-४५) विस्तृत व्याख्या है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्कर्मवैशिष्ट्यम्

नन्वम्भसा पद्मपत्रमिव कर्मणा ज्ञानी न लिप्यते, तस्य न कोऽपि विधिर्निषेधो वा, स त्वकर्ता कर्मसाक्षी कृतकृत्य इति सिद्धान्तितत्वात्, तस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिन इव पुण्यकर्मैवानुष्ठेयमिति नियमः कथमिति चेत्? सत्यं, स ज्ञानी कृतकृत्य एव, कर्तापि न भवति, न तत्र सन्देहः, तथापि ब्रह्मविद् ब्रह्मविद्वरो ब्रह्मविद्वरीयान् ब्रह्मविद्वरिष्ठ इति तेषां मध्ये ब्रह्मविद्वरिष्ठ एव विदेहमुक्तः।

असौ वरिष्ठ एव वृत्तिशून्यः। तस्यैव न विधिर्निषेधश्च। अन्येषामपि त्रयाणां ज्ञानमहिम्ना विधिनिषेधाभावेऽपि वृत्तिशून्यत्वाभावाद् व्यवहारवत्त्वाच्च, लोकानुग्रहार्थं सदाचार एव स्थातव्यमित्युच्यते, न तु नियम्यते। तस्मात्तत्त्वज्ञानिना कर्मिणां मध्ये कर्मिवत्कर्मानुष्ठेयम्। जिज्ञासूनां मध्ये तु कर्म त्यक्त्वा ''ब्रह्मैव सत्यम् अन्यत्सर्वमसत्यम्'' इति ज्ञानमेवोपदेष्टव्यम्।

अत्र प्रकृतं किमिति चेत् ? त्रिविधकरणस्यैव कर्तृत्वं, नात्मन इति निश्चितम्।

रागादिः प्रेरकः

अथ त्रिविधमपि करणं स्वयमेव कर्तृ, अन्येन प्रेरितं वेति विचार्यमाणे रागद्वेषादिना प्रेरितमेव कर्तृ, न स्वयम्, रागद्वेषादौ सति करणत्रयं प्रवर्तते, असति न प्रवर्तते—इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां रागद्वेषादेः करणप्रवर्तकत्वस्यानुभवसिद्धत्वात्।

उत्तर—ठीक है, ज्ञानी कृतकृत्य है, वह कर्ता भी नहीं है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ज्ञानियों की भी अनेक श्रेणियाँ हैं, जैसे ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। इनमें से ब्रह्मविद्वरिष्ठ ही विदेहमुक्त होता है।

इन चार प्रकार के ब्रह्मज्ञानियों में ब्रह्मविद्वरिष्ठ ही वृत्तिशून्य है, उसी के लिए विधि-निषेधाभाव है। अन्य ब्रह्मवेत्ताओं को तो ज्ञानी होने से विधि-निषेध के न होने पर भी वृत्तियों के सद्भाव के कारण व्यवहार-दशा में लोककल्याणार्थ कर्म या सदाचार के नियमों का पालन करना ही चाहिए। परन्तु उनके लिए भी उक्त कर्म-विषयक नियम अनिवार्य नहीं है। इसलिए तत्त्वज्ञानी को कर्मियों के बीच में उन्हीं की तरह कर्मानुष्ठान करना चाहिए और जिज्ञासुओं के बीच में ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'' इत्यादि ज्ञानोपदेश ही करना चाहिए। वास्तव में यहाँ प्रकरण तो यही था कि करणों में ही कर्तृत्व है न कि आत्मा में।

प्रश्न— अब यह बतलाइए कि यह त्रिविध करण स्वयं कार्य करते हैं या किसी अन्य से प्रेरित होकर कार्य करते हैं? उत्तर— यह करण-समुदाय राग द्वेषादि से प्रेरित होकर ही तत्तत् कार्य में प्रवृत्त होता है, स्वयं प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि राग-द्वेष के रहने पर ही तत्तत् कार्यों में प्रवृत्ति देखी गई है और राग-द्वेष के अभाव में प्रवृत्ति का भी अभाव देखा गया है। इस अन्वयव्यतिरेक के अनुसार करणों की प्रवर्त्तकता रागद्वेषादि में ही है, यह अनुभवसिद्ध बात है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा न कारयितापि

ननु "अहं देवालयं कारयामि" "अहं तटाकं कारयामि" इत्यादिव्यवहारादात्मा कारयिता भवत्विति चेत्? न, आत्मनो निर्विकारत्वात् न तत्रापि कारयितृत्वमुपपद्यते[1]। आत्मनि कारयितृत्वं भातीति चेत्? जपाकुसुमनिष्ठं लौहित्यं स्फटिक इव, रागद्वेषादिनिष्ठं कारयितृत्वमात्मनि भ्रान्त्याऽऽरोप्यत इति ज्ञेयम्। स्वाभाविकं चेत्तन्नाशार्थं न कोऽपि प्रयत्नं कुर्यात्, स्वभावस्य स्वरूपत्वात् कथञ्चित्तस्य नाशे स्वरूपनाश एव स्यात्। आत्मनोऽपि कारयितृत्वं यदि स्यात् तर्ह्यात्माऽसंगो निष्क्रियोऽकारयितेति प्रतिपादिका "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" (माण्डू. ७) इति श्रुतिर्भज्येत। अकारयितृत्वस्य जन्यत्वे तज्जन्यमुक्तेरपि[2] जन्यत्वं स्यात्। सुषुप्तावपि कारयितृत्वं दृश्येत, तन्न दृश्यते। तस्मादात्मनः कारयितृत्वं न स्वाभाविकम्, किंत्वागन्तुकमेव।

प्रश्न—" मैं देवालय बनवाता हूँ", "मैं तालाब बनवाता हूँ" इत्यादि व्यवहार में तो क्रिया के साथ "मैं" का सम्बन्ध होने से देवालयादि का बनवाने वाला आत्मा ही मालूम पड़ता है इसलिए आत्मा को ही क्यों न "कारयिता" (करणों का प्रेरक) मान लिया जाय? उत्तर— यह उचित नहीं है। 'मैं देवालय बनवाता हूँ, अमुक काम करवाता हूँ' इत्यादि से आत्मा का जो कारयितृत्व प्रतीत होता है वह जैसे जपाकुसुम की सन्निधि से स्फटिक-लौहित्य की प्रतीति है उस प्रकार रागद्वेषादिनिष्ठ कारयितृत्व को आत्मा पर आरोपित करने की भ्रान्ति से होता है।

यदि आत्मा का कारयितृत्व स्वाभाविक होता तो फिर उसके नाश के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता क्योंकि स्वभाव तो अपना रूप ही है। किसी प्रकार यदि स्वभाव नष्ट हुआ तो फिर अपना ही नाश हुआ ! किंच यदि आत्मा का कारयितृत्व मान भी लिया जाय तो फिर माण्डूक्योपनिषद् की यह श्रुति कि "आत्मा असङ्ग, निष्क्रिय, अकारयिता है, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य है" इत्यादि बाधित हो जायेगी।

और अकारयितृता को जन्य (उत्पत्ति-विनाशशील) मान लेने पर उसके ज्ञान से जन्य मुक्ति भी जन्य (अनित्य) माननी पड़ेगी। (तात्पर्य है कि 'आत्मा अकारयिता है' का मतलब करें कि 'साधना आदिसे आत्मा अकारयिता बन जाता है', तो मोक्षदशा जन्म वाली होगी क्योंकि उसमें आत्मा अकारयिता ही माना जायेगा तथा जन्य होने पर मोक्ष नाशवान् होना पड़ेगा क्योंकि जन्य भाव नाशवान् ही देखा जाता है जबकि नश्वर मोक्ष वैदिकों को अस्वीकार है। अत एव आत्मा को स्वरूपतः ही कर्तृ-कारयितृत्वादि से रहित स्वीकारना चाहिये जिस स्वरूप के ज्ञानसे नित्य मोक्ष सम्भव हो।) अतः आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व या प्रयोजक-कारयितृत्वादि कुछ भी नहीं है। यदि उसमें कारयितृत्व होता तो फिर सुषुप्ति में भी वह दिखलाई देता, सुषुप्ति अवस्था में वह नहीं दिखाई देता अतः आत्मा का कारयितृत्वादि स्वाभाविक नहीं है किन्तु आगन्तुक या औपाधिक ही है।

---

१. बहिरन्तर्यामित्वेन यत्कारयितृत्वं तदप्यौपाधिकमिति वैषम्यनैर्घृण्याऽधिकरणादौ (ब्र. सू. २.१.१२.३४) द्रष्टव्यम्।

२. 'तज्जन्ये'ति माऽस्तु।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु सुषुप्तौ कारयितृत्वादर्शनमात्रेणात्मनः कारयितृत्वं नास्तीति वक्तुं न शक्यते, यथोपाध्यायस्याध्यापकत्वं विद्यमानमपि शिष्यवर्गासन्निधाने न दृश्यते, तद्वत् सुषुप्तौ करणसंयोगाभावाद् विद्यमानमपि कारयितृत्वं न दृश्यते, जाग्रत्स्वप्नयोः करणसंयोगस्य सत्त्वाद् दृश्यत इति वक्तुं शक्यत्वादिति चेत्?

तर्हि जाग्रत्युदासीनतूष्णींभावावस्थायां करणसंयोगस्य विद्यमानत्वात् कारयितृत्वं दृश्येत, तन्न दृश्यते। तस्मादागन्तुकमेवेति वक्तव्यम्। यथा अन्योऽन्याध्यासादयोनिष्ठ-दीर्घत्वह्रस्वत्वादयोऽग्नावग्निनिष्ठोष्णत्वप्रकाशादयोऽयसि च भान्ति तद्वदज्ञानादेव रागद्वेषादिनिष्ठकारयितृत्वमात्मन्यात्मनिष्ठाकारयितृत्वं रागद्वेषादौ च भाति।

नन्वचेतनस्य रागद्वेषादेः कथं कारयितृत्वम्, न हि घटो घटान्तरं प्रेरयतीति चेत्? सत्यम्, तथापि कुत्रचिद् योग्यतावशाज्जडः प्रेरयति योग्यताऽभावात् कुत्रचिन्न प्रेरयति, यथा जडोऽप्यग्निर्गन्धकादिसंयुक्तेङ्गालचूर्णविशेषैः सहितः सज्जडमेव बृहन्नलिकान्तः-स्थितं स्थूलपाषाणं प्रेरयंस्तेन चतुरङ्गसेनां हन्ति। किं च प्रेतशरीरं जडमपि स्वज्ञातिक्रियमाणामपरक्रियां प्रति स्वयं कारयितृ भवति, एवमेवाचेतनमपि रागद्वेषादि कारयितृ भवति।

प्रश्न—सुषुप्तावस्था में कारयितृत्व के अदर्शनमात्र से आपने जो आत्मा का कारयितृत्व (प्रयोजकत्व) नहीं है यह कहा वह ठीक नहीं है। जैसे शिष्य वर्ग की अनुपस्थिति में विद्यमान भी उपाध्याय का अध्यापकत्व नहीं दिखाई देता है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भी इन्द्रियों के संयोगाभाव से, विद्यमान भी कारयितृत्व नहीं दिखलाई देता है, और जाग्रत् व स्वप्नावस्था में करणों (इन्द्रियों) के संयोग से वह दिखलाई देता है।

उत्तर—यदि करण-संयोग से ही आप कारयितृत्व आत्मा में मानते हैं तो फिर जाग्रत् अवस्था में उदासीनता में या मौनावस्था (समाधि आदि) में करणों की विद्यमानता में आत्मा का कारयितृत्व दिखलाई देता, परन्तु वह नहीं दिखलाई देता है। अतः आत्मा का कारयितृत्व आगन्तुक ही कहना चाहिए।

जैसे एक दूसरे में आरोपित होने के कारण लोहे में रहने वाला दीर्घत्व, ह्रस्वत्व अग्नि में मालूम पड़ता है और अग्नि में रहनेवाला उष्णत्व व प्रकाशकत्व लोहे में मालूम पड़ता है इसी प्रकार अज्ञानवश रागद्वेषादि में रहने वाला कारयितृत्व आत्मा में प्रतीत होता है और आत्मा में रहने वाला अकारयितृत्व रागद्वेषादि में मालूम पड़ता है।

प्रश्न—अचेतन रागद्वेषादियों में कारयितृत्व (प्रेरकत्व) कैसे है? क्योंकि अचेतन घट दूसरे घट को प्रेरित नहीं करता है। उत्तर— आपने जो घट का दृष्टान्त दिया कि ये अचेतन एक दूसरे के प्रेरक नहीं होते हैं, यह ठीक है। परन्तु इस पर हमें यही कहना है कि कहीं किसी-किसी जड पदार्थ में भी प्रेरकता की योग्यता होती है और किसी जड पदार्थ में यह योग्यता नहीं होती है। जैसे जड अग्नि गन्धक व अङ्गार चूर्ण से युक्त होकर बन्दूक की बड़ी नली में स्थित हुआ पाषाणखण्डों को प्रेरित करता हुआ चतुरंग (हस्ति, अश्व, रथ, पदाति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तर्हि ''आत्मा हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी'' इति वदन्त्याः श्रुतेः किं तात्पर्यमिति चेत्? आदित्यवत् सन्निधानमात्रेण सर्वकार्यानुकूलो भवतीति तात्पर्यम्।

आत्मनो नाऽदृष्टम्

नन्वात्मा सन्निधानमात्रेण सर्वप्राणिकर्महेतुस्तर्हि अत आत्मनोऽपि तत्पुण्यपापतत्फलसम्बन्धोऽपि स्यादिति चेत्? न, यथा आदित्यस्य सन्निधानमात्रेण सकलजनपुण्यपापानुकूलस्यापि तत्पुण्यं च तत्पापं च तत्फलं च यथा न स्यात्, तथा आत्मनोऽपि मन्तव्यम्। अयश्चेष्टापि संनिधानमात्रेण स्वानुकूलां कान्तशिलां[1] यथा न स्पृशति, तथा प्राणिकर्माप्यात्मानमिति च ज्ञेयम्। तस्मान्नात्मनो निरञ्जनत्व-निर्विकारत्वभङ्गः।

रूप), सेना को नष्ट कर देता है, या जैसे जड मुर्दा ही मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों को प्रेरित करता है कि शव के संस्कार किये जायें; इसी प्रकार अचेतन रागद्वेषादि की भी प्रेरकता या कारयितृत्व होता ही है।

प्रश्न— जब आप जड वस्तु को ही प्रेरयिता मान लेते हैं तो फिर वेद में जो आत्मा को सभी इन्द्रियों का सञ्चालक और स्वामी तथा सर्वनियन्ता कहा है इसका क्या तात्पर्य है ? आपके कथनानुसार तो ''आत्मा इंद्रियों का मालिक और भीतर से सबका शासक है'' इत्यादि श्रुतियाँ क्या निरर्थक ही हैं ? उत्तर—उक्त श्रुति का तात्पर्य तो यही है कि आत्मा सन्निधि मात्र से सभी के कर्मों का उपकारक होता है।

प्रश्न—यदि आत्मा सभी प्राणियों के कर्मों के सञ्चालन में सन्निधिमात्र से कारण है तो फिर प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले जो पुण्य पाप कर्म हैं उनके फल जो धर्माधर्म या सुखदुःखादि हैं उनका सम्बन्ध भी आत्मा से होना चाहिए। उत्तर—बात ऐसी है, जैसे आदित्य की सन्निधि में अर्थात् उसके प्रकाश में लोग अनेक तरह के पुण्य पापादि कर्म करते रहते हैं परन्तु इन लोगों के किये गये पुण्य व पापादि कर्मों का सम्बंध व उनके फलों का सम्बन्ध जैसे आदित्य से नहीं है इसी प्रकार सर्वसञ्चालक तथा सर्वनियन्ता होते हुए भी आत्मा का पुण्यादिसे और उनके फल से कोई संबंध नहीं है।

जिस प्रकार चुम्बक के सन्निधान से लोहे में होने वाली चेष्टा चुम्बक का स्पर्श नहीं करती है, इसी प्रकार आत्मा के आलोक या सन्निधान में होने वाले जो प्राणियों के कर्म हैं उनका आत्मा से स्पर्श (या सम्बन्ध) नहीं होता है अर्थात् उक्त कर्मों के कर्तृत्व या कारयितृत्वादि सम्बन्धों का तथा तत्प्रयुक्त उनके पुण्यपापादि से जन्य सुख दुःखादि फल का भी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः आत्मा के विषय में जो यह कहा है कि वह निरञ्जन है, निःसङ्ग है और निर्विकल्प है इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। (ब्रह्मसूत्रों में (२.४.७.१४-६) भी विचार आया है कि जीवों की इन्द्रियां देवताओंसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होती हैं तो क्या हमारे सुख-दुःखमें देवता भी भागीदार बनते हैं ? उत्तर दिया है कि देवता इंद्रियों को सामर्थ्य जरूर देते हैं लेकिन सुखादि-भोग तो उस प्राणीको ही होता है जो उन इंद्रियों में अभिमानी होकर 'मैं चलता हूं, देखता हूं' आदि समझता है। इसी प्रकार परायत्ताधिकरणमें (२.३.१६) स्पष्ट किया है कि जीवके कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप संसार की सिद्धि ईश्वराधीन होने पर भी करने व भोगने वाला जीव ही है। अतः निश्चित है कि अध्यासवान् ही कर्ता-भोक्ता हो सकता है, निरध्यास चिन्मात्र में कर्तृत्वादि सम्भव नहीं।)

१. नान्यदन्यत्प्रकरण उपदेशसहस्रिकायाम् 'कर्ता भ्रामकवद् भवेद्' (१५.४८) इत्यादौ। 'विक्रियादिविशेषरहितस्य आत्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वम्' इति केनवाक्यभाष्ये (१.२)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिबन्धकत्रयम्

एवमात्मस्वरूपे प्रसिद्धे गुरुणोपदिश्यमानेऽपि प्रतिबन्धकत्रयेण न निश्चयो भवति। प्रतिबन्धकत्रयं च संशयभावना, असंभावना, विपरीतभावना चेति। ऋगादिशाखासूपदिश्यमानमुपनयनादि कर्म यथाऽनेकविधम्, तथर्गादिशाखासूपदिश्यमानमात्मतत्त्वमप्यनेकप्रकारं वा न वेति संशयः संशयभावना। सा सकलवेदान्ततात्पर्यावधारणरूपश्रवणेन नश्यति।

एवं सर्वेषां वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति श्रवणेन प्रमाणविषये संशये नष्टेऽपि इदमद्वैतं कथं सम्भाव्यते, सत्यत्वेन प्रतीयमानेषु जीवेश्वरजगत्सु परस्परभिन्नेषु सत्स्विति बुद्धिरसम्भावना। इयं स्वप्नदृष्टान्तादिरूपयुक्त्यात्मकमननेन नश्यति।

एवं श्रवणे मनने च कृतेऽपि, अनाद्यविद्यावासनया सर्वस्यापि जगतो यथापूर्वं सत्यत्वप्रतीतिर्विपरीतभावना। सा ब्रह्मैकाकारप्रत्ययप्रवाहरूपनिदिध्यासनेन नश्यति।

इस प्रकार यद्यपि यह आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है और गुरु के द्वारा उपदिष्ट भी है तथापि तीन प्रतिबन्धकों के रहने पर इसका निश्चय नहीं होता है। ये तीन प्रतिबन्धक इस प्रकार हैं— (१) संशय भावना, (२) असंभावना, (३) विपरीत भावना।

जैसे ऋगादि शाखाओं में उपदिष्ट उपनयनादि कर्म अनेक प्रकार का है उसी प्रकार ऋगादि शाखाओं में उपदिष्ट आत्मतत्त्व भी अनेक प्रकार का है या नहीं? इस प्रकार का जो संशय है वही संशय भावना है। पूर्वोक्त संशय भावना कि आत्मतत्त्व एक है या अनेक, अखिल वेदान्त शास्त्र के तात्पर्यावधारणरूप श्रवण से निरस्त हो जाती है।

इस प्रकार सभी वेदान्तों का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म में ही है ऐसा वेदान्त शास्त्रों के सम्यक् श्रवण द्वारा प्रामाणिक निश्चय हो जाने पर भी अद्वैत विषयक असंभावना तो बनी रहती है। ये जीव ईश्वर व जगत् जो कि परस्पर भिन्न हैं और सत्यत्वेन जिनकी प्रतीति हो रही है, ये सब एक अद्वैत कैसे हों? इस प्रकार की बुद्धि को असम्भावना कहते हैं। यह असम्भावना बुद्धि स्वप्नादि दृष्टान्त रूप युक्तियों के मनन से दूर हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न, मृगमरीचिका, गन्धर्वनगर इत्यादि केवल आपाततः प्रतीतिमात्र हैं इसी प्रकार यह संसार व उसमें जीव ईश्वर जगत् की भेदकल्पना भी आपेक्षिक सत्य या पारमार्थिकरूप से असत्य ही है इत्यादि युक्तियों के द्वारा मनन से अद्वैतविषयक असम्भावना भी दूर हो जाती है।

इस प्रकार श्रवण व मनन के बाद भी अनादि अविद्या की वासना की प्रबलता से समस्त (अधिष्ठानभूत ब्रह्म में अध्यस्त एवं असत्य) संसार में जो सत्यत्व बुद्धि है वही विपरीत भावना है अर्थात् असत्य संसार में सत्य बुद्धि। यह विपरीत भावना निरन्तर ब्रह्मैकाकाराकारित चित्तवृत्ति रूप निदिध्यासन से नष्ट हो जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं प्रतिबन्धकत्रयस्य नाशाऽकरणे यथा सर्वस्य दाहकोऽप्यग्निर्मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकैः प्रतिबद्धः सन्नेकं तृणमपि दग्धुं न शक्नोति, एवं ज्ञानाग्निरपि प्रतिबन्धकैः प्रतिबद्धः सन्नज्ञानतत्कार्येषु किञ्चिदपि दग्धुं न शक्नोति। पूर्वोक्तप्रकारेणास्मिन् प्रतिबन्धकत्रयेऽप्यपनीते सति, सद्य एवाग्निस्तृणमिवायमप्यविद्यां तत्कार्यं सर्वमपि दग्धुं शक्नोति।

वेदान्ततात्पर्यनिर्णयः

किं च, "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।"

इति वचनेन षड्विधलिङ्गैस्तात्पर्यनिर्णयः कर्तव्यः।

अत्र च्छान्दोग्यषष्ठाध्याये "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा. ६।२।१) इत्युपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्" (छा. ६।८।७) इत्यखण्डैकरस एवोपसंहृत इत्युपक्रमोपसंहारैकरूप्यमेकं लिङ्गम्। "तत्त्वमसि" (छा. ६।८।७) इति

यदि प्रतिबन्धक का अपाकरण न किया जाय तो जैसे सब कुछ भस्म कर देने वाला अग्नि चन्द्रकान्त मणि के सान्निध्य में एक तिनके को भी नहीं जला सकता, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी उक्त प्रतिबन्धकों के सान्निध्य में अज्ञान व उसके कार्य (प्रपञ्चादि) के किसी भी अंश को नहीं जला सकता। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् श्रवण मनन व निदिध्यासन के द्वारा जब तीनों प्रकार के प्रतिबन्धक (संशय भावना, असम्भावना और विपरीत भावना) दूर हो जाते हैं तब शीघ्र ही शुष्क तृण को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देता है उसी प्रकार यह ज्ञानाग्नि भी अविद्या और उसके कार्य को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

पूर्वप्रकरण में यह प्रतिपादित किया है कि अद्वैत ब्रह्म विषयक जो संशय भावना है वह वेदान्त शास्त्र के श्रवण द्वारा निरस्त हो जाती है। प्रस्तुत प्रकरण में अब यह बतला रहे हैं कि यह श्रवण षड्विध लिङ्गों द्वारा सम्पन्न होता है। श्रुति के तात्पर्यार्थनिर्णायक छे प्रकार के लिङ्ग इस प्रकार हैं—

(१) उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद, (६) उपपत्ति।

जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्" यहाँ से प्रारम्भ करके "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्" इस अखण्ड एकरसपरक वाक्य में उपसंहार किया। यह उपक्रमोपसंहार नामक प्रथम लिङ्ग है।[1]

१. मीमांसा शास्त्र में जिस प्रकार किसी वाक्य के तात्पर्यनिर्णय के षड्विध लिङ्गों की अवश्यकता होती है उसी प्रकार वेदान्त शास्त्र में भी सभी वेदान्त वाक्यों का षड्विध लिङ्गों द्वारा तात्पर्यार्थ का निर्णय किया जाता है अतः श्रवण के द्वारा जब एक ही अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य है यह निर्णय करना होगा तब इस सन्दर्भ में इन षड्विध-लिङ्गों का उपयोग होगा। इनमें सर्वप्रथम है उपक्रमोपसंहार—प्रकरण-प्रतिपाद्य विषय जिस रूप में प्रारम्भ हुआ उसी रूप में उसका उपसंहार होना उपक्रमोपसंहार कहलाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि के द्वारा आत्मविषयक प्रकरण प्रारम्भ हुआ और अन्त में "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि वाक्य द्वारा उसी आत्मविषयक वर्णन में उपसंहार हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवकृत्वस्तस्यैवाभ्यासो द्वितीयम्। अखण्डैकरसस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराविषयत्वमपूर्वता तृतीयम्। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा. ६।१४।२) इत्यखण्डैकरसज्ञानस्य प्रारब्धभोगानन्तरं विदेहकैवल्यरूपफलवचनं चतुर्थम्। अर्थवादस्तु पञ्चमम्। "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" (छा. ६।१।४) इत्यादि दृष्टान्तवचनमुपपत्त्याख्यं षष्ठम्।

अर्थवादाः

सृष्टि-स्थिति-प्रलय-प्रवेश-संयमन-तत्त्वंपदार्थपरिशोधन-फलप्रतिपादका इति सप्तार्थवादाः।

छान्दोग्योपनिषद् में "तत्त्वमसि" इस महावाक्य की नौ बार जो आवृत्ति है वही अभ्यास[1] नामक द्वितीय लिङ्ग है और अखण्ड व एकरस ब्रह्म की प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जो अगम्यता है और केवल उपनिषद्मात्र से गम्यता है वही अपूर्वता नामक तृतीय लिङ्ग है।

छान्दोग्य उपनिषद् में "तस्य तावदेव" इत्यादि वचनों द्वारा यह बतलाया कि अखण्डैकरस का ज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध के भोग के पश्चात् मुमुक्षु विदेह कैवल्य रूप फल को प्राप्त करता है। यह फलश्रुति चतुर्थ लिङ्ग है।

किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्त्यर्थ प्रशंसावचनरूप जो अर्थवाद है वह पञ्चम लिङ्ग है। "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादि श्रुति एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान होना रूप उपपत्ति षष्ठ लिङ्ग है। (उपनिषदों में अनेक प्रकरण होने से तत्तद् ग्रन्थभाग का ही तात्पर्य-विचार करना पड़ता है जैसे छान्दोग्यमें छठे अध्याय को ग्रहण किया। जब 'उपनिषत्-तात्पर्य' या 'वेदान्त-तात्पर्य' कहते हैं तब भी अद्वैतबोधक प्रकरण ही अभिप्रेत होते हैं। गीता आदि अन्य ग्रन्थोंका तात्पर्य भी इसी ढंग से समझना चाहिये।)

सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, संयमन, तत् व त्वं पदार्थ का परिशोधन और फल-प्रतिपादन—ये सात अर्थवाद, महावाक्यार्थभूत जीव व ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। जैसे—तैत्तिरीय उपनिषद् के "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतियाँ सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप अर्थवाद द्वारा आकाशादि समस्त

---

१. अभ्यास—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय का बार बार स्मरण करना अभ्यास है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में "तत्त्वमसि" इस महावाक्य का नौ बार स्मरण कराया गया।

अपूर्वता—प्रमाणान्तर से जिसका प्रतिपादन न हो सके उसे अपूर्व कहते हैं, जैसे "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म की केवल उपनिषद्मात्रगम्यता बतलायी गई।

फल—साधक या मुमुक्षु के द्वारा प्राप्य प्रयोजन को फल कहते हैं, जैसे "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्मविषयक ज्ञान वाला ब्रह्मरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

अर्थवाद—प्रकरणप्रतिपाद्य या अभीष्ट वस्तु की जो प्रशंसा की जाती है उसे अर्थवाद कहते हैं। जैसे—'क्या तूने उस ब्रह्म के विषय में कुछ पूछा जिसके सुनने से सब कुछ सुना जाता है, अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो जाती है' इत्यादि।

उपपत्ति—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित करने के लिए जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उन्हें उपपत्ति कहते हैं। जैसे—'यथा सोम्यैकेन' इत्यादि द्वारा एक के ज्ञान से सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१) इत्याद्याः सृष्ट्याद्यर्थवादरूपाः श्रुतयः आकाशादेः सर्वस्य ब्रह्मण एवोत्पत्तेस्तस्मिन्नेवावस्थानात् पुनस्तत्रैव लयाद् मृदुत्पत्तिस्थितिलयात्मकस्य घटादेः मृदभेदवत् कारणब्रह्ममात्रतामवगमयन्त्यो महावाक्योक्तं ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं संभावयामासुः।

तथा "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ. १।३।१२) "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै. २।६) "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा. ६।३।२) इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशं ब्रुवन्त्यो बहिः स्थित्वाऽन्तर्गृहे प्रविष्टदेवदत्तवज्जीवब्रह्मणोरभेदं महावाक्यार्थं संभावयामासुः।

तथा "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ. ३।७।३) इत्यादिनियमन-श्रुतिश्चात्यन्तभेदे नियम्यनियामकभावानुपपत्तेस्तयोरभेदमेव संभावयति।

तथा "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै. २।१) "यदग्ने रोहितं रूपम्" (छा. ६।४।१) इत्याद्यास्तत्त्वंपरिशोधनरूपाः श्रुतयो जीवेश्वरोभयगतविरुद्धधर्मनिरसनद्वारा तयोरैक्यमेव संभावयन्ति।

प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति व लय ब्रह्म में ही बताती हैं। जैसे घटादि कार्य की उत्पत्ति, स्थिति व लय कारणभूत मिट्टी में ही सम्भव है वैसे घट व मिट्टी के अभेद की तरह कारण ब्रह्म का भी कार्य भूत प्रपञ्च व जीव से अभेद है। महावाक्य भी इसी अद्वितीयत्व का प्रतिपादन करते हैं।

तथा 'उसने मूर्धा भेदनकर उस मार्ग से प्रवेश किया', 'उसने प्राणिनिकाय बनाकर उसीने उनमें अनुप्रवेश किया', 'इस जीवरूप से घुसकर नाम-रूप व्यक्त करूँ' इत्यादि श्रुतियाँ जीवरूप से ब्रह्म का प्रपञ्च में प्रवेश बतलाती हुई बहिः स्थित देवदत्त के घर के अन्दर प्रवेश किये हुए की तरह—अर्थात् घर के बाहर स्थित देवदत्त व घर में प्रविष्ट देवदत्त का जैसे अभेद है इसी प्रकार—महावाक्यस्थ तत् और त्वं पदार्थों का भी सुतरां अभेद है यह स्थापित करती हैं। अर्थात् ये प्रवेशार्थक श्रुतियाँ भी जीव और ब्रह्म के अभेद का ही प्रतिपादन करती हैं।

और भी, जो श्रुतियाँ इस आत्मा को अन्तर्यामी या अखिल प्रपञ्च का नियामक बतलाती हैं; क्योंकि यह नियम्य व नियामक भाव अत्यन्त भेद में सम्भव नहीं है अत एव उनका भी तात्पर्य जीव व ब्रह्म के अभेद में ही है। (अर्थात् शासकसे अलग हो तो शासित पर सम्पूर्ण शासन असंभव होने से समग्र शासकताके लिये जीवको ईश्वर से अभिन्न मानना जरूरी है।)

और भी, 'प्रकृत यह पुरुष अन्नरस का विकार ही है', 'जो अग्नि का लालरूप है', इत्यादि श्रुतियाँ भी तत् व त्वम् पदार्थों का शोधन करती हुई जीव व ईश्वर के परस्पर विरुद्ध धर्मों का त्याग कर भागत्यागरूप लक्षणा द्वारा उनकी एकता का प्रतिपादन करती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. २।१) "अमृतः समभवत्" (ऐ. ३।४) इत्याद्याश्चाभेदज्ञानस्य निरतिशयफलप्रदर्शनेनाभेदस्य विवक्षितत्वं ज्ञापयन्त्यस्तमेव संभावयन्ति।

इत्थं सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशसंयमनतत्त्वंपदार्थपरिशोधनफलप्रतिपादकैः सप्तविधार्थवादैरनुगृहीतं सज्जीवब्रह्मैक्यरूपमखण्डैकरसमेवावान्तरवाक्यैः सहितं यत् प्रतिपादयत्यतोऽखण्डैकरसत्वेनैव महावाक्यार्थो वक्तव्य इति षड्विधलिङ्गैः श्रुतितात्पर्यावधारणं श्रवणमित्युक्तम्।

वर्णकतात्पर्यम्

इदानीं किं प्रकृतमिति चेत्? मयोक्तप्रकारेण विचार्य रागद्वेषादिना प्रेरितं सत् त्रिविधकरणं त्रिविधकर्म करोति, प्रधानप्रेरितसेनया सम्पादितं जयं राजा अहं जितवानित्यात्मन्यारोपयति एवमात्मा च रागद्वेषादिनिष्ठं प्रेरकत्वमज्ञानादात्मन्यभिमन्यते। एवमात्मनः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च नास्ति। इति यो दृढं निश्चिनोति स एव जीवन्मुक्तः।।

।। इति पञ्चमवर्णकम्।।

तथा 'ब्रह्मज्ञानी परम को पा जाता है', 'अमृत हो गया' इत्यादि श्रुतियाँ जीवेश्वर के अभेद-ज्ञान का मोक्ष रूप निरतिशय फल दिखलाती हुई वेदान्तों का विवक्षित तात्पर्य अद्वैत या अभेद में ही है यह सूचित करती हैं।

इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, संयमन, तत् व त्वम् पदार्थों का संशोधन, और फल के प्रतिपादक—इन सात प्रकार के अर्थवादों से अनुगृहीत अवान्तर वाक्यों द्वारा प्रतिपादित अखण्ड एकरसस्वरूप जीव व ब्रह्म का अभेद ही इस "तत्त्वमसि" महावाक्य का तात्पर्य कहना चाहिए। अतः पूर्वोक्त छह प्रकार के लिङ्गों (अर्थात् वाक्यसामर्थ्य) से श्रुति के तात्पर्य को समझना "श्रवण" कहलाता है।

अब इस समय प्रकृत प्रसङ्ग क्या है? यह पूछो तो सुनो—मेरे कथनानुसार पूर्वोक्त प्रकरण का सम्यक् विचार करके यही समझना चाहिए कि रागद्वेषादि से ही प्रेरित होकर ये त्रिविध करण त्रिविध कर्म करते हैं। जिस प्रकार सेनापति से प्रेरित सेना द्वारा सम्पन्न जीत को राजा "मैं ही जीता हूँ" इस प्रकार अपने में आरोपित कर लेता है इसी प्रकार जीवात्मा भी अज्ञानवश रागद्वेषादि के प्रेरकत्व को अपने में आरोपित कर लेता है। अतः आत्मा में किसी प्रकार का कर्तृत्व व कारयितृत्व नहीं है ऐसा जिसका दृढ विश्वास है वह जीवन्मुक्त है।

।। इति पञ्चम वर्णक।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

षष्ठवर्णकम्

रागादिवृत्तिभेदाः

पूर्वप्रतिज्ञातदुःखादिसप्तके दुःखं शरीरं कर्म रागद्वेषादिश्चोत्तरोत्तरहेतुत्वेनोक्तानि। इदानीं षष्ठवर्णके रागद्वेषादिवृत्तिभेदा अभिमानोऽविवेकोऽज्ञानं च कथ्यन्ते। रागो द्वेषः कामः क्रोधो लोभो मोहो मदो मात्सर्यमीर्ष्याऽसूया दम्भो दर्पोऽहंकार इच्छा भक्तिः श्रद्धेति रागद्वेषादिवृत्तयः षोडश।

स्त्रीविषयकचित्तवृती रागः। अपकारकर्तुः प्रत्यपकारेच्छा द्वेषः। गृहक्षेत्रादिसम्पादनेच्छा कामः। तत्र विघ्नकर्त्तरि वैरं क्रोधः। स्वसम्पादितेषु किञ्चिदपि सत्पात्रे न देयमिति बुद्धिर्लोभः।

ऐश्वर्यमदेन कृत्याकृत्यमविचार्य तूष्णीमवस्थानं मोहः। स्वस्य सम्पदस्ति, किं वा कर्तुमशक्यमिति बुद्धिर्मदः। स्वसमानसम्पन्नजनदर्शनासहनं मात्सर्यम्। इदं दुःखं तं विहाय मम किमित्यागतमिति चित्तवृत्तिरीर्ष्या।

पहिले चतुर्थवर्णक में दुःखादि सप्तक में उत्तर उत्तर को पूर्व पूर्व का हेतु बतलाया था अर्थात् अज्ञान से अविवेक, अविवेक से अभिमान, अभिमान से रागद्वेष, रागद्वेष से शुभाशुभ कर्म, शुभाशुभ कर्म से जन्म (शरीरग्रहण), जन्म से दुःख इत्यादि का वर्णन किया गया था। अब इस षष्ठवर्णक में रागद्वेषादि वृत्तियों के भेद व अभिमान व अविवेक के स्वरूप का वर्णन किया जायेगा।

राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, असूया, दम्भ, दर्प, अहंकार, इच्छा, भक्ति, श्रद्धा, —ये रागद्वेषादि सोलह वृत्तियाँ हैं।

स्त्रीविषयक चित्तवृत्तिविशेष ही राग है। (स्त्री यहाँ उपलक्षण है अर्थात् रजोगुण विशिष्ट रञ्जनात्मक किसी भी वस्तु विशेष में चित्त की जो आसक्ति है उसे ही राग कहते हैं।)

अपकारी के प्रति जो अपकार करने की भावना है वही द्वेष है। या अकारण ही बिना अपकार के भी चित्त में जो परापकारप्रवणेच्छा का प्रबल स्पन्दन है वही द्वेष है।

गृह क्षेत्रादि के सम्पादन की जो इच्छा है उसी को काम कहते हैं अर्थात् इच्छाविशेष ही काम या कामना है। अपने इच्छित कार्य में विघ्न करने वाले के प्रति जो वैर है उसी का नाम क्रोध है। अपने अर्जित धन धान्य में से सत्पात्र को कुछ भी न देने की जो भावना है उसी को लोभ कहते हैं।

ऐश्वर्य, धन सम्पत्ति आदि के मद से कर्तव्याकर्तव्य का विचार न करके चुपचाप बैठे रहना ही मोह है। (चुपचाप बैठे रहना तो मोह का कार्य है। बुद्धि-वृत्ति का किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना मोह का स्वरूप है।) अपने पास तो काफी धन दौलत है ही इससे हम क्या क्या (उचित अथवा अनुचित) नहीं कर सकते? इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम मद है। अपने समान सुखी व सम्पन्न जन को न देख सकना या परोत्कर्ष न सहना मात्सर्य है। यह सब दुःख तो दूसरों को होना चाहिए हमें क्यों हो रहा है? चित्त की इस प्रकार की वृत्ति का नाम ईर्ष्या है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इदं सुखं ममैव, तस्यापि किमित्यागतमिति बुद्धिरसूया। अनेन धर्मेण मम प्रसिद्धिर्भूयादिति चित्तवृत्तिर्दम्भः। मम न कोऽपि समान इति बुद्धिर्दर्पः। सर्वत्राग्रहोऽहंकारः। अवर्जनीयप्राशनविमोचनादिकर्मचिकीर्षा इच्छा। गुरौ सज्जनेषु देवतासु चाति-प्रीतिर्भक्तिः। यागादिकर्मसु वेदान्तवाक्येषु गुरूपदेशे च विश्वासः श्रद्धा। इति षोडशविधो रागद्वेषादिः।।

वृत्तिविचारप्रयोजनम्

आत्मविचारप्रकरणे चित्तवृत्तिविचारस्य किं प्रयोजनमिति चेत् ? शृणु। सकलजीवानां बन्धमोक्षौ मनसैव, नान्येन। कथमिति चेत्? स्वभावनिर्मलस्य मनसोऽशुद्धेन योगो बन्धः, शुद्धरूपेणावस्थानं मोक्षः। रागादिचतुर्दशवृत्तयोऽप्यशुद्धाः। भक्तिश्रद्धे द्वे अपि शुद्धे। रागादित्रयोदशवृत्तयः सर्वेषां प्रयत्नं विनैव पुनः पुनरागच्छन्ति पापेष्वेव मनुष्यान् प्रवर्तयन्ति च।

तद्वृत्तिशीलानामधोगतिरेव, नोर्ध्वगतिः। रागादिवृत्तीर्निरुध्य भक्तिश्रद्धाभ्यामेव कर्म कुर्वतः क्रमेण संसारनिवृत्तिर्भविष्यति।

यह सब सुख तो मुझे प्राप्त होना चाहिए, दूसरों को क्यों प्राप्त हो! इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति है उसे असूया कहते हैं। अथवा दूसरे के गुणों में दोषारोपण करना असूया है। अमुक धर्म या सदाचार से (वस्तुतः प्रदर्शनमात्र से) मेरी प्रसिद्धि हो जाय, इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम दम्भ है। मेरे समान कोई भी नहीं है—ऐसी वृत्ति का नाम दर्प है। सर्वत्र अधिकार व अभिमान करना अहंकार है। जो अवश्य करने पड़ते हैं ऐसे भोजन, मलविसर्जन आदि कार्य करने की अभिलाषा इच्छा है। अर्थात् उचित भोज्य व परिधानादि क्रियाकलापों की रुचि रखना ही इच्छा है। गुरुओं, सज्जनों व देवताओं में अतिप्रीति ही भक्ति है। यज्ञादि कर्म, वेदान्त वाक्य तथा गुरुजी के उपदेश में विश्वास रखना ही श्रद्धा है। इस प्रकार सोलह प्रकार के रागद्वेषादि हैं।

प्रश्न—इस आत्मविचार के प्रकरण के प्रसङ्ग में चित्त की वृत्तियों के विषय में विचार करने का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् हम लोग तो यहाँ आत्मा के विषय में विचार कर रहे हैं, आपने अप्रासङ्गिक चित्तवृत्तियों की चर्चा छेड़ दी है। यह वही बात है कि कोई आम के विषय में पूछे तो उत्तर में कचनार की कहानी कह दें !

उत्तर—सुनो, यह कोई अप्रासङ्गिक चर्चा नहीं है। सभी प्राणियों का बन्ध और मोक्ष मन के ही द्वारा होता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। कहा भी है "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" मन स्वभावतः निर्मल है, अशुभ विचार से उसका सम्बन्ध होना ही बन्ध है और अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में रहना मोक्ष है।

ये पूर्वोक्त रागादि चौदह वृत्तियाँ अशुद्ध हैं, इनके सम्पर्क से मन भी मलिन हो जाता है। भक्ति व श्रद्धा—मन की ये दो वृत्तियाँ विशुद्ध हैं। इच्छा को छोड़कर रागादि जो मन की तेरह वृत्तियाँ हैं, ये हमेशा सभी मनुष्यों को अनायास ही या स्वभावतः पापकर्मों की ओर प्रवृत्त करती हैं, अत एव रागादि त्रयोदश वृत्ति वालों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मात् पुरुषः स्वचित्तं सम्यक् शोधयित्वा अशुद्धिहेतुरागादिवृतीर्वर्जयित्वा शुद्धिहेतुभक्तिश्रद्धयोरेव चित्तं स्थापयेत्। इच्छया[1] क्रियमाणं क्षुत्पिपासानिवृत्तिमूत्रपुरीषविसर्जनादि कर्म च त्यक्तुमशक्यम्। तत्त्यागे सत्यपि दुःखमागच्छति। तेन कर्मणा स्वर्गोऽपि नास्ति, नरकोऽपि नास्ति। तस्मादैच्छिकं प्राशनमोचनादिकं कर्म कर्तव्यमेव[2]।

एवं जाग्रत्स्वप्नयो रागादौ सति कर्मास्ति, सुषुप्तिमूर्च्छासमाधितूष्णींभावावस्थासु रागादि नास्ति, कर्मापि नास्ति, इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां रागादेः कर्महेतुत्वं सिद्धम्।

रागादिहेतुरभिमानः

इतः परं, स रागादिः केनागच्छतीति चेत्? अभिमानेनागच्छति। एवं व्याप्तिरस्ति नवेति चेत्? अस्ति। स्त्रीजनस्य "अहं स्त्रीजनः" इति यावानभिमानोऽस्ति तावती रागादिपूर्वकं भर्तृशुश्रूषा-गृहरक्षा-पाकक्रियादिकर्मसु प्रवृत्तिरागच्छति। पुरुषजनस्यापि

की अधोगति ही होती है उत्तम गति नहीं होती। अतः (मन के द्वारा ही) इन रागादि मनोवृत्तियों का निरोध करके भक्ति व श्रद्धा पूर्वक कर्म करने से शनैः शनैः संसारनिवृत्ति हो जाती है।

इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह अपने चित्त का अच्छी तरह संशोधन कर, चित्त के अशुद्धि के कारण जो रागादि वृत्तियाँ हैं उन्हें छोड़कर चित्तशुद्धि के कारणीभूत जो भक्ति व श्रद्धा रूप वृत्तियाँ हैं उन्हीं को धारण करे।

अपनी इच्छा से किये जाने वाले जो भूख व प्यास की निवृत्ति तथा मलमूत्र की निवृत्तिरूप कर्म हैं वे छोड़े नहीं जा सकते हैं, इनका त्याग तो मुश्किल है, इनके त्याग से जीवन यात्रा भी संभव नहीं है। फिर इनके त्याग या ग्रहण में कोई स्वर्ग या नरक, पुण्य या पाप नहीं है ! इसलिए ऐच्छिक जीवनयात्रा के लिए अनिवार्य ये प्राशनादि कर्म करने ही चाहिए।

इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था व स्वप्नावस्था में रागादि वृत्तियों के रहने पर कर्म, मनोव्यापार भी रहता ही है अर्थात् जाग्रत् व स्वप्नावस्था में विषयों के साथ मनोवृत्तियों का सम्बन्ध तो रहता ही है फिर वे मनोवृत्तियाँ निष्क्रिय कैसे रह सकेंगी? परन्तु सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि व मौनावस्था में किसी बाह्य विषय के न होने से रागादि मनोवृत्तियों का व्यापार भी नहीं है, अतः इन अवस्थाओं में कोई कर्म नहीं है। इसीलिए अन्वयव्यतिरेक-विधान से यह सिद्ध है कि रागादि ही कर्म के हेतु हैं अर्थात् रागादि की सत्ता रहते मनोव्यापार और रागादि के अभाव में मनोव्यापाराभाव है।

ये रागादि किस तरह आते हैं? यह पूछो तो उत्तर है कि ये सब अभिमान के द्वारा आते हैं, इनकी अभिमान के साथ व्याप्ति है। अभिमान की रागादिवृत्तियों के साथ व्याप्ति इस प्रकार है : उदाहरण के लिए स्त्रीजनों को ले लीजिए; जब तक स्त्रीजनों का "मैं स्त्री हूँ" अपने में ऐसा अभिमान रहेगा, तब तक उनकी अपने पतिसेवा, गृहरक्षा और पाकादि कर्मों में प्रवृत्ति रहेगी। इसी प्रकार पुरुषजनों का भी "मैं पुरुष हूँ" इस

---

१. वैधव्यावृत्तिः।

२. निवृत्तिधर्माधिकारी 'विधिप्रयुक्तोऽहम्' इति कृत्वा भोजनाद्यवर्जनीयकर्मापि न कुर्याद्, इच्छां प्रवर्तिकां मत्त्वा कुर्वाणस्य तथाविधादपि कर्मणो निवृत्तिः शनैः शनैर्भवेदिति भावः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अहं पुरुष" इति यावान् अभिमान आगच्छति तावती रागादिपूर्वकं दारादिपरिग्रहे कृषिवाणिज्यादिकर्मसु च प्रवृत्तिरागच्छति। एवं सर्वेषां जीवानामपि वर्णाश्रमाद्यभिमानेन रागादिपूर्वकं स्वस्वव्यापारे प्रवृत्तिरागच्छति। तस्माद् रागादेरभिमान एव कारणम्।

अस्य विचारस्य किं फलमिति चेत् ? मुमुक्षुः पुरुषो जातिवर्णाश्रमवयोऽवस्थाद्यभिमानं त्यजेत्, तस्मिंस्त्यक्ते बन्धस्त्यक्तो भवेदिति जानीहि। अभिमाने सति रागादिः, अभिमानाभावे रागाद्यभावः, इत्यन्वयव्यतिरेकयुक्त्या जानीहि।

तत् कथमिति चेत् ? जाग्रदाद्यवस्थासु वर्णाश्रमाद्यभिमानस्य विद्यमानत्वाद् रागद्वेषादिनिमित्ता प्रवृत्तिरागच्छति, सुषुप्तावुदासीनावस्थायां च वर्णाश्रमाद्यभिमानाभावाद् रागद्वेषादिनिमित्ता प्रवृत्तिर्नास्तीत्येतज्जानीहि।

प्रकार का अभिमान रहेगा तब तक उनकी विवाह करना, खेती बाड़ी देखना, व्यापार कार्य आदि में प्रवृत्ति होगी। जिस दिन इनका स्त्रीविषयक और पुरुषविषयक अभिमान समाप्त हो जायेगा उसी दिन फिर वे पूर्वोक्त प्रवृत्तियाँ भी नहीं होंगी।

इस प्रकार सभी प्राणियों की वर्ण-आश्रम व अवस्था के अभिमान द्वारा ही रागादि पूर्वक अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्ति होती है, अतः यह निश्चित है कि रागादि प्रवृत्ति में अभिमान ही कारण है।

तात्पर्य यह है कि जब तक ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्यादि वर्ण वालों को तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थादि आश्रमवासियों को अपने-अपने वर्ण व आश्रमवास का अभिमान होगा कि "मैं ब्राह्मण हूँ" इत्यादि, तब तक ब्राह्मणोचित कर्म में भी प्रवृत्ति होगी। इसलिए यह व्याप्ति स्वाभाविक ही है कि सन्ध्यावन्दनादि प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ वर्णाश्रमादि का अभिमान हो।

प्रश्न—इस अभिमान व रागादि के विषय में इतना विचार करने का प्रयोजन क्या है? उत्तर—उक्त विचार से मुमुक्षु पुरुष अपने में जाति, वर्ण, आश्रम व अवस्थादि के अभिमान को छोड़ सकता है। इस प्रकार के अभिमान के छूट जाने पर इससे होने वाला बन्धन भी छूट जाता है। क्यों कि अभिमान के रहने पर ये रागादि धर्म अवश्य रहेंगे और अभिमान के न रहने पर इन रागादि प्रवृत्तियों का भी अभाव होगा, अतः रागादि धर्मों के साथ अभिमान का अन्वय-व्यतिरेक जानो।

यदि यह सब कैसे होता है यह पूछो, तो इसमें युक्ति सुनो—जाग्रत् व स्वप्नावस्था में पुरुष को वर्ण व आश्रमादि का अभिमान रहता है, इस अभिमान के रहने से रागद्वेषादि की ओर प्रवृत्ति भी होती है। और सुषुप्ति व समाधि आदि अवस्थाओं में 'मैं अमुक वर्ण का हूँ, मैं अमुक आश्रम का हूँ' इत्यादि अभिमान नहीं रहता है, पूर्वोक्त अभिमान के न रहने से तद्विषयक रागादि प्रवृत्ति भी नहीं होती है।

तब अभिमान कहाँ से आता है? उत्तर— अभिमान अविवेक के आता है। यह कैसे? उत्तर—सभी प्राणियों के अलग अलग शरीर होने पर भी विवेकाभाव के कारण "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी, हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ' इत्यादि अभिमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविवेकोऽभिमानहेतुः

तर्ह्ययमभिमानः केनागच्छतीति चेत् ? अविवेकेनागच्छति। तत् कथमिति चेत्? सर्वेषां जीवानां देहव्यतिरिक्तत्वे सत्यपि विवेकाभावादेव "अहं ब्राह्मणः", "अहं क्षत्रियः", "अहं वैश्यः" "अहं शूद्रः", "अहं ब्रह्मचारी", "अहं गृहस्थः", "अहं वानप्रस्थः", "अहं संन्यासी", "अहं पुरुषः", "अहं स्त्री" इत्याद्यभिमानो जायते। तं विना नान्यो हेतुः अस्याभिमानस्य। अविवेकं विना अन्यच्छरीरमवलम्बनमस्ति चेत्, क्षत्रिस्य "अहं ब्राह्मणः" इति, स्त्रियाः "अहं पुरुषः" इति, ब्रह्मचारिणः "अहं गृहस्थः" इत्यभिमानोऽस्तु! स न दृश्यते। तस्माच्छरीरमवलम्ब्याभिमानो नागच्छति।

शिखायज्ञोपवीतादिकमवलम्ब्य "अहं ब्राह्मणः" इति, काषायकमण्डल्वादिकमवलम्ब्य "अहं संन्यासी" इति चाभिमान आगच्छत्विति चेत्? शिखायज्ञोपवीतादि वैश्यकुलालयोरप्यस्ति। काषायकमण्डल्वादि केषाञ्चिच्छूद्राणां तपस्विनामप्यस्ति। तेषामेतेषां च "अहं ब्राह्मणः", "अहं संन्यासी" इत्याद्यभिमानः स्यात्, तथा न दृश्यते।

स्त्रीपुरुषाभिमानवदवयवविशेषमवलम्ब्य "अहं ब्राह्मणः" इत्याद्यभिमान इति चेत्? सर्वेषामप्यवयवविशेषाभावादेकरूपत्वादवयवविशेषोऽप्यवलम्बनं न भवति। तर्हि

अपने-अपने में होता है। यद्यपि आकार प्रकार में सबका शरीर लगभग एक-सा है, फिर भी उसमें ब्राह्मणादि जाति आदि का तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रमादि का अभिमान होता ही है। उस अविवेक के सिवाय अभिमानका और कोई भी कारण नहीं है।

प्रश्न—यदि अभिमान का कारण अविवेक को न मान कर उसे शरीरालम्बन अर्थात् तत्तत् जाति, वर्ण, आश्रम विशिष्ट शरीरालम्बन मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? उत्तर— यह नहीं हो सकता है, क्यों कि शरीर को ही यदि अभिमान में कारण मानोगे, तो शरीर के एक-समान होने से क्षत्रिय का ब्राह्मणत्वाभिमान तथा स्त्री का पुरुषत्वाभिमान और ब्रह्मचारी का गृहस्थत्वाभिमान हो जाना चाहिए ! पर होता नहीं है, अतः यह निश्चित है कि तत्तत् जाति व वर्णादिगत अभिमान में शरीर कारण नहीं है।

प्रश्न— ब्राह्मण का जो असाधारण चिह्न शिखायज्ञोपवीतादि है, उसके कारण "मैं ब्राह्मण हूँ" ब्राह्मण को ऐसा अभिमान होता है; और काषाय वस्त्र, कमण्डलु आदि असाधारण चिह्नों को धारण कर संन्यासी को "मैं संन्यासी हूँ" ऐसा अभिमान होता है; यह मान लिया जाय तो क्या हानि है? उत्तर— शिखा यज्ञोपवीतादि चिह्न तो वैश्य व कुम्हार के भी हैं, काषायवस्त्र व कमण्डलु आदि तो कोई शूद्र या भिखारी भी धारण कर सकता है, तब तो इन्हें भी अपने में ब्राह्मणत्व व संन्यास का अभिमान होना चाहिए, पर होता नहीं है।

प्रश्न—स्त्री व पुरुष का जिस प्रकार अवयव-विशेष के कारण "मैं स्त्री हूँ" और "मैं पुरुष हूँ" इत्यादि अभिमान होता है उसी प्रकार ब्राह्मण का भी अपने शरीर में तदनुरूप शरीरावयव देखकर सम्भवतः अपने में "मैं ब्राह्मण हूँ" ऐसा अभिमान होता हो ? उत्तर— सभी मनुष्यों के प्रायः शरीर के अवयव समान ही होते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशिष्टमातृपितृजन्यावयवविशेषमवलम्ब्याभिमानविशेष इति चेत् ? तज्जन्यरोमनखदन्त-मूत्रपुरीषाद्यवयवानामपि ब्राह्मणत्वादिव्यवहारः स्यात् ! स न दृश्यते।

तस्मादविवेकं विना अन्यत् किमप्यवलम्ब्याभिमान आगच्छतीति ब्रह्मणापि वक्तुं न शक्यते।

तर्हि ब्राह्मणत्वाद्यभिमानः केनागच्छतीति ? सम्यग्विचार्यमाणे लोके'उत्सवः' इति "कल्याणम्" इति, "सभा" इति "सेना" इति, अनेकवस्तुसमूहस्य तत्तन्नाम्ना व्यवहारः प्रवर्तते। तथा मायामयस्यानिर्वचनीयस्य देहेन्द्रियादिसंघातस्यैव लोकव्यवहारेण केवलम् ब्राह्मणः, क्षत्रियः, वैश्यः, शूद्रः, स्त्री, पुरुषः, नपुंसकः, गुर्जरः, महाराष्ट्रकः, आन्ध्रः, कर्णाटकः, द्राविडः, शास्त्री, दीक्षितः, पौराणिकः, अवधानी, गङ्गास्नायी, शैवः, भागवतः, सेवकः, प्राधानिकः, राजा, मन्त्री, गुरुः, शिष्यः, इत्यादिसकलनामरूपव्यवहारः। कालत्रयेप्यात्मनो नामरूपव्यवहारो नास्ति। इत्येकरूपविचाराकरणमेवाविवेकः अनेनैवाविवेकेन सर्वेषामात्मनि वर्णाश्रमाद्यभिमान आगच्छति।।

हैं, उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता है अतः अवयव-विशेष भी "मैं ब्राह्मण हूँ" इत्यादि ब्राह्मणत्वादि अभिमान में कारण नहीं है।

प्रश्न— तब विशिष्ट माता पिता से जन्य विशिष्ट व्यक्तियों के तत्तत् अवयव-विशेष के कारण तत्तत् जातिगत अभिमान होता है, ऐसा मान लिया जाय?

उत्तर— यदि विशिष्ट शरीरों से जन्य विशिष्ट अवयवों से वैसा अभिमान माना जाय तो उन शरीरों से उत्पन्न होने वाले रोम, नाखून, दाँत, पेशाब, टट्टी आदि हिस्सों का भी 'यह ब्राह्मण है' आदि व्यवहार हुआ करे ! किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता।

अतः यह मानना पड़ेगा कि अविवेक से अन्य कोई दूसरा अभिमान का कारण नहीं है। साधारण मनुष्य की क्या बात, ब्रह्मा भी कोई अतिरिक्त कारण नहीं बता सकता !

तब यह ब्राह्मणत्वादि का जो व्यवहार होता है वह कैसे और किसके द्वारा होता है ? इस पर यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि यह सब लोक में नाम-रूप का ही व्यवहार है, परमार्थतः तो कुछ भी नहीं। जैसे लोक में—कहते हैं उत्सव है, और कोई मांगलिक कार्य है, सभा है, सेना है; इत्यादि व्यवहार होता है पर 'उत्सव' आदि शब्दों का अर्थ कोई एक चीज नहीं वरन् अनेक चीजों का समूह ही है; वैसे ही देखा जाय तो यह देह व इन्द्रियों का संघात है तो अनिर्वचनीय माया का एक खेल फिर भी लौकिक व्यवहार में उसको ब्राह्मण इत्यादि नाम दे दिया जाता है। इसी लौकिक व्यवहार से मनुष्य अपने में, "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मै गुर्जर हूँ, मैं महाराष्ट्री हूँ, मैं आन्ध्र प्रदेश का हूँ, मैं कर्नाटक प्रदेश का हूँ, मैं द्राविड हूँ, मैं शास्त्री हूँ, मैं दीक्षित हूँ, मैं पौराणिक हूँ, मैं ध्यानी हूँ, मैं गङ्गास्नायी हूँ, मैं शैव हूँ, मैं वैष्णव हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं प्रधान अधिकारी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं मन्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविवेकोऽज्ञानात्

अयमविवेकः केनागच्छतीति चेत्? स्वस्य निजस्य चिदात्मरूपस्यानादिकालमारभ्य आवरकमात्मज्ञानैकापनोद्यं यदनाद्यज्ञानं तदेव कारणम्। इदमेवाज्ञानम् "मामहं न जानामि" इति व्यवह्रियते।

अज्ञा अविवेकिनः

ननु लोके भ्रान्तमेकं विना को वा आत्मानं न जानाति इति चेत्? सर्वे भ्रान्ता एव! तत् कथमिति चेत्? "अहं ब्राह्मणः", "अहं क्षत्रियः", "अहं वैश्यः", "अहं शूद्रः", "अहं ब्रह्मचारी", "अहं गृहस्थः", इत्यादिरूपेण मिथ्याभूतमिमं देहमेव सर्वे जानन्ति, शरीरव्यतिरिक्तमात्मानं कोऽपि न जानाति। अतः सर्वे भ्रान्ता एव।

ननु लोके केचिच्छास्त्रज्ञाः पौराणिकाश्च देहमनात्मत्वेन मन्यमाना घटकुड्यसन्निभं देहं विहायान्यमेवात्मानं जानन्ति। हे स्वामिन्! भवद्भिः "आत्मानं न केऽपि जानन्ति" इति कथमुच्यत इति चेत्? हे पुत्र! तेऽपि पारमार्थिकमात्मानं न जानन्ति, किन्तु कर्तारं

हूँ, मैं गुरु हूँ, मैं शिष्य हूँ", इत्यादि जो नामरूप का व्यवहार है, उसे आरोपित कर लेता है, परन्तु परमार्थदशा में भूत, वर्तमान व भविष्य इन तीनों कालों में भी आत्मा में नाम व रूप का व्यवहार नहीं होता। आत्मा नामरूप से परे है, किसी भी काल में किसी भी नाम-रूप से उसका सम्बन्ध नहीं होता है। इस तथ्य का विचार न करना ही अविवेक है, इसी अविवेक के कारण सभी को अपने में नामरूप व वर्णाश्रमादि का अभिमान हो जाता है।

यदि यह पूछो कि यह अविवेक कहाँ से आता है ? तो उत्तर में यही कहा जाता है—यह अनादि काल से आने वाली माया है जो सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा को ढक देती है, यही इस अविवेक का कारण है, और इसी के कारण व्यक्ति स्वयं अपने स्वरूप को नहीं जानता है। इस मायानामक अज्ञानका निवारण सिर्फ अखण्ड आत्मा के दृढ साक्षात्कार से संभव है।

आपने अभी अज्ञान के कारण व्यक्ति स्वयं अपने को भी नहीं जानता है ऐसा कहा। हमें तो यह प्रतीत होता है कि सिवाय एक भ्रान्त (पागल) के और कौन अपने आत्मा को नहीं जानेगा? उत्तर—इस विषय में सारा संसार ही भ्रान्त है। इसे आप इस प्रकार समझें—जितने भी संसारी हैं, उन्हें "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ," इस प्रकार का क्षणभंगुर अत एव मिथ्याभूत इस देह में ब्राह्मणत्वादि का अभिमान बना रहता है अत एव वे देह से व्यतिरिक्त भी कोई आत्मा है इसको नहीं जानते हैं। इसलिए सभी भ्रान्त ही हैं।

आप कैसे सबको भ्रान्त मान रहे हैं! हम तो देखते हैं कि इस लोक में जो शास्त्रज्ञ और जो पुराणज्ञ हैं, वे घट, दीवाल की तरह के इस शरीर को आत्मा न मान कर इससे अतिरिक्त ही आत्मा को मानते हैं। तब आपका यह कहना उचित नहीं है कि कोई आत्मा को जानता ही नहीं ? उत्तर—हे पुत्र! परमार्थ रूप से यदि देखा जाय तो वे भी आत्मा से अनभिज्ञ ही हैं। वे लोग भी कर्ता, भोक्ता, परिच्छिन्न, लोक-लोकान्तरगामी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भोक्तारं परिच्छिन्नं लोकान्तरगामिनं, चिदाभासरूपं व्यावहारिकं जीवात्मानमेवात्मत्वेन जानन्ति, तं विना, अकर्तारमपरिच्छिन्नमचलं चिद्रूपं पारमार्थिकमात्मानं न जानन्ति।।

अज्ञानमनादि

इदमज्ञानं केनागतमिति चेत् ? अस्याज्ञानस्यानादित्वेन वेदेषु शास्त्रेषु च प्रसिद्धत्वात् कारणं वक्तुं न शक्यते।

अज्ञानं सान्तम्

तर्हि तस्याज्ञानस्यादिर्नास्ति चेदन्तोऽपि नास्तीति निश्चयः, तथा चेज्जीवस्य मुक्तिरपि न स्यादिति चेत्? शृणु। अज्ञानस्य आदेरभावेऽप्यन्तोऽस्त्येव। लोके केषाञ्चित् पदार्थानामादेरभावेऽप्यन्तोऽस्ति, केषांचिदन्ताभावेऽप्यादिरस्ति।

तत्कथमिति चेत्? प्रागभावस्यादिर्नास्ति अन्तोऽस्ति। प्रध्वंसाभावस्यान्तो नास्ति, आदिरस्ति। किं च वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधेर्मूलाज्ञानेऽपि वैद्यकशास्त्रोक्तौषधैर्यथा निवृत्तिर्दृश्यते, तथाऽज्ञानस्य मूलाज्ञानेऽपि वेदान्तशास्त्रोक्तवाक्यजन्यज्ञानेन नाशो भवतीति सिद्धान्तः।

अन्तःकरणरूप उपाधि से परिच्छिन्न, चिदाभास को ही—व्यवहार में जिसे जीवात्मा भी कहते हैं उसी को—आत्मा माने हुए हैं। इससे अतिरिक्त जो न तो कर्ता है और जो व्यापक है निष्क्रिय है चिद्रूप है, इस तरह के पारमार्थिक "आत्मा" को नहीं जानते हैं।

प्रश्न—तब यह आत्मविषयक अज्ञान कैसे आया? और कहाँ से आया?

उत्तर— वेदों में व शास्त्रों में इस अज्ञान को अनादि बतलाया है, अर्थात् कब से इसका जीवात्मा के साथ सम्बन्ध हुआ यह बतलाना असंभव है। अतः इसके कारण के विषय में कुछ इदमित्थंतया कहा नहीं जा सकता है इसलिए यह अनिर्वचनीय माना जाता है। (वस्तुतस्तु किसी भी अज्ञानके बारेमें कोई पूछे 'अमुक बात कब से नहीं जानते ?' तो गैरजानकार यही कहेगा 'हमेशासे ही नहीं जानता।' तथा 'क्यों नहीं जानते?' का भी उत्तर होगा 'जानने के साधन नहीं मिले।' आत्माका अज्ञान भी हमेशासे है क्योंकि आत्मज्ञानके साधन जुट नहीं पाये हैं।)

प्रश्न—तब यदि अज्ञान का आदि नहीं है तो फिर उसका अन्त भी नहीं होगा, यही निश्चय हुआ। ऐसी स्थिति में तो जीवात्मा की कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जिस पदार्थ का कोई आदि व अन्त नहीं है वह तो हमेशा जीवात्मा के साथ बना रहेगा। तब जीवात्मा की मुक्ति का क्या कोई प्रश्न ही नहीं?

उत्तर—सुनो, अज्ञान को अनादि कह देने से उसके अनन्तत्व की भी मनमानी कल्पना मत कर लो। अनादि होने पर भी वह सान्त है। संसार में कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो अनादि होते हुए भी सान्त हैं और कुछ ऐसे हैं जो सादि होते हुए भी अनन्त हैं।

प्रश्न—यह तो आपने बड़ी विचित्र बात कही कि किन्हीं पदार्थों का आदि नहीं पर अन्त है और किन्हीं का आदि है पर अन्त नहीं। हमे तो यही मालूम है कि सांसारिक पदार्थों में जिनका आदि है उनका अन्त भी है और जिनका अन्त है उनका ज़रूर आदि होगा।

उत्तर—देखो, प्रागभाव का आदि नहीं है, परन्तु उसका अन्त होता है, और प्रध्वंसाभाव का आदि है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञानस्वरूपम्

अस्याज्ञानस्य स्वरूपलक्षणं किमिति चेत्? तद्दुर्वचम्! तथा हि—तदज्ञानं न सत्, नासत्, नापि सदसत्, न सावयवम्, न निरवयवम्, नोभयात्मकम्, न भिन्नम्, नाभिन्नम्, न भिन्नाभिन्नम्, किंत्वनिर्वचनीयम्।

तत् कथमिति चेत्? तत्त्वज्ञानेन बाधितत्वात्, न सत्। शशविषाणनरविषाणगगनारविन्दादिवन्नाप्यसत्, "अहमज्ञः" इति सर्वैरनुभूयमानत्वात्। नापि सदसत्, परस्परविरोधात्।

पर उसका अन्त नहीं होता है।

(न्यायदर्शन में चार प्रकार के अभावों को माना है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव। इनमें प्रागभाव को इन्होंने अनादि और सान्त माना है। मिट्टी के टुकड़ों में जब तक घड़ा नहीं बन जाता तभी तक घटके प्रागभाव की स्थिति है। जब घड़ा तैयार हो जाता है तब उस घटाभाव का भी अन्त हो जाता है। यह घटाभाव उन कपालों में कब से रहा ? इसकी कोई सीमा नहीं है अतः यह प्रागभाव अनादि होते हुए भी सान्त है।

ठीक इसके विपरीत प्रध्वंसाभाव है, उसे सादि तथा अनन्त माना है। मुद्गर आदि से जब हम घड़े को तोड़ देते हैं तब हमें उक्त घड़े के टूटने या फूटने की अवधि मालूम है कि अमुक समय या अमुक दिन घड़ा टूटा अतः घटध्वंस सादि हुआ पर उस घड़े का कब तक अभाव रहेगा ? इसकी कोई सीमा नहीं है, क्योंकि अभाव का अभाव तो हो नहीं सकता! अतः इस प्रकार यह अभाव सादि होते हुए भी अनन्त है।)

जिस प्रकार आयुर्वेद में—वात पित्त व श्लेष्मा से उत्पन्न होने वाले रोगों के मूल (आदि कारण) का ज्ञान न होने पर भी उक्त शास्त्रोक्त औषधि के द्वारा रोग निवृत्त हो जाता है, ठीक यही दशा इस अज्ञान की भी है; इसके मूल का ज्ञान न होने पर भी वेदान्त-शास्त्रोक्त "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि महावाक्यों के तात्पर्य ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है। इस प्रकार यह अज्ञान अनादि होता हुआ भी सान्त है यही वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है।

प्रश्न—इस अज्ञान का स्वरूप लक्षण क्या है ? उत्तर— इसके विषय में कुछ कहना कठिन है अर्थात् अज्ञान का इदमित्थंतया कोई लक्षण बताना कठिन है। फिर भी इस प्रकार इसे समझा जा सकता है—यह न सत् है, और न असत् है, और नही सदसत् है। न सावयव है, न निरवयव और नही उभयात्मक है। न भिन्न है, न अभिन्न है और नही भिन्नाभिन्न है। अतः यह अज्ञान अनिर्वचनीय है।

आपने जो अज्ञान के विषय में न सत्, न असत् और न सदसदादि रूप बतलाया यह कैसे?

उत्तर— ज्ञान के द्वारा अज्ञान का बाध हो जाता है इसलिए उसे सत् नहीं कहा जा सकता है, और शशशृङ्ग नरशृङ्ग व आकाशकमलिनी की तरह एकान्ततः वह असत् भी नहीं है, क्योंकि 'मैं अमुक वस्तु नहीं जानता हूँ' ऐसा सभी का अनुभव है, इस प्रकार अज्ञान का अनुभव होने से उसे असत् न मानकर भावरूप ही माना जाता है। सत् और असत् का परस्पर विरोध होने से उसे उभयकोटिक भी नहीं माना जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थूलाकाशः सूक्ष्मः तस्मादपि सूक्ष्मोऽपञ्चीकृत आकाशः, तस्मादपि सूक्ष्मा गुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्ममज्ञानम्। तस्मात् सूक्ष्मस्यापि मूलकारणत्वादज्ञानं न सावयवम्। स्थूलपदार्थजगदाकारेण परिणामान्न निरवयवम्। अन्योन्यविरोधान्नोभयात्मकम्।

आत्मनो भिन्नमिति चेद् ? द्वैतश्रुतिविरोधादात्मसत्ताव्यतिरिक्तसत्ताऽभावाच्च न भिन्नम्। अभिन्नमिति चेद् ? आत्मशक्तित्वाभावप्रसङ्गात्, "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे.६.८) इति श्रुतिविरोधाच्च तदपि न सम्भवति। किं च आत्मनो जडत्वं मायाया वा चेतनत्वं स्यात्, आत्मनोऽविद्यादिनाम्ना च भवितव्यम्, आत्मनः सच्चिदानन्दस्वरूपस्यानृतजडदुःखत्वमपि स्यात्, तस्मान्नाभिन्नम्। भिन्नाभिन्नयोर्विरोधान्नोभयात्मकम्। तस्मादज्ञानमनिर्वचनीयमेव।

एवंभूतादनादेरज्ञानादविवेकः, तस्मादभिमानः, तस्माद् रागद्वेषादिः, तेन कर्म, कर्मणा शरीरम्, तस्माद् दुःखं सांसारिकमात्मनोऽज्ञानात् परम्परया भवतीति ज्ञातव्यम्।

यह अज्ञान अवयव सहित नहीं है। दृश्यमान यह स्थूल आकाश ही रूपरहित होने से सूक्ष्म है, इसका प्रत्यक्ष कठिन है। इससे भी सूक्ष्म अपञ्चीकृत आकाश है। उससे भी सूक्ष्म गुण हैं। गुणों से भी सूक्ष्म अज्ञान अव्यक्त या माया है । यही सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का मूल कारण होने से सावयव नहीं है। दृश्यमान स्थूल जो जगत् है यह इसीका परिणाम होने से अज्ञान भी निरवयव नहीं है परस्पर विरोध होने से उभयात्मक भी नहीं है।

यह अज्ञान आत्मा से भिन्न भी नहीं है। यदि इसकी आत्मसत्ता से अतिरिक्त सत्ता मानी जाये तब तो अद्वैत सिद्धान्त का ही विरोध होगा, अतः इसे भिन्न भी नहीं कहा जा सकता है। इसे आत्मा से अभिन्न भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि इस अज्ञानरूप माया को आत्मशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। अभिन्न मानने इसे परमेश्वर की शक्ति बताने वाली श्रुतियों का विरोध होता है अतः अभिन्न भी नहीं कह सकते हैं। कथञ्चित् इसे आत्मा से अभिन्न मान भी लिया जाय तो फिर आत्मा की जडता तथा माया की चेतनता भी स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि अभिन्न होने से दोनों में एकरूपता होगी, तब आत्मा को विकाररूप से भी कहा जायेगा और अनृत जड व दुःख रूप माया को सच्चिदानन्दस्वरूप मानना होगा जो कि शास्त्रसङ्गत नहीं है। अतः अज्ञान आत्मा से अभिन्न भी नहीं है। परस्पर विरोध होने से भिन्नाभिन्न भी नहीं माना जा सकता है। इसलिए यह अज्ञान इदमित्थंतया या किन्हीं शब्दों से 'यह ऐसा ही है' निर्दिष्ट न होने से अनिर्वचनीय ही है।

इस प्रकार अनादि अज्ञान से अविवेक होता है और अविवेक से अभिमान होता है, अभिमान से रागद्वेषादि होते हैं, उस रागद्वेषादि से कर्म (शुभाशुभ) होता है, और फिर कर्म से अन्य-शरीर मिलता है। अत एव आत्मा के अज्ञान से परम्परया सांसारिक दुःख होता है ऐसा जानना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुःखनिवृत्तेर्हेतुपरम्परा

तर्हि एतद् दुःखं कदा गमिष्यतीति चेत् ? शरीरे गते सति दुःखं गमिष्यति। शरीरं च कर्मणि नष्टे सति नश्यति। कर्म च रागद्वेषादौ नष्टे सति नश्यति। रागद्वेषादिश्चाभिमाने नष्टे सति नश्यति। अभिमानश्चाविवेके नश्यति सति नश्यति। अविवेकश्चाज्ञाने नश्यति सति नश्यति। अज्ञानं चाद्वैतब्रह्मस्वरूपस्यात्मनः स्वस्य दृढनिश्चयरूपेण "ब्रह्मैवाहम्" "अहं ब्रह्मैवास्मि" इति महावाक्यजन्यज्ञानेन विनश्यति नान्येनेति ज्ञातव्यम्।।

कर्मणो नाऽज्ञानहानिः

ननु ब्रह्महत्यादिमहापातकान्यपि प्रायश्चित्तरूपसत्कर्मभिर्निःशेषं नश्यन्ति, तादृशकर्मशक्त्याऽल्पं मिथ्याभूतमिदमज्ञानं किमिति न गच्छेदिति चेत्?

कर्मणोऽज्ञानस्य च विरोधो नास्ति, कर्म अज्ञानं वर्धयति, यथा अमावास्यान्धकारं मेघावरणं वर्धयति, तथा कर्म अज्ञानं वर्धयति न निवर्तयति, तमन्धकारं यथा सूर्यो निवर्तयति तथा अज्ञानं ज्ञानमेव निवर्तयेत्, न कर्म।।

ज्ञानमज्ञाननाशकम्

ननु त्रिविधकरणजन्यं कर्म हि, ज्ञानस्याप्यन्तःकरणजन्यवृत्तित्वेन कर्मत्वात्तत्कथमज्ञानं

प्रश्न—तब इस प्रकार का यह दुःख कब नष्ट होगा? उत्तर— जब शरीर नहीं रहेगा तो दुःख भी नहीं रहेगा और कर्म के न रहने पर शरीर नहीं रहेगा। और यह कर्म रागद्वेषादि के नष्ट होने पर नहीं रहता है। अभिमान के न रहने से रागद्वेषादि भी नहीं रहते हैं। और यह अभिमान अविवेकहेतुक है अतः अविवेक के नष्ट होने से अभिमान भी नहीं रहता है। अविवेक का कारण अज्ञान है अतः अज्ञान के अभाव में अविवेक भी नहीं रहता है। इस अनादि काल से आये हुए अज्ञान की निवृत्ति तब होती है जब यह दृढ निश्चय हो जाय कि मैं ही आत्मा हूँ, अद्वैत ब्रह्मस्वरूप आत्मा हूँ। इस प्रकार का ज्ञान वेदान्त वाक्यों से ही हो सकता है। तभी अज्ञान की निवृत्ति होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह विशुद्ध ज्ञान होता है।

प्रश्न— ब्रह्महत्यादि महापातक जैसे प्रायश्चित्तरूप सत्कर्म के द्वारा निरवशेष नष्ट हो जाते हैं, प्रायश्चित्तादि कर्मों में ऐसी बहुत बड़ी शक्ति है जो बड़े बड़े पापों को भी नष्ट कर देती है, तो फिर इतनी बड़ी महाशक्ति थोड़े से मिथ्याभूत इस अज्ञान को क्यों नहीं नष्ट कर देगी?

उत्तर— परस्पर विरोधी पदार्थ ही एक दूसरे को दबाते या नष्ट करते हैं न कि अविरोधी। कर्म व अज्ञान का आपस में कोई विरोध नहीं है, बल्कि कर्म अज्ञान को बढ़ायेगा ही; न कि नष्ट करेगा। जैसे अमावस्या के अन्धकार को मेघावरण बढ़ाता ही है न कि नष्ट करता है, उसी अन्धकार को सूर्य नष्ट कर देता है, इसी प्रकार ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट कर सकता है न कि कर्म।

प्रश्न—जैसे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व मन रूप तीन तरह के करणों से कर्म निष्पन्न होता है वैसे अन्तःकरण से उत्पाद्य वृत्तिरूप ज्ञान भी कर्म ही है तो अज्ञान को नष्ट कैसे कर पायेगा ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाशयेदिति चेत् ? शृणु । सत्यं वृत्तिर्मानसं कर्मैव । सा वृत्तिर्ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तने रूपग्रहणे नेत्रवदुपाधिभूतैव, न स्वयं निवर्तिका । ज्ञानं तु निवर्तकं नित्यम् ।

स्वरूपवृत्तिभेदेन ज्ञानद्वैविध्यम्

तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानं वृत्तिज्ञानमिति द्विविधम् । तत्र सुषुप्तावज्ञानप्रकाशकं ज्ञानं स्वरूपज्ञानम् । जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयप्रकाशकं वृत्तिज्ञानम्, यथा आदित्येन प्रकाश्यमाने कुड्येऽनेकदर्पणादित्यदीप्तयश्च तासां मध्ये मध्ये खादित्यदीप्तयश्च, तथा जाग्रत्स्वप्नयोर्वृत्तिज्ञानप्रकाशाः, सुषुप्तौ स्वरूपज्ञानप्रकाशश्चेति ज्ञेयम् ।

तर्हि जाग्रत्स्वप्नयोः स्वरूपज्ञानं नास्ति किमिति चेत्? स्वरूपज्ञानं सर्वदा सर्वावस्थास्वप्यस्ति, वृत्तयः सुषुप्तौ न सन्ति ।

वृत्तयः सर्वा अपि अन्तःकरणधर्माः, ज्ञानमात्मस्वरूपम् । तत्स्वरूपभूतं ज्ञानं वृत्तिषु प्रविश्याज्ञानं नाशयति, केवला बुद्धिवृत्तिरज्ञानं नाशयितुं नेष्टे ।

वृत्तिर्न कर्म

तस्मादात्मनोऽज्ञानमप्यात्माकारवृत्तिप्रविष्टेन स्वरूपज्ञानेनैव विनाश्यं, न बुद्धिवृत्त्या । न कर्मकोटिसहस्रेणापि विनाश्यम् । यथा सत्कर्मैव पापकर्म नाशयति, एवं वृत्तिज्ञानमेवाज्ञानं नाशयति ।

उत्तर—आपने ठीक कहा, यह जो अन्तःकरण की वृत्ति है वह मानसिक कर्म ही है। परन्तु जिस प्रकार ज्ञान रूप ग्रहण करे इसके लिये नेत्र आवश्यक उपाधि है, उसी प्रकार वृत्ति रूप उपाधि से उपहित ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ है। स्वयं वृत्ति तो उपाधि है, वह अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती है परन्तु उससे उपहित जो नित्य ज्ञान है वह अज्ञान का निवर्तक है।

वह ज्ञान दो प्रकार का है—स्वरूपज्ञान व वृत्तिज्ञान। सुषुप्तावस्था में अज्ञान का प्रकाशक जो ज्ञान है वह स्वरूप ज्ञान है। जाग्रत् अवस्था व स्वप्नावस्था में विषय-प्रकाशक जो ज्ञान है वह वृत्तिज्ञान है। जैसे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित दीवाल में सम्बद्ध दर्पणों में सूर्य का विशेष प्रकाश रहता है और दर्पणों के बीच बीच में दीवाल पर आकाशस्थ सूर्यका प्रकाश दीखता है, इसी प्रकार जाग्रत् व स्वप्नावस्था में वृत्तिज्ञान उन अवस्थाओं के विषयों को प्रकाशित करता है परन्तु सुषुप्ति अवस्था में वृत्ति के न रहने से केवल ज्ञान ही रहता है। (जैसे सूर्य का सामान्य प्रकाश दीवाल व दर्पण दोनों पर है किन्तु दर्पण में विशेष चमक होती है वैसे ज्ञान तीनों अवस्थाओं में समान है किन्तु जाग्रत् व स्वप्न में वृत्तिनिमित्तक विशेषता है कि बाह्य विषयों का प्रतिभास होता है।)

प्रश्न— तब जाग्रत् व स्वप्नावस्था में स्वरूपज्ञान नहीं है क्या? उत्तर—स्वरूपज्ञान सर्वदा सभी अवस्थाओं में रहता ही है परन्तु सुषुप्तावस्था में बुद्धि की वृत्तियाँ नहीं रहती हैं। जितनी भी ये वृत्तियाँ हैं ये सब अन्तःकरण के ही धर्म हैं। ज्ञान स्वयं आत्मस्वरूप है। यही आत्मस्वरूपज्ञान बुद्धिवृत्तियों में प्रविष्ट होकर बुद्धिवृत्ति द्वारा (तत्तद्विषयक) अज्ञान को नष्ट कर तत्तत् विषयों को प्रकाशित करता है। यह सब होते हुए भी केवल बुद्धिवृत्ति अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ नहीं है।

इसलिये जीवात्मा का यह अज्ञान भी आत्माकार वृत्ति में प्रविष्ट स्वरूपज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो सकता है, न कि बुद्धिवृत्ति द्वारा। अर्थात् प्रत्यक्ष स्थल में जैसे इन्द्रिय व अर्थ के सन्निकर्ष में वृत्ति घटाकार या मठाकार में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार वृत्ति जब 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि आत्मसाक्षात्कार दशा में आत्माकारेण आकारित हो जाती है, तब आत्मविषयक अज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अकेली बुद्धिवृत्ति से नहीं वरन् उसमें घुसे स्वरूपभूत ज्ञान से ही अज्ञान नष्ट होता है। अनंत कर्म मिलकर भी अज्ञान को नहीं मिटाते। जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा माणिक्यं शिलारूपमपि प्रकाशयुक्तत्वेन रत्नदीपमिति व्यवह्रियते, एवं वृत्तिज्ञानस्यापि मनोवृत्तिरूपत्वेऽपि स्वप्रविष्टस्वरूपज्ञानयुक्तत्वाज्ज्ञानमिति व्यवहारो गौणः, न कर्मेति व्यवहारः।

वृत्तिज्ञानमज्ञानविरोधि

ननु सुषुप्तौ स्वरूपज्ञानस्याज्ञानप्रकाशकत्वेन विरोधाभावात्, कथं ज्ञानमज्ञानं नाशयेदिति चेत्? स्वरूपज्ञानस्याज्ञानेन विरोधाभावेऽपि वृत्तिज्ञानस्याज्ञानेन विरोधोऽस्ति।

वृत्तौ प्रविष्टस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपज्ञानत्वात् कथमज्ञानेन विरोध इति चेत्? लोके तृणादेः प्रकाशकत्वेनादित्यकिरणस्य तेन विरोधाभावेऽपि सूर्यकान्तप्रविष्टस्य तस्यैव यथा तृणादिदाहकत्वेन तेन विरोधः, तथा स्वरूपज्ञानस्य केवलस्याज्ञानेन विरोधाभावेऽपि वृत्तिप्रविष्टस्य तस्याज्ञानेन विरोधोऽस्ति।

सत्कर्म ही असत् कर्म को नष्ट करता है वैसे वृत्तिज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है।

जैसे माणिक्य पत्थर होने पर भी प्रकाशयुक्त होने से व्यवहार में उसे "रत्नदीप" कहते हैं इसी प्रकार वृत्तिज्ञान भी स्वयं मनोवृत्तिरूप होने पर भी आत्मप्रकाश के सम्पर्क से प्रकाशक होने से व्यवहार में उसे ज्ञान कहते हैं। यह व्यवहार उपचार मात्र है, वस्तुतः मनोवृत्ति स्वयं जड है, उसमें स्वतः प्रकाशन-सामर्थ्य नहीं है परन्तु चैतन्य की चिच्छायापत्ति के कारण उसे भी प्रकाशक मान लेते हैं अतः वृत्ति का प्रकाशकत्व गौण ही है। अन्तःकरणजन्य होने पर भी प्रकाश-संवलित होने से कर्मरूप में उसका व्यवहार नहीं होता है।

प्रश्न—यह तो आप भी मानते ही हैं कि सुषुप्तावस्था मे स्वरूपज्ञान **अज्ञान** का प्रकाशक होता है। तब उस स्वरूप ज्ञान का अज्ञान से कोई विरोध नहीं होने से वह उसका **नाश कैसे करेगा?** इसके विपरीत यहाँ तो परस्पर उपकार्योपकारक-भाव ही प्रतीत हो रहा है? उत्तर—यद्यपि स्वरूपज्ञान का अज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है तथापि वही स्वरूपज्ञान जब वृत्ति में प्रविष्ट हो जाता है तो फिर अज्ञान के साथ उसका विरोध हो जाता है।

प्रश्न—आखिर वृत्ति में प्रविष्ट ज्ञान भी तो स्वरूप ज्ञान ही है, तब कैसे अज्ञान के साथ इसका विरोध होगा? उत्तर—देखो, संसार मे जैसे प्रकाशशील सूर्य किरण का और घास का परस्पर कोई विरोध नहीं है परन्तु जब वही सूर्य की किरण सूर्यकान्तमणि में प्रविष्ट हो जाती है तब सब तृणादि (घास) को भस्म कर देती है। ठीक इसी प्रकार केवल स्वरूप ज्ञान का अज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है परन्तु वही स्वरूपज्ञान जब वृत्ति में प्रविष्ट हो जाता है तब अज्ञान का और उसका परस्पर विरोध हो जाता है। (या इस तरह समझो—विभिन्न दलों के दो सांसद हैं, वे एक ही पड़ोस में रहते हैं, पड़ोस में परस्पर उनका कोई विरोध नहीं है परन्तु जब वे दोनों संसद भवन में प्रविष्ट होते हैं तो फिर अपने-अपने सिद्धान्त को लेकर परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं। यही हाल वृत्तिज्ञान और अज्ञान का है।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कतकरजोन्यायः

ननु वृत्तिज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यनाशेऽपि वृत्तेस्तत्प्रविष्टज्ञानस्यापि विद्यमानत्वात् कथमद्वैतं सिद्ध्येदिति चेत्? कतकरजोन्यायेन वृत्तिज्ञानमप्यज्ञानं तत्कार्यं च निवर्त्य स्वमपि स्वयमेव निवर्तयेत्। वृत्तिनाशे सति वृत्तौ प्रतिबिम्बितं ज्ञानमपि बिम्बभूतं स्वरूपज्ञानम् एवाधिगच्छति। ततोऽद्वैतमात्मस्वरूपमेवावशिष्यते। एवं ज्ञानेनैवाज्ञानस्य विनाशः।

विचारो ज्ञानहेतुः

एवंभूतं ज्ञानमात्मविचारेणैवागच्छति, न तु कर्मभिर्न योगेन नोपासनया वा। ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्, अत एव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यम्। उपासना योगश्च पुरुषतन्त्रत्वात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्यौ। ताभ्यां चित्तैकाग्र्यमणिमाद्यष्टैश्वर्यं च साध्यते, न तु ज्ञानम्। उपासनायोगौ मनोव्यापाररूपत्वात् क्रियात्मकौ न वस्तुतन्त्रौ। तस्माद् वस्तुतन्त्रं ज्ञानं कर्मणा नायाति। किन्तु विचारेणैव साध्यम्।

प्रश्न— यह बात तो ठीक है कि वृत्तिज्ञान के द्वारा अज्ञान व अज्ञान का कार्य नष्ट हो जाता है परन्तु एक आपत्ति तो फिर भी रह ही जाती है कि अज्ञान को नष्ट करने वाली वृत्ति तथा उस वृत्ति में प्रविष्ट ज्ञान ये तो सदा बने रहेंगे अर्थात् जब आत्मा के अतिरिक्त एक अलग वृत्ति की भी सत्ता माननी पड़ेगी तब आपकी अद्वैतसिद्धि कैसे होगी? उत्तर—जल स्वच्छ करने के लिए कतक (फिटकरी आदि औषधि) का चूर्ण उसमें डाला जाता है, वह चूर्ण जैसे जल को स्वच्छ करके स्वयं भी उसमें लीन हो जाता है इसी प्रकार कलकरजोन्याय से वृत्तिज्ञान भी अज्ञान व उसके कार्य को नष्ट करके स्वयं भी लीन हो जाता है। अर्थात् वृत्ति स्वयं विगलित हो जाती है, और इस वृत्ति के विलीन हो जाने पर वृत्ति में प्रतिबिम्बित ज्ञान भी अपने बिम्बभूत स्वरूपज्ञान में मिल जाता है। तब केवल अद्वैत स्वरूपज्ञान ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश होता है। (तात्पर्य यह है कि किसी कार्य की सिद्धि के लिए किसी साधन-विशेष को ग्रहण किया जाता है जैसे ओदनादि पाकक्रिया के लिए इन्धन, अग्नि व अग्नि ज्वालादि को ग्रहण किया जाता है पर जब ओदन सिद्ध हो जाता है तब इन्धनादि का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इसी प्रकार अज्ञान व उसके कार्य के विनाशार्थ वृत्तिज्ञान की अपेक्षा होती है, जब यह कार्य सम्पन्न हो जाता है तब कृतकार्या वृत्ति स्वयं विलीन हो जाती है, तदुपहित ज्ञान अपने स्वरूपज्ञान में समा जाता है।)

इस प्रकार का ज्ञान आत्मा के विषय में विचार करने से ही सम्पन्न होता है। कर्म से, योग से अथवा उपासना से नहीं होता है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है, अर्थात् परमार्थ वस्तु के अधीन है। वह पुरुष के अधीन नहीं है अत एव वह पुरुष के करने, न करने या अन्यथा करने योग्य नहीं है। (कर्म) उपासना व योग तो पुरुष के अधीन हैं, उन्हें पुरुष करना चाहे तो कर सकता है, न चाहे तो नहीं भी कर सकता है, अन्यथा किसी दूसरे प्रकार से भी कर सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शालिग्रामो रत्नं सुवर्णमित्यादिवस्तुनिर्णयो लक्षणपरीक्षाभ्यां निघर्षणेन च कर्तव्यः, न तु स्नानसन्ध्यावन्दनप्राणायामादिना कस्यापि साध्य इति निर्णयः। एवमात्मज्ञानमप्यात्मानात्मविचारं विनोपासनादिभिः साधयितुं न शक्यते।

तस्माद् मुमुक्षुरितरव्यापारं विहाय श्रवणमननाभ्यां सदा आत्मानात्मविचारमेव कुर्यात्।

य एवं तदेकपरः सोऽस्मिन्नेव जन्मनि संसारबन्धाद्विमुक्तः सन् जीवन्मुक्तिं विदेहमुक्तिं च प्राप्नोति, इति सकलवेदान्ता घोषयन्ति। एवं मयोक्तं हे पुत्र ! त्वं विश्वासेन गृहीत्वा चिन्मात्रेण तिष्ठ, न तु कदाचिदपि कर्तृत्वादिरूपेण तिष्ठ।।

।। इति षष्ठवर्णकम्।।

उपासना व योग के द्वारा तो चित्त की एकाग्रता और अणिमादि आठ ऐश्वर्यों की सिद्धि की जाती है न कि ज्ञान निष्पन्न किया जाता है। ये उपासना व योग मनोव्यापाररूप होने से क्रियात्मक हैं अर्थात् व्यापार-स्वरूप कर्म हैं, वस्तुतन्त्र किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर नहीं हैं। अतः वस्तुतन्त्र ज्ञान कर्म के द्वारा साध्य नहीं है किन्तु विचार से ही साध्य है।

शालिग्राम शिला, रत्न, सुवर्ण, इत्यादि का निर्णय तो उसके लक्षण, परीक्षण व निघर्षण द्वारा ही हो सकता है न कि स्नान, ध्यान, प्राणायामादि उपासना द्वारा उसका निर्णय हो सकता है! जिस प्रकार[1] सुवर्ण निघर्षण, छेदन, तापन व ताडन से ही प्रमाणित होता है न कि संन्ध्यावन्दनादि उपासनाओं से, इसी प्रकार आत्मज्ञान भी आत्मा व अनात्मा के विवेकज्ञान के बिना केवल उपासना आदि से नहीं हो सकता है।

अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह अन्य कार्यों को छोड़कर श्रवण, मनन व निदिध्यासन द्वारा आत्मा व अनात्मा का विवेक ज्ञान ही करे।

जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से आत्मज्ञानपरायण होता है अथवा आत्मा व अनात्मा के विवेकज्ञान में तत्पर रहता है वह इसी जन्म में जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ऐसा समस्त वेदान्तों का कहना है। इसलिए हे पुत्र! मेरे उपदेश में विश्वास करके तुम अपने को चिन्मात्र समझो, "अहं ब्रह्मास्मि" यही धारणा रखो, कभी भी अपने को कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मवाला मत समझो।।

।। *इति षष्ठवर्णक*।।

---

१. सुवर्ण तथा साधुपुरुष के विषय में मैथिल-कोकिल विद्यापति का कथन इस प्रकार है—"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताडनैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा"।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

सप्तमवर्णकम्

इतः परं सप्तमवर्णके आत्मानात्मविवेकस्तत्साध्यमात्मज्ञानं तत्साध्यं ब्रह्मकैवल्यं च कथ्यते।

आत्मानात्मविवेकेनात्मज्ञानं जायत इति खलूक्तम्। स आत्मा क इति चेत्? शृणु।

आत्मानात्मविवेकः

आत्मा शरीरत्रयविलक्षणोऽवस्थात्रयसाक्षी, पञ्चकोशव्यतिरिक्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।

अनात्मा तु शरीरत्रयम्। तस्य किं लक्षणमित्युक्ते—अनृतजडदुःखरूपत्वम्। तच्च शरीरत्रयं व्यष्टिसमष्ट्यात्मकम्। व्यष्टिसमष्टिलक्षणं प्रथमवर्णक उक्तम्।

अत्राप्युच्यते—वनमिव समष्टिः। वृक्ष इव व्यष्टिः। समस्तं समष्टिः, व्यस्तं व्यष्टिः। एवं शरीरत्रयमपि व्यष्टिसमष्ट्यात्मकम्। तत्कथमिति चेत्? समष्टिस्थूलशरीरम्, समष्टिसूक्ष्मशरीरम्, समष्टिकारणशरीरमिति च; व्यष्टिस्थूलशरीरम्, व्यष्टिसूक्ष्मशरीरम्, व्यष्टिकारणशरीरमिति च; शरीरत्रयमपि समष्टिव्यष्टिरूपेण षट्प्रकारम्।

अब इस सातवें वर्णक में, आत्मा और अनात्मा के विवेक से साध्य आत्मज्ञान, और आत्मज्ञान से साध्य अद्वैतब्रह्म ज्ञान के विषय में कहा जायेगा।

आपने आत्मा और अनात्मा के विवेकज्ञान अर्थात् भेदज्ञान से आत्मज्ञान होता है यह कहा; परन्तु वह आत्मा नामक पदार्थ कौन-सा है?

उत्तर—सुनो : आत्मा स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों से विलक्षण है, और जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँचों कोशों से अतिरिक्त है, और सत्, चित्, आनन्द स्वरूप वाला है।

स्थूल, सूक्ष्मादि जो तीन प्रकार के शरीर हैं, ये अनात्मा हैं, ये शरीर मिथ्या जड, व दुःखस्वरूप हैं। पूर्वोक्त ये तीनों प्रकार के शरीर समष्टिरूप तथा व्यष्टिरूपात्मक हैं, जिनके लक्षण हम प्रथम वर्णक में कह चुके हैं।

यद्यपि पूर्व प्रकरण में समष्टि व व्यष्टि की चर्चा की जा चुकी है, फिर भी स्पष्ट प्रतीति के लिए यहाँ भी उसका उल्लेख किया जाता है—वन समष्टि है, वृक्ष व्यष्टि है। समष्टि का अर्थ समुदाय है और व्यष्टि का अर्थ इकाई=एक व्यक्ति है। वृक्षों के समुदाय को लेकर "वन" यह व्यवहार होता है, और वृक्षों की इकाई को लेकर "एक वृक्ष" यह व्यवहार होता है। इसी प्रकार ये तीनों शरीर भी व्यष्टि व समष्ट्यात्मक हैं। यह इस प्रकार है—व्यष्टि स्थूलशरीर, व्यष्टि सूक्ष्मशरीर व व्यष्टि कारण शरीर; समष्टि स्थूल शरीर, समष्टि सूक्ष्म शरीर, व समष्टि कारण शरीर। इस प्रकार ये तीनों प्रकार के शरीर समष्टि व व्यष्टि के विभाग से दो प्रकार के हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवेशौ

आत्मनः समष्ट्युपाधिनेश्वरत्वं व्यष्ट्युपाधिना जीवत्वं, न तु वास्तवम्, आत्मन एकत्वात्।

आत्मनो मायोपाधिनेश्वरत्वमविद्योपाधिना जीवत्वं, न तु वास्तवम्। वास्तवमिति यावज्जानाति तावद् बन्धनिवृत्तिश्च नायाति। 'जीवेशावाभासेन करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ.उ.९) इति सकलजीवमायाश्रुतिश्चैवमेवोपदिशति।

समष्ट्युपाधेर्निरभिमानता

ईश्वरस्य समष्टिकारणशरीरेऽभिमानो नास्ति। कुत इति चेत्? तदा महासुषुप्तावहंकारस्य लीनत्वेनाभिमानकारणाभावात्। अयं समष्टिकारणोपाधिक ईश्वरोऽव्याकृतोऽन्तर्यामीति चोच्यते। अयमुत्तमभक्तैर्जीवैरुपास्यते।

अस्योपासनायामशक्तानां श्रुतिः समष्टिसूक्ष्मशरीरोपाधिकमीश्वरमुपास्यत्वेनोपदिशति। तस्य हिरण्यगर्भः, सूत्रात्मा, महाप्राण इति नामानि सन्ति। अस्यापि हिरण्यगर्भस्य सूक्ष्मशरीरेऽभिमानोऽस्ति न वेति चेत्? तदा अभिमानकर्तर्यहंकारे विद्यमानेऽपि

जब आत्मा समष्टि-उपाधि से उपहित होता है तब वह ईश्वर कहलाता है, और जब व्यष्टि=केवल एक उपाधि से उपहित होता है तब वह जीव कहलाता है। यह सब आत्मा का अनेकत्व व एकत्वादि भेदव्यवहार तो उपाधियों के कारण होता है, वस्तुतः आत्मा तो एक ही है।

जब आत्मा माया उपाधि से उपहित होता है तब उसे ईश्वर कहते हैं। जब वह अविद्या उपाधि से उपहित होता है तब उसे जीव कहते हैं। वस्तुतः आत्मा तो असंग है; वह किसी भी उपाधि से उपहित नहीं है। परन्तु यह जीव जब तक अविद्या के बन्धन में पड़ा रहता है तब तक इसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता है और जीवेश्वरादि के भेद को ही वह सच्चा समझता रहता है। नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् में स्पष्ट किया है कि माया शरीरों को दिखाकर आभास द्वारा चेतन आत्मा को जीव और ईश्वर के भेद में प्रतिष्ठित कर देती है, यह स्वयं ही माया और अविद्या बन जाती है। अतः माया-अविद्या यों दो तरह का बना अज्ञान ही जीव-ईश्वर का भेदव्यवहार कराता है, यह भेद सत्य नहीं है।

(अब ग्रन्थकार ईश्वरवर्णन प्रसिद्ध ढंग से कुछ हटकर कर रहे हैं।) कारणशरीरों की समष्टि में ईश्वर का अभिमान नहीं रहता है। क्योंकि उस समय महासुषुप्ति में अभिमान का कारण अहंकार लीन हो जाता है अत एव उसमें ईश्वर की अहन्ता नहीं रहती है। कारण शरीरों की समष्टि रूप उपाधि से उपहित ईश्वर ही अव्याकृत, अन्तर्यामी आदि शब्दों से अभिहित होता है। यह उत्तमश्रेणी के भक्तजनों के द्वारा उपासित होता है।

इस अन्तर्यामी की उपासना में असमर्थ जीवों के लिए श्रुति समष्टि सूक्ष्मशरीरोपाधिक जो ईश्वर है, उसकी उपासना का निर्देश करती है। सूक्ष्मशरीरों की समष्टि से उपहित ईश्वर ही हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, महाप्राण आदि शब्दों से अभिहित होता है। इस हिरण्यगर्भ का भी सूक्ष्म शरीरों की समष्टि में अभिमान नहीं होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्नावस्थानादभिमानाश्रयस्थूलशरीरप्रवेशाभावात् सूक्ष्मशरीरेऽप्यभिमान ईश्वरस्य नास्ति।

अस्य सूक्ष्मोपाधेरीश्वरस्योपासनायामशक्तान् जीवान् प्रति समष्टिस्थूलोपाधिकस्येश्वरस्योपासनां श्रुतिर्विधत्ते। तस्येश्वरस्य विराड्, वैराजो, वैश्वानर इति नामानि सन्ति। अस्यापि अस्मिन् स्थूलसमष्टिशरीरेऽभिमानोऽस्ति वा न वेति विचार्यमाणे; नास्ति। कथमिति चेत्? सकलजीवशरीराणामप्येकीभूयास्य शरीरत्वेनावस्थानात्, "अहम्" इति व्यावर्तनीयप्रतियोग्यभावात्।।

त्रिमूर्तिः

एतत् समष्टिशरीरत्रयोपहितमीश्वरमुपासितुमशक्ताञ्जीवान् प्रति श्रुती राजससात्त्विकतामसमूर्तिसहितस्य सृष्टिस्थितिसंहारकर्तुर्ब्रह्मविष्णुरुद्रनामधेयस्य दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनकृते मत्स्यकूर्माद्यवतारकर्तुरीश्वरस्योपासनां विधत्ते।

है। यद्यपि अभिमान का कारण अहंकार यहाँ रहता है, फिर भी स्वप्नावस्था में अभिमान के आधारभूत स्थूल शरीर में प्रवेश न होने से सूक्ष्म शरीर में ईश्वर का अभिमान नहीं होता है।

सूक्ष्म शरीरों की समष्टि उपाधि से उपहितरूप ईश्वर की उपासना में असमर्थ जीवों के प्रति श्रुति स्थूलोपाधि-विशिष्ट-ईश्वरोपासना का उपदेश देती है। स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित ईश्वर के ही विराट्, वैराज या वैश्वानर ये नाम हैं। स्थूलशरीरों की समष्टि में भी ईश्वर का अभिमान नहीं रहता है, क्योंकि इसमें भी सभी जीवों के शरीरों की समष्टि के साथ तादात्म्य हो जाता है।

स्थूलशरीरों की समष्टि के साथ तादात्म्येन ईश्वर की स्थिति होने से समस्त जीवों की समष्टि ही उस स्थिति में अहम् पद का वाच्य है, अतः अहम् (मैं) इसके भेद के प्रतियोगी के अभाव में उक्त स्थूल शरीरों की समष्टि में भी ईश्वर का अभिमान नहीं होता है। (अर्थात् 'मैं' कहना तभी ठीक है जब किसी 'तुम' से स्वयं को अलग कर बताना हो, 'तुम' जीव ही परस्पर एक-दूसरे को कहते हैं; विराट् सर्वजीवस्वरूप होने से उससे अन्य कोई 'तुम' कहा जाये ऐसा संभव न होने के कारण 'मैं' कहना निष्प्रयोजन है।)[1]

---

१. सूक्ष्मशरीरों की समष्टि व स्थूल शरीरों की समष्टि में ईश्वर का सामान्यतः तादात्म्यमूलक अभिमान रहते हुए भी अध्यासमूलक अभिमान नहीं होता है। अर्थात् त्रिविधं शरीर सत्ता आदि वाले हैं तो उनका चेतन से तादात्म्य अवश्य है, इसे 'अभिमान' कह सकते हैं, किन्तु स्वरूप के आवृत रहने पर अनात्मा को आत्मा समझना रूप भ्रमात्मक निश्चय 'अभिमान' नाम से प्रसिद्ध है, वह अभिमान ईश्वर में नहीं क्योंकि आवरण न होने से ईश्वर को भ्रम नहीं होता। हिरण्यगर्भ-विराट् के बारे में यद्यपि कह सकते हैं कि उनकी सावरण दशा भी वर्णित है तथापि वह सृष्टिप्रारंभ में ही थी क्योंकि उन्हें आदिकाल में ही साक्षात्कार भी वर्णित है, अतः स्थितिकाल में साधक जब विचार करेगा उस दशा में उन्हें अभिमान नहीं यह ठीक है। आहार्य अभिमान माना जाये तो भी उक्त भ्रमरूप अभिमान अमान्य है। लोक में भी वैयक्तिक गर्व को ही निंदनीय अभिमान कहते हैं, अपने गाँव, जाति, राष्ट्र आदि पर 'गर्व' की प्रशंसा ही होती है। अतः व्यष्टि में अभिमान और समष्टि में अभिमान का कोई अन्तर मानना संगत है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार का कथन है। अतः इस विषय को 'अपसिद्धान्त' कहना अनुचित प्रतीत होता है जैसा कुछ सम्पादकों ने टिप्पण में सूचित किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं ब्रह्मादिमूर्तिधरस्येश्वरस्य तत्तन्मूर्ताविभिमानोऽस्ति वा न वेति चेत्? अभिमानोऽस्ति। अभिमानाभावे तत्तन्मूर्त्या सृष्ट्यादि कार्यं कर्तुं न शक्यते। अतोऽभिमानोऽस्ति।

एवमीश्वरस्यापि जीववदभिमाने सति जीवादीश्वरस्य को विशेष इति चेत्? विशेषोऽस्ति। कथमिति चेत् ? जीवानां स्वस्वदेहेष्वहंता च ममता च सततमस्ति। ईश्वरस्य तु स्वमूर्त्यभिमानः कृपया लोकरक्षणार्थं तत्तत्कार्यसमय एवेश्वरेण केवलं कल्प्यते, नटेन स्वभूमिकायामिवेति, जीवाभिमानस्येश्वराभिमानस्य चास्ति महान् भेदः।।

यह जो कारण-शरीर, सूक्ष्म-शरीर व स्थूल-शरीरों की समष्टियाँ हैं, इन तीनों समष्टियों से उपहित ईश्वर की आराधना में असमर्थ जीवों के प्रति श्रुति राजस, सात्त्विक व तामस मूर्तियों से युक्त ईश्वर की उपासना का विधान करती है। ये मूर्तियाँ क्रमशः सृष्टि, स्थिति व संहार करने वाली, ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र नामवाली हैं जो दुष्टों के निग्रह, व शिष्टों के परिपालन के लिए मत्स्य कूर्म आदि नाना अवतारों को धारण करती हैं। (अर्थात् ब्रह्मादि ईश्वर के ही अधिकोपाधियुक्त रूप हैं। अतः अवतार ईश्वर के ही हैं। यह सिद्धान्तबिंदु में आठवे श्लोक की व्याख्या में भी निर्णीत है 'ईश्वरोऽपि त्रिविधः, स्वोपाधिभूताऽविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णु-ब्रह्मरुद्रभेदात् ।...। एवं चैकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः, श्रीभारतीभवान्याद्याश्च स्त्र्याकाराः, अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति'। विष्णु आदि में *केवल* पालन आदि के कृत्य नहीं देखे जाते क्यों कि वे भी राक्षसादि पर कोपादि कर उन्हें नष्टादि करते हैं, अतः एक ईश्वर के ही ये सब रूप हैं यही वेदसम्मत सिद्धान्त है।)

प्रश्न—इन ब्रह्म-विष्णु आदि मूर्तियों को धारण करने वाला जो ईश्वर है, उसे इन मूर्तियों में अभिमान रहता है या नहीं? उत्तर—उक्त मूर्तियों में ईश्वर का अभिमान रहता है, अभिमान के अभाव में तत्तत् मूर्ति द्वारा सृष्टि आदि कार्य नहीं हो सकता है।

प्रश्न— जब जीव की तरह तत्तत् कार्य में ईश्वर को भी अभिमान होता है, तो फिर जीव व ईश्वर में क्या अन्तर है? उत्तर— यह सब होते हुए भी जीव व ईश्वर में अन्तर है। जीव व ईश्वर के अभिमान में यह अन्तर है कि जीवों की हमेशा अपने देह में अहन्ता व ममता रहती है जबकि ईश्वर का अपनी मूर्ति में कल्पित अभिमान लोकरक्षा के लिए या तत्तत् कार्य करते समय ही रहता है।

जैसे नाटक में कोई व्यक्ति राम की भूमिका खेलता है; उस समय उसका अपने में रामविषयक अभिमान होता है। परन्तु यह रामविषयक अभिमान हमेशा रहने वाला नहीं है, उसी समय कल्पित है। इसी प्रकार ईश्वर का भी अभिमान है। अतः जीव व ईश्वर के अभिमान में महान् भेद है।

मूर्तिस्वरूप ईश्वर अर्थात् सगुण ईश्वर की उपासना में भी जो लोग असमर्थ हैं, उनके लिए शास्त्र मूर्तिरूप में ईश्वर की कल्पना करके ताम्रादि प्रतिमा की उपासना का विधान बतलाता है, अर्थात् ताम्र रजतादि प्रतिमा में, ब्रह्मा विष्णु आदि देवों की प्राणप्रतिष्ठा करके उनकी उपासना का विधान है। तत्तत् उपासकों द्वारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिमोपासनम्

मूर्तिस्वरूपमीश्वरमप्युपासितुमशक्तानां शास्त्रं मूर्तिरूपेण कल्पितताम्रादिप्रतिमोपासनं विधत्ते। अत एव प्रतिमां केचिदीश्वरबुद्ध्योपासते। सर्वत्र ब्रह्मादिमूर्तिष्वपि तत्तत् प्रतिमास्वपि चान्तर्यामी परमेश्वर एक एव स्थित्वा तेषां तेषामुपासकानां फलं ददाति।

ईश्वरैक्यम्

मूढा ईश्वरस्य सर्वात्मकत्वमविचार्य तत्र तत्रेश्वरा बहवो भिन्नभिन्नतया वर्तन्त इति मत्वा अन्योऽन्यं कलहायन्ते। तस्मादन्तर्यामीश्वर एक एवेति जानीहि।

तर्हि सर्वत्रेश्वरस्यैकत्वे शास्त्रमपि तत्तन्मूर्तिभेदमङ्गीकृत्य तत्तदुपासनाभेदं कथं विधत्त इति चेत्? बहिर्मुखानपि शनैः शनैरन्तर्मुखान् कृत्वा "परमात्मैव जीवात्मा, नान्यः", इति बोधयित्वा तेषां मुक्तिं दातुमेवानादिकालमारभ्य प्रवृत्तं भेदमङ्गीकृत्य तेषां बुद्धिमनुसृत्य भेदेन शास्त्रमुपासनां विधत्ते न तु तात्पर्येण।

एवमीश्वस्य परमात्मनः समष्टिशरीरत्रयोपाधिनेश्वरत्वसिद्धिप्रकार उक्तः।।

जीववर्णनम्

अथेदानीमेकस्यैव परमात्मनो व्यष्टिशरीरत्रयोपाधिना जीवत्वसिद्धिप्रकार उच्यते।

अपने अपने इष्ट—ब्रह्म विष्णु आदि—की उन प्रतिमाओं में उपासना की जाती है परन्तु उपासकों के मतिभेद होने पर भी विभिन्न मूर्तियों में सर्वत्र एक ही ईश्वर विद्यमान है, जो तत्तत् भक्तों को उपासनानुरूप फल प्रदान करता है।

मूर्ख लोग ईश्वर की सर्वात्मकता तथा सर्वव्यापकता के विषय में विचार न करके, तत्तत् मूर्तियों में और तत्तत् प्रतिमाओं में विभिन्न प्रकार के ईश्वर हैं ऐसा मानकर आपस में झगड़ते रहते हैं। इसलिए अन्तर्यामी यह ईश्वर सर्वत्र एक ही है, ऐसा समझो।

प्रश्न— जब सब जगह एक ही ईश्वर है, तो फिर शास्त्र तत्तत् मूर्तिभेद के आधार पर विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का विधान क्यों करते हैं? उत्तर— मनुष्य स्वभावतः बहिर्मुख होते हैं, शास्त्र उन्हें शनैः-शनैः अन्तर्मुख करके 'यह परमात्मा ही जीवात्मा है, तदतिरिक्त कुछ नहीं', इस प्रकार समझा कर उनके मोक्ष के लिए ही अनादि काल से प्रवृत्त हुआ। जो तत्तत् मूर्तिविषयक या तत्तत् अभीष्ट देवताविषयक भेदभाव है, उसे व्यावहारिक दशा में स्वीकार कर, उनकी बुद्धि का अनुसरण कर, सहसा सामान्य जन विचलित न हो जाये इसलिए विभिन्न उपासनाओं का विधान करता है। वस्तुतः शास्त्र का तात्पर्य तो एक ही ईश्वर की उपासना में है। इस प्रकार तीनों शरीरों की समष्टिरूप उपाधि से उपहित ईश्वरत्व की सिद्धि का प्रकार बतला दिया।

अब यह बतलाया जाता है कि एक ही परमात्मा किस तरह तीनों (कारण, सूक्ष्म, स्थूल) शरीरों की व्यष्टिरूप उपाधि से उपहित होकर जीवत्व को प्राप्त करता है। कारणशरीरों की समष्टि में प्रतिफलित चैतन्य स्वरूप यही परमात्मा जब कारणशरीरों की व्यष्टि से उपहित होता है तब इसे "प्राज्ञ" कहते हैं। इसीके पर्यायवाचक "पारमार्थिक" व "अविद्यावच्छिन्न" नाम भी हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यष्टिकारणशरीरोपहितस्य परमात्मन एव "प्राज्ञः", "पारमार्थिकः", "अविद्यावच्छिन्नः" इति नामानि सन्ति। व्यष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितस्य परमात्मनः "तैजसः", "स्वप्नकल्पितः", "प्रातिभासिकः" इति नामानि सन्ति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य परमात्मनः "विश्वः", "व्यावहारिकः", "चिदाभासः" इति नामानि सन्तीति जानीहि।

अस्य जीवस्य शरीरत्रयमपि किमर्थमिति चेत्? प्रयोजनमस्ति—अन्तःकरणप्रतिबिम्बो हि जीवः अतो जीवस्य सूक्ष्मशरीरं प्रथममावश्यकम्। पश्चात् स्थूलशरीरं विना कर्मकर्तृत्वाभावात् स्थूलशरीरमप्यावश्यकम्। इदं कार्यशरीरद्वयमपि कारणशरीरं विना अवस्थातुमशक्यम्। अतः कारणशरीरमप्यावश्यकम्। एवं जीवस्य व्यष्टिशरीरत्रयमप्यावश्यकम्।

जीवः साभिमानः

अस्य जीवस्यास्मिन् व्यष्टिशरीरत्रयेऽभिमानोऽस्ति वा न वेति? विचार्यमाणे, अभिमानोऽस्ति। कथमिति चेत्? जीवस्य कर्मकर्तृत्वेन शरीराभिमानाभावे जीवस्य तत्कर्मकर्तृत्वं नोपपद्यते, तदभावे शरीरमपि नोपपद्यते, शरीराभावे जीवत्वमेव न सम्भवति, तस्मात् जीवस्याभिमानोऽस्ति।

सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित यह परमात्मा (चैतन्य) "तैजस, स्वप्नकल्पित व प्रातिभासिक" नामों से अभिहित होता है।

स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित यह परमात्मा (चैतन्य) "विश्व, व्यावहारिक व चिदाभास" इन नामों से अभिहित होता है, ऐसा समझो।

प्रश्न—इस जीव के लिए ये तीनों शरीर आवश्यक हैं क्या? उत्तर—हाँ आवश्यक हैं, क्योंकि अन्तःकरण में प्रतिफलित चैतन्य ही तो जीव है, और इस अन्तःकरण की स्थिति के लिए सूक्ष्म शरीर आवश्यक है, और यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के बिना कार्य करने में असमर्थ है, अतः सूक्ष्म शरीर के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि के लिए स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है, और वे दोनों सूक्ष्म व स्थूल शरीर कारण शरीर के बिना नहीं रह सकते हैं अतः इनकी स्थिति के लिए कारण शरीर की भी आवश्यकता है। इस प्रकार जीव के लिए व्यष्टि शरीरत्रय की आवश्यकता है।

प्रश्न—जीव के ये जो पृथक् पृथक् तीन प्रकार के शरीर हैं इनमें जीव का अभिमान रहता है या नहीं? उत्तर—किसी भी कार्य में कर्तृत्व होने से जीव का उक्त तीनों शरीरों में अभिमान रहता है। यदि उक्त शरीरों में जीव का अभिमान न माना जाय तब तो फिर जीव की किसी भी कार्य में कर्तृत्वेन प्रतीति नहीं होनी चाहिए परन्तु लोक में तो साभिमानिक प्रतीति देखी जाती है, 'मैं यह करता हूँ', 'मेरा इस कर्म में अधिकार है' इत्यादि। अतः यह कहना पड़ेगा कि अभिमान के अभाव में कार्यकर्तृत्व नहीं रहेगा और कर्तृत्वाभाव में शरीर की भी स्थिति नहीं रहेगी और शरीर के अभाव में जीवत्व ही असम्भव है। इसलिए शरीरत्रय में जीव का अभिमान रहता है यह मानना ही पड़ेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकस्यैवेशजीवत्वे

एवं परमात्मैक एव व्यष्टिसमष्ट्युपाधिभ्यां जीवेश्वरभावं गतः। अस्य दृष्टान्तोऽस्ति न वेति चेत् ? अस्ति। यथैकस्यैव देवदत्तस्य पुत्रपौत्रोपाधिभ्यां पितेति पितामह इति च नामद्वयमस्ति, तथा अविद्यामायोपाधिभ्यामात्मन एकस्यैव जीवत्वमीश्वरत्वञ्चागतम्।

ननु पूर्वोक्तो दृष्टान्तो जीवेश्वरनामद्वये युज्यते, किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टभेदस्य को वा दृष्टान्त इति चेत्? दृष्टान्तोऽस्ति; एकमेव जलं बृहत्तटाकस्थं सदेकग्रामसंरक्षकं महाशक्तिमत्, घटस्थं सदेकगृहसंरक्षकमल्पशक्तिमद् यथा जातम्; अग्निरेक एव स्थूलमहावर्तिस्थः सन् बहुदूरप्रकाशको महाशक्तिमान्, अल्पवर्तिस्थः सन् गृहमात्रप्रकाशकोऽल्पशक्तिमान् यथा च जातः तथा आत्मनोऽपि बृहता कारणभूतमायोपाधिना सर्वज्ञत्वम्, अल्पेन कार्यभूताविद्योपाधिना किञ्चिज्ज्ञत्वं चागतम्।

न तु सर्वज्ञः किञ्चिज्ज्ञ इत्यात्मद्वयमस्ति। अत एव वेदान्तशास्त्रं च तत्पदस्य त्वंपदस्य च सम्बन्धत्रयेणाखण्डं बोधयति।

इस प्रकार एक ही परमात्मा व्यष्टि-समष्टि उपाधियों से जीवभाव व ईश्वरभाव को प्राप्त होता है। इसका कोई उदाहरण है या नहीं ? यह पूछो तो इसका उदाहरण भी है : जैसे एक ही देवदत्त पुत्ररूप उपाधि से युक्त होकर पिता हो जाता है, और पौत्र रूप उपाधि से युक्त जब होता है तब पितामह हो जाता है; जैसे एक ही देवदत्त के दो नाम हो जाते हैं, इसी प्रकार एक ही परमात्मा जब अविद्या उपाधि से युक्त होता है तब जीव कहलाता है और जब माया उपाधि से युक्त होता है तब ईश्वर कहलाता है।

जीव व ईश्वर के विषय में आपका पूर्वोक्त दृष्टान्त तो ठीक है कि अविद्या व माया इन दो उपाधियों से ही जीव व ईश्वर ये दो नाम होते हैं, वस्तुतः परमात्मा एक ही है। परन्तु हम जीव को जो अल्पज्ञ कहते हैं, और ईश्वर को जो सर्वज्ञ कहते हैं, इस प्रकार के विशिष्ट भेद का भी कोई उदाहरण है या नहीं? उत्तर—इसका भी दृष्टान्त है : जैसे एक जल जो कि बहुत बड़े तालाब में है वह एक गाँव के लिए काफी होने से महाशक्तिशाली कहलाता है और केवल एक घड़ा भर पानी एक परिवार के लिए होने से थोड़ी शक्तिवाला होता है। अथवा जैसे बहुत बड़ी बत्ती में स्थित अग्नि बहुत दूर तक प्रकाश करने के कारण महाशक्तिशाली कही जाती है और वही अग्नि जब छोटी से बत्ती में स्थित होती है तब केवल एक कमरे तक को प्रकाशित करने से अल्प शक्तिवाली कही जाती है। इसी प्रकार आत्मा भी जब कारणभूत माया रूपी बहुत बंड़ी उपाधि से संयुक्त होता है तब उसे सर्वज्ञ कहते हैं, वही आत्मा जब कार्यभूत अविद्या रूपी छोटी सी उपाधि से संयुक्त होता है तब उसे स्वल्पज्ञ कहते हैं।

आत्मा में भेदव्यवहार उपाधि के कारण है, वास्तव में आत्मा सर्वज्ञत्वेन और किञ्चिज्ज्ञत्वेन दो प्रकार का नहीं है। इसीलिए वेदान्तशास्त्र (तत्त्वमसि इस महावाक्य में) तत्पद का और त्वम्पद का तीन प्रकार के सम्बन्धों द्वारा अखण्डार्थ-बोध कराता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अखण्डार्थबोधकसम्बन्धत्रयम्

सम्बन्धत्रयं किमिति चेत्? पदयोः सामानाधिकरण्यसम्बन्धः, पदार्थयोर्विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धः, पदाभ्यां सह वा पदार्थाभ्यां सह वा प्रत्यगात्मनो लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्धः। एवं सम्बन्धत्रयम्।

तस्य दृष्टान्तः—"सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्रेदं सम्बन्धत्रयमस्ति। सशब्दस्यायंशब्दस्य चैको देवदत्तपिण्ड एव समानमधिकरणमिति तयोः शब्दयोः सामानाधिकरण्य-सम्बन्धोऽस्ति। तथा तत्पदस्य त्वंपदस्य चैकमेव चैतन्यं समानमधिकरणम्, तस्मात् पदद्वयस्यापि सामानाधिकरण्यसम्बन्धोऽस्ति।

तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दार्थस्य एतत्कालैतद्देशविशिष्ट- देवदत्त-वाचकायंशब्दार्थस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकत्वेनान्योऽन्यं विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्धोऽस्ति।

तथा सर्वज्ञत्वपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदार्थस्य, किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट-चैतन्यवाचकत्वंपदार्थस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकत्वेनान्योऽन्यं विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्धोऽस्ति।

प्रश्न—ये तीन सम्बन्ध कौन से हैं?

उत्तर—पदों का सामानाधिकरण्य नामक प्रथम सम्बन्ध है; पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव रूप द्वितीय सम्बन्ध है; पदों या पदार्थों का प्रत्यगात्मा के साथ लक्ष्यलक्षणभाव रूप तृतीय सम्बन्ध है, इस प्रकार ये तीन सम्बन्ध हैं।

इस सम्बन्धत्रय में "वही यह देवदत्त है" यह वाक्य दृष्टान्त है। जैसे इस वाक्य में 'वही' और 'यह' दोनों शब्द एक देवदत्त पिण्ड के अभिधायक हैं अतः इन पदों में परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" इस वाक्य में भी तत्पद और त्वंपद एक ही चैतन्य के वाचक हैं अर्थात् तत्पद व त्वंपद ये दोनों एक ही चैतन्य का बोध कराते हैं, इसलिए इन दोनों पदों का परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

उसी दृष्टान्त में अब विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध दिखलाते हैं—'वही' शब्द तत्काल और तद्देश विशेष वाले का वाचक है और 'यह' शब्द एतत्काल और एतद्देशविशेष वाले का वाचक है। यद्यपि तत्काल और तद्देश, एतत्काल और एतद्देश वालों के वाचक इन शब्दों के अर्थ एक दूसरे के भेदके व्यावर्तक हैं, अत एव परस्पर व्यावर्त्य-व्यावर्तक होने से विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध वाले हैं, फिर भी उक्त सम्बन्ध द्वारा दोनों एक देवदत्त को बतला रहे हैं।

अब दार्ष्टान्तिक में भी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध दिखलाते हैं—"तत्त्वमसि" इस महावाक्य में तत्-पद सर्वज्ञत्व व परोक्षत्वादि वाले चैतन्य का वाचक है और त्वम् पद किञ्चिज्ज्ञत्व व अपरोक्षत्वादि वाले का वाचक है। ये सर्वज्ञत्वादि व किञ्चिज्ज्ञत्वादि परस्पर एक दूसरे के व्यावर्तक होने से परस्पर विशेषणविशेष्यभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोऽयंपदयोस्तत्पदार्थयोर्वा अखण्डार्थदेवदत्तपिण्डमात्रग्रहणे विरुद्धांशं विहाया-विरुद्धांशभूतदेवदत्तमात्रलक्षकत्वेन लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धोऽस्ति।

तथा तत्त्वंपदयोस्तत्पदार्थयोर्वा अखण्डसच्चिदानन्दमात्रग्रहणे विरुद्धांशं विहाया-विरुद्धांशभूतचैतन्यमात्रलक्षकत्वेन लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धोऽस्ति।

लक्षणा

इममेव लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धं भागत्यागलक्षणेति जहदजहल्लक्षणेति च जानीहि। तत्कथमिति चेत्? शास्त्रेषु वाक्यार्थग्रहणे मुख्यवृत्तिर्गुणवृत्तिर्लक्षणावृत्तिश्चेति वृत्तित्रयमस्ति। "राजा गच्छति" इति वाक्यार्थे मुख्यवृत्तिः। "नीलमुत्पलम्" इति वाक्यार्थे "अग्निर्माणवकः" इत्यादौ च गुणवृत्तिः।

रूप सम्बन्ध वाले हैं। यद्यपि इतरव्यावर्तकत्वेन परस्पर ये विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध वाले हैं, फिर भी उक्त सम्बन्ध द्वारा अखण्ड चैतन्य का ही बोध कराते हैं।

अब पूर्वोक्त दृष्टान्त वाक्य में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध दिखलाते हैं—

तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्त 'वही' पद का अर्थ है और एतत्काल-एतद्देश-विशिष्ट देवदत्त 'यह' पद का अर्थ है। लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध द्वारा विरुद्धांश जो तत्काल, तद्देश तथा एतत्काल, एतद्देश हैं उनका परिहार कर 'वही' और 'यह' पदों के द्वारा केवल देवदत्त पिण्डमात्र का बोध होता है। यहाँ 'वही' और 'यह' पद लक्षक हैं और अविरुद्ध देवदत्त पिण्ड लक्ष्य है।

अब उक्त दृष्टान्त की बात का दार्ष्टान्तिक में समन्वय करते हैं : "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में भी तत् और त्वम् पदों का अथवा उक्त पदार्थों का[1] लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। तत् पद का वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्व परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्य अर्थ किञ्चिज्ज्ञत्व व अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है, इनमें विरुद्धांश सर्वज्ञत्वादि व किञ्चिज्ज्ञत्वादि हैं, उनका परित्याग कर अविरुद्ध चैतन्यांश के बोध में तात्पर्य है। यहाँ तत् व त्वम् पद लक्षण और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है।

इसी पूर्वोक्त लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध को भागत्यागलक्षणा अथवा जहदजहल्लक्षणा समझो।

प्रश्न—इस लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध को भागत्यागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा क्यों कहते हैं? उत्तर—शास्त्रों में जब वाक्यार्थबोध का प्रसङ्ग आता है तब तत्तत् वाक्यार्थों के ज्ञान के लिए शब्द की तीन वृत्तियाँ मानी गयी हैं—मुख्यवृत्ति, गुणवृत्ति व लक्षणावृत्ति। जैसे—'राजा जाता है', यह वाक्यार्थ मुख्य वृत्ति या अभिधा वृत्ति का उदाहरण है। (यहाँ पद, पदार्थ व क्रिया के साथ अन्वय में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।)

'नील कमल' या 'बालक आग है' ये वाक्य गुणवृत्ति के उदाहरण हैं। यहाँ नील पद से नीलगुण का ज्ञान होता है, और उत्पलपद से द्रव्य का ज्ञान होता है। गुण व द्रव्य के परस्पर अभेदान्वय में बाधा आती है, फलतः नीलपद की लक्षणा नील गुण वाले द्रव्य (कमल पुष्प) में की जाती है।

---

१. पदसे लक्षणा होती है इस मतकी तरह कुछ दार्शनिक पदार्थसे लक्षणा होती है यह मानते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षणावृत्तिश्च त्रिविधा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। "गङ्गायां घोषः प्रतिवसति," "शोणो धावति", "सोऽयं देवदत्तः" इति च क्रमेण लक्षणावृत्तित्रयस्योदाहरणवाक्यानि। एतेषु मुख्यार्थग्रहणे विरोधाल्लक्षणावृत्तिरङ्गीकृतेति ज्ञेयम्।

तत्त्वमर्थाः

तत्त्वंपदयोर्वाच्यार्थः को, लक्ष्यार्थश्च क इति चेत्? उच्यते। माया मायाप्रतिबिम्बो मायाधिष्ठानं ब्रह्म, चैतत्त्रयमप्येकीभूय तत्पदवाच्यार्थः। ब्रह्ममात्रं तत्पदलक्ष्यार्थः। अविद्या अविद्याप्रतिबिम्बोऽविद्याधिष्ठानं साक्षिचैतन्यं चैतत्त्रयमप्येकीभूय त्वंपदवाच्यार्थः, साक्षिकूटस्थचैतन्यमात्रं त्वंपदलक्ष्यार्थः।

इसी प्रकार 'बालक अग्नि है' इस स्थल में भी अग्नि व बालक का भी परस्पर योग्यान्वय होने पर बाध आता है, फलतः अग्नि पद का अर्थ लक्षणा द्वारा 'अग्नि की तरह तेजस्वी' लिया जाता है, तब तेजस्वी बालक—यह अर्थ होता है। नील व तेजस्विता आदि गुणों के सादृश्य के कारण इस लक्षणा को गुणवृत्ति या गौणी वृत्ति कहते हैं।

लक्षणा वृत्ति तीन प्रकार की होती है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। पद जहाँ मुख्यार्थ का त्याग कर तटादि अन्य अर्थों को ग्रहण करे वहाँ जहल्लक्षणा होती है—जैसे 'गंगा में घर है' इत्यादि में। जहाँ पद मुख्यार्थ के साथ इतर अर्थ को भी ग्रहण करे वहाँ अजहल्लक्षणा होती है, जैसे 'लाल दौड़ रहा है' इत्यादि स्थलों में। जहाँ पद व पदार्थ विरुद्धांश को त्यागकर अविरुद्धांश ग्रहण करते हैं वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है जैसे 'वही यह देवदत्त है' इत्यादि में। ये तीनों क्रमशः तीनों लक्षणा वृत्ति के उदाहरण हैं, इन तीनों स्थलों में, मुख्यार्थ के ग्रहण में बाधा होने के कारण अन्य अमुख्यार्थ के ग्रहण से लक्षणावृत्ति को स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—"तत्त्वमसि" इस महावाक्यार्थ में "तत्" और "त्वम्" पदों का वाच्यार्थ क्या है और लक्ष्यार्थ क्या है ? अर्थात् तत्पद व त्वंपद का वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ बतलाइए ?

उत्तर—माया, माया में प्रतिफलित चैतन्य, और माया का अधिष्ठान चैतन्य—ये तीनों जब एक साथ रहते हैं तब ये तत्पद के वाच्यार्थ होते हैं। माया आदि उपाधि से रहित "शुद्ध ब्रह्म" तत्पद का लक्ष्यार्थ है।

इसी प्रकार अविद्या, अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य तथा अविद्या का अधिष्ठानभूत साक्षिचैतन्य, ये तीनों मिलकर जब रहते हैं तब त्वम् पद का वाच्यार्थ होते हैं। केवल साक्षिकूटस्थ चैतन्य त्वमूपद का लक्ष्यार्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभेदो महावाक्यार्थः

तस्मात्तत्त्वंपदवाक्यार्थग्रहणे वाच्यार्थजीवेश्वरयोर्विरोधात्तयोर्विरुद्धांशं विहाय अविरुद्धांशस्य ब्रह्मचैतन्यस्य कूटस्थचैतन्यस्य चैकत्वाद् ब्रह्मकूटस्थौ लक्षयित्वाऽखण्डार्थः तयोरैक्यमेव महावाक्येन बोध्यते।

यथा पुत्रपौत्रोपाधिद्वयपरित्यागे पितृपितामहत्त्वाभावेनैको देवदत्त एवावशिष्यते, महातटाकघटोपाधिपरित्यागे शैत्यद्रवमधुरस्वभावं जलमेकमेवावशिष्यते, महावर्त्यल्पवर्ति-परित्यागे लोहितोष्णप्रकाशस्वभावो वह्निरेक एवावशिष्यते, तथा मायाऽ-विद्योपाधिपरित्यागे सच्चिदानन्दस्वभावमेकमात्मवस्त्वेवावशिष्यते।।

कृतकृत्यः

एवं विचार्य "परिपूर्णस्वभावः प्रत्यगात्मैव मम स्वरूपम्, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवाहमस्मि" इत्यनुभवो यस्य महानुभावस्यागच्छति स एव कृतकृत्यः स एव ब्राह्मण इति सर्वे वेदान्ता भेरीवाद्यवदुद्घोषयन्ति।

।। *इति सप्तमवर्णकम्*।।

अतः तत् और त्वम् पदों के वाक्यार्थबोध के प्रसङ्ग में, त्वम्पद का वाच्यार्थ जो जीव है और तत् पद-का वाच्यार्थ जो ईश्वर है, इनमें अविद्या व माया उपाधि के कारण परस्पर विरोध होता है, अतः भागत्याग लक्षणा द्वारा इनके विरुद्धांश—अविद्या व माया उपाधियों—का परित्याग कर अविरुद्धांश ब्रह्म चैतन्य व कूटस्थ चैतन्य के एक होने से यही ब्रह्म चैतन्य व कूटस्थ चैतन्य ही उक्त लक्षणा से लक्षित हैं, अतः उन दोनों का ऐक्य व अखण्डार्थबोध महावाक्य के द्वारा कराया जाता है।

जैसे पुत्र व पौत्र इन दो उपाधियों के परित्याग से पितृत्व व पितामहत्व के न रहने से केवल देवदत्त ही शेष रह जाता है, या जैसे महातटाक व घट रूप उपाधि के परित्याग से शीतल प्रवहनशील द्रवत्व व मधुर स्वभाव वाला केवल जल ही शेष रह जाता है, या जैसे महाबत्ती व अल्पबत्ती के परित्याग से लाल उष्ण व प्रकाशशील केवल अग्नि ही शेष रह जाती है; उसी प्रकार माया व अविद्या रूप उपाधियों के परित्याग से सच्चिदानन्दस्वभावरूप एक आत्मवस्तु ही अवशिष्ट रहती है।

"परिपूर्ण स्वभाव वाला प्रत्यगात्मा ही मेरा स्वरूप है" ऐसा विचार कर "मैं ब्रह्म हूँ", "ब्रह्म ही मैं हूँ" ऐसा अनुभवात्मक ज्ञान जिस महानुभाव के मन में आ जाता है वही कृतकृत्य है, वही वस्तुतः ब्राह्मण है, सभी वेदान्त भेरी नांद की तरह इसी बात की घोषणा करते हैं।।

।। ***इति सप्तम वर्णक***।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

अष्टमवर्णकम्

वक्तव्यप्रतिज्ञा

इतः परमात्मनः पूर्वोक्तशरीरत्रयविलक्षणत्वमवस्थात्रयसाक्षित्वं पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वं सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं च चत्वारि लक्षणानि क्रमेण चतुर्भिर्वर्णकैरुच्यन्ते।

एतेषु शरीरत्रयविलक्षणत्वं पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वं च अतद्व्यावृत्तिलक्षणम्। अवस्थात्रयसाक्षित्वं तटस्थलक्षणम्; सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं स्वरूपलक्षणम्।

तथा आकाशादि शरीरत्रयान्तं दृश्यजातं "नेति नेति" इति वाक्येन विहायावशिष्टं वस्त्वात्मेत्यतद्व्यावृत्तिलक्षणम्; "अस्य प्रपञ्चस्य यदधिष्ठानं तदात्मवस्तु" इति तटस्थलक्षणम्; "सच्चिदानन्दः पूर्णं नित्यमात्मवस्तु" इति स्वरूपलक्षणम्।

शरीरत्रयम्

अस्मिन्नष्टमवर्णके शरीरत्रयविलक्षणत्वमुच्यते। शरीरत्रयस्याज्ञाने तद्विलक्षणत्वमपि दुर्विज्ञेयमिति प्रथमतः शरीरत्रयमुच्यते।

इसके बाद अब आत्मा के विषय में कहते हैं अर्थात् आत्मा पूर्वोक्त शरीरत्रय से विलक्षण है, अवस्थात्रय का साक्षी है और पञ्चकोश से व्यतिरिक्त है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। आत्मा के ये चार लक्षण क्रमशः चार वर्णकों के द्वारा वर्णित होंगे। अर्थात् आठवें, नवें, दसवें व ग्यारहवें वर्णकों में क्रमशः उक्त लक्षणों का विवेचन होगा।

उक्त चार लक्षणों में शरीरत्रयविलक्षणत्व तथा पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्व ये अतद्व्यावृत्तिरूप लक्षण हैं अर्थात् इनमें निषेधमुख की प्रधानता है। अवस्थात्रयसाक्षित्व—यह तटस्थ लक्षण है, और सच्चिदानन्दस्वरूपत्व यह स्वरूप लक्षण है।

पुनः दृष्टान्त पुरस्सर आत्मा के उक्त तीनों लक्षणों का विवेचन करते हैं : जबकि आत्मा वाङ्मनसातीत है तब उसका इदमित्थंतया वर्णन होना सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में निषेधमुखतया या अतद्व्यावृत्ति लक्षण द्वारा ही आत्मा के विषय में कुछ समझाया जा सकता है, अतः आकाश से लेकर तीनों शरीरों तक अथवा ब्रह्माण्ड से लेकर स्थावर पर्यन्त जितना भी यह दृश्य प्रपञ्च है वह सब आत्मा नहीं है यों 'यह नहीं, यह नहीं' आदि वाक्यानुसार यावत् प्रपञ्च को छोड़कर जो अवशिष्ट है वही आत्मपदवाच्य वस्तु है। जो वस्तु जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में कूटस्थ रूप साक्षी है अथवा अखिल प्रपञ्च का अधिष्ठान है, वही आत्मा है—यह आत्मा का तटस्थ लक्षण है। सत्, चित, आनन्द व पूर्ण, नित्य आत्मा है यह आत्मा का स्वरूपलक्षण है।

इस आठवें वर्णक में (आत्मा की) तीनों शरीरों से विलक्षणता बतलायेंगे। जब तक तीनों शरीरों का ज्ञान नहीं होगा तब तक उनसे विलक्षण आत्मा का ज्ञान भी कठिन ही है, अतः सर्वप्रथम इन तीन प्रकार के शरीरों के स्वरूप का कथन करेंगे। ये तीन शरीर इस प्रकार हैं—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थूलं सूक्ष्मं कारणमिति शरीरं त्रिविधम्। तत्र सर्वेषां प्रत्यक्षं करचरणाद्यवयवोपेतं स्तम्भवद् वर्तमानं यत् तत् स्थूलशरीरम्। सप्तदशावयवकं सूक्ष्मशरीरम्। अज्ञानमेव कारणशरीरम्।

एतेषां शीर्यते क्षीयत इति व्युत्पत्त्या शरीरमिति नाम। तथा हि—इदं स्थूलशरीरमन्नाभावे शीर्यते, अन्ने विद्यमानेऽपि व्याधिना शीर्यते, तदभावेऽपि वयःपरिणामेन शीर्यते। पल्लवमिव सूक्ष्मशरीरमपि कदाचिद् वर्धते कदाचित् क्षीयते। रागद्वेषाद्यन्तःकरणवृत्तिविजृम्भणमेव सूक्ष्मशरीरस्य वृद्धिः, तासां संकोच एव जीर्णता। कारणशरीरस्यापि "अहं जीवः" इति वृद्धिः, "अहं ब्रह्मास्मि" इति संकोचः।

अनयोः सूक्ष्मकारणशरीरयोरुक्तरूपा वृद्धिरज्ञानिषु दृश्यते, संकोचश्च ज्ञानिषु दृश्यते। एवं शरीरत्रयस्यापि जराया दर्शनेन "शरीरम्" इति नाम।

एतेषां "देह" इति नाम च "दह्यते" इति व्युत्पत्त्या आगतम्। ननु लोके सर्वोऽपि स्थूलदेहोऽग्निना दह्यते, सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं च न कदाचिदप्यग्निना दह्यते, तत्कथमिति तेषां देहत्वमिति चेत्? अग्नेरप्यधिकेन तापत्रयेण सर्वमपि शरीरं दह्यते, अतः शरीरत्रयस्यापि "देह" इति नाम युज्यते।

स्थूलशरीर—यह सभी को प्रत्यक्ष है, करचरणादि अवयव वाला, खम्भे की तरह विद्यमान स्थूल शरीर कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर—इसमें पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन व बुद्धि ये सत्रह अवयव होते हैं। कारण शरीर—यह केवल अज्ञान है, इसमें अविद्या-निर्मित आवरणमात्र रहता है।

इस पाञ्चभौतिक स्थूल देह को "शरीर" इसलिए कहा जाता है चूंकि यह क्षीण होता जाता है। जैसे यदि स्थूल शरीर को उचित अन्न-पानादि न मिले तो यह क्षीण हो जायेगा, पर्याप्त खाद्य सामग्री के रहते हुए भी आधिव्याधियों से क्षीण हो जायेगा, व्याध्यादि के अभाव में भी अवस्था के परिणाम से क्षीण हो जायेगा। यह सूक्ष्मशरीर भी पल्लव की तरह कभी बढ़ जाता है, कभी क्षीण हो जाता है रागद्वेषादि अन्तःकरणवृत्तियों का विकास ही इसका बढ़ना है, इन वृत्तियों का संकोच ही इसकी क्षीणता है। इसी प्रकार कारण शरीर की भी "मैं जीव हूँ" इस अभिमान से वृद्धि होती है; "मैं ब्रह्म हूँ" इस स्वरूपज्ञान से क्षीणता होती है।

इन सूक्ष्म व कारण शरीरों की पूर्वोक्त रागद्वेषादिजन्य वृद्धि अज्ञानियों में देखी गयी है। उक्त रागद्वेषादि के अभाव में उक्त शरीरों का संकोच ज्ञानियों में देखा जाता है। इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म व कारण रूप इन तीनों शरीरों में जीर्णता का भाव दिखलाई देने से इन्हें "शरीर" इस नाम से कहा जाता है।

और इन्हीं शरीरों को "देह" भी कहा जाता है। क्योंकि ये तीनों प्रकार के शरीर तीनों प्रकार के तापों से या रागद्वेषादि रूपी अग्नि से जलते हैं, इसलिए इनको "देह" भी कहा जाता है।

प्रश्न— स्थूल शरीर को "देह" कहना तो ठीक है क्योंकि यह सारा स्थूल शरीर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है, परन्तु सूक्ष्मशरीर व कारणशरीर तो कभी भी अग्नि से नहीं जलाये जाते हैं, फिर उन्हें "देह" क्यों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थूलशरीरस्य स्तम्भवत् स्थूलभूतकार्यत्वेन स्थूलत्वम्। सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीरवत् स्थूलत्वाभावात् सूक्ष्मभूतजन्यत्वाच्च सूक्ष्मत्वम्। लीनं शब्दाद्यर्थं गमयतीति "लिङ्गम्" इत्यापि नामास्यागतमिति ज्ञेयम्। स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयकारणस्य कारणशरीरमिति नाम।

अज्ञानाच्छरीरद्वयम्

हे स्वामिन्! पूर्वं स्थूलं सूक्ष्ममिति शरीरद्वयमपि पञ्चभूतेभ्य उत्थितमित्युक्तम्, इदानीं कारणशरीरादुत्थितमिति कथमुच्यत इति चेत्?

शृणु। अध्यारोपसृष्टौ यथा पञ्चभूतोत्थितमित्युक्तम्, तत्तथैव। आत्मनः शरीरवत्त्वेऽज्ञानं कारणमिति, युगपत्सृष्टौ सर्वस्यापि जगतोऽज्ञानमेव कारणमिति कृत्वा शरीरद्वयस्याप्यज्ञानमेव कारणमित्युक्तम्।

क्रमाऽक्रमसृष्टी

कथं क्रमसृष्टिः कथं युगपत् सृष्टिरिति चेत्? उच्यते। मूलप्रकृतिर्माया अविद्या आवरणं विक्षेप आकाशो वायुरग्निरापः पृथिवीति क्रमेणोत्पत्तिकथनं क्रमसृष्टिः। सर्वोऽपि प्रपञ्च आत्माज्ञानेन जात इति कथनं युगपत् सृष्टिः।

कहा जाता है ? उत्तर— अग्नि से भी अधिक गरम जो (आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक) ये तीन प्रकार के ताप हैं, इनसे ये तीनों प्रकार के शरीर जलते रहते हैं, अतः तीनों प्रकार के शरीरों को "देह" कहना उचित ही है।

यह जो स्तम्भ की तरह स्थूल शरीर है, यह स्थूल पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से इसे स्थूल कहते हैं। यह जो सूक्ष्मशरीर है वह स्थूल शरीर की तरह परिमाण में स्थूल नहीं है अपितु सूक्ष्म पंचमहाभूतों से जन्य होने के कारण इसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं। और द्रव्यादि की अपेक्षा सूक्ष्म शब्द-स्पर्शादियों का ज्ञापक होने से इसे "लिङ्ग शरीर" भी कहते हैं। यह जो कारण शरीर है, वह स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर, इन दोनों का कारण होने से इसे "कारण शरीर" कहते हैं, यह अज्ञानरूप है।

हे स्वामिन् ! आपने पहिले तो स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीरों की उत्पत्ति पञ्च महाभूतों से बतलायी हैं; इस समय आप उक्त दोनों शरीरों की उत्पत्ति कारणशरीर से मान रहें हैं, आपके व्याख्यान में यह विरोधाभास कैसे आ रहा है ?

उत्तर— सुनो, अध्यारोप की दृष्टि से अर्थात् जब हम व्यवहार दशा की चर्चा करते हैं, उस अवस्था में तो सत्यानृत को मिला करके ही व्यवहार बनता है। पञ्चमहाभूत सर्वसाधारणगम्य हैं और साक्षात् इनसे शरीरद्वय की उत्पत्ति कही। वस्तुतः आत्मा के शरीर के धारण करने में तो अज्ञान ही कारण है; एक ही समय में सारे संसार की उत्पत्ति में भी अज्ञान ही कारण है; इसलिए शरीरद्वय का भी कारण अज्ञान ही है।

प्रश्न—यह क्रम-सृष्टि व युगपत्-सृष्टि कैसे होती है? उत्तर—मूल प्रकृति से माया उत्पन्न होती है उससे अविद्या, अविद्या से आवरण, उससे विक्षेप; तदनन्तर आकाश, उससे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी; यह सब क्रमशः उत्पन्न होने से इसे 'क्रम सृष्टि' कहते हैं। यह सारा संसार आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होता है—यह कथन 'युगपत् सृष्टि' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूक्ष्मदेहसिद्धिः

ननु स्थूलस्य प्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात्तत्र न सन्देहः, सूक्ष्मशरीरस्य बहिरप्रतीतेस्तदस्तीति ज्ञानं कथं जायत इति चेत् ? शृणु। सप्तदशकरणकार्यैस्तत्सूक्ष्मशरीरं ज्ञातुं शक्यम्।

तत्सप्तदशकरणकार्यमपि स्थूलशरीरेण कर्तुं न शक्यते वेति चेत्? सुषुप्तिमूर्च्छामरणेषु स्थूलशरीरे विद्यमानेऽपि सप्तदशकरणकार्याणामदर्शनाज्जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्कार्यदर्शनाच्च स्थूलशरीरव्यतिरेकेण सप्तदशावयवात्मकं लिङ्गशरीरमस्त्येवेत्यवगन्तव्यम्।

स्थूलसूक्ष्मविवेकः

इदं सूक्ष्मशरीरमपि स्थूलशरीरं विना न कदापि कार्यं करोति, अत उभयमपि दर्शनादिकार्यं करोत्विति चेत्? शृणु। विवेकेन विचार्यमाणे दर्शनादिकार्यं सकलमपि सूक्ष्मशरीरसाध्यमेव, नतु स्थूलसाध्यम्। कथमिति चेत्? काष्ठमाश्रित्याग्निर्दाहपाकादि कर्म करोति, काष्ठाभावे न करोति, तथाप्यग्निकार्यमेव दाहपाकादि, न तु काष्ठकार्यं यथा; तथा स्थूलशरीरमाश्रित्य तेन सूक्ष्मशरीरेण क्रियमाणमपि दर्शनादिकं सूक्ष्मकार्यमेव, न तु स्थूलकार्यम्। अतो दर्शनादिकार्येणानुमेयं सप्तदशावयवकं सूक्ष्मशरीरमित्युक्तम्।

प्रश्न—यह स्थूलशरीर तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रतीत होता ही है, इसलिए इसमें तो सन्देह नहीं है; परन्तु सूक्ष्मशरीर तो बाहर नहीं दिखाई देता है। अथवा बहिरिन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः यह कैसे माना जाय कि सूक्ष्मशरीर भी है ? उत्तर— सत्रह करणों के कार्यों द्वारा वह सूक्ष्मशरीर जाना जा सकता है, अर्थात् कार्यलिङ्गक अनुमान द्वारा सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्रश्न—सत्रह करणों के जो कार्य या व्यापार हैं, क्या वे स्थूल शरीर के द्वारा नहीं किये जा सकते हैं?

उत्तर— सुषुप्ति काल में, मूर्च्छा के समय व मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर तो रहता ही है, परन्तु स्थूल शरीर के रहते हुए भी उक्त करणों का कोई भी कार्य या व्यापार नज़र नहीं आता है, और जाग्रत् व स्वप्नावस्था में उन करणों के सारे कार्य प्रतीत होते हैं, अतः इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त भी सप्तदश अवयववाला सूक्ष्म शरीर है, जिसके द्वारा इन सब करणों (इन्द्रियों) के कार्य होते रहते हैं।

प्रश्न—यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर के विना कभी भी अपना कार्य नहीं करता है। अतः यदि दोनों शरीरों को समानरूप दर्शनादि कार्यों को करने वाला माना जाय तो क्या हर्ज़ है?

उत्तर— विवेकपूर्वक देखा जाय तो ये सब दर्शनादि कार्य सूक्ष्म शरीर से ही साध्य हैं; स्थूल शरीर से साध्य नहीं हैं। यह किस प्रकार है ? यदि यह पूछो तो, इस प्रकार समझो—जैसे अग्नि काष्ठ का आश्रय लेकर दाहपाकादि कार्य करती है, काष्ठ के अभाव में उक्त दाहपाकादि कार्य नहीं होता है, फिर भी दाहपाकादि कार्य अग्नि का ही माना जाता है, न कि काष्ठ का। उसी प्रकार स्थूलशरीर के आश्रय में, सूक्ष्मशरीर के द्वारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूक्ष्माङ्गवर्णनम्

ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणपञ्चकं मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशावयवाः। एतत् सप्तदशकं सूक्ष्मशरीरम्। श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि ज्ञानेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एतेषां विषयाः। तेषां ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानेन्द्रियत्वम्। सुखप्रकाशाभिव्यञ्जकसत्त्वगुणकार्यत्वादेतेषां ज्ञानसाधनत्वम्।

वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। वचनादानगमनविसर्गानन्दनरूपक्रियासाधनत्वं तेषां कर्मेन्द्रियत्वम्। चञ्चलमलिनरजोगुणकार्यत्वेनैतेषां क्रियासाधनत्वम्।

प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणाः। त उच्छ्वासनिश्वासादिव्यापारैः शरीरधारकत्वाद् बलप्रदत्वाच्च प्राणसंज्ञाः। तादृशसामर्थ्यं च तेषां रजोगुणजन्यत्वादिति ज्ञेयम्।

विमर्शात्मकान्तःकरणवृत्तिर्मनः। निश्चयात्मकान्तःकरणवृत्तिर्बुद्धिः। एवं सूक्ष्मशरीरस्य सप्तदशावयवाः।

किये जाने वाले दर्शनादिक जितने भी कार्य हैं, वे सब सूक्ष्मशरीर के ही हैं, न कि स्थूल शरीर के। अतः दर्शनादिक कार्य के द्वारा, (तत्कारणीभूत) सप्तदशावयवक सूक्ष्मशरीर का अनुमान किया जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन व बुद्धि ये सब मिलाकर सत्रह अवयव वाला सूक्ष्मशरीर है। (इसी को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं।)

इसी सूक्ष्मशरीर के सप्तदश अवयवों का उल्लेख करते हैं। इसमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा, घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच विषय हैं। ये इन्द्रियाँ ज्ञान करने में साधन हैं, इसलिए इन्हें "ज्ञानेन्द्रिय" कहते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ, सुख व प्रकाश का अभिव्यञ्जक जो सत्त्वगुण है, उसके कार्य हैं अर्थात् उससे निष्पन्न होने से ज्ञान के साधन हैं।

वाणी, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः—बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, मलमूत्र आदि त्याग करना, आनन्दानुभव करना—इन क्रियाओं के सम्पन्न करने के साधन होने से इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ चलस्वभाव किञ्चित् मलिन रजोगुण के कार्य होने से तत्तत् क्रियाओं के साधन अर्थात् उपाय हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये पाँच प्राण हैं। ये पाँचों प्राण उच्छ्वास व निश्वासादि व्यापारों के द्वारा शरीर को धारण करते हुए, उसे जीवित रखते हुए, वायुरूप होने से उसे बल प्रदान भी करते हैं, अतः जीवन-प्रदान व शरीर-सञ्चालन रूप कार्य के कारण इन्हें प्राण कहा जाता है। यह सारा सामर्थ्य इन्हें रजोगुण के द्वारा है क्योंकि ये चलस्वभाव रजोगुण के कार्य हैं।

अन्तःकरण की एक वृत्ति मन है—जिसका कार्य है विमर्श करना या संकल्प विकल्प करना। बुद्धि भी अन्तःकरण की ही एक वृत्ति है, निश्चय करना उसका कार्य है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर के सप्तदश अवयवों का विवेचन किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक एकस्मिन् वस्तुनि ज्ञातव्य उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेत्युपायत्रयमस्ति। तत्र वस्तुनामग्रहणमात्रमुद्देशः। वस्तुस्वरूपग्रहणं लक्षणम्। वस्तुस्वरूपविचारः परीक्षा। सप्तदशावयवनामग्रहणेनोद्देशो जातः। इतः परं लक्षणं परीक्षां च वदामः।

लक्षणलक्षणम्

लक्षणं नामाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपदोषत्रयरहितोऽसाधारणधर्मः। लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः, यथा कपिला गौरिति। अलक्ष्येऽपि लक्षणस्य वर्तनमतिव्याप्तिः, यथा चतुष्पाद् गौरिति। लक्ष्ये क्वापि लक्षणस्यावर्तनमसंभवः, यथैकशफा गौरिति।

दोषत्रयरहितोऽसाधारणधर्मो लक्षणं किमिति चेद्? गोः सास्नादिमत्त्वम्।।

लोक में किसी भी वस्तु के ज्ञान के तीन उपाय हैं—उद्देश, लक्षण, परीक्षा। (१) उद्देश—वस्तुओं के नाममात्र के ज्ञान को उद्देश कहते हैं। (२) लक्षण— वस्तु के स्वरूपज्ञान या असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। (३) परीक्षा—किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में जो निर्णयात्मक विवेचन होता है, उसे परीक्षा कहते हैं। जैसे सूक्ष्मशरीर के विषय में केवल सत्रह तत्त्वों का नाममात्र से निर्देश कर दिया गया है अतः यह सूक्ष्मशरीर का उद्देश कथन है। इसके बाद अब लक्षण व परीक्षा के विषय में कहेंगे।

लक्षण उसे कहते हैं जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति व असंभव नामक तीनों दोषों से रहित हो और वस्तु का अपना निजी धर्म हो। जैसे गाय का लक्षण करते हुए किसी ने कहा कि जो कपिल वर्ण की हो वह गाय है। गाय का यह लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त है; क्योंकि लक्ष्य का एकदेश जो श्वेत गायें हैं, उनमें यह लक्षण नहीं घटेगा। अतिव्याप्ति दोष वहाँ होता है जब लक्षण लक्ष्य की परिधि से बाहर चला जाय। जैसे गाय का लक्षण करते हुए किसी ने कहा कि ''जिसके चार पैर हों, उसे गाय कहते हैं''; यह लक्षण गाय में रहते हुए भी महिषादि में भी चला जायेगा, जब कि वे अलक्ष्य हैं। असंभव दोष वहाँ होता है जो लक्षण लक्ष्य-मात्र में कहीं भी न मिले, जैसे किसी ने कहा कि एक खुर जिसका होय उसे गाय कहते हैं; तो कहीं भी दुनियाँ में एक खुर वाली गाय नहीं मिलेगी; गाय के खुर बीच में कटे रहने से दो खुर होते हैं।

प्रश्न— तब तीनों दोषों से रहित असाधारण धर्म वाला गाय का कौन-सा लक्षण होगा?

उत्तर— जो सास्ना=गलकम्बल वाली हो वही गौ है, यह लक्षण लक्ष्य गोमात्र में समनियत है, अर्थात् कहीं भी गाय से बाहर किसी पशु में नहीं मिलेगा और गाय में सर्वत्र मिलेगा। अतः सही लक्षण है।

इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के क्या लक्षण हैं ? यह पूछो तो क्रमशः इनका लक्षण कहेंगे।

इनमें सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रिय का लक्षण इस प्रकार है—दिक् नामक अधिष्ठाता देवता से प्रेरित होने वाली वह इंद्रिय श्रोत्र है जो कानके छेद से सीमित आकाश में रहकर अठारह (अर्थात् सभी) भाषाओं को तथा वेद-शास्त्रों को 'यह ऐसा ही है' यों जानती है।

इस श्रोत्रेन्द्रिय के स्वरूप की परीक्षा किस तरह है ? उत्तर—लोग तो जलेबी के आकार वाले चमड़े

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियलक्षणपरीक्षे

तद्वज्ज्ञानेन्द्रियाणां किं लक्षणमिति चेत्? क्रमेण कथयिष्यामः।।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियं किमिति चेत् ? दिग्रूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न-नभोदेशे स्थित्वा अष्टादशभाषाणां वेदशास्त्राणां चेदमित्थमिति ज्ञातृ यदिन्द्रियं तच्छ्रोत्रम्।

परीक्षा कीदृशीति चेत्? कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ एव जानात्विति चेत्? सुषुप्तिमूर्च्छादिसमयेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभो विद्यमानमपि शब्दं न गृह्णाति, तस्मात्तदन्यदिति परीक्षा।

त्वगिन्द्रियं किमिति चेत्? वायुरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत् त्वचं सर्वत्र व्याप्य शीतमुष्णं मृदु कठिनं कर्कशमित्यनेकविधं स्पर्शं यज्जानाति तत्त्वगिन्द्रियम्।

त्वगेव जानात्वित्युक्ते सुषुप्त्यादिषु त्वचि विद्यमानायामपि स्पर्शं न जानाति, तस्मात् सा न त्वगिन्द्रियम्।

चक्षुरिन्द्रियं किमिति चेत्? सूर्यरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत् कृष्णताराग्रमाश्रित्य नीलं श्वेतं रक्तं पीतं हरितं धवलं स्थूलं सूक्ष्मं ह्रस्वं दीर्घमित्युक्तबहुविधरूपं यज्जानाति तच्चक्षुरिन्द्रियम्।

कृष्णताराग्रमेव जानात्विति चेत्? सुषुप्त्यादिषु तद्विद्यमानमपि न जानाति, तस्मान्न तच्चक्षुरिन्द्रियम्।

से घिरा हुआ जो कान का छिद्र है उसी को श्रोत्रेन्द्रिय मान बैठे हैं, परन्तु सुषुप्ति-मूर्छादि में उक्त आकार वाले छिद्र के रहते हुए भी मनुष्य शब्द का श्रवण नहीं करता है, तस्मात् उससे अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय है जो कि अतीन्द्रिय है। यह विचार परीक्षा है।

प्रश्न— त्वगिन्द्रिय का क्या लक्षण है ? उत्तर— वायुरूप अधिष्ठात्री देवता से प्रेरित होते हुए जो समस्त शरीर के त्वचा में व्याप्त है और शीत, उष्ण, नरम, कठिन व कठोर आदि सभी प्रकार के स्पर्श को जानती है, वह त्वगिन्द्रिय है। परन्तु शरीर के बाहर व्याप्त यह मोटी त्वचा ही त्वगिन्द्रिय नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति आदि में उक्त त्वचा के रहते हुए भी किसी प्रकार के स्पर्श का ज्ञान नहीं होता है, तस्मात् उक्त त्वचा से अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय है जो कि अतीन्द्रिय है।

चक्षु इन्द्रिय का क्या लक्षण है? उत्तर— सूर्यरूप अधिष्ठात्री देवता द्वारा प्रेरित होने वाली जो कृष्णतारा के अग्रभाग में रहती है, जिससे नील, पीत, श्वेत, रक्त, हरित, धवल, स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि बहुत प्रकार के रूपों का ज्ञान होता है, उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं।

कुछ लोग आँख के श्वेतपटल के मध्य जो कृष्ण ताराग्रभाग है, उसे ही चक्षु इन्द्रिय कहने की भूल करते हैं, परन्तु सुषुप्तादि अवस्था में उक्त भाग के रहते हुए भी उक्त रूपों का ज्ञान नहीं होता है अतः तदतिरिक्त चक्षु इन्द्रिय है, जो अतीन्द्रिय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसनेन्द्रियं किमिति चेत्? वरुणरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद् रसनामाश्रित्य मधुरतिक्तलवणाम्लादीन् षड्रसान् यज्जानाति, तद् रसनेन्द्रियम्।

रसनैव जानात्विति चेत्? सुषुप्त्यादिषु रसनामात्रं विद्यमानमपि रसं न जानाति, अतो न तद् रसनेन्द्रियम्।

घ्राणेन्द्रियं किमिति चेत्? अश्विदेवतया प्रेरितं सन्नासाग्रमाश्रित्य सुगन्धं दुर्गन्धं च यज्जानाति तद् घ्राणेन्द्रियम्।

नासाग्रमेव जानात्विति चेत्? सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि सन्नासाग्रं गन्धं न जानाति, तस्मान्न तद् घ्राणेन्द्रियम्। एवं ज्ञानेन्द्रियलक्षणानि।

इतःपरं कर्मेन्द्रियलक्षणमुच्यते।

अग्निरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्तालुमूलमुत्तराधरोष्ठं दन्तं कण्ठं हृदयं नाभिमेवमादिस्थानान्याश्रित्य पूर्वोक्तशब्दभेदान् यदुच्चरति तद् वागिन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ ताल्वादिस्थानं विद्यमानमप्यक्षराणि नोच्चरति, तस्मान्न तद् वागिन्द्रियम्।

रसनेन्द्रिय का क्या लक्षण है ? उत्तर—वरुणरूप देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, जिह्वा में अधिष्ठित होने वाली, जिससे मधुर तिक्त, लवण, अम्ल, (कटु, कषाय) आदि रसों का ज्ञान होता है, वही रसनेन्द्रिय है।

परन्तु मुख में दिखलाई देने वाली यह जिह्वामात्र रसनेन्द्रिय नहीं है, यह तो उस इन्द्रिय का गोलकमात्र है क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में इस स्थूल इन्द्रिय के रहते हुए भी तत्तत् रसों का ज्ञान नहीं होता है अतः दिखलाई देने वाली इस स्थूल से अतिरिक्त रसनेन्द्रिय है जो कि अतीन्द्रिय है।

घ्राणेन्द्रिय का क्या लक्षण है ? उत्तर—अश्विनी कुमार देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, नाक के अग्रभाग में स्थित होकर जो सुगन्ध व दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है वही घ्राणेन्द्रिय है।

कुछ लोग स्थूल नाक के अग्र भाग में रहने वाले अवयव-विशेष को ही घ्राणेन्द्रिय मान बैठे हैं, परन्तु वह दृश्यमान स्थूलाग्रभाग घ्राणेन्द्रिय नहीं है, क्योंकि सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में उक्त अवयव-विशेष के विद्यमान रहने पर भी गन्ध का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए तदतिरिक्त ही घ्राणेन्द्रिय है, जो कि अतीन्द्रिय है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के लक्षणों का विवेचन कर दिया।

इसके बाद अब कर्मेन्द्रियों के लक्षणों को कहेंगे।

अग्निरूप अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, तालुमूल, उत्तराधरोष्ठ, दन्त, कण्ठ, हृदय व नाभि प्रदेशादियों का आश्रय लेकर जो पूर्वोक्त शब्दभेदों का अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, उदात्तानुदात्तादि उच्चावच स्वरसहित शब्दभेदों का उच्चारण करती है वही वागिन्द्रिय है। ताल्वादि स्थानविशेष ही वागिन्द्रिय नहीं है; क्योंकि सुषुप्त्यादि में उक्त स्थानों के रहते हुए भी शब्द का उच्चारण नहीं होता है, अतः तदतिरिक्त ही वागिन्द्रिय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्ररूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत् करतलमाश्रित्यादानादिक्रियां यत् करोति तत् पाणीन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि करतलं नादानादिक्रियाः करोति, अतो न तत् पाणीन्द्रियम्।

उपेन्द्ररूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत् पादतलमाश्रित्य गमनं यत् करोति तत् पादेन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि पादतलं न गमनक्रियां करोति, अतो न तत् पादेन्द्रियम्।

मृत्युरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद् गुदमाश्रित्य यत् पुरीषविसर्जनादि करोति, तत्पाय्विन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि तन्न करोति, अतो न तत् पाय्विन्द्रियम्।

प्रजापतिरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद् योनिं लिङ्गमप्याश्रित्य शुक्रशोणितमूत्र-विसर्जनं यत्करोति तदुपस्थेन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ योनिं लिङ्गं च विद्यमानमपि तद्विसर्जनं न करोति, अतो न तदुपस्थेन्द्रियम्। एवं कर्मेन्द्रियलक्षणान्युक्तानि।

इन्द्ररूप अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, करतल का आश्रय लेकर जो दानादि क्रियायें सम्पन्न करती है वही पाणीन्द्रिय है।

सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में भी बाह्य हथेली विद्यमान रहती है, अर्थात् करतल उन अवस्थाओं में भी रहता ही है, परन्तु उस समय उसके द्वारा कोई दानादिक्रिया निष्पन्न नहीं होती है, अतः इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह दृश्यमान स्थूल करतल ही पाणीन्द्रिय नहीं है।

उपेन्द्ररूप अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, जो पैरों के तल-भाग में आश्रित होकर गमन क्रिया को सम्पन्न करती है, वही पादेन्द्रिय है। यद्यपि यह स्थूल पादतलभाग तो सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में भी रहता है परन्तु उन अवस्थाओं में गमनादि क्रियायें सम्पन्न नहीं होती हैं, अतः यह प्रतीत होता है कि पादेन्द्रिय स्थूल पादतलभाग से अतिरिक्त है।

मृत्युरूप अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, गुदाद्वार का आश्रय लेकर जो मलविसर्जनरूप कार्य करती है वही पायु इन्द्रिय है। सुषुप्त्यादि अवस्था में विद्यमान भी यह पायु इन्द्रिय उक्त मलविसर्जन कार्य नहीं करती है इसलिए उक्त स्थूल गुदाद्वार स्थल ही पायु इन्द्रिय नहीं है, अपितु इससे अतिरिक्त ही पायु इन्द्रिय है।

प्रजापतिरूप अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाली, योनि व लिङ्ग पर आश्रित होकर जो शुक्र शोणित व मूत्र का विसर्जन करती है, वही उपस्थेन्द्रिय है। सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में योनि व लिङ्ग के रहते हुए भी उक्त शुक्र शोणित व मूत्र का विसर्जन नहीं होता है, अतः दृश्यमान यह स्थूल योनि व लिङ्ग ही उपस्थेन्द्रिय नहीं है, अपितु इनसे अतिरिक्त ही सूक्ष्म उपस्थेन्द्रिय है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों के लक्षणों का विवेचन कर दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राणाः

अथ प्राणपञ्चकस्य लक्षणमुच्यते। विशिष्टनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन् हृदये स्थित्वा य उच्छ्वासं करोति स प्राणः। विश्वसृष्टनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन् गुदे स्थित्वा यो निःश्वासं करोति सोऽपानः। विश्वयोनिनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्नन्तर्बहिश्च शरीरे स्थित्वेन्द्रियाणां बलं यच्छन् यो वर्तते स व्यानः।

अजनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन् कण्ठे स्थित्वा सुषुप्ताविन्द्रियाणां गोलकेषु लयं कारयित्वा जाग्रति पुनरिन्द्रियाणि गोलकेषु स्थापयित्वोत्क्रमणकाल इन्द्रियाणि गृहीत्वा लोकान्तरं गच्छति यो वायुः स उदानः। यो जयनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन् नाभिदेशे स्थित्वा भक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यरूपं चतुर्विधमन्नं जाठराग्नौ पाचयित्वा शरीरपुष्टिं करोति सः समानवायुः। एवं पञ्च प्राणाः।।

नागः कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनञ्जय इति अन्ये पञ्च वायवः श्रूयन्ते, तेषामपि पूर्वप्रोक्तपञ्चप्राणेष्वन्तर्भावः। तत्र नागो वान्तिं करोति। कूर्म उन्मीलननिमीलने, अधरोष्ठयोः संयोगं विभागं च करोति। कृकरः क्षुतं करोति। देवदत्तो विजृम्भणं करोति, धनञ्जयः शरीरस्योच्छूनतां करोति।

अब पाँचों प्राणों के लक्षणों का कथन करते हैं। विशिष्ट नामक अधिष्ठत्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाला हृदय में रहकर जो उच्छ्वास कार्य करता है, ऊपर की ओर श्वास क्रिया करता है, वह प्राण है। विश्वसृष्ट नामक अधिष्ठात्री देवता से प्रेरित होने वाला, गुदा द्वार में रहकर जो निश्वास कार्य (नीचे की ओर वायु का प्रसारण) करता है वह अपान है। विश्वयोनि नामक अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाला, शरीर के अन्दर व बाहर रहकर जो इन्द्रियों को बल प्रदान करता है वह व्यान है।

अज नामक अधिष्ठात्री देवता ,के द्वारा प्रेरित होने वाला, कण्ठ-प्रदेश में रहकर सुषुप्ति दशा में जो तत्तत् इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में लीन करा देता है, और जाग्रत् अवस्था में पुनः इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में सञ्चालित कर देता है तथा प्राणोत्सर्ग समय में जो इन्द्रियों को ग्रहण कर लोकान्तर-गमन करता है, वह वायु ही उदान है। जो जयनामक अधिष्ठात्री देवता के द्वारा प्रेरित होने वाला, नाभिदेश में रहकर भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य रूप चारों प्रकार के अन्न से निर्मित व्यजंनों को जठराग्नि में पचाकर शरीरपोषण रूप कार्य करता है, वह समान वायु है। इस प्रकार पाँचों प्राण वायुओं की व्याख्या कर दी है।

पुराणों में, पूर्वोक्त पञ्च प्राणों से अतिरिक्त नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय नामक पाँच प्राणों का वर्णन है, परन्तु इन सबका पूर्वोक्त प्राणापानादि में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें नाग नामक वायु वमनादि कार्य करता है, कूर्म का कार्य नेत्रों का निमेष व उन्मेष करना है, और अधर-उत्तरोष्ठ का संयोग व विभाग करना है। कृकर का कार्य छींक करना है। देवदत्त का काम जंभाई लेना इत्यादि है। धनञ्जय का कार्य समस्त शरीर को विकसित करना या फैलाना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तःकरणम्

इतः परमन्तःकरणचतुष्टयं मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति जानीहि। अत्र मनश्चन्द्रेणाधिष्ठितं सत्कण्ठमाश्रित्य स्थित्वा संकल्पविकल्पौ करोति। बुद्धिश्चतुर्मुखेणाधिष्ठिता सती मुखमाश्रित्य स्थित्वा निश्चयं करोति। अहंकारो रुद्रेणाधिष्ठितः सन् हृदयमाश्रित्य स्थित्वा अभिमानं करोति। क्षेत्रज्ञरूपविष्णुनाधिष्ठितं सच्चित्तं नाभौ स्थित्वा अवधानं करोति।

लिङ्गावयवसङ्ख्या

एतल्लिङ्गशरीरं काचिच्छ्रुतिः षोडशात्मकं वदति, तस्मिन् पक्षेऽन्तःकरणमेकमिति जानीहि। पुनरन्या श्रुतिः सप्तदशात्मकं वदति, तस्मिन् पक्षे मनो बुद्धिरिति द्विविधमिति जानीहि। पुनरन्या श्रुतिरेकोनविंशत्यात्मकं वदति, तत्पक्षे मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति चतुर्विधमन्तःकरणमिति जानीहि। एवं लिङ्गशरीरनिर्णयः।

कारणशरीरम्

इदानीं कारणशरीरमुच्यते। अज्ञानमेव कारणशरीरम्, स्थूलसूक्ष्मशरीरकारणत्वात्। अस्य जीवेश्वरयोः प्रथमशरीरत्वात् पश्चाद्भाविशरीरद्वयकारणत्वम्। तस्मिन्नर्थे प्रमाणं किमिति चेत् ? "अज्ञानं कारणमिति" श्रुतिर्वदति। कार्येण कारणमूह्यत इति युक्तिः, "अहमज्ञः" इत्यनुभवः।

इसके बाद अब अन्तःकरण के विषय में समझो : यह चार प्रकार का है— मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। मन—चन्द्र देवता के द्वारा अधिष्ठित, कण्ठदेशं में स्थित होकर संकल्प विकल्पात्मक कार्य करता है। बुद्धि— ब्रह्मा से अधिष्ठित हुई, मुख प्रदेश में स्थित होकर निश्चयात्मक कार्य करती है। अहंकार— रुद्र देवता द्वारा अधिष्ठित होकर, हृदयदेश में स्थित होकर अभिमान रूप कार्य करता है। चित्त—क्षेत्रज्ञरूप विष्णु देवता द्वारा अधिष्ठित होकर, नाभि प्रदेश में स्थित होकर चिन्तनात्मक कार्य करता है।

किन्हीं वेदवाक्यों के अनुसार यह लिङ्ग शरीर सोलह तत्त्वों वाला है। इस पक्ष में मन-बुद्धि इत्यादि को अन्तःकरणत्वेन एक ही तत्त्व मानते हैं। अन्य वेदवचनों के अनुसर यह लिङ्गशरीर सप्तदश तत्त्वात्मक है। इस पक्ष में मन व बुद्धि—इन तत्त्वद्वय को अन्तःकरण माना गया है। पुनः अन्य मत के अनुसार यह लिङ्गशरीर उन्नीस तत्त्वात्मक है। इस पक्ष में यह अन्तःकरण चतुर्विध तत्त्वात्मक है—मन, बुद्धि, अहंकार व चित्त। इस प्रकार लिङ्गशरीर का विवेचन कर दिया।

अब कारण शरीर का विवेचन करेंगे। यह अज्ञान ही कारण शरीर है, क्योंकि यह स्थूल व सूक्ष्म शरीरों का कारण है। जीव व ईश्वर का प्राथमिक शरीर यह अज्ञान ही है। इसी कारण शरीर अज्ञान के द्वारा निष्पन्न होने से बाद में होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का कारण है अतः इसे कारण शरीर कहते हैं। यदि यह पूछो कि इसमें क्या प्रमाण है ? तो "अज्ञान कारण है" यह श्रुति ही प्रमाण है। कार्य के द्वारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा

भोः स्वामिन्! आत्मा क इत्युक्ते, शरीरत्रयविलक्षण इति बोधयितुं प्रथमतः शरीरत्रयं लक्षणैर्बोधितं किल, एवमेवात्मापि लक्षणैर्बोधयितव्य इति चेत्? शृणु।

सर्वत्र परिपूर्णं ब्रह्मेति, तदेव ब्रह्म प्रत्यगात्मस्वरूपमिति च सकलोपनिषदो वदन्ति। तस्मादात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप एवेति जानीहि।

सत् किं, चित् किम्, आनन्दः किमिति चेत् ? बाधरहितं सत्, स्वप्रकाशश्चित्, स्वानुभूतिरेवानन्द इति जानीहि। एवमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूपः। अनात्मा त्वनृतजड-दुःखस्वरूपः।

आत्मानात्मविवेकः

आत्मानात्मनोरन्योन्यवैलक्षण्यं कथं ज्ञातव्यमिति चेत्? यथा पुरुषलक्षणं स्त्रियां नास्ति, स्त्रीलक्षणं पुरुषे नास्ति, एवमेव सल्लक्षणमनृते नास्त्यनृतलक्षणं सति नास्ति।

कारण का अनुमान किया जाता है; यह युक्ति है। (कार्य-कारणपरम्परा खोजतें जाने पर अन्त में 'पता नहीं' या अज्ञान ही उपस्थित होता है, इसलिए वही अंतिम कारण है।) "मैं अमुक वस्तु नहीं जानता हूँ" यह अनुभव अज्ञान में प्रमाण है।

हे स्वामिन्! जब हमने आत्मा के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा की कि यह आत्मा नामक वस्तु क्या है? तब आपने कहा कि यह स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों से विलक्षण है, और इनकी विशद प्रतीति के लिए सर्वप्रथम आपने तीनों शरीरों का लक्षण सहित प्रतिपादन किया। जिस प्रकार आपने तीनों शरीरों का लक्षण प्रतिपादन किया उसी तरह आत्मा का भी कोई लक्षण बताना चाहिए ?

उत्तर– सुनो, यह आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है, यह सभी का प्रत्यगात्मस्वरूप है और यही ब्रह्म है, ऐसा समस्त उपनिषदों का कहना है। इसलिए यह आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ही है, ऐसा समझो।

प्रश्न–यह सत्, चित् व आनन्द क्या है ? अर्थात् सत्, चित् व आनन्द का क्या स्वरूप है ? केवल शब्दतः हमें मालूम नहीं होता है। कृपया इनमें से प्रत्येक का अर्थ कीजिए।

उत्तर– जिसका कभी भी बाध न हो उसे सत् कहते हैं अर्थात् भूत, भविष्यत् व वर्तमान में जिस वस्तु की 'है' यह समान प्रतीति बनी रहे उसे "सत्" कहते हैं। जो स्वयंप्रकाश हो उसे "चित्" कहते हैं अर्थात् जिसकी प्रतीति के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न हो उसे "चित्" कहते हैं और स्वानुभव ही आनन्द है। यद्यपि अनुभव सुख दुःखादि अनेक प्रकार का हो सकता है तथापि स्वरूपानुसन्धानात्मक आनन्द तो केवल निरतिशयसुखात्मक ही होगा। इस प्रकार आत्मा के विषय में जानना चाहिए। अतः आत्मा का यही "सच्चिदानन्दात्मक" ही स्वरूप लक्षण है। इसके ठीक विपरीत अनृत–असत्य, जड–प्रकाशशून्य व दुःखस्वरूप अनात्मा है।

प्रश्न–आत्मा व अनात्मा का परस्पर भेद कैसे जाना जाय? उत्तर–जैसे पुरुष का लक्षण स्त्री में नहीं है और स्त्री का लक्षण पुरुष में नहीं है, इसी प्रकार सत् का लक्षण अनृत (मिथ्या) में नहीं है, और अनृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा प्रकाशलक्षणमन्धकारे नास्त्यन्धकारलक्षणं प्रकाशे नास्ति, एवं चिल्लक्षणं जडे नास्ति जडलक्षणं चिति नास्ति।

यथा चन्द्रिकालक्षणमातपे नास्त्यातपलक्षणं चन्द्रिकायां नास्ति, एवमानन्दलक्षणं दुःखे नास्ति, दुःखलक्षणमानन्दे नास्ति।

सदसद्विवेकः

सच्चिदानन्दानाम् अनृतजडदुःखानां च लक्षणानि विस्तरेण ज्ञातव्यानीति चेत्? शृणु, वदामः।

कालत्रयेऽपि केनाप्यबाध्यमानमेकरूपं सत्। कालत्रयेऽपि मिथ्याभूतमपि सत्यमिव भासमानं विचार्यमाणे बाध्यमानमसत्। अस्य दृष्टान्तः—मन्दान्धकारे वर्तमाना रज्जुः स्वारोपितसर्पमाल्यदण्डजलधारादिभिरबाध्यमाना भ्रान्तेः पूर्वकाले पश्चात्काले, भ्रान्तिकाले चैकरूपा वर्तते, अध्यस्तसर्पादि तु कालत्रयेऽपि स्वयं मिथ्याभूतमविद्यमानमपि विद्यमानमिव प्रतीयते, प्रमातुः परमार्थविचारेण बाध्यते च।

का लक्षण सत् में नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश का लक्षण अन्धकार में नहीं है, और अन्धकार का लक्षण प्रकाश में नहीं है, इसी प्रकार चित् का लक्षण जड में नहीं है, और जड का लक्षण चित् में नहीं है। जैसे चन्द्रिका का लक्षण आतप (घाम) में नहीं है और आतप का लक्षण चन्द्रिका में नहीं है, उसी प्रकार आनन्द का लक्षण दुःख में नहीं है और दुःख का लक्षण आनन्द में नहीं है।

सत्, चित्, आनन्दरूप आत्मा का तथा अनृत, जड व दुःखरूप अनात्मा का लक्षण यदि विस्तारपूर्वक जानना चाहते हो तो सुनो, हम कह रहे हैं—

जो वस्तु भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों में, किसी भी प्रमाण से बाधित न हो अर्थात् वह नहीं है ऐसा प्रमित न हो और एकरूप रहे वही "सत्" है। जो वस्तु पूर्वोक्त तीनों कालों में बाधित हो सकती हो, ऐसी मिथ्या वस्तु सत्य की तरह प्रतीत होती है और विचार द्वारा बाधित हो जाती है, वह असत् है।

इस विषय में (सत् व असत् के विषय में) यह दृष्टान्त है—जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी भ्रान्ति के कारण अपने में आरोपित—सर्प, माला, दण्ड व जलधारा-सी प्रतीत होने लगती है, परन्तु यह रज्जु भ्रान्ति से पहिले भ्रान्ति के बाद व भ्रान्ति के समय में—इन तीनों समयों में एकरूप (रस्सीरूप में ही स्थित) थी। उक्त तीनों समयों में न तो वह सर्प थी, न माला थी और न जलधारा ही थी, अपितु अपने स्वरूपभूत रस्सी रूप में ही स्थित थी। और उस रस्सी में अध्यस्त=आरोपित जो सर्प, माला, जलधारा आदि वे तीनों कालों में असत्य तथा अविद्यमान होते हुए भी (भ्रान्तिवश) सत्य से प्रतीत हो रहे थे। प्रमाता (जीव) के वास्तविक विचार से या प्रकाश की स्थिति में बाधित हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवंभूतरज्जुलक्षणं सर्पादौ नास्ति, सर्पादिलक्षणं रज्जौ च नास्ति, अतोऽन्योऽन्यं शब्देनार्थेन लक्षणेन प्रतीत्या व्यवहारेण च पञ्चभिः प्रकारैर्वैलक्षण्यं यथा अनयोरस्ति, तथा सल्लक्षणमसल्लक्षणे देहादिप्रपञ्चे नास्ति, असल्लक्षणं च सल्लक्षणे प्रत्यगात्मनि नास्ति, तस्मादनयोरन्योऽन्यं शब्देनार्थेन लक्षणेन प्रतीत्या व्यवहारेण च पञ्चभिः प्रकारैर्वैलक्षण्यमस्ति। तस्मादेवं विचार्य सतोऽनृतस्य च वैलक्षण्यं जानीहि।

चिदचिद्विवेकः

इतः परं चितो जडस्य च वैलक्षण्यमुच्यते। सूर्यादिप्रकाशमनपेक्ष्य स्वप्रकाशेनैव प्रकाशमानं स्वारोपितस्य जडस्यापि प्रकाशकम् अत एव सूर्यादिप्रकाशपदार्थं मृच्छिलाद्यप्रकाशपदार्थं च प्रकाशयति यद् वस्तु तच्चित्। जडलक्षणं कीदृशमिति चेत् ? स्वयमप्रकाशमानमन्यपदार्थस्य च प्रकाशनेऽसमर्थं यत् तज्जडम्।

अत्रोभयत्र दृष्टान्तः—यथा आदित्यः प्रकाशान्तरानपेक्षं स्वयमेव प्रकाशमानः सन् स्वप्रकाशसम्बन्धिघटपटादिपदार्थमपि प्रकाशयति, तथा चित्प्रकाशः। यथा घटादिपदार्थः स्वयमप्रकाशमानोऽन्यपदार्थमपि प्रकाशयितुमसमर्थः, तथा जडवस्तु अपीति जानीहि। यथा आदित्यस्य घटादेश्च शब्दादिपञ्चप्रकारैर्वैलक्षण्यम्, एवं चितो जडस्य च वैलक्षण्यम्।

इस प्रकार की रज्जु का लक्षण सर्पादि में नहीं है, और सर्पादि का लक्षण रज्जु में नहीं है। अतः परस्पर इन दोनों में, १) शब्द से, २) अर्थ से, ३) लक्षण से, ४) प्रतीति से, व ५) व्यवहार से, इन पाँच प्रकारों से जिस प्रकार विलक्षणता है, उसी प्रकार सत् का लक्षण, असत्-लक्षण जो देहादिप्रपञ्च है, उसमें नहीं है; और असत् का लक्षण, सत्-लक्षण जो प्रत्यगात्मा है, उसमें नहीं हैं; इसलिए इन दोनों (सत् व असत्) में परस्पर शब्द, अर्थ, लक्षण, प्रतीति, व व्यवहार, इन पाँच प्रकारों से विलक्षणता है। इस प्रकार विचार करके सत् व असत् की विलक्षणता को समझो।

इसके बाद अब चित् (चैतन्य) व जड (पदार्थ) के विलक्षणता के विषय में कहेंगे—जो पदार्थ सूर्यादि प्रकाश की अपेक्षा न करता हुआ केवल अपने प्रकाश से ही अपने में अध्यस्त प्रतीयमान जड पदार्थ का भी प्रकाशक है, अतः प्रकाशशील सूर्यादि पदार्थों को तथा प्रकाशहीन मृत् शिलादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, वह चित् पदार्थ या चैतन्य है। जड पदार्थ का लक्षण क्या है ? यदि यह पूछो तो सुनो—जो स्वयं प्रकाशहीन हो और अन्य पदार्थ को भी प्रकाशित करने में असमर्थ हो वह जड पदार्थ है। यहाँ प्रकाशशब्द ज्ञानार्थक है।

इन दोनों (चित् व जड के विषय) में दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार आदित्य किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखता हुआ, स्वयं प्रकाशित होता हुआ, अपने प्रकाश से सम्बद्ध घट पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही चित्प्रकाश भी प्रकाशान्तर-निरपेक्ष रहकर पदार्थान्तरों को प्रकाशित करते हुए स्वयं प्रकाशित होता है। जैसे घटादि पदार्थ स्वयं प्रकाशहीन होता हुआ अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार यह जड वस्तु (प्रपञ्च) भी स्वयं प्रकाशहीन होता हुआ अन्य पदार्थ का भी प्रकाशक नहीं होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उक्तविवेकफलम्

एवं ज्ञानस्य किं फलमिति चेत् ? लोके प्रकाश्यपदार्थनिष्ठविकाराः प्रकाशवस्तु कालत्रयेऽपि न स्पृशन्तीति ज्ञानफलम्। तदपि कथमिति चेत् ? आदित्येन प्रकाश्यमानघटादिनिष्ठच्छिद्रेण हानिरच्छिद्रेण लाभः, स्पर्शेन त्याज्यत्वमस्पर्शेन ग्राह्यत्वम्, लक्षणेन हर्षोऽलक्षणेन विषादः, समीचीनतयाऽतिशयो असमीचीनतया अनतिशयः, इत्यादिविकारगुणाः प्रकाशकमादित्यं न स्पृशन्ति।

एवमात्मना प्रकाश्यमानदेहेन्द्रियादिनिष्ठनामरूपजातिवर्णाश्रमप्रवृत्तिनिवृत्तिविधिनिषेधषड्भावविकारषडूर्मिषट्कोशान्ध्यमान्धपटुत्वादिसकलगुणविकाराश्च प्रकाशकमात्मानं कालत्रयेऽपि किञ्चिदपि स्प्रष्टुं न शक्नुवन्तीति ज्ञानं सुकरमिति जानीहि। एवं चिज्जडयोर्वैलक्षण्यम्।

है। जैसे आदित्य व घटादि में शब्दादि पाँच प्रकारों से विलक्षणता है, वैसे ही चित् व जड में भी शब्दादि पाँच प्रकारों से विलक्षणता है।

प्रश्न— चित् प्रकाशक है, और घटादि जड पदार्थ प्रकाश्य हैं; इत्यादि ज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर— पूर्वोक्त प्रकाश्य-प्रकाशक ज्ञान का यही फल है कि प्रकाश्य घटादि-पदार्थनिष्ठ जो विकार हैं वे प्रकाशक वस्तु को किसी काल में भी स्पर्श नहीं करते। यह कैसे ? सुनो—सूर्य के द्वारा प्रकाशित जो घटादि पदार्थ हैं; यदि वे सच्छिद्र होते हैं तो हानि होती है यदि छिद्ररहित होते हैं तो लाभ है, प्रतिकूल स्पर्श से त्याज्य हैं और अनुकूल स्पर्श से ग्राह्य हैं, सुन्दर आकार से हर्ष होगा और रद्दी आकार से दुःख होगा, घटादि सभी तरह से ठीक होने से उत्कर्ष होगा और असमीचीन होने से अपकर्ष होगा; ये सब घटादिनिष्ठ जो विकार हैं वे इनके प्रकाशक आदित्य को स्पर्श नहीं करते हैं अर्थात् उक्त घटादिनिष्ठ गुणों अथवा विकारों का उनके प्रकाशक आदित्य पर किसी प्रकार का भी अच्छा या बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसी प्रकार आत्मा के द्वारा प्रकाश्य देह व इन्द्रियादि में या इनके संघात शरीर में रहने वाले नाम, रूप, जाति, वर्ण, आश्रम, प्रवृत्ति, निवृत्ति, विधि-निषेध, जननादि छह भावविकार, भूख-प्यास आदि छह ऊर्मियाँ, षट् कोश, मनुष्य शरीर में रहने वाले आन्ध्य मान्द्य पटुत्वादि जितने भी गुण या विकार हैं, वे उनके प्रकाशक आत्मा को किसी भी काल में लेश मात्र भी स्पर्श नहीं कर सकते हैं। यही सुगम ज्ञान उक्त चित् व जड के विवेक से होता है ऐसा जानो। इस प्रकार प्रकाशक और प्रकाश्य भाव के कारण तथा उक्त भावादि विकारों के असम्बन्ध व सम्बन्ध के कारण चित् और जड वस्तु में सुतरां विलक्षणता सिद्ध है।

इसके बाद अब आनन्द व दुःख की विलक्षणता बतलाते हैं। आनन्द का क्या लक्षण है ? निरुपाधिक व निरतिशय जो सुख है, वही आनन्द है। अन्य सांसारिक जितने भी सुख हैं वे सोपाधिक हैं, किसी न किसी निमित्त के सापेक्ष हैं; और सावधिक व परिमित हैं। परन्तु यह आत्मरूप आनन्द किसी उपाधि से अवच्छिन्न नहीं है, अतः विशुद्ध है; यह किसी सीमा से भी बद्ध नहीं है, और न इससे बढ़ कर कोई सुख ही है, अतः निरतिशय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्ददुःखविवेकः

इतः परमानन्दस्य दुःखस्य च वैलक्षण्यमुच्यते। आनन्दलक्षणं किमिति चेत् ? निरुपाधिकं निरतिशयं यत्सुखं स आनन्दः।

दुःखलक्षणं किमिति चेत्? प्रतिकूलतया वेदनीयत्वम्, इतरेच्छानधीनेच्छाविषय-भिन्नत्वे सति द्वेषविषयत्वं वा। तत्तु त्रिविधम्, आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्रेन्द्रियैर्देह एव वातपित्तश्लेष्मवैपरीत्येन जायमानं व्याध्यादिदुःखमाध्यात्मिकम्। भूतैश्च भौतिकैश्च सर्पव्याघ्रादिभिर्जायमानं दुःखमाधिभौतिकम्। देवैर्जायमानमतिवृष्ट्य-नावृष्टिविद्युत्पातादिदुःखमाधिदैविकमिति।

आनन्दस्य दुःखस्य च को दृष्टान्त इति चेत् ? उच्यते। यथा अमृतं स्वयं सुखरूपं सत् स्वमनुभवतो जीवानपि सुखयति, कालकूटविषं स्वयं तापकं सत् स्वमनुभवतो जीवानपि पीडयति एवंभूतयोरमृतविषयोरन्योऽन्यं शब्दादि पञ्चप्रकारैर्यथा वैलक्षण्यम्, एवमानन्दलक्षणं तापत्रयात्मके दुःखे नास्ति, दुःखलक्षणमप्यात्मस्वरूप आनन्दे नास्ति। तस्माच्छब्दादिभिः पञ्चप्रकारैरनयोर्वैलक्षण्यं जानीहि।

अब दुःख का लक्षण सुनो— (अपनी इच्छा के) प्रतिकूल वेदनीयता जिसमें रहे, वही दुःख है, अथवा दूसरे की इच्छा के अधीन न होने वाली इच्छा के विषयसे भिन्न होते हुए द्वेषविषयता जिसमें रहे वही दुःख है ('दूसरे की इच्छा' इत्यादि सुखकी व्यावृत्तिकेलिये कहा। सुख स्वयं सुखकेलिये अभीष्ट होता है। साधन, उपकरण आदि स्वयं अपने लिये नहीं वरन् इसलिये इच्छित बनते हैं कि वे सुख प्रदान करते हैं। अतः इतर=सुख, उसकी इच्छा के अधीन इच्छा के विषय वे साधन आदि हो जाते हैं अतः द्वेष्य न होने से वे दुःख नहीं कहे जाते।)

यह दुःख तीन प्रकार का होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन्द्रियों सहित देह में, वात पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न ज्वरातिसारादि व्याधिरूप जो होते हैं, उन्हें आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। पृथिव्यादि भूतों के द्वारा, या भौतिक-सर्पव्याघ्रादि प्राणियों से उत्पन्न जो दुःख है, वह आधिभौतिक दुःख है। देवता के द्वारा या अन्तरिक्ष से उत्पन्न अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युत्पातादि से जो दुःख होता है वह आधिदैविक दुःख कहलाता है।

प्रश्न— आनन्द व दुःख का कोई दृष्टान्त दीजिए, अर्थात् अमुक आनन्द है और अमुक दुःख है इस विषय में कोई उदाहरण दीजिए ? उत्तर—जैसे अमृत स्वयं सुखरूप होता हुआ भी उसके अनुभव करने वाले जो जीव हैं उन्हें भी सुख देता है; इसके विपरीत कालकूट विष स्वयं तापक होता हुआ उसके अनुभव करने वाले जीवों को भी पीडित करता है। इस प्रकार के अमृत और विष में परस्पर जैसे शब्दादि पाँच प्रकारों से भी विलक्षणता है, इसी प्रकार आनन्द का लक्षण आध्यात्मिकादि तापत्रयात्मक दुःख में नहीं है, और तापत्रयात्मक दुःख का लक्षण आत्मस्वरूपात्मक आनन्द में नहीं है अर्थात् आनन्द व दुःख की परस्पर विलक्षणता प्रसिद्ध तथा सर्वानुभूत है। इसलिए शब्द, अर्थ, लक्षणादि पाँच प्रकारों से आनन्द व दुःख की विलक्षणता समझो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निष्कर्षः

अत्र निष्कृष्टार्थः सिद्धान्तः क इति चेत्? रज्जुवत् सद्रूप आदित्यवच्चिद्-रूपोऽमृतवदानन्दरूपोऽहंशब्दार्थ आत्मा सर्पवदनृताद् घटवज्जडाद् विषवद् दुःखाद् देहेन्द्रियादिप्रपञ्चाद् विलक्षण इति यो गुरुमुखेणात्मानं जानाति स एवासङ्गः, स एव कृतकृत्यः, स एव मुक्त इति सकलवेदान्तनिश्चय इति जानीहि।

।। *इति अष्टमवर्णकम्*।।

प्रश्न— इसमें सबका सारभूत निष्कृष्ट सिद्धान्त क्या है, इसे जरा समझा दीजिए ?

उत्तर— यह "आत्मा" रज्जु की तरह तीनों कालों में सद् रूप है, आदित्य की तरह प्रकाशस्वरूप चित् है और अमृत की तरह आनन्दरूप है। अतः यह सत् चित् आनन्द "अहम्" शब्द का अर्थ है। अर्थात् यह आत्मा त्रिकालाबाधित प्रकाशरूप व आनन्दस्वरूप है; इसलिए इसे "सच्चिदानन्द" कहते हैं।

सर्प की तरह मिथ्याभूत, घट की तरह जड (प्रकाशरहित), विष की तरह दुःख के हेतुभूत इस देह, इन्द्रिय आदि प्रपञ्च से यह आत्मा विलक्षण है।

इस तरह से जो व्यक्ति गुरु जी के मुखारविन्द से आत्मा के विषय में जानता है, वस्तुतः वही असङ्ग है, अर्थात् इस प्रपञ्च की तरफ से आसक्तिरहित है, वही कृतकृत्य है, अपने उद्देश्यभूत पुरुषार्थ के निष्पादन में सफल है, वही मुक्त है, ऐसा समस्त वेदान्त सिद्धान्त का निर्णय है।

।। *इति अष्टमवर्णक*।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

नवमवर्णकम्

आत्मा शरीरत्रयविलक्षणः, अवस्थात्रयसाक्षी, पञ्चकोशव्यतिरिक्तः सच्चिदानन्दलक्षणः, इत्यात्मन उक्तेषु चतुर्विधलक्षणेषु शरीरत्रयविलक्षणत्वमेवमष्टमवर्णक उक्तम्। इतः परमवस्थात्रयसाक्षित्वमस्मिन् नवमे वर्णक उच्यते।

सात्त्विकमनउपयोगः

मनः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम्, तथापि सत्त्वगुणप्रधानमेव मनः, सात्त्विकेनैव मनसा आत्मा ज्ञातव्यः, न च राजसेन नापि तामसेन। तत्र सत्त्वगुणः सूक्ष्मः, रजोगुणश्चञ्चलः, तमोगुणः स्थूलः। तस्माद् धूमप्रवेशयोग्ये रन्ध्रे बृहत्स्तम्भो यथा न प्रविशति, वायुना चलति दीपप्रकाशे सूक्ष्मवर्णो निर्णेतुं यथा न शक्यते, तथैवात्मनि ज्ञातव्ये सति सूक्ष्ममनसैव सात्त्विकेन ज्ञातव्यः, अन्यथा स्थूलमनसा चञ्चलमनसा च सूक्ष्मस्यात्मनः स्वरूपं किञ्चिदपि न प्रतिभाति, तस्मात् सावधानः शृणु।।

अवस्थात्रयम्

अवस्थात्रयं कथमिति चेत्? शृणु—जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्त्यवस्था चेत्यवस्थात्रयम्। तत्र सकलेन्द्रियैर्बाह्यार्थोपलम्भो जाग्रदवस्था। जाग्रद्वासनया अन्तःकरणस्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण परिणामः स्वप्नावस्था। स्थूलसूक्ष्मजगतः सर्वस्यापि कारणेऽज्ञाने लयानन्तरमज्ञानस्य केवलसाक्षिवेद्यस्यावस्थानं सुषुप्तिः। एवमवस्थात्रयम्।।

कारण, सूक्ष्म व स्थूल इन तीनों प्रकारों के शरीरों से आत्मा विलक्षण है। जाग्रत्, स्वप्न, व सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। अन्नमयादि पञ्चकोशों से अतिरिक्त है। सत्, चित् व आनन्द स्वरूप है। उपर्युक्त इन चार प्रकार के आत्मा के लक्षणों में से अष्टम वर्णक में केवल कारण, सूक्ष्म व स्थूल शरीरों से ही आत्मा की विलक्षणता सिद्ध की है; इसके बाद अब इस नवमवर्णक में आत्मा जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है ऐसा बतलाया जायेगा।

यद्यपि मन त्रिगुणात्मक है, फिर भी वह सत्त्वप्रधान ही होता है। सात्त्विक मन से ही आत्मा का ज्ञान हो सकता है, न कि रजोगुणप्रधान या तमोगुणप्रधान मन से, क्योंकि सत्त्वगुण सूक्ष्म प्रकाशात्मक है, जबकि रजोगुण चञ्चल व तमोगुण स्थूल है। जैसे धूमप्रवेशयोग्य छिद्र में बहुत बड़े स्तम्भ का प्रवेश नहीं होता है, और हवा से चञ्चल दीपप्रकाश में उसकी लौ के सूक्ष्म वर्ण का निश्चय नहीं होता है (या बारीक लेख बाँचा नहीं जाता), इसी प्रकार ज्ञान भी सूक्ष्म व सात्त्विक मन से ही हो सकता है, इसके विपरीत स्थूल व चञ्चल मन से तो सूक्ष्म आत्मा का कुछ भी स्वरूप मालूम नहीं पड़ता है। अतः इस बात को सावधानी से सुनो।

प्रश्न—ये तीन अवस्थायें कौन सी हैं? उत्तर— जाग्रद् अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था, ये तीन अवस्थायें हैं। जब प्रमाता (जीव) अपनी समस्त इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों को प्राप्त करता है, तब उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। जब जाग्रत् अवस्था की वासना से अन्तःकरण का भोक्ता व भोग्यादिरूप परिणाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवस्थासाक्षी

एतदवस्थात्रयसाक्षित्वमात्मनः कथमिति चेत्? आत्मनि साक्षिलक्षणस्य विद्यमानत्वादिति ब्रूमः। साक्षिलक्षणं किमिति चेत्? लोक एकस्य पुरुषस्यान्यदीयावस्थाया, अवस्थाव्यापाराणाम्, अन्यस्य, तस्य चावस्थावतो विकारराहित्येन साक्षाद् द्रष्टृत्वं साक्षित्वम्[1]। यथा तूष्णीमेव स्थितस्य संन्यासिनस्तत्रागतपुरुषतदवस्थांतद्व्यापाराणां निर्विकारतया साक्षाद् द्रष्टृत्वं साक्षित्वम्। आत्मापि जीवानामवस्थात्रयमवस्थात्रय-व्यापारानवस्थावतो जीवांश्च पश्यन्नपि निर्विकारतया अवतिष्ठते।

इदमेव साक्षित्वं दृष्टान्तपूर्वकं पुनरपि कथ्यते, तच्छृणु। एकमहानगरवज्जाग्रदवस्था, तत्र प्राकारवत् स्वप्नावस्था, तदन्तः प्रासादवत् सुषुप्त्यवस्था। तत्त्रयाभिमानिप्रभुवद-

होता है उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वप्नावस्था में कोई बाह्य विषय नहीं रहते हैं अपितु जाग्रद्-अवस्था के संस्कार अन्तःकरण में पड़े रहते हैं; उन्हीं संस्कारों से अन्तःकरण भोक्ता व भोग्यादि रूप में परिणत होता है। जब स्थूल व सूक्ष्म सारा संसार अपने कारणीभूत अज्ञान में लीन हो जाता है, अवशिष्ट वह अज्ञान जब केवल साक्षिवेद्य रहता है, उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। ये ही तीन अवस्थायें हैं।

प्रश्न— आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी कैसे बनता है अर्थात् आत्मा में इन तीनों अवस्थाओं की साक्षिता किस प्रकार है ? उत्तर— आत्मा में साक्षी के लक्षण विद्यमान रहते हैं, इसलिए उस समय आत्मा को साक्षी कहा जाता है। प्रश्न— साक्षी का क्या लक्षण है ?

उत्तर— लोक में जब एक पुरुष किसी दूसरे पुरुष का साक्षी बनता है, तब वह जिसका साक्षी बनेगा उसकी अवस्था (दशा) व उसके व्यापार तथा उसके विकार से रहित होगा। इस तरह साक्षात् उसका द्रष्टा होने के कारण उसे साक्षी कहते हैं। जैसे चुपचाप एकाग्रचित्त एक जगह बैठे हुए संन्यासी के पास आये हुए किसी व्यक्ति की तात्कालिक अवस्था का, तथा उस समय की उसकी चेष्टाओं का, निर्विकार रूप से साक्षात् दर्शन करने से वह संन्यासी साक्षी कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी प्राणियों की तीनों अवस्थाओं को तथा उन अवस्थाओं में होने वाले व्यापारों=तत्तत् क्रियाओं को, तथा तत्तत् अवस्थाविशिष्ट जीवों को देखते हुए भी स्वयं निर्विकार रूप से स्थित रहता है, किसी भी चेष्टा का आत्मा पर कोई असर नहीं पड़ता है। इस प्रकार वह आत्मा निर्विकार रूप से उन जीवों के तत्तत् कार्यों का साक्षात् द्रष्टा होने से साक्षी कहा जाता है।

इसी साक्षिता के विषय में उदाहरणपूर्वक बतलाते हैं, सुनो। जैसे किसी एक महानगर को जाग्रत् अवस्था मान लो, उसके परकोटे को स्वप्नावस्था मान लो, और उस परकोटे के अन्दर जो प्रासाद=राजभवन है, उसे सुषुप्ति अवस्था मान लो। इन तीनों महानगर, परकोटा और राजप्रासाद का, अपने में अभिमान करने वाला

---

१. साक्ष्यत्वेनाऽभिमतादन्यस्य एकस्य पुरुषस्य यद् विकारराहित्येन साक्षाद् द्रष्टृत्वं तत् साक्षित्वम्। दृष्टिविषयानाह—अन्यदीयाऽवस्थायाः, तद्व्यापाराणां, तस्य चावस्थावत इति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वस्थात्रयाभिमानी जीवः।

यथा स प्रभुः प्राकाराद् बहिर्वर्तमानः प्रियाप्रिये अनुभूय, हर्षं विषादं च प्राप्य, तत्प्राकारस्यान्तश्च प्रियाप्रिये अनुभूय, हर्षं विषादं च प्राप्य, ततः प्रासाद आगत्य सर्वान् व्यापारान् विहाय तूष्णीं स्त्रिया सह सुखमनुभवन्नास्ते, एवं जीवात्मापि स्थूलशरीराभिमानी जाग्रदवस्थायां त्रिविधकरणव्यापारयुक्तः सन् विश्वो भूत्वा, सूक्ष्मशरीराभिमानी स्वप्नावस्थायां मनोमयत्रिविधकरणगुणदोषव्यापारयुक्तः संस्तैजसो भूत्वा, पश्चात् कारणशरीराभिमानी सुषुप्त्यवस्थायां त्रिविधकरणगणमुपसंहृत्य प्राज्ञो भूत्वा नित्यानन्दमनुभवन्नास्ते।

अर्थात् उक्त तीनों में अहन्ता रखने वाला 'यह सब मेरा है' इस प्रकार के ममत्वाभिमान वाला, उस राजभवन के अन्दर जैसे राजा है, इसी प्रकार इन जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं का अभिमान करने वाला, उन अवस्थाओं के अन्दर रहने वाला और उसका साक्षी जीव है।

जैसे वह (महानगराभिमानी) प्रभु जब अपने परकोटे से बाहर (महानगर में) जाता है, तब वहाँ शुभाशुभ व्यवहार के कारण हर्ष व विषाद को प्राप्त कर, फिर अपने परकोटे के अन्दर चला आता है, वहाँ भी कुछ शुभाशुभ व्यवहार का अनुभव करके हर्ष व विषाद को प्राप्त करता है। इसके बाद जब वह अपने राजमहल में आकर शुभाशुभ समस्त व्यवहारों से मुक्त होकर अपनी रानी के साथ रहता है, तब उस समय वह परम सुख का अनुभव करता है। (यहाँ क्रमशः प्राकार से बाहर की अवस्था जाग्रत् अवस्था है, प्राकार के अन्दर की अवस्था स्वप्नावस्था है, और रानी के साथ वाली अवस्था सुषुप्ति अवस्था है।)

इसी प्रकार यह जीवात्मा भी जाग्रद् अवस्था में (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व अन्तःकरण) तीनों प्रकार के करणों द्वारा व्यापार करता हुआ व्यष्टि-स्थूलशरीर का अभिमानी विश्व होकर तथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के त्रिविध परिणामों का अनुभव करता हुआ व्यष्टि सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस होकर, तदनन्तर सुषुप्ति अवस्था में त्रिविध करणों को अज्ञान में लीन करके, व्यष्टि कारणशरीराभिमानी प्राज्ञ होकर, नित्य आनन्द का अनुभव करता है।[1]

इस प्रकार यह आत्मा कूटस्थ व आकाश की तरह निःसङ्ग होता हुआ भी प्रत्यक् चैतन्य साक्षिरूप से विद्यमान रहता है, इस बात को श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के द्वारा जानना चाहिए।

इसमें "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" यह श्रुति प्रमाण है, कि यह कूटस्थ प्रत्यक् चैतन्य ही इन अवस्थाओं का साक्षी है, यह चैतन्य है, असङ्ग है तथा निर्गुण है। दृष्टान्तरूप में प्रदर्शित महानगर का आकाश आदि युक्ति है—आकाश भी उक्त नगर के विकारों से निर्विकार, कूटस्थ तथा निःसङ्ग है।

---

१. "विश्व" यह स्थूल शरीर की व्यष्टि है, इसमें त्रिविध करण तथा अन्नमय कोष रहता है। "तैजस" यह सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि है, यह विज्ञान (बुद्धि), मन व प्राणमय कोषों से आच्छादित रहता है। "प्राज्ञ" यह माया की मलिन उपाधि से युक्त व्यष्टि-अज्ञान का अवभासक, अहंकार का कारण, तथा आनन्दमय कोष से आच्छादित रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमात्मा कूटस्थ आकाशवदसङ्ग एव सन्नवस्थात्रयेऽपि प्रत्यक्चैतन्यसाक्षिरूपेण वर्तत इति श्रुतियुक्त्यनुभवैर्ज्ञातव्यम्। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतिः। पत्तनाकाशदृष्टान्तो युक्तिः।

अनुभवः क इति चेत्? पूर्वपूर्वदिनावस्थात्रयमस्माभिः प्रतिदिनं स्मर्यते, स्मरणस्यानुभवपूर्वकत्वनियमादस्माभिरवस्थात्रयमनुभूयत एवेति सिद्धम्।

एवमात्मना आगतानामागामिनां चावस्थानां क्रमेणानुभूयमानत्वादनुभवरूपस्यात्मनो नित्यत्वमपि सिद्धम्। एवमवस्थात्रयसाक्षित्वम्।।

एकः साक्षी

ननु लोके अवस्थावत एव पुरुषस्य स्वावस्थासाक्षित्वं दृश्यते। भवद्भिः कथमन्यस्यान्यावस्थासाक्षित्वमुच्यत इति चेत्? शृणु। अयमवस्थावानन्तःकरणे प्रतिफलितश्चेतनाभासः, स कल्पितो मिथ्याभूतः, स एव जीव इत्युच्यते। तस्य सुषुप्तावन्तःकरणलयेन विनष्टत्वात्स कथं सुषुप्तिसाक्षी स्यात्? तिसृणामप्यवस्थानामेकसाक्षित्वनियमाद् बिम्बभूतस्यात्मन एव सुषुप्तिसाक्षित्वं मन्तव्यम्। तर्हि स एव लाघवेन जाग्रत्स्वप्नयोरपि साक्षीति वक्तुं योग्यः। जीवस्य विकारित्वादपि साक्षित्वं न युज्यते।

प्रश्न— अनुभव के विषय में कौन सा दृष्टान्त है ? उत्तर— हम लोग अपने पूर्व पूर्व दिनों की बीती हुई तीनों अवस्थाओं की घटनाओं का प्रतिदिन स्मरण करते हैं। यह नियम है कि स्मरण हमेशा अनुभवपूर्वक होता है। तात्पर्य यह है कि हम लोग तीनों अवस्थाओं का अनुभव करते हैं, यह बात स्मृति से सिद्ध है।

इसी प्रकार आत्मा के द्वारा बीती हुई और आगे आने वाली न मालूम कितनी अवस्थाओं का क्रमशः अनुभव किया जाता है। इससे अनुभवरूप आत्मा की नित्यता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि तत्तत् अवस्थाओं का अनुभवकर्ता तथा उनका एकमात्र साक्षी वह आत्मा ही है।

प्रश्न—संसार में तो एक अवस्था वाला पुरुष ही, दूसरी अवस्था वाले पुरुष का साक्षी माना जाता है। फिर आप अवस्थात्रयरहित आत्मा को उन अवस्थाओं का साक्षी कैसे कह रहे हैं ? अर्थात् तत्तत् अवस्था वाला चिदाभास ही साक्षी भी होना चाहिए।

उत्तर—यह जो अन्तःकरण में प्रतिफलित चेतन है वह चिदाभास है; वह तो प्रतिबिम्बरूप होने से कल्पित तथा मिथ्याभूत है। व्यवहार में इसी को जीव कहा जाता है। वह तो सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण में लीन होकर नष्टप्राय है। फिर वह किस प्रकार सुषुप्ति अवस्था का साक्षी हो सकता है ? चूँकि तीनों अवस्थाओं का साक्षी यह बिम्बभूत केवल आत्मा ही है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था का भी साक्षी इसे ही मानना चाहिए। अतः सरलतया इसे ही जाग्रत् व स्वप्न अवस्था का भी साक्षी कहा जाता है। जीव (चिदाभास) तो विकारी होने से किसी भी अवस्था का साक्षी नहीं हो सकता है, आत्मा स्वयं विकाररहित है, इसलिए वह तीनों अवस्थाओं का साक्षी हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मनस्तु निर्विकारत्वात् साक्षित्वं युज्यते। जीवः कथं विकारीति चेत् ? तस्य "अहं सुखी", अहं दुःखी" इत्यादिरूपेणान्तःकरणावृत्तितादात्म्येन विकारित्वदर्शनाद् विकार्येव।।

जीवव्यतिरिक्ते साक्षिणि मानादि

तर्हि जीवव्यतिरेकेणान्यः को वा आत्मा यः साक्षीत्युच्यते? तस्य किं लक्षणम्? तस्यास्तित्वे किं प्रमाणम्? तस्य ज्ञाने कः उपायः? इति चेत्, शृणु।

निर्विकारः कूटस्थ एव साक्षी। स एवात्मा, स आकाशवत् सर्वव्यापकः सच्चिदानन्दरूपः, स एवान्तःकरणेषु जीवरूपेण प्रविष्टः सन् संसरति।

एवंरूपपारमार्थिकात्मनि वेदान्ताः सर्वेऽपि प्रमाणम्। अवस्थावान् यो जीवश्चिदाभासः स इदानीं जागर्ति, इदानीं स्वप्नं पश्यति, इदानीमज्ञानमोहितः सन् सुषुप्तौ वर्तते, इदानीं सुखी, इदानीं दुःखी, इदानीमुदासीन आस्ते, इत्यस्य जीवस्यावस्थाभेदं सर्वमपि चिद्रूपो यो जानाति स एवात्मा अवस्थात्रयसाक्षीति जानीहि।

प्रश्न– जीव विकारी कैसे है ? उत्तर– यह जीव (चिदाभास) अन्तःकरण की वृत्तियों का परिणाम जो सुखाकार या दुःखाकार है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, अतः स्वयं को सुखी व दुःखी समझ लेता है। अतएव यह सुख दुःख विकार वाला होने से विकारी कहा जाता है।

प्रश्न—तब जीव से अतिरिक्त यह आत्मा नाम की कौन-सी चीज़ है जिसे साक्षी कहा जाता है ? उसी साक्षी का क्या लक्षण है ? उसकी सत्ता में कौन-सा प्रमाण है ? उसके ज्ञान का कौन-सा उपाय है?

उत्तर– विकाररहित कूटस्थ चैतन्य ही साक्षी है, उसी को आत्मा कहते हैं, वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है और सत् चित् व आनन्द रूपवाला है। वह चैतन्य जब अन्तःकरणों में जीवरूप से प्रतिफलित होता है तब इस संसार यात्रा में संसरण करता है।

समस्त वेदान्त शास्त्र ही इस प्रकार के पारमार्थिक आत्मा में प्रमाण हैं। यह स्वप्नादि अवस्था वाला जो चिदाभास=जीव है, वह कभी जगता है, कभी स्वप्न देखता है, कभी अज्ञान में मग्न होकर सुषुप्ति का अनुभव करता है। यह जीव (अन्तःकरण की तत्तत् वृत्तियों के तादात्म्य से) कभी सुख का अनुभव करता है, तो कभी दुःख का, कभी सुख दुःख दोनों से रहित होकर उदासीनता का अनुभव करता है। इस जीव की इन नाना प्रकार की अवस्थाओं को, जो कूटस्थ चैतन्य जानता है वही आत्मा है, वही इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है ऐसा जानो।

प्रश्न– उस आत्मा का स्वतः अपना निर्विकारत्व कैसे जाना जा सकता है ? अर्थात् यह हम कैसे जानें कि आत्मा निर्विकार है ? उत्तर—जैसे अपने मुख का सौन्दर्य स्वतः मालूम न होने पर भी दर्पण में प्रतिबिम्बित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्यात्मनः स्वस्य निर्विकारत्वं कथं ज्ञायत इति चेत् ? स्वमुखसौन्दर्यं स्वेन ज्ञातुमशक्यमपि दर्पणप्रतिबिम्बितमुखेन यथा ज्ञातुं शक्यते, तथा आत्मनो निर्विकारत्वमप्यन्तः-करणप्रतिबिम्बेन ज्ञातुं शक्यते। दर्पणं दर्पणप्रतिबिम्बितमुखं च बिम्बभूतमुखं यथा न जानाति, तथा अन्तःकरणमन्तःकरणप्रतिबिम्बितजीवश्च बिम्बभूतमात्मानं न जानाति।

स्वप्रकाशः

तर्ह्ययमात्मा केन ज्ञायते? न केनापि ज्ञायते, ज्ञायमानस्य सर्वस्य दृश्यत्वादात्मनो दृगूरूपत्वात्। स्वयंप्रकाश एवात्मा नान्येन केनापि ज्ञायते। तत्कथमिति चेत् ? दृश्यो घटो द्रष्टारं न हि जानाति, स द्रष्टा च स्वात्मानं स्वयमेव जानाति स्वयं प्रकाशत्वात्। यथा मृत इति प्रतीयमानो दशमः पुरुषः पश्चात्तं स्वात्मानं स्वयमेव जानाति, न तु नवस्वन्यतमेन ज्ञायते, तथैवात्मा अनुभवस्वरूप एव न त्वन्येनानुभाव्य इतीममर्थं त्वमेव प्रमाणपुरःसरं जानीहि।

मुख के द्वारा जाना जा सकता है वैसे ही आत्मा की निर्विकारता भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य द्वारा ही जानी जा सकती है। जैसे दर्पण व दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख ये दोनों बिम्बभूत मुख को नहीं जानते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण और अन्तःकरण में प्रतिफलित जीव (चिदाभास) भी बिम्बभूत आत्मा को नहीं जानते।

प्रश्न— जब अन्तःकरण व अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य=चिदाभास भी इसे नहीं जानते, तो फिर यह किसके द्वारा जाना जाता है ? उत्तर— इनमें से किसीके द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है ! ज्ञायमान संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे सब दृश्य हैं, दृश्य कोटि के अन्तर्गत आते हैं, आत्मा तो दृगूरूप है, स्वयंद्रष्टा है, न कि दृश्य। वह तो स्वयं प्रकाश है, किसी अन्य वस्तु से प्रकाशित होने वाला नहीं है। यह कैसे? जैसे दृश्य घट, द्रष्टा को नहीं जानता है, परन्तु वह द्रष्टा तो अपने को स्वयं जानता ही है। स्वयं अप्रकाशरूप होने से, दृश्य घट को प्रकाशित करने के लिए जैसे अन्य दीपप्रकाशादि व द्रष्टा की आवश्यकता है, इस तरह द्रष्टा को प्रकाशित करने के लिए व जानने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश है।

किसी समय दस आदमी एक साथ होकर यात्रा कर रहे थे। रास्ते में एक छोटी-सी नदी आ गई। जब सब उसे पार कर लिए तब सभी आ गये या नहीं—यह जानने के लिए एक आदमी उन्हें गिनने लगा। वह बार-बार नौ आदमियों की गिनती करता जाता था और स्वयं अपने को नहीं गिनता था ! तो बड़े दुःख के साथ कहता था कि 'हममें से एक दसवाँ आदमी तो नदी में डूबकर मर गया।' पीछे जब लोगों ने उसे समझाया कि 'दसवाँ तो तुम ही हो।' तब जिसे वह मृत समझ रहा था पश्चात् स्वयं उसे अपने को ही समझा, न कि नौ में से किसी ने वैसा समझा। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं अनुभवस्वरूप है, न कि किसी दूसरे के द्वारा अनुभव करने योग्य है, इस बात को तुम स्वयं प्रमाण के द्वारा समझो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रमाणचर्चा

तर्हि प्रमाणं किमिति चेत् ? शृणु। प्रत्यक्षमिति, अनुमानमिति, उपमानमिति, शब्द इति च चत्वारि प्रमाणानि। पुनश्चार्थापत्तिः, सम्भवः, ऐतिह्यम्, अनुपलब्धिरिति च चत्वारि प्रमाणानि सन्ति। पश्चादुक्तानां चतुर्णां पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वेवान्तर्भाव इति सिद्धान्तः। वेदान्तिनश्च केचित् षट् प्रमाणान्युदाहरन्ति।

एतेषां लक्षणादिकमतिविस्तृतम्। अस्माकं यावदावश्यकं तावन्मात्रमुच्यते। अक्षमिन्द्रियम्। इन्द्रियेण जन्यं प्रमाणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। धूमादिलिङ्गेन जायमानमनुमानम्। सादृश्येन जायमानमुपमानम्। आप्तवाक्यं शब्दः।

आत्मन इन्द्रियागोचरत्वात्तत्र न प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रवर्तते। निरंशत्वात्तत्रात्मनि नानुमानं प्रवर्तते। अद्वितीयत्वान्नोपमानम्। तस्मादात्मनि शब्द एव प्रमाणम्। आप्तवाक्यं शब्दः, आप्तश्च यथार्थवक्ता। अत ईश्वरवाक्यं श्रुतिरेव शब्दः। तस्माच्छ्रुतिरेवात्मनि प्रमाणम्।

प्रश्न—प्रमाण क्या होता है ?

उत्तर[1]— सुनो : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, व शब्द, ये चार[2] प्रमाण होते हैं। पुनः अर्थापत्ति, ऐतिह्य, सम्भव, अनुपलब्धि, ये चार और भी प्रमाण हैं। पीछे कहे हुए ये अर्थापत्ति आदि चार प्रमाण पूर्वोक्त उन चार प्रमाणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, ऐसा हमारा मत है, परन्तु कुछ वेदान्ती लोग, मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति व अनुपलब्धि सहित छह प्रमाणों को मानते हैं।

पूर्वोक्त इन प्रमाणों के लक्षण उदाहरण आदि अतिविस्तृत हैं, इसलिए विस्तारपूर्वक यहाँ इनका वर्णन नहीं हो सकता है, हमें जितना आवश्यक है, उतना ही विवेचन किया जायेगा।

अक्ष का अर्थ इन्द्रिय है। ये पाँच हैं। चक्षु, श्रोत्र, रसना, त्वक् व घ्राण। इनके साथ विषय का जो सन्निकर्ष है, उससे उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और धूमादि हेतु के द्वारा, दूरस्थ पर्वतादि में अग्नि आदि का जो ज्ञान है वह अनुमान या अनुमान प्रमाण कहा जाता है। किसी सदृश वस्तु

---

१. वेदान्त सिद्धान्त में 'तत्त्वावेदक प्रमाण' केवल वे वेदवाक्य हैं जो परमार्थ वस्तु के बोधक हैं। व्यावहारिक सत्य के ज्ञापक को 'अतत्त्वावेदक प्रमाण' मानते हैं। प्रमाण की परिभाषा है—जिसके विषय का बाध न हो वह ज्ञान प्रमा होता है और उसका असाधारण कारण प्रमाण होता है। स्मृति को प्रमा न मानें तो—अबाधित-विषयक वही ज्ञान प्रमा है जिसका विषय उस ज्ञान से पूर्व अज्ञात है।

२. यद्यपि ग्रंथकार ने चार को प्रधान कहा है तथापि वेदान्त के माननीय आचार्य छह प्रमाण मानने के पक्षधर हैं। दृष्टार्थापत्ति का किसी तरह अनुमान में अन्तर्भाव संभव होने पर भी श्रौतार्थापत्ति को अनुमान समझना क्लिष्ट है। रूपादि से रहित अभाव का भी ऐंद्रिय प्रत्यक्ष मानना संगत नही। सम्भव, ऐतिह्य आदि को प्रमाणकोटि में वेदान्ताचार्यों ने प्रायः नहीं माना है। जो समुदाय-समुदायी अविनाभाववृत्तिसे सम्बद्ध हों उनमें समुदायज्ञानसे समुदायी का ज्ञान 'सम्भव' कहलाता है जिसे सरलता के लिये 'शते पञ्चाशत्-न्याय' कहते हैं कि 'सौ हैं' के ज्ञान से पचास हैं भी पता चल जाता है। जिसके मूल वक्ता का पता न हो ऐसे परम्परा-आगत वाक्य को ऐतिह्य कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षिबोधफलम्

पूर्वोक्तसाक्षिरूपं संन्यासिनं तेन दृष्टाः पुरुषतदवस्थातद्व्यापारगुणदोषा यथा न स्पृशन्ति, एवमात्मानं दृश्यमाना अहंकारतदवस्थातद्व्यापारगुणदोषा न स्पृशन्ति। एवं यो भाग्यशाली पुरुषः साक्षिमात्रमात्मानमहंकारादिभिरस्पृष्टं चैतन्यमात्रं श्रुतिभिर्जानाति स एव जीवन्मुक्तः। तथैव श्रुतिरपि वदति। हे पुत्र! त्वमपि वेदान्तशास्त्रमात्मनि प्रमाणमिति विश्वस्य तदुक्तप्रकारेणावस्थात्रयसाक्षिणमात्मानं जानीहि।।

।। *इति नवमवर्णकम्*।।

से अन्य तत्सदृश वस्तु के ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं। आप्तवेदादिशास्त्र के प्रामाणिक वचनों को शब्द प्रमाण कहते हैं।[1]

चक्षु आदि किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष न होने से आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। और आत्मा निरंश होने से, हेतु व व्याप्ति के अभाव में, वह अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है।

सजातीय विजातीय और स्वगत भेदों से शून्य होने से किसी तत्सदृश पदार्थ के अभाव से वह उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं है। अतः आत्मा केवल शब्द प्रमाण का ही विषय है। आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्त का अर्थ है यथार्थ वक्ता। अतः ईश्वरोक्त वेदवाक्य ही यथार्थ वाक्य और ईश्वर ही यथार्थ वक्ता हैं, इसलिए ईश्वरवाक्य रूप जो वेद, वही शब्द है उसीको शब्द प्रमाण मानते हैं, इसलिए एकमात्र वेद ही आत्मा के विषय में प्रमाण हैं।

पूर्वोक्त दृष्टान्त में आये साक्षिरूप निर्विकार संन्यासी को जैसे उसके द्वारा देखे हुए लौकिक पुरुषों की अवस्थायें, उनके व्यापार तथा तत्तत् व्यापारों या कार्यों में दीखने वाले जो गुण दोष हैं वे स्पर्श नहीं करते अर्थात् उनका असर उस संन्यासी पर कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार कूटस्थ साक्षी जो आत्मा है, उसको भी अहंकार की अवस्थायें व उसके व्यापार, उसमें दिखलाई देने वाले जो गुण दोष भी हैं, उनका कुछ भी प्रभाव उस पर नहीं होता है। अतः जो भाग्यशाली पुरुष अपने को अहंकारादि से अतिरिक्त साक्षी केवल चैतन्यमात्र उपनिषदों द्वारा जानता है वही जीवन्मुक्त है। श्रुति (उपनिषद्-ग्रथ) भी ऐसा ही कहती है।

हे पुत्र! तुम भी आत्मा के विषय में वेदान्तशास्त्र ही प्रमाणस्वरूप हैं, ऐसा विश्वास करके, उस वेदान्तशास्त्रानुसार अपने को उन तीनों अवस्थाओं का साक्षी जानो।।

।। ***इति नवमवर्णक***।।

---

१. सरलता के लिये ग्रंथकार ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कह दिया है किन्तु पारिभाषिक रीति से—विषयावच्छिन्न चैतन्य से प्रमाण चैतन्य के अभेद को ज्ञानगत प्रत्यक्षता कहते हैं तथा अपने (अर्थात् विषय के) आकार की वृत्ति से उपहित प्रमातृ-चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता वाला न होते हुए योग्य होना—यह विषयगत प्रत्यक्षता है। अनुमान भी व्याप्तिज्ञान को माना जाता है। शब्दप्रमाण के बारे में भी मानते हैं कि—जिस वाक्य का तात्पर्यार्थ बाधित न हो वह वाक्य शब्द प्रमाण है। अनादि वेद का प्रामाण्य ऐसे सुबोध है। 'शास्त्रयोनि' होने से ईश्वर वेद का कारण है अतः वेद आप्तवाक्य भी है ही अथवा स्वयं वेद ही आप्त है यह भी कहा जाता है। अर्थापत्ति वह उपपाद्य ज्ञान है जो उपपादक की प्रमा का असाधारण कारण है। ज्ञान के करणों से अजन्य जो अभावानुभव उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। प्रमाणों के बारे में विस्तृत जानकारी 'वेदान्तपरिभाषा', 'प्रमाणलक्षण', 'तत्त्वानुसन्धान' आदि वेदान्त-प्रकरणों में सुलभ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

दशमवर्णकम्

पञ्चकोशाः

इदानीं दशमवर्णके आत्मनः पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वमुच्यते। अन्नमय-प्राणमय-मनोमय- विज्ञानमयानन्दमयाः पञ्चकोशाः। अन्नविकारशुक्रशोणितजन्यं षड्भावविकार-सहितमन्नेनैव वर्धमानमिदं स्थूलशरीरमेवान्नमयकोशः।

कर्मेन्द्रियैः सह प्राणः प्राणमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः। तैरेव सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः। प्रियमोदप्रमोदवृत्तिभिः सहाज्ञानमानन्दमयकोशः। इष्टवस्तु-सन्दर्शनसन्तोषः प्रियम्। तद्वस्तुलाभसन्तोषो मोदः, तदनुभवसन्तोषः प्रमोदः। एवं पञ्च कोशाः।

यथा खड्गं तत्कोशः, शिवलिङ्गं संपुटः, आम्रफलं त्वक्, पुरुषं कञ्चुकः, इत्येतानि एते यथा आच्छादयन्ति, एवं पञ्चकोशा अप्यात्मानमाच्छादयन्ति अतः कोशा इति संज्ञा।

ननु खड्गादीनां तत्कोशादीनां च सत्ता भिन्ना। पञ्चकोशानामात्मभिन्नसत्ता-कत्वाभावात् कोशादिभ्यो वैषम्यात् कथमात्माच्छादकत्वमिति चेत्?

अब दसवें वर्णक में आत्मा पञ्चकोशों से व्यतिरिक्त है, इसे बतलाते हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश, ये पाँच कोश हैं। अन्न के विकारभूत जो शुक्र व शोणित हैं उनसे उत्पन्न होने वाले, जन्म, स्थिति, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना, नाश—इन षड् भाव विकार वाले और अन्न से ही बढ़ने वाले इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं।

प्रञ्च कर्मेन्द्रियों व पञ्च प्राणों को मिला कर प्राणमय कोश कहलाता है। पञ्चज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को मिलाने से मनोमय कोश बनता है। उन ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि को मिला देने से विज्ञानमय कोश बनता है।

प्रिय, मोद, प्रमोद, वृत्तियों के साथ जो अज्ञान है उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। अभीष्ट वस्तु को देखने से मन में जो सन्तोष होता है उसे "प्रिय" कहते हैं। उस अभीष्ट वस्तु के लाभ से मन में जो सन्तोष होता है उसे "मोद" कहते हैं। उस अभीष्ट वस्तु के अनुभव से जो सन्तोष होता है उसे प्रमोद कहते हैं। इस प्रकार ये अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामक पाँच कोश हैं।

जैसे तलवार को उसका कोश (म्यान) आच्छदित करता है और शिवलिङ्ग को कवच, आम्रफल को उसका छिलका, पुरुष को उसका कञ्चुक (कुर्ता) आच्छादित करता है, उसी प्रकार ये पाँच कोश भी आत्मा को आच्छादित करते हैं अतएव कोशवत् आच्छादन करने के कारण इन्हें कोश कहा जाता है।

प्रश्न— कोश के उदाहरण के रूप में जो खड्गादि को प्रस्तुत किया है, वहाँ की स्थिति भिन्न है। वहाँ तलवार अलग वस्तु है और उसकी म्यान अलग। परन्तु आत्मा व पञ्चकोशों की स्थिति तो परस्पर भिन्न नहीं है, अतः खड्गादिकोश से विलक्षण स्थिति होने के कारण ये आत्मा के किस तरह आच्छादक हैं?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते। आदित्यकिरणपरिणामविशेषत्वान्मेघस्य आदित्यसत्तैव सत्ता, तथापि स मेघ आदित्यं यथा आच्छादयति, अग्निमुपजीव्य वर्तमानस्य धूमस्याप्यग्नेः सत्तैव सत्ता, तथापि स धूमो यथा अग्निमाच्छादयति, एवमात्मसत्तया सत्तावन्तोऽपि कोशा आत्मानमाच्छादयन्ति।

कोशात्मविवेकः

इतः परमात्मनः पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वमुच्यते। खड्गादिकं तत्कोशादिकं चैकत्वेन खड्गादिरूपेण व्यवह्रियमाणमपि तत् खड्गादिकं कोशाद् भिन्नम्। तद्वत् पञ्चकोशाभिन्नत्वेन व्यवह्रियमाणोऽप्यात्मा तेभ्यो व्यतिरिक्त एव।

नन्वात्मनः कोशानां चैकत्वेन व्यवह्रियमाणत्वात् परस्परसम्बन्धोऽस्तीति वक्तव्यम्, आत्मनो न केनापि सम्बन्धः, स निरञ्जन इति कथमुच्यते इति चेत्? शृणु। सम्बन्धोऽनेकप्रकारः। तर्कसिद्धान्ते समवायसम्बन्धः संयोगसम्बन्ध इति द्विप्रकारः।

उत्तर— सूर्य की किरणों के परिणामविशेष मेघ, सूर्य की सत्ता से ही सत्ता वाला होता है, वह जैसे सूर्य को आच्छादित कर देता है; और अग्नि से ही उत्पन्न होने वाला धूम अग्नि की ही सत्ता से सत्तान्वित होता है, वह धूम जैसे अग्नि को आच्छादित कर देता है; इसी प्रकार आत्मा की सत्ता से ही जिनकी सत्ता है, ऐसे ये अन्नमयादि पञ्चकोश भी आत्मा को आच्छादित कर देते हैं।

(दृष्टान्त व दार्ष्टान्तिक में कुछ तारतम्य अवश्य रहता है; सर्वथा समता नहीं रहती है। पूर्वोक्त तलवार आदि वस्तुयें अपने आच्छादक वस्तुओं से भिन्न व परिमाण में उनसे न्यून हैं, जबकि आदित्य व आत्मा परिमाण में कई गुना अधिक हैं, परन्तु आच्छादन क्रिया में इनकी साम्यता है। जैसे बादल का एक छोटा सा टुकड़ा अनेक योजनविस्तीर्ण आदित्य-मण्डल को देखनेवाले प्रमाता की दृष्टि को आच्छादित कर आदित्य को ही आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अनन्त परिमाण या निष्परिमाण आत्मा को छोटे से ये अन्नमयादि कोश प्रमाता के अन्तःकरणावच्छिन्न चिदाभास को आच्छादित कर देने से आत्मा को ही आच्छादित कर देते हैं।)

अब आत्मा अन्नमयादि पञ्चकोशों से भिन्न है, इस बात को बतलायेंगे—

खड्ग=तलवार व उसका कोश=म्यान, इनका यद्यपि एकरूप से केवल तलवार शब्द से व्यवहार होता हुआ भी यह स्पष्ट है कि खड्ग अपने कोश से भिन्न है; इसी प्रकार आत्मा व पञ्चकोशों में अभेद-व्यवहार होता हुआ भी "आत्मा" उन अन्नमयादि पञ्चकोशों से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि व्यवहार दशा में 'मैं गौर हूँ, मैं श्याम हूँ', इत्यादि आत्मा व शरीर का अभेद व्यवहार होता है तथापि परमार्थतः आत्मा इन पञ्चकोशों से सर्वथा भिन्न है।

प्रश्न— जब आत्मा व इन अन्नमयादि पञ्च कोशों का समानरूप से व्यवहार होता है, तो फिर इनका परस्पर कोई सम्बन्ध बतलाना चाहिए। अथवा आत्मा व पञ्चकोशों का जो परस्पर सादृश्य है, वह किस धर्म से या किस सम्बन्ध से है यह आपको बतलाना चाहिए। इसके विपरीत आप तो आत्मा को निःसङ्ग= सम्बन्धशून्य व निरञ्जन मान रहे हैं ! यह कैसे हो सकता है ? उत्तर—सुनो। सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। तर्क शास्त्र में समवाय व संयोग नामक दो सम्बन्धों को माना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्विशेषनित्यद्रव्ययोश्च समवायः सम्बन्धः।

आत्मनःपञ्चकोशानां चावयवावयव्यादिष्वपरिगणनान्न समवायः। तर्हि भेरीदण्डयोरिव संयोगोऽस्त्वति चेत् ? आत्मनो द्रव्यत्वानङ्गीकारात् सोऽपि न सम्भवति।

तर्ह्यात्मनः कोशानां च को वा सम्बन्ध इति चेत्? रज्जुसर्पयोः शुक्तिकारजतयोः स्थाणुपुरुषयोराकाशवर्णयोरिव चाध्याससम्बन्ध एव।

अन्योन्याध्यासः

अयमध्यास एकतराध्यासो वा अन्योन्याध्यासो वेति चेत् ? अहंकारस्यात्मनश्च मिलित्वैकप्रत्ययविषयत्वादन्योन्याध्यास एव।

आत्मनोऽन्नमयकोशस्य चान्योन्याध्यासः कथमिति चेत्? उच्यते। "अहं मनुष्यः", "अहं देवः" इति, "अहं स्त्री", "अहं पुरुषः" इति, "अहं जातः", "अहं वर्ते", "अहं वृद्धिंगतः", "अहं विपरिणतः", "अहं जीर्णः", "अहमितः परं मरिष्यामि"

अवयव और अवयवी का, गुण व गुणी (द्रव्य) का, क्रिया और क्रियावान् का, जाति व व्यक्ति का, विशेष और नित्यद्रव्य का, परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है।

आत्मा तथा पञ्चकोशों का परस्पर अवयवावयविभाव आदि में परिगणन न होने से समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है; अर्थात् पञ्चकोश आत्मा का अवयव नहीं हैं, ना ही आत्मा पञ्चकोशों का अवयवी है, अतः इनका परस्पर समवाय सम्बन्ध नहीं है। भेरी (नगाड़ा) व दण्ड की तरह आत्मा व पञ्चकोशों का परस्पर संयोग सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा को द्रव्य नहीं माना है और संयोग हमेशा दो द्रव्यों में ही होता है।

प्रश्न—जब समवाय व संयोग इन दोनों में से आत्मा व पञ्च कोशों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तो फिर इनका परस्पर कोई तो सम्बन्ध होगा? वह कौन-सा सम्बन्ध है ?

उत्तर—शुक्ति रजत की तरह, स्थाणु पुरुष की तरह, आकाश व रंग की तरह, आत्मा व पञ्चकोशों का परस्पर आध्यासिक सम्बन्ध ही है। (असम्बद्धों को सम्बद्ध समझना रूप अध्यास और तदुपपादक अध्यस्त सम्बन्ध—इसी का नाम आध्यासिक सम्बन्ध है।)

प्रश्न— यह अध्यास एक तरफा है या दोनों में है ? उत्तर—अहंकार व आत्मा परस्पर इतने घुल-मिल जाते हैं कि वे एक-से मालूम पड़ते हैं अतएव इनका एक दूसरे में अध्यास होता है, इसीलिए इसे अन्योन्याध्यास कहा जाता है। (अनात्मा स्वयं अध्यस्त है। आत्मा का सम्बन्ध ही अध्यस्त है। अतः दोनों में अध्यास होने पर भी आत्मा वास्तविक सत्य है, अनात्मा मिथ्या है।)

आत्मा व अन्नमय कोश का परस्पर अध्यास (आरोप) कैसे होता है, इसे निम्नाङ्कित उदाहरणों के द्वारा बतलाते हैं— "मैं मनुष्य हूँ", "मैं देव हूँ", "मैं स्त्री हूँ", "मैं पुरुष हूँ", "मैं उत्पन्न हुआ", "मैं वर्तमान हूँ", "मैं बढ़ गया हूँ", "मैं विकसित हो गया", "मैं जीर्ण हो गया", "इसके बाद मैं मर जाऊँगा", "मैं बालक हूँ", "मैं कुमार हूँ", "मैं युवा हूँ", "मैं वृद्ध हूँ", "मैं ब्राह्मण हूँ", "मैं क्षत्रिय हूँ", "मैं वैश्य हूँ", "मैं शूद्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति, "अहं बालः", "अहं कुमारः", "अहं युवा", "अहं वृद्धः" इति, "अहं ब्राह्मणः", "अहं क्षत्रियः", "अहं वैश्यः", "अहं शूद्रः"इति, "अहं ब्रह्मचारी", "अहं गृहस्थः", "अहं वानप्रस्थः", "अहं संन्यासी" इति, "अहमान्ध्रः", "अहं द्राविडः", "अहं कर्णाटकः" इति "अहं वत्सगोत्रः", "अहं कोशिकगोत्रः" इति, "अहं रामः", "अहं कृष्णः", "अहं शंकरः", "अहं महादेवः" इति, "अहं दीक्षितः", "अहं शास्त्री" इति, "अहं योद्धा", "अहं भोजी" इति, चान्नमयकोशविकारधर्मानात्मन्यध्यस्यति। आत्मनिष्ठसच्चिदानन्दानन्नमयकोशे शरीरे "मम शरीरमस्ति, भाति, प्रियम्" इत्यध्यस्यति। एवमन्नमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।

अथ प्राणमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः कथमिति चेत् ? "अहं क्षुधावान्" "अहं पिपासावान्", "अहं बलवान्", "अहं वीर्यवान्", "अहं क्रियावान्", "अहं वक्ता", "अहं गन्ता", "अहं दाता", "अहं विसर्जयिता", "अहं आनन्दयिता" "अहं मूकः", "अहं पङ्गुः", "अहं विद्वान्", "अहं षण्डः" इत्येवं प्राणमयकोशविकारान् आत्मनि अध्यस्यति। आत्मनः सच्चिदानन्दान् "मम प्राणोऽस्ति, भाति, प्रियः" इति प्राणमयकोशे चाध्यस्यति। एवं प्राणमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।

हूँ", "मैं ब्रह्मचारी हूँ", "मैं गृहस्थं हूँ", मैं वानप्रस्थ हूँ", "मैं संन्यासी हूँ", इस प्रकार अन्नमय कोश के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इसी प्रकार "मैं आन्ध्रदेशीय हूँ", "मैं द्रविड़ देशीय हूँ", "मैं कर्नाटक देशीय हूँ", इत्यादि, "मैं वत्सगोत्रीय हूँ", "मैं कौशिक गोत्रीय हूँ" इत्यादि, "मैं राम हूँ", "मैं कृष्ण हूँ", "मैं शंकर हूँ", "मैं महादेव हूँ", "मैं दीक्षित हूँ", "मैं शास्त्री हूँ", "मैं योद्धा हूँ", मैं भोजनकर्ता हूँ" इत्यादि अन्नमयकोश के विकार से होने वाले धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। वस्तुतः ये ब्राह्मणत्वादि धर्म तो देह के हैं न कि आत्मा के। और आत्मा के जो सत् चित् आनन्द रूप धर्म हैं, इन आत्मा के धर्मों को अन्नमयकोश वाले शरीर में आरोपित करता है कि शरीर है, प्रतीयमान है, प्रिय है। इस प्रकार अन्नमय कोश व आत्मा का परस्पर अध्यास होता है।

अब प्राणमय कोश व आत्मा का परस्पर (एक दूसरे में) अन्योन्याध्यास कैसे होता है यह बतलाते हैं। जैसे—"मैं क्षुधावाला हूँ" अर्थात् मैं भूखा हूँ, "मैं पिपासा वाला हूँ" अर्थात् मैं प्यासा हूँ, "मैं बलवान् हूँ" "मैं वीर्यवान् हूँ" "मैं क्रिया वाला हूँ" अर्थात् किसी भी कार्य में सक्रिय हूँ, "मैं वक्ता हूँ" "मैं गन्ता हूँ", "मैं दाता हूँ", "मैं मल आदि छोड़ने वाला हूँ" और "मैं ग्राम्य धर्म का अनुष्ठान करने वाला हूँ" इत्यादि जो शरीरेन्द्रियादि सहित प्राणमय कोश के धर्म हैं, उन्हें आत्मा में आरोपित करता है। "मैं मूक हूँ", "मैं पङ्गु हूँ", "मैं हाथरहित हूँ", "मैं नपुंसक हूँ" इत्यादि देहेन्द्रियादि सहित प्राणमय कोश के जो मूकत्व पङ्गुत्वादि धर्म हैं, उनका आत्मा में अध्यास करता है। और इससे विपरीत—यह मेरा प्राण है, यह प्रतीत हो रहा है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ मनोमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। "अहं संकल्पवान्", "अहं विकल्पवान्", "अहं शोकवान्", "अहं मोहवान्", "अहं कामी", "अहं लोभी", "अहं श्रोता", "अहं स्प्रष्टा", "अहं द्रष्टा", "अहं रसयिता", "अहं घ्राता", "अहं बधिरः", "अहमन्धः", इत्येवं मनोमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मधर्मान् सच्चिदानन्दांश्च "मम मनः सम्यगस्ति, भाति, प्रियम्" इति मनोमयकोशेऽध्यस्यति। एवं मनोमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।

अथ विज्ञानमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। "अहं कर्ता", "अहं बुद्धिमान्", "अहमूहापोहचतुरः", "अहमेकसन्तग्राही" [°करसग्रा°], "अहं लोकान्तरगामी", "अहं रागी", "अहं द्वेषी", "अहं श्रोत्रियः", "अहं पण्डितः", "अहं विरक्तः", "अहं भक्तिमान्", "अहमुपासकः", "अहं ज्ञानी" इत्येवं विज्ञानमयकोशविकारानात्मन्य-

यह प्राण प्रिय है, इत्यादि अस्ति भाति प्रियत्व आत्मधर्मों का प्राणमय कोश में अध्यास करता है। इस प्रकार प्राणमय कोश व आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास होता है।

अब मनोमय कोश तथा आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास बतलाते हैं– "मैं संकल्प वाला हूँ", "मैं विकल्प वाला हूँ", "मैं शोक वाला हूँ", "मैं मोह वाला हूँ", "मैं कामी हूँ", "मैं लोभी हूँ", "मैं श्रोता हूँ", "मैं स्पर्श करने वाला हूँ", "मैं देखने वाला हूँ", "मैं आस्वाद लेने वाला हूँ", "मैं सूँघने वाला हूँ", "मैं बहरा हूँ" मैं अन्धा हूँ" इत्यादि जो संकल्प व विकल्पात्मक मनोमय कोश के धर्म हैं, उन्हें आत्मा में आरोपित करता है, जबकि आत्मा किसी प्रकार के संकल्प व विकल्पादि विकारों से रहित है।

जैसे "मैं बहिरा हूँ", "मैं अन्धा हूँ" इत्यादि मनोमय कोश के विकारों का निर्विकार आत्मा में अध्यास करता है वैसे ही आत्मा के जो सत् चित् आनन्द, अस्ति भाति प्रियत्व धर्म हैं उन आत्मधर्मों का मनोमय कोश में अध्यास करता है कि इंद्रियां और मन हैं, भासते हैं, प्रिय हैं। इस प्रकार आत्मा व मनोमय कोश का परस्पर अन्योन्याध्यास होता है।

अब विज्ञानमय कोश तथा आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास बतलाते हैं–"मैं कर्ता हूँ", "मैं बुद्धिमान् हूँ", "मैं तर्क वितर्क करने में चतुर हूँ", "मैं एकरसानन्द को ग्रहण करने वाला हूँ", "मैं लोकान्तरगामी हूँ", "मैं रागी हूँ", "मैं द्वेषी हूँ", "मैं वेदपाठी हूँ", "मैं पण्डित हूँ", "मैं विरक्त हूँ", इस प्रकार जो विज्ञानमय कोश के धर्म कर्तृत्व, लोकान्तरगामित्वादि हैं उन्हें आत्मा में आरोपित करता है।

जिस प्रकार "मैं भक्तिमान् हूँ", "मैं उपासना करने वाला हूँ", "मैं ज्ञानवान् हूँ" इत्यादि जो विज्ञानमय कोश के विकार हैं अर्थात् बुद्धि के धर्म हैं उन्हें निःसङ्ग आत्मा में आरोपित करते हैं उसी प्रकार आत्मा के जो सच्चिदानन्दादि धर्म हैं उन आत्मधर्मों को विज्ञानमय कोश में आरोपित करता है कि इंद्रियां व बुद्धि हैं, ज्ञायमान हैं, प्रिय हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यस्यति। आत्मलक्षणसच्चिदानन्दान् "मम बुद्धिरस्ति, भाति, प्रिया" इति विज्ञानमयकोशे चाध्यस्यति। एवं विज्ञानमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।

अथानन्दमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। "अहं भोक्ता", "अहं सुखी", "अहं सन्तुष्टः", "अहं सात्त्विकः", "अहं राजसः", "अहं तामसः", "अहं जडः", "अहं मूढः", "अहं शून्यः", "अहं दुष्टः", "अहं मोहितः", "अहमविवेकी", "अहं भ्रान्त" इत्येवमानन्दमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मनः सच्चिदानन्दांश्च "ममाज्ञानमस्ति, भाति, सुखम्" इत्यानन्दमयकोशेऽध्यस्यति। एवमानन्दमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।।

एवं पञ्चकोशानामात्मनश्चान्योन्याध्यासः सम्बन्धः।

अयमध्यासः केनागच्छतीति चेत्? अयमात्मा, एते पञ्चकोशाः—इति सम्यग् विभज्य ज्ञानाभावादविवेकेनागच्छति।[1]

कोशात्मविवेकः

तर्हि कोशानामात्मनश्च विवेकः कथमिति चेत्? उच्यते—लोके पशुपुत्रमित्रकलत्रगृह-

अब आनन्दमय कोश व आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास बतलाते हैं—

"मैं भोक्ता हूँ", "मैं सुखी हूँ", "मैं सन्तुष्ट हूँ", "मैं सात्त्विक हूँ", "मैं राजस हूँ", "मैं तामस हूँ", "मैं जड हूँ", "मैं मूर्ख हूँ", "मैं शून्य हूँ", "मैं दुष्ट हूँ", "मैं मुग्ध (कर्तव्याकर्तव्य को न जानने वाला) हूँ" इत्यादि मोदादि वृत्तियों से जन्य आनन्दमय कोश के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। "मैं अविवेकी हूँ", "मैं भ्रान्त हूँ" इत्यादि अज्ञानादि आनन्दमय कोश के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है और आत्मा के जो सच्चिदानन्दादि धर्म हैं इनका आनन्दमय कोश में आरोप करता है कि मुझे अज्ञान है, इसकी जानकारी भी है पर अनजान रहना ही प्रिय है ! इस प्रकार आनन्दमय कोश व आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास होता है।

इस प्रकार इन पञ्चकोशों का तथा आत्मा का परस्पर अन्योन्याध्यास सम्बन्ध है।

प्रश्न—यह अध्यास (भ्रम) किससे आता है ? उत्तर—यह आत्मा है, ये पञ्चकोश हैं, इनका पृथक् पृथक् ज्ञान न होने से अविवेक द्वारा ही यह अध्यास होता है।

प्रश्न—तब इन पञ्चकोशों का तथा आत्मा का विवेकज्ञान कैसे होता है ?

---

१. अविवेकेन अज्ञानाद् इत्यर्थः। 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः' इत्यध्यासभाष्यनिगमने नैसर्गिकत्वकथनात्। 'विभज्य ज्ञानाऽभावोऽविवेक' इति अभावविशेषोऽविवेक इति न भ्रमितव्यम्, अविवेकपदेन आवरणशक्तिमतोऽज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। अविवेकोऽपि मोहत्वेन भावपदार्थ एव। अज्ञानमभावइति मतं तु बहुदोषदुष्टं सर्वैराचार्यैरखण्डीति नेह निरस्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धनधान्यादिवत्, "इदं मम शरीरम्", "अयं मम प्राणः", "इदं मम मनः", "इयं मम बुद्धिः", "इदं ममाज्ञानम्" इति "इदं मम" इति बुद्धिविषयत्वाच्छरीरादिरूपाः पञ्चकोषाः आत्मा न भवन्ति, किन्तु पश्वादिवदनात्मैवेति पञ्चकोशाश्चात्मा च पृथक् पृथगिति युक्तिः। शरीररहित आत्मेति प्रतिपादिका "अशरीरम्" इत्यादिश्रुतयश्च सन्ति।

पश्वादीनां क्षयवृद्ध्यादिविकारास्तत्स्वामिनं द्रष्टारं यथा न स्पृशन्तीत्यनुभवः, एवं शरीरादिपञ्चकोशविकारा द्रष्टारमात्मानं मां कदापि न स्पृशन्तीत्यनुभवः।

ननु हे स्वामिन्, भवद्भिरुक्तपश्वादिदृष्टान्तस्य बाह्यत्वात् स ज्ञातुं योग्यः, दार्ष्टान्तिकस्यान्तरत्वात् स मम बुद्धिं नारोहति। किं च पञ्चकोशाः पश्वादिवत् पृथङ्नावभासन्ते, किन्तु तप्तायःपिण्डवदात्मन्येकतयाऽवभासन्ते, एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्बहु वैषम्यमस्ति, कथं तेषामात्मनः स्वप्रकाशात् पृथक्त्वेन ज्ञानमिति चेत्?

शृणु। बाह्यदृष्टिर्नेत्रम् सूक्ष्मदृष्टिर्बुद्धिः। बाह्यदृष्ट्या ज्ञातुमशक्या अपि पदार्था आन्तरदृष्ट्या ज्ञातुं शक्यन्ते। बाह्यवीणातन्त्र्यास्तत्स्वराणां, तप्तजलादग्नेः, पुष्पात्

उत्तर—लोक में जिस प्रकार पशु पुत्रादि का पृथक् पृथक् ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'यह मेरा शरीर है, ये मेरे प्राण हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है, यह मेरा अज्ञान है,' यों 'यह मेरा' इस ज्ञान का विषय होने से ये अन्नमयादि पञ्च कोश, आत्मा नहीं हो सकते हैं किन्तु स्वकीय पशु आदि की तरह अनात्मा ही हैं; अतः पञ्च कोश व आत्मा पृथक् पृथक् हैं, यह युक्ति है।

श्रुति भी "अशरीरम्" इत्यादि द्वारा आत्मा को शरीर से भिन्न मानती है, और अनुभव भी आत्मा को शरीर से भिन्न ही सिद्ध करता है जैसे पशुओं के बाल्य, यौवन व वृद्धावस्था से जन्य विकार क्षय वृद्धि विकासादि उसके मालिक या द्रष्टा को स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार शरीरादि इन पञ्चकोशों के विकार भी आत्मा को स्पर्श नहीं करते हैं, यह अनुभव है।

प्रश्न— हे स्वामिन् ! आपने जो दृष्टान्त में पशु पुत्र कलत्रादि को आत्मा से पृथक् कहा, यह बात तो बाह्य होने से समझ में आ जाती है; परन्तु दार्ष्टान्तिक में जो पञ्चकोशों से आत्मा को पृथक् बतलाया है, यह बात अन्तरङ्ग होने से मेरी बुद्धि में ठीक से नहीं बैठ रही है। दूसरी बात यह है कि ये पञ्चकोश पश्वादि की तरह एकदम आत्मा से अलग नहीं हैं किन्तु तपे हुए लौह पिण्ड की तरह एक-से ही मालूम पड़ते हैं। तब उन पञ्चकोशों का प्रकाशस्वरूप आत्मा से पृथक्तया ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सुनो। बाह्य जो स्थूल पदार्थ है उन्हें हम नेत्रों से देखते हैं। सूक्ष्म एवं आन्तरिक जो पदार्थ हैं उन्हें अन्तःकरण या बुद्धि से समझा जाता है। बाह्य दृष्टि अर्थात् नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से भी जिन पदार्थों को हम नहीं देख सकते या समझ सकते हैं उन्हें अन्तःकरण द्वारा समझा जा सकता है।[1]

१. विवेक वेदान्तानुसार वह सूक्ष्म दृष्टि है जिससे उपाधि-भिन्न आत्मा का अवगम संभव है। कोश पाँच और परस्पर पृथक् हैं जबकि आत्मा एक अतः अपृथक् है; कोश ज्ञेय हैं, आत्मा ज्ञातृरूप है; कोश वृद्धि-ह्रास वाले हैं, आत्मा एकरस है; इत्यादि विवेकदृष्टिसे कोशों से स्वतन्त्र आत्मा समझा जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुगन्धस्य च पृथक्त्वेन स्थूलदृष्ट्या ज्ञातुमशक्यत्वेऽपि सूक्ष्मश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैर्बुद्धिमता पुरुषेण पृथक्त्वेन "इयं वीणातन्त्री", "इमे स्वराः", "इदं जलम्", "अयमग्निः", "इदं पुष्पम्", "अयं सुगन्धः" इति वीणादिभ्यः पृथक्त्वेन स्वरादीनां ज्ञानं सुकरम्। एवमेव क्षीरजलयोर्विभजनमन्येषां दुष्करमपि हंसानां सुकरम्। एतदुभयं यथा तथा आत्मनः सकाशात् पञ्चकोषानां पृथक्करणं स्थूलबुद्धीनां दुष्करमपि सूक्ष्मबुद्धीनां सुकरम्।

कोशा आरोपिताः

हे पुत्र ! सिद्धान्तं वचः शृणु। एतावत्पर्यन्तं कालवासनया युक्तानां यः प्रपञ्चव्यवहारस्तमङ्गीकृत्य पञ्च कोशा इति तद्विवेक इति चैवमाद्युक्तम्। परमार्थे विचार्यमाणे आत्मनि न पञ्च कोशाः सन्ति। कथमिति चेत् ? यथा रज्जौ सर्पः, शुक्तिकायां रजतम्, स्थाणौ पुरुषः, आकाशे नीलिमा, इत्येतेषां भ्रान्त्या प्रतीतिमात्रमेव, न स्वरूपेणावस्थानम्, कालत्रयेऽप्यारोपितानां तेषां सर्पादीनां न वास्तवता, तथा आत्मनि पञ्चकोशा अप्यारोपिता एव, न वास्तवाः। लोके यदारोपितं तदसदेव, यथा द्विचन्द्रादिकम्। तथा पञ्चकोशा अप्यात्मन्यारोपितत्वान्मिथ्याभूता एव।

बाह्य स्थूल पदार्थों में जैसे--वीणतन्त्री से उसके स्वरों को, गरम जल से अग्नि को, पुष्प से सुगन्ध को--स्थूलदृष्टि से पृथक् करना कठिन होते हुए भी सूक्ष्मदृष्टि से बुद्धिमान् पुरुष तत्तत् इन्द्रियों के द्वारा 'यह वीणा तन्त्री है, और ये इसके स्वर हैं'; 'यह जल है और इसमें उष्णता पैदा करने वाली यह अग्नि है', 'यह नेत्रगोचर पुष्प है और यह घ्राणेन्द्रियग्राह्य सुगन्ध है'; इस प्रकार वीणादियों से पृथक् स्वरादिकों का ज्ञान कर लेता है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म नीर-क्षीर-विभाग भी यद्यपि सामान्यजनों के लिए कठिन है, पर हंसों के लिए यह नीर-क्षीर-विभाग कोई कठिन कार्य नहीं है। जैसे सूक्ष्म बुद्धि वाले और हंस उक्त विवेक कर लेते हैं वैसे उपाधिपराधीन मति वालों के लिये कठिन होने पर भी सुसूक्ष्म आत्मवस्तु में बुद्धि एकाग्र करने वालों के लिये आत्मा से पंचकोशों को अलग कर समझ लेना आसान है।

हे पुत्र! सिद्धान्त-वचन सुनो— अभी तक हमने जितना भी व्याख्यान किया वह व्यावहारिक संस्कार-सम्पन्न लोगों के लिए व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करके कहा। परमार्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो आत्मा में पञ्च कोशों की प्रतीति ऐसी ही है जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, शुक्ति में रजत की प्रतीति, स्थाणु में पुरुष की प्रतीति या आकाश में नीलिमा की प्रतीति।

जैसे रज्ज्वादियों में सर्पादि-प्रतीति भ्रान्तिमात्र है न कि स्वरूपतः, वैसे ही आत्मा में स्वरूपतः पञ्चकोशों की स्थिति नहीं है, अपितु भ्रान्ति द्वारा आरोपित है। रज्जु आदि में आरोपित सर्पादि किसी भी काल में सत्य नहीं है, अतः आरोपित सर्पादियों की कोई वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में आरोपित पञ्चकोशों की भी वास्तविकता नहीं है।

लोक में भी यह देखा जाता है कि जो वस्तु आरोपित होती है वह असत्य ही होती है, जैसे द्विचन्द्रादि। अतः ये पञ्चकोश भी आत्मा में आरोपित होने से मिथ्या ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रातिभासिकादिसद्भेदाः

नन्वारोपितसर्पादयोऽधिष्ठानज्ञाने सति तत्क्षणमेव न प्रतीयन्ते, पञ्चकोशास्त्वात्मज्ञाने सत्यपि प्रतीयन्त एव, न नश्यन्ति, तेषां कथमारोपितत्वमिति चेत्?

शृणु। लोके प्रातिभासिकसद्-व्यावहारिकसत्-पारमार्थिकसदिति त्रिविधं सत्। ईश्वरसृष्टिर्जीवसृष्टिरिति च द्विविधा सृष्टिः।

एवं सत्यध्यासरूपं शुक्तिकारजतादिकं सर्वं जीवसृष्टिः। इदं प्रातिभासिकं सत्। अस्या जीवसृष्टेरधिष्ठानभूतमाकाशादिकं सर्वं व्यावहारिकं सत्। तत्सर्वमीश्वरसृष्टिः। अस्या ईश्वरसृष्टेरप्यधिष्ठानभूतं यद् ब्रह्म तत्पारमार्थिकं सत्। तदेव नित्यम्।

व्यावहारिकं सद् व्यवहारक्षयपर्यन्तं तिष्ठति। प्रातिभासिकं सत् प्रतिभासक्षयपर्यन्तं तिष्ठति। प्रातिभासिकं व्यावहारिकं चाध्यस्तत्वेन समाने अपि सत्तया न समाने।

किं च व्यावहारिकमपि प्रातिभासिकवदधिष्ठानज्ञानेन सद्यो नश्येद्यद्यात्मज्ञानिनो जीवन्मुक्ता अपि न स्युः, ज्ञानोपदेशगुरुशिष्यपरम्परा चापि न स्यात्, ज्ञानिनां व्यवहाराभावादज्ञानिनां चोपदेष्टुमशक्यत्वात्।

प्रश्न—आरोपित सर्पादि जैसे अधिष्ठानभूत रज्जु के ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् नहीं दिखाई देते, वैसे पञ्चकोश तो आत्मज्ञान होने पर भी प्रतीत होते ही हैं; एकदम निवृत्त नहीं हो जाते हैं। फिर आप पञ्च कोशों को अध्यस्त या आरोपित कैसे मानते हैं ?

उत्तर—लोक में तीन प्रकार की सत्ता होती है—प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता। ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि—ये दो प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं।

इनमें अध्यासरूप शुक्तिकारजतादि सृष्टि है, यह सब जीवसृष्टि है। इसीको प्रातिभासिक सत्ता भी कहते हैं। इसमें वास्तविकता न होकर केवल प्रतिभास से प्रतीति ही रहती है, इसलिए इसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। इस अध्यासरूप जीवसृष्टि का अधिष्ठानभूत यह आकाशादि व्यावहारिक सत् है। यह सब व्यावहारिक सत् ईश्वर-निर्मित है। इस ईश्वरसृष्टि का भी अधिष्ठानभूत् जो ब्रह्म(=आत्मा) है वह पारमार्थिक सत् है। वह त्रिकालाबाधित होने से नित्य है तथा सत्य है।

व्यावहारिक सत् व्यवहारक्षयपर्यन्त रहता है अर्थात् व्यवहार काल में ही उसकी सत्ता मानी जाती है। प्रातिभासिक सत् प्रतिभासक्षयपर्यन्त रहता है, अर्थात् दीपकादि से अधिष्ठानभूत रज्जु आदि के ज्ञान से वह प्रतिभास निवृत्त हो जाता है। यद्यपि आरोप की या अध्यास की दृष्टि से ये दोनों प्रातिभासिक व व्यावहारिक सत् समान हैं, तथापि सत्ता की दृष्टि से समान नहीं हैं, व्यावहारिक सत्ता अपेक्षाकृत चिरस्थायी है।

प्रातिभासिक सत्ता की तरह यदि व्यावहारिक सत्ता भी अपने अधिष्ठान-ज्ञान से नष्ट हो जाय तब तो कोई भी अत्मज्ञानी जीवन्मुक्त ही नहीं होगा, और ज्ञानोपदेश व गुरुशिष्य परम्परा की संभावना ही नहीं रहेगी, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से ज्ञानियों के लिए तो व्यवहार नहीं रह जायेगा और अज्ञानियों के लिए ज्ञानोपदेश देना असंभव होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्माद्यथा मृद्यध्यस्तः पृथुबुध्नोदराकारो घटो यावत्कुलालव्यापारक्षयं तिष्ठति, एवमात्मन्यध्यस्ताः पञ्चकोशा मिथ्येति ज्ञाता अपि यावत्प्रारब्धक्षयं दग्धपटवत् प्रतीयन्ते इति जानीहि।

सिद्धान्तसारः

किं बहुना ! सिद्धान्तस्त्वेवम्—मृद्यारोपिते घटनामरूपे बाधिते सति, मृन्मात्रं यथा सत्यतया अवशिष्यते, एवमात्मन्यारोपितेषु पञ्चकोशेष्वात्मज्ञानेन बाधितेषु सत्सु सच्चिदानन्दरूप आत्मैक एव सत्यतया अवशिष्यते। इत्येवं यो जानाति स एवात्मज्ञानी, स एव ब्रह्मज्ञानी, तस्यैव विदेहमुक्तिर्भविष्यतीति सर्वा अप्युपनिषद उद्घोषयन्ति।।

।। *इति दशमवर्णकम्*।।

अतः मिट्टी में अध्यस्त गोल मटोल आकार वाला घड़ा जैसे कुलाल व्यापारावधि रहता है,[1] वैसे ही आत्मा में अध्यस्त ये अन्नमयादि पञ्च कोश भी, मिथ्यात्वेन ज्ञात होने पर भी, जब तक प्रारब्धक्षय नहीं होता है, तब तक रहते ही हैं, प्रारब्धक्षय होने पर दग्धपट की तरह प्रतीत होते हैं, ऐसा समझो। इसमें अधिक क्या कहा जाय ?

वेदान्त सिद्धान्त तो इस प्रकार है— मिट्टी में आरोपित घट के नामरूप हैं : जैसे मिट्टी से बने हुए पृथुबुध्नोदराकार वस्तुविशेष का नाम घट रख दिया, रक्तवर्ण व गोलाकार उसका रूप हो गया। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह नामरूपात्मक घट मिट्टी के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इसका सत्यरूप मिट्टीमात्र जैसे अवशिष्ट रह जाता है, इसी प्रकार आत्मा में आरोपित जो ये पञ्चकोश हैं इनका आत्मज्ञान से बाध हो जाने पर सत्स्वरूप एक सच्चिदानन्दघन आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार जो निखिल प्रपञ्च को आत्मा में ही आरोपित रूप से जानता है, परमार्थ सत् आत्मा ही है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही वस्तुतः आत्मज्ञानी है, वही ब्रह्मज्ञानी है, उसीकी विदेहमुक्ति हो सकती है, यही सभी उपनिषदों का कहना है।

।। *इति दशमवर्णक*।।

---

१. घड़ा बने इसके लिये जो कुम्हार ने किया वह उसका व्यापार हुआ अतः कपालसंयोग को कुलालव्यापार समझ सकते हैं और घड़ा तभी तक रहता है जब तक कपालसंयोग है अतः कुलाल के व्यापार के क्षयपर्यन्त घड़ा रहना उचित है। 'कपालसंयोग' से वे सभी अवयवसंयोग समझ लेने चाहिये जो कुलालकृत हैं और घड़ा बने, बना रहे इसके लिये अनिवार्य हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

एकादशवर्णकम्

आत्मलक्षणविचारः

अथेदानीमस्मिन्नेकादशवर्णके आत्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वं चतुर्थं लक्षणमुच्यते। आत्मनः सद्रूपं किं, चिद्रूपं किमानन्दरूपं किमिति चेत्? शृणु। कालत्रयेऽपि केनाप्यबाध्यमानत्वे सत्येकरूपत्वं सतो लक्षणम्।

सत्त्वम्

इदं लक्षणमात्मन्यस्ति। अस्य प्रमाणं किमिति चेत्? अस्य प्रपञ्चस्य सृष्टेः पूर्वम् "सदेवासीत्" "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि वेदान्तशास्त्रं प्रमाणम्।

किञ्च सर्वजनानामनुभवश्च प्रमाणम्। आढ्यो दरिद्रः कर्मी भक्तो मुमुक्षुरिति सर्वे जनाः। एतेषामनुभवः कीदृश इति चेत् ? "अहं पूर्वजन्मनि सत्पात्रेषु यत् किञ्चिद् दत्तवान्, तेनास्मिञ्जन्मन्यैश्वर्यमनुभवामि, आस्मिञ्जन्मन्यपि यत् किञ्चिद् दत्तं चेद् भविष्यज्जन्मन्यैश्वर्यमनुभविष्यामि—इत्याढ्यस्यानुभवः।

इस एकादशवर्णक में आत्मा का जो चतुर्थ सच्चिदानन्दरूप लक्षण है, उसे बतलाते हैं। पूर्व वर्णक में आत्मा के तीन लक्षण "अस्ति, भाति, प्रियम्," कह चुके हैं। चतुर्थ लक्षण सच्चिदानन्दरूप है। सम्प्रति इसी का विवेचन करते हैं।

प्रश्न— आत्मा का सद्रूप क्या है ? चिद्रूप क्या है ? और आनन्दरूप क्या है ?

उत्तर—भूत, वर्तमान व भविष्यत् इन तीनों कालों में जो किसी भी प्रमाण से बाधित न हो, और हमेशा एकरूप रहे वही सत् है। यह त्रिकालाबाध्यत्व व एकरूपत्व लक्षण आत्मा में है। आत्मा का जो सच्चिदानन्दरूप चतुर्थ लक्षण है, उसमें प्रथम अंश सत् अर्थात् सत्यत्व है, वह किसी भी काल में या किसी भी अवस्था में बाधित नहीं है। साथ ही साथ इसमें किसी प्रकार की विकृति न होने से एकरूपता भी है। इस प्रपञ्च की उत्पत्ति से पूर्व यहाँ एकमात्र सत् ही था, इसीसे सृष्टिकाल में आकाशादि उत्पन्न हुए। वेदान्तशास्त्रीय श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं और सभी लोगों का अनुभव भी इसमें प्रमाण है।

आत्मा त्रिकाल सत्य है, यह सभी लोगों का अनुभव है। इस प्रसङ्ग में धनियों का, दरिद्रों का, कर्मनिष्ठों का, भक्तों का तथा मुमुक्षु पुरुषों का अनुभव दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत करते हैं—

धनवान् का यह अनुभव है कि मैंने पूर्वजन्म में सत्पात्रों को बहुत कुछ दिया था, इसीका यह फल है कि मैं इस जन्म में ऐश्वर्य का अनुभव कर रहा हूँ। यदि मैं इस वर्तमान समय में भी कुछ दानपुण्य करूँगा तो निश्चित ही भविष्य जन्म में भी ऐश्वर्य का उपभोग करूँगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अहं पूर्वजन्मनि सत्पात्रेषु किमपि न दत्तवान्, तेनास्मिञ्जन्मनि दारिद्र्यमनुभवामि, अस्मिञ्जन्मनि मया न दत्तं चेद्, भाविजन्मन्यपि दारिद्र्यमनुभविष्यामि," इति दरिद्रस्यानुभवः।

"पूर्वजन्मनि सत्कर्माणि मयाऽनुष्ठितानि, तद्वासनया अस्मिन्नपि जन्मनि सत्कर्माणि मयाऽनुष्ठीयन्ते, तेन भाविज्जन्मन्यपि स्वर्गे देवत्वमायास्यति," इति कर्मिणोऽनुभवः।

"पूर्वजन्मन्यहं भगवन्तमुपासितवान्, तद्वासनया अस्मिन्नपि जन्मनि भगवद्-भक्तिरासीत्, अनेन भाविजन्मनि सालोक्यादिमुक्तिं वैकुण्ठादिलोकेऽनुभविष्यामि," इति भक्तस्यानुभवः।

"बहुजन्मस्वीश्वरार्पणरूपेण मया कर्माणि कृतानि, तेनास्मिञ्जन्मनि साधनचतुष्टयं, सद्गुरुलाभः, श्रवणादिकमात्मज्ञानं च लब्धम्, इतः परं मम जन्म नास्ति, अहं कृतकृत्यः" इति मुमुक्षोरनुभवः।

एवं सर्वेषां जनानां कालत्रयेऽपि "अहमस्मि" इत्यनुभवदर्शनादात्मन्यध्यस्तस्य देहस्यैव नाशः, आत्मनस्तु न कदाचिदपि नाश इति जानीहि।

दरिद्र का अनुभव है कि मैंने पूर्वजन्म में कुछ भी दान-पुण्य नहीं किया है इसलिए इस जन्म में दरिद्रता का अनुभव कर रहा हूँ, यदि इस जन्म में भी कुछ दानपुण्य न हुआ तो आगे भविष्य में भी निर्धनता रहेगी।

कर्मनिष्ठ का अनुभव है कि मैंने पूर्वजन्म में सत्कर्मों का अनुष्ठान किया है, उन्हीं पूर्वविहित सत्कर्मों के संस्कारों के प्रभाव से इस जन्म में भी सत्कर्मों का ही अनुष्ठान चल रहा है, अतः भविष्य में इन सत्कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग में देवत्व प्राप्त करूँगा।

भगवद्भक्त का अनुभव है कि पूर्वजन्म में मैंने अनन्या भक्ति द्वारा भगवान् की उपासना की, इसी भगवद्भक्ति की अनुरक्ति के प्रभावस्वरूप सुन्दर संस्कारों से इस जन्म में भी मुझे भगवान् की उपासना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इसी भक्ति के फलस्वरूप अगले जन्म में भी वैकुण्ठादि लोकों में सालोक्यादि मुक्ति मुझे प्राप्त होगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

वीतराग मुमुक्षु का अनुभव है कि मैंने अनेक विगत जन्मों में ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान किया अर्थात् किसी कामनाविशेष से कोई कर्म न करके, केवल निष्काम बुद्धि से मैंने सारे नित्य नैमित्तिकादि कर्म किये, जिसके परिणामस्वरूप मुझे इस जन्म में साधनचतुष्टय(=नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोग से विराग, शमादिषट्क, मुमुक्षुत्व) सद्गुरुलाभ तथा श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त हुआ, इसके बाद आगे मेरा इस भवसागर में जन्म नहीं होगा, मैं कृतार्थ हूँ क्योंकि मनुष्य शरीर से प्राप्तव्य जो परमपुरुषार्थ है उसे मैं प्राप्त कर चुका।

इस प्रकार सभी लोगों का भूत, वर्तमान व भविष्य इन तीनों कालों में "अहमस्मि" (मैं हूँ) यही अनुभव होने से यह निश्चित है कि आत्मा में अध्यस्त देह का ही नाश होता है, आत्मा का तो किसी अवस्था में नाश नहीं होता है, ऐसा समझो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मादात्मनः कालत्रयेऽप्यबाध्यमानत्वे सत्येकरूपत्वस्य विद्यमानत्वादात्मनः सद्रूपत्वमस्ति।।

हे स्वामिन्! अनुभवेनात्मनः सद्रूपत्वमेवमुक्तं, न युक्त्येति चेत्? युक्त्यापि विचार्यमाणे आत्मनः सद्रूपत्वं सेत्स्यति। तत्कथमिति चेत्? शृणु। 'वयमस्मिँल्लोके विद्यमाना वा, न वेति विचार्यमाणे विद्यमाना एवेति जानीहि, तथा सर्वेषाम् "अहमिहास्मि" इत्यनुभवात्। एवं विद्यमाना वयं शरीरिणो वा अशरीरिणो वा? शरीरिण एव, नाशरीरिणः, शरीरस्य दर्शनात्।

इदं शरीरं केन आगतमिति विचार्यमाणे; कर्मणेति निश्चयः। तत्कर्म अस्मदीयं वा अन्यदीयं वेति चेत्? अस्मदीयमेवेति वक्तव्यम्, अन्यदीयकर्मणा अन्यस्य स्वर्गफलाननुभवात्, अन्यथा अन्यकर्मणा अन्यः स्वर्गादिकं प्राप्नुयात्, ब्राह्मणेन यागे कृते शूद्रः स्वर्गमाप्नुयात् ! अतः अस्मदीयकर्मणा प्राप्तम् अस्माकं शरीरमिति वक्तव्यम्।

तदेतच्छरीरारम्भकं कर्मास्मिञ्जन्मनि कृतं वा पूर्वजन्मनि कृतं वेति विचार्यमाणे; पूर्वजन्मनि कृतमित्येव वक्तव्यम्। एतज्जन्मनि कृतस्यैतच्छरीरं प्रति पूर्वभावित्वाभावेनाकारणत्वात्। पूर्वजन्मनि कर्मकरणकाले वयं विद्यमाना वा न वेति विचार्यमाणे; विद्यमाना एव, अविद्यमानैः कर्मणः कर्तुमशक्यत्वात्।

अतः यह आत्मा तीनों कालों में अबाधित होने से तथा अविकृत होने से हमेशा एकरस रहने से इसकी सद्रूपता में कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न– हे स्वामिन् ! आपने अनुभव से तो आत्मा की (तीनों कालों में) सद्रूपता सिद्ध कर दी परन्तु युक्ति से तो उसकी सद्रूपता सिद्ध नहीं की? उत्तर–युक्ति से भी आत्मा की सद्रूपता सिद्ध हो जायेगी, वह इस प्रकार है– हम इस लोक में हैं कि नहीं ?–इस पर यदि विचार किया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि "हम इसी लोक में विद्यमान हैं" क्योंकि "मैं यहाँ हूँ" ऐसा सभी का अनुभव है। अब जब हम सब इस लोक में हैं, तो फिर शरीरसहित ही हैं, बिना शरीर के तो रह नहीं सकते ! प्रत्यक्ष यह शरीर दिखलाई देता है। इस समय यह दिखलाई देने वाला शरीर कैसे प्राप्त हुआ, अर्थात् वह शरीर किस जरिये या उपाय से हमें प्राप्त हुआ? यह विचारपूर्वक देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि यह शरीर हमें अपने कर्म से प्राप्त हुआ है। ये शरीरारम्भक कर्म हमारे अपने ही हैं, किसी दूसरे के नहीं, क्योंकि यह नियम है कि जिसके कर्म हैं उसीको स्वर्गादि फल भी मिलता है। यदि ऐसा नहीं होता अर्थात् किसी के कर्म से किसी अन्य को फल मिलता तो ब्राह्मण के किये गये याग से शूद्र को स्वर्गादि फल मिल जाना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। अतः यह मानना पड़ेगा कि अपने कर्मों से ही अपना यह शरीर प्राप्त हुआ है।

वर्तमान शरीर के जो आरम्भक कर्म हैं, उन्हें हमने इस जन्म में किया या पूर्वजन्म में? विवेकपूर्वक देखा जाय तो ये वर्तमान देहारम्भक कर्म पूर्वजन्म में ही किये गये हैं, क्योंकि इस जन्म में किये जाने वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदानीमस्माकं शरीरमासीद् वा न वेति चेत् ? आसीदेव, शरीराभावे कर्मणः कर्तुमशक्यत्वात्। तच्छरीरमपि तत्पूर्वजन्मकृतकर्मणा वा, तदनन्तरकर्मणा वा? तत्पूर्वजन्मकृतकर्मणैवेति वक्तव्यम्।

एवं पुनः पुनर्विचार्यमाणे कर्मणश्च शरीरस्य च प्रवाहरूपेणानादित्वं सिद्धम्। तदुभयवत आत्मन आकाशस्येव साक्षादेव मुख्यमेव स्वरूपेणैवानादित्वं सिद्धम्[1]। एवं भूतकाले वर्तमानकाले च सत्त्वं सिद्धमिति युक्त्या साधितम्।।

इतः परं भविष्यत्कालेऽप्यात्मनः सत्त्वं युक्त्या साध्यते। अस्माभिर्जन्मान्तरेषु श्रवणमननादिकमकृत्वा कर्मण एव मुख्यबुद्ध्या अनुष्ठितत्वादेतज्जन्म शरीरं चागतम्। अस्मिञ्जन्मनि क्रियमाणं कर्मापीतः परं जन्म ददाति। तस्मिन्नपि क्रियमाणं कर्म ततः परं जन्म ददाति।

कर्म तो वर्तमान देह के पश्चात् होंगे, अतः वे इस देह के प्रति कारण नहीं होंगे, क्योंकि यह नियम है कि कारण हमेशा कार्य से पूर्ववर्ती होता है, अतः वर्तमान कर्म भावी देह के लिए भले ही कारण हो, पर वर्तमान देह के कारण पूर्वजन्म के कर्म ही हैं। अब यह विचार करना है कि पूर्व जन्म में जब हम कर्म कर रहे थे, उस समय देहसहित हम वर्तमान थे, क्योंकि बिना शरीर के तो कोई कर्म नहीं हो सकता है।

पूर्वजन्म में हमारा शरीर था या नहीं इस विषय में यही कहना पड़ेगा कि पूर्वजन्म में हमारा शरीर था, क्योंकि बिना शरीर के तो कोई भी कर्म नहीं हो सकता है। अब यह सोचो कि वह जो शरीर था, वह पूर्वजन्म के कर्मों से था, अथवा बाद के कर्मों से बना था ? इसका सीधा उत्तर यही है कि वह शरीर भी पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा ही निर्मित हुआ था।

इस प्रकार बार बार विचार करने से यही प्रतीत होता है कि कर्म व शरीर का प्रवाहरूप से अनादि काल का सम्बन्ध है, अर्थात् कर्म के बिना शरीर नहीं, शरीर के बिना कर्म नहीं; अतः बीज-वृक्ष की तरह यह कर्म व शरीर का सम्बन्ध अनादिकाल से ही चला आ रहा है, और कर्म व शरीर वाले इस आत्मा की आकाश की तरह साक्षात्, मुख्य स्वरूपतः ही अनादिता सिद्ध है। इस प्रकार युक्ति द्वारा आत्मा की भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक सत्ता सिद्ध हुई।

भूत काल में व वर्तमान काल में आत्मा का सत्त्व सिद्ध कर अब भविष्यत् काल में भी उसका सत्त्व सिद्ध करते हैं—हम लोगों ने पूर्व जन्मों में आत्मविषयक श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिक न करके मुख्य रूप से कर्म का ही अनुष्ठान किया। उस कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप (इस लोक में) जन्म व शरीर को प्राप्त किया और इस जन्म में भी किया जाने वाला जो कर्म है वह इसके बाद भविष्य में जन्म देगा और भविष्य में भी क्रियमाण जो कर्म होगा वह आगे जन्म देगा।

इस प्रकार जन्म व कर्म पर बार बार विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि संसार में भविष्यत् कालिक कर्म प्रवाह का तथा तत्परिणामस्वरूप शरीरप्रवाह का कोई अन्त नहीं है, तत्त्वज्ञान के द्वारा जब कर्म

१. प्रवाहाऽनपेक्षा साक्षात्त्वम्, एकव्यक्तिगतत्वं मुख्यत्वम्, कारणाऽभावश्च स्वरूपत्वम् आत्माऽनादितायाः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं पुनः पुनर्विचार्यमाणे कर्मप्रवाहस्य शरीरप्रवाहस्य च भविष्यत्कालेऽन्तो नास्ति, तत्त्वज्ञानेन कर्मणि क्षीणे सति शरीरमपि नायाति। तदुभयसंबन्ध्यात्मा तु यावद्ब्रह्मज्ञानं शरीरस्य सृष्टिप्रलयावनुभवञ्शरीरस्य स्थितिकाले सुखदुःखे अनुभवन् सन्, अधः स्थावरपर्यन्तमूर्ध्वं ब्रह्मलोकपर्यन्तं परिभ्रमंस्तिष्ठत्येव, न नश्यति।

तत्त्वज्ञाने सत्यविद्याकामकर्मादीनामपि नाशात् दुःखहेतोरभावात् स्वरूपानन्दमनुभवन् विदेहमुक्तौ सुखमेव तिष्ठति। एवं भविष्यत्कालेऽप्यात्मनो न कदाचिदप्यसत्त्वम्, किन्तु सर्वदा सत्त्वमेव युक्त्या सिद्ध्यति।

एवं कालत्रयेऽप्यात्मनो विद्यमानत्वादबाधितत्वेन परमार्थत एकरूपत्वात् सत्त्वं सिद्धम्। एवं श्रुतियुक्त्यनुभवैरनेकप्रलयेष्वनेकप्रपञ्चेषु विनष्टेष्वपि स्वयमविनष्टः सन् वर्तते। अतः सृष्टिस्थितिसंहाराः प्रपञ्चस्यैव, न त्वात्मनः। एवं कालत्रयेऽप्येकरूपत्वाद-बाधितत्वाच्चात्मा सद्रूप इति जानीहि।

क्षीण हो जाते हैं, तो फिर शरीर ग्रहण भी नहीं करना पड़ता है, परन्तु कर्म व शरीर सम्बन्धी जो आत्मा है, वह तो ब्रह्मज्ञान पर्यन्त, शरीर के जन्म व मृत्यु का अनुभव करता हुआ, स्थितिकाल में शरीर सम्बन्धी सुख दुःख का भी अनुभव करता हुआ, नीचे स्थावर पर्यन्त तथा ऊपर ब्रह्मलोक पर्यन्त घूमता हुआ वर्तमान रहता है, नष्ट नहीं होता।

तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब अविद्या व उसके कार्य काम कर्मादि का नाश हो जाता है, तो दुःख के कारण के अभाव में, अर्थात् आनन्द के आवरक अविद्या के विलय की अवस्था में, केवल स्वरूपानन्द की ही अनुभूति रहती है। इस प्रकार साधक की विदेहमुक्ति की अवस्था में केवल सुखस्वरूप आनन्द ही रहता है। इस प्रकार भविष्यत् काल में भी कभी भी आत्मा का असत्त्व नहीं रहता, अपितु सर्वदा सत्त्व ही रहता है, यह युक्ति से भी सिद्ध है।

इस प्रकार इस आत्मा का—तीनों कालों में विद्यमान रहने से, किसी प्रमाण द्वारा बाधित न होने से, और हमेशा एकरस रहने से—सत्त्व सिद्ध हुआ। इस तरह श्रुति, युक्ति एवं अनुभव द्वारा यही सिद्ध होता है कि अनेकों सृष्टियों में, अनेकों प्रलयों में, तथा अनेकों प्रपञ्चों के नष्ट हो जाने पर भी, आत्मा सदा एकरूप व अविनाशी ही रहता है, अतः यह मानना चाहिए कि सृष्टि स्थिति संहार, सभी दशाओं में प्रपञ्च ही नष्ट होता है, न कि आत्मा, आत्मा तो सदा एकरूप ही है।

प्रश्न—भगवन् ! आपने आत्मा को सत् चित् व आनन्द रूप बतलाया। इसमें प्रथम आत्मा की सद्रूपता श्रुति युक्ति व अनुभव द्वारा सिद्ध की। अब आप यह बतलाइये कि आत्मा चिद्रूप कैसे है ? या आत्मा की चिद्रूपता में क्या प्रमाण है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्त्वम्

आत्मनश्चिद्रूपत्वे प्रमाणं किमिति चेत्? शृणु। सूर्यादिसाधनान्तरानपेक्षं स्वयं-प्रकाशमानं सत् स्वस्मिन्नारोपितसकलजडपदार्थावभासकं चिद्रूपम्। एतच्चिद्रूपत्वलक्षण-मात्मन्यस्ति।

कथमिति चेत् ? आत्मा गाढान्धकारेऽपीतरानपेक्षमेव स्वयं प्रकाशते। स्वस्मिन्नारोपित-शरीरबाल्ययौवनवार्धक्यावस्था अवस्थाव्यापारांश्चेतरानपेक्षं सम्यग् जानाति। अतः आत्मनश्चिद्रूपत्वं सिद्धम्।

नन्वस्माकं सर्वज्ञत्वाभावात् सर्वपदार्थावभासकत्वं कथमिति चेत्? प्रपञ्च आन्तरो बाह्य इति द्विविधः। एतत् प्रपञ्चद्वयमप्यस्माभिः प्रकाश्यते, न वयं तेन कदाचिदपि प्रकाश्याः। तत्कथमिति चेत्? उच्यते। बाह्यप्रपञ्चो नाम पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा इति,

उत्तर—जो वस्तु सूर्यादि साधनों की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं प्रकाशित रहे, और अपने में आरोपित समस्त जड पदार्थों को प्रकाशित करे, वही आत्मा चिद्रूप है। जैसे प्रत्येक पदार्थ को अंधेरे में प्रकाशित करने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है, परन्तु दीपक को प्रकाशित करने के लिए फिर किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशरूप है, इसी प्रकार परानपेक्षत्वरूप स्वयंप्रकाश-लक्षण चिद्रूपता आत्मा में भी है।

प्रश्न—भगवन् ! आपने तो केवल आत्मा की इतरानपेक्ष स्वप्रकाशता सिद्ध की, चित् का जो चैतन्यरूप अर्थात् ज्ञान रूप है वह आत्मा में कैसे है यह बतलाइए ? उत्तर— यह तो सिद्ध ही है कि आत्मा गाढान्धकार में भी बिना किसी की सहायता से प्रकाशित होता है। फिर इतना और समझो कि जो अपने में आरोपित शरीर है और उस शरीर में होने वाली जो बाल्य, यौवन व वार्धक्यादि अवस्थायें हैं, उन अवस्थाओं में होने वाले जो व्यापार हैं, इन सबको बिना किसी की सहायता के स्वयं ही अच्छी तरह जानता है, अतः आत्मा चित् अर्थात् चैतन्यरूप अर्थात् ज्ञानरूप है यह सिद्ध हुआ।

प्रश्न—भगवन् ! आपने आत्मा को सत् चित् या चैतन्य अर्थात् ज्ञानरूप सिद्ध किया। जब वह ज्ञानस्वरूप है अर्थात् सर्वावभासकता आत्मा में है, तो फिर वह सर्वज्ञ है; वह एक है तो वही आत्मा हम लोगों में भी है, परन्तु हम लोग तो सर्वज्ञ नहीं हैं अर्थात् हम लोगों की सर्वावभासकता क्यों नहीं है ? उत्तर—सुनो—यह प्रपञ्च दो प्रकार का है, आभ्यन्तर व बाह्य। इस दोनों प्रकार के प्रपञ्च को हम जानते हैं, अर्थात् इस उभय-प्रकारक प्रपञ्च को आत्मा प्रकाशित करता है, यह प्रपञ्च हमें प्रकाशित नहीं करता, अपितु हमसे ही यह प्रकाशित होता है। इसे तुम इस प्रकार समझो :

यह बाह्य प्रपञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—जो कि इन पञ्चभूतों के गुण हैं—और ये परस्पर अंशांशिभाव से सम्मिलित पञ्चीकृत पञ्च महाभूत; और यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत चौदह भुवन व चतुर्विध स्थूल शरीर हैं, और जो ब्रह्माण्ड अनेक प्रकार के नाम रूप गुण धर्म व उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति, पञ्चीकृतभूतानीति, ब्रह्माण्ड इति, चतुर्दश भुवनानीति, चतुर्विधस्थूलशरीराणीति च विविधनामरूपगुणधर्मविकारशक्त्याश्रयः। एतं बाह्यप्रपञ्चं ह्यवान्तरभेदेन बहुधा विभज्य प्रमाणैर्वयमेव जानीमः, नत्वस्मानयं जानातीत्यन्तर्मुखतया विचार्यमाणेऽस्माकं बाह्यप्रपञ्चावभासकत्वं सिद्धम्।

अथ आन्तरप्रपञ्चावभासकत्वमस्माकं कथमिति चेत्? शृणु। आन्तरप्रपञ्चोऽन्नमयादिजीवन्मुक्तिपर्यन्तैः प्रकारैर्बहुधा भिन्नः। स आन्तरप्रपञ्चः "अयमन्नमयः", "अयं प्राणमयः", "अयं मनोमयः", "अयं विज्ञानमयः", "अयमानन्दमयः", "एवमिमे पञ्च कोशाः" इति। "इदं स्थूलशरीरम्", "इदं सूक्ष्मशरीम्", "इदं कारणशरीरम्",

विकार और शक्तियों का आश्रय है; इस प्रकार अनेक अवान्तर भेदों में विभक्त इस बाह्य प्रपञ्च को तत्तत् प्रमाणों के द्वारा हम लोग जानते हैं, न कि यह प्रपञ्च हमें जानता है। अन्तर्दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो हम सभी लोगों का बाह्यप्रपञ्चावभासकत्व सिद्ध है अर्थात् हम सभी लोगों का आत्मा बाह्य प्रपञ्च को प्रकाशित करता है।

प्रश्न—भगवन्! आपने बाह्य प्रपञ्च की अवभासकता तो पूर्व प्रकरण में बतला दी। अब यह बतलाइए कि हम आभ्यन्तर प्रपञ्च को कैसे जानें? अर्थात् हमारा आन्तरप्रपञ्चावभासकत्व किस प्रकार है?

उत्तर—यह आभ्यन्तर प्रपञ्च अन्नमयादि कोश से लेकर जीवन्मुक्ति पर्यन्त अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त है। इसका विस्तार इस प्रकार है—यह अन्नमय कोश है, यह प्राणमय कोश है, यह मनोमय कोश है, यह विज्ञानमय कोश है, यह आनन्दमय कोश है, इस प्रकार ये पञ्चकोश हैं। ये सब शरीर के अन्दर हैं, इसलिए इन्हें आन्तर प्रपञ्च कहते हैं। इसका और भी विस्तार समझ सकते हैं :

यह स्थूल शरीर है, यह सूक्ष्म शरीर है, यह कारण शरीर है, यही त्रिविध शरीर हैं, ये छः भावविकार हैं, ये छः कोश हैं, ये छः ऊर्मियाँ हैं, यह आन्ध्य है, यह मान्द्य है, यह पटुता है, यह राग है, यह द्वेष है, ये त्रिविध करण हैं, यह अन्तःकरण है, इत्यादि।[1]

१.—स्थूल सूक्ष्म एवं कारण शरीरों का वर्णन पूर्व प्रकरणों में आ चुका है। छः भावविकार इस प्रकार हैं— जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति। इस शरीर में छः कोश रहते हैं, माता से—त्वक्, रक्त, मांस, ये तीन कोश बनते हैं, पिता से—स्नायु, अस्थि, मज्जा ये तीन कोश बनते हैं; इसीलिए इस शरीर को षाट्कौशिक भी कहते हैं। इसी शरीर में छः ऊर्मियाँ भी रहती हैं। ये ऊर्मियाँ छः क्लेश हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, शीत, उष्ण। क्रमशः ये प्राण चित्त व शरीर के धर्म हैं; भूख प्यास प्राण के क्लेश हैं, शोक मोह चित्त के क्लेश हैं, शीत व उष्ण शरीर के क्लेश हैं। किन्हीं के मत में— छः ऊर्मियाँ ये हैं—शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा। आन्ध्य आन्धपना है। मान्द्य करणों की मन्दता है, पटुत्व इन्द्रियों की तत्तत् कार्य में कुशलता है। स्त्री आदि अभीष्ट विषयक चित्तवृत्ति को राग कहते हैं। अपकारी के प्रति या अनिष्ट विषय के प्रति जो अपकार की चित्तवृत्ति है उसे द्वेष कहते हैं। त्रिविधकरण—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व अन्तःकरण हैं। अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"एतच्छरीरत्रयम्" इति च। "इमे षड्भावविकाराः", "इमे षट् कोशाः", "इमे षडूर्मयः", "इदमान्ध्यम्", "इदं मान्द्यम्", "इदं पटुत्वम्", "अयं रागः", "अयं द्वेषः", "इदं त्रिविधकरणम्", "इदमन्तःकरणम्"। "अयं जाग्रत्", "अयं स्वप्नः", "इयं सुषुप्तिः", "एवमेवावस्थात्रयमि्" इतिच। "इदं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्", "इदं कर्मेन्द्रियपञ्चकम्", "इमे पञ्चप्राणाः", "इमे उपप्राणाः", "इदं मनः", "इयं बुद्धिः", "इदं चित्तम्", "अयमहंकारः", "अयं संकल्पः", "अयं निश्चयः", "इदमवधानम्", "अयमभिमानः", "अयं विश्वः", "अयं तैजसः", "अयं प्राज्ञः", "इत्येवमवस्थावन्तत्येव" इति।

"अयं प्रातिभासिकः", "अयं व्यावहारिकः", "अयं पारमार्थिकः", "इदं सात्त्विकम्", "इदं राजसम्", "इदं तामसम्", "इदं सुखम्", "इदं दुःखम्", "इदं ज्ञानम्", "इदमज्ञानम्", "इदं प्रियम्", "इदमप्रियम्", "इयमुपेक्षा", "इदं साधन-चतुष्टयम्", "इदं मैत्र्यादिचतुष्टयम्", "अयमष्टाङ्गयोगः", "इदं श्रवणम्", "इदं मननम्", "इदं निदिध्यासनम्", "अयं समाधिः" इति च। "इदं प्रमाणम्", "इदं प्रमेयम्", "अयं प्रमाता," "इदं तापत्रयम्", "अयमाधिः", "अयं व्याधिः", "इदमारोग्यम्", "इयं भक्तिः", "इदं वैराग्यम्", "इदं मन्दम्", "इदं तीव्रम्", "इदं

किंच यह जाग्रत् अवस्था है, यह स्वप्नावस्था है, यह सुषुप्ति है, ये तीन जीवात्मा की अवस्थायें हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं चक्षु, श्रोत्र इत्यादि। ये वाक्, पाणि इत्यादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये प्राण अपान इत्यादि पाँच प्राण हैं। ये नाग, कूर्मादि उपप्राण हैं। यह मन है, यह बुद्धि है, यह चित्त है, यह अहंकार है, यह संकल्प है, यह निश्चय है, यह सम्यक् ध्यान है, यह अभिमान है, यह विश्व है, यह तैजस है, यह प्राज्ञ है। इत्यादि अवस्था वाले ये जीवात्मा हैं।

और भी, यह शुक्तिरजतादि की प्रातिभासिक सत्ता है, यह घटपटादि की व्यावहारिक सत्ता है, यह आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है; यह सत्त्विक है, यह राजस है, यह तामस है; यह अनुकूल वेदनीय अतः सुख है, यह प्रतिकूल वेदनीय अतः दुःख है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह प्रिय है, यह अप्रिय है, यह उपेक्षा है, ये (नित्यानित्यवस्तु-विवेक; इहामुत्रार्थफलभोग-विराग, शमादिषट्क, मुमुक्षुत्व) साधन चतुष्टय हैं; ये (मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा) मैत्र्यादि चतुष्टय हैं। ये श्रवण, मनन व निदिध्यासन हैं, यह समाधि है इत्यादि।

तथा यह (प्रत्यक्षादि) प्रमाण है, यह (जानने योग्य) प्रमेय-पदार्थ है, यह प्रमाण द्वारा प्रमेय को जानने वाला प्रमाता जीव है। यह तापत्रय है, अर्थात् ये आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक तीन प्रकार के ताप हैं। यह मन को उद्विग्न करने वाली आधि है, यह शरीर को क्षीण करने वाली व्याधि है। यह नीरोगता का सूचक आरोग्य है। यह भगवद्विषयक प्रेमरूपा भक्ति है, यह विषयों से विमुखतारूप वैराग्य है, यही वैराग्य विषयों के तारतम्य से मन्द, मध्य, तीव्र व तीव्रतर हो जाता है। लौकिक विषयों से विमुख होना ही मनोनाश है। यह शुभाशुभ विचारों के संस्कारों का क्षय है, यह शुभाशुभ संस्कार-क्षयपूर्वक देहत्यागरूप विदेह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीव्रतरम्", "इदं सगुणोपासनम्", "अयं मनोनाशः" "अयं वासनाक्षयः", "इयं विदेहमुक्तिः", "इयं जीवन्मुक्तिः"। इत्येवमादि-विविधनामरूपगुणविकारशक्त्याश्रयभूत आन्तरः प्रपञ्चः सर्वोऽप्येवमेव पृथक् पृथग् विभज्यास्माभिर्ज्ञायते, स आन्तरः प्रपञ्चस्त्वस्मान् न जानातीति सम्यग् विचारे क्रियमाणे यत आन्तरः प्रपञ्चोऽस्माभिर्ज्ञायते, अत आत्मनश्चिल्लक्षणसद्भावादात्मा चिद्रूपः।

आत्मा न मनोदृश्यम्

हे स्वामिन्! आत्मा चिद्रूपः केनापि न ज्ञायत इति भवद्भिरुक्तं खलु, मनसा सकलं ज्ञायते, आत्मापि तेनैव मनसा ज्ञायतामिति चेत् ? शृणु—मन उत्पत्तिविनाशवत् संकल्परूपं परिच्छिन्नं घटवत् भूतकार्यं, कामादिविकारकलुषीकृतं स्मृतिविस्मृतिमत्। एवंभूतं मनो जडमिति ज्ञातव्यम्। तस्य मनसः प्रकाश एव नास्ति। तदपि मनश्चितैव ज्ञायते। तादृशं जडं मनः स्वप्रकाशचिदात्मानं कथं जानीयात् ! न कथमपि जानीयादित्यवेहि।

तर्हि "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इति शास्त्रस्य किं तात्पर्यमिति चेत्? शृणु। अग्निना तप्तस्य स्वर्णस्य प्रकाशो जायत इति व्यवहारेऽग्निना स्वर्णेऽविद्यमानः प्रकाशो नूतनतया न संपाद्यते। किंत्वग्निना तप्ते सुवर्णे मले निरस्ते सति पूर्वसिद्धः स्वर्णप्रकाशः स्वयं प्रकाशते, न तु नूतनः प्रकाशः सम्पाद्यते।

मुक्ति है, यह जीते जी देहेन्द्रियादियों में अहंभाव-त्याग रूप जीवन्मुक्ति है।

यों यह अनेक प्रकार के नाम रूप गुण विकार व शक्ति का आधारभूत आन्तरिक प्रपञ्च है। इस समस्त आन्तरिक प्रपञ्च को हम लोग पृथक् पृथक् विभागपूर्वक जानते ही हैं, परन्तु यह आन्तरिक प्रपञ्च स्वयं जड होने से हमें नहीं जानता है। इस प्रकार ठीक-ठीक विचार करने पर हम इस आन्तरप्रपञ्च को जानते हैं। यही आत्मा का चैतन्य है, इस ज्ञानरूप चैतन्य का आत्मा में सद्भाव होने से यह कहा जा सकता है कि यह आत्मा चिद्रूप है।

हे स्वामिन् ! आपने आत्मा को चिद्रूप बताया और यह भी कहा कि वह बाह्य व आभ्यन्तर प्रपञ्च से अगम्य है। परन्तु हम लोग तो सब कुछ मन से ही जानते हैं, इसी मन से यदि आत्मा का भी ज्ञान कर लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—हे वत्स ! सुनो। मन उत्पत्ति व विनाशशील है और संकल्प-विकल्प करना उसका अपना स्वरूप है। वह परिच्छिन्न है, अर्थात् सीमित है और पञ्चमहाभूतों का सत्त्वप्रधान कार्य है अर्थात् घटादि की तरह यह भी पञ्चमहाभूतों से बना है और कामादि वासनाओं से वासित है। साथ ही साथ याद करना व भूलना इसमें सहज है। पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट यह मन स्वतः जड है, उसका अपना कोई भी प्रकाश नहीं है। यद्यपि पूर्वोक्त संकल्प-विकल्पात्मक क्रियायें तथा कामादि विकारों की तरफ प्रवण होना तथा स्मरण-विस्मरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नूतनतया सम्पाद्यत इति चेत् ? आमपाकनिक्षिप्ते घटेऽप्यग्निः प्रकाशं सम्पादयेत्! तथा न दृश्यते। अयमर्थो यथा, तथा मनश्चात्माकारेण परिणममानमात्मप्रतिबिम्बसहितं च सदात्माऽऽवारकं मिथ्याभूतमनाद्यज्ञानं बाधते। निरस्तेऽज्ञाने स्वात्मा स्वयमेव भासत इति "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इति शास्त्रस्य तात्पर्यम्। तस्मान्मनश्चात्मनैव ज्ञायते, न त्वात्मा मनसा ज्ञायते।

क्रियाशील होना, बिना प्रकाश या चैतन्य के सम्भव नहीं है, तथापि पूर्वोक्त मन का जो उल्लेख है वह चिदाभास-युक्त उसके स्वरूप, कार्य तथा व्यापार का ही रूप है। केवल अपने में मन तो स्वतः प्रकाशहीन व जड है। ऐसे मन का ज्ञान भी चैतन्य द्वारा ही होता है। इस प्रकार का जड मन स्वतः प्रकाशस्वरूप चिदात्मा को कैसे जान सकता है ? किसी भी प्रकार यह जड मन चिदात्मा को नहीं जान सकता है, ऐसा समझो।

भगवन् ! आपने पूर्व प्रकरण में कहा कि बाह्य प्रपञ्च तथा आभ्यन्तर प्रपञ्च ये दोनों ही आत्मतत्त्व को नहीं जानते हैं; परन्तु शास्त्रों में तो "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" ऐसा लिखा है अर्थात् मन से ही उस परमतत्त्व को जानना चाहिए, तो फिर इस प्रकार के शास्त्र-वाक्यों का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—सुनो, उक्त शास्त्र-वाक्य का तात्पर्य दृष्टान्तपूर्वक समझाता हूँ। जब सोने को आग में तपाया जाता है, तब उसमें एक नयी चमक आ जाती है; व्यवहार में इसे यदि अच्छी तरह देखा जाय तो यह मालूम पड़ेगा कि सुवर्ण का यह प्रकाश या चमक कोई नयी चीज नहीं है अपितु यह तो पहिले से सुवर्ण में विद्यमान ही थी। अग्नि के द्वारा जब तपे हुए सुवर्ण का मल दूर हो जाता है तो फिर पूर्वसिद्ध प्रकाश अपने आप प्रकाशित होने लगता है, अतः सुवर्ण का प्रकाश कोई नयी वस्तु नहीं है या कहीं बाहर से नहीं आया है।[1]

यदि यह कहो कि सुवर्ण में अग्नि के द्वारा पूर्व में अविद्यमान कोई नया ही प्रकाश आ जाता है; तो यह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि अग्नि से किसी वस्तु में अविद्यमान प्रकाश नहीं आ सकता है। जैसे घड़े को भी अग्नि में तपाया जाता है, परन्तु उसमें कोई नयी चमक नहीं दिखलाई देती है; सुवर्ण में चमक पहिले ही से विद्यमान है, अग्नि के द्वारा वह अभिव्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार अन्तःकरणविशेष यह मन जब आत्माकार

---

१. शास्त्रों में दोनों तरह के वाक्य उपलब्ध होते हैं; "मनसैवानुद्रष्टव्यम्", "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" "बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव" इत्यादि मन से ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का निर्देश करते हैं। इसके विपरीत "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि वाक्य बताते हैं कि मन में आत्मा का दर्शन करने की क्षमता ही नहीं है ! तब सन्देह होना भी स्वाभाविक ही है। साथ साथ इन आप्तवाक्यों का तात्पर्य जानने की भी जिज्ञासा होती है। प्रकृत जिज्ञासा का संक्षिप्त समाधान इस प्रकार है : अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास के द्वारा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के आवरण-भंगपूर्वक स्वरूपज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। इस तात्पर्य से "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" आदि वाक्य चरितार्थ होते हैं। और स्वयं प्रकाशशील चैतन्य किसी अन्य चिदाभासादि के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, वह तो मन, बुद्धि व वाणी से परे है। इस तात्पर्य से "यन्मनसा न मनुते" इत्यादि वाक्य चरितार्थ होते हैं। अतएव पञ्चदशी में भी कहा है—

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता" इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एतद्वा कथमिति चेत्? शृणु। दीपेनान्धकारविनाशस्थले स्थालीं च तैलञ्च वर्तिश्चेत्येतत्त्रयमन्धकारं विनाशयितुं न शक्नोति। सर्वत्र परिपूर्णः कारणाग्निरप्येतत् साधनं विहाय केवलं स्वयमेव तमन्धकारं नाशयितुं न शक्नोति। तथापि तद्वर्ति-सम्बन्ध्यग्निर्दीपनामधेयः सन्नन्धकारं बाधते।

एवमेव प्रकृते स्थालीरूपशरीरे कर्मरूपतैलेनोत्थापितवर्तिरूपमनस्यग्निरूप आत्मा आरुह्य तदभेदेनावस्थितो जीवनामापि संस्तत्तद्विषयावारकाज्ञानरूपान्धकारं निरस्य दीपो घटादिपदार्थानिव बाह्याभ्यन्तरपदार्थान् प्रकाशयति।

में परिणत होता हुआ चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, तो उस चिदाभास द्वारा आत्मा के आच्छादक मिथ्याभूत अनादि अज्ञान को दूर कर देता है। इस प्रकार अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य या चिदाभास के द्वारा आत्मा का आवरक अज्ञानरूपी आवरण जब नष्ट हो जाता है, तब आत्मा स्वयमेव प्रकाशित हो जाता है। "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इस शास्त्र वाक्य का यही तात्पर्य है। इसलिए यह निश्चित जानो कि आत्मा ही मन को जानता है, न कि मन आत्मा को।

फिर भी यदि तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा है तो इस बात को दूसरे उदाहरण द्वारा सुनो— किसी कमरे में जहाँ दीपक के द्वारा उसका अन्धकार दूर करना हो, वहाँ यदि दीपक (कटोरी) तेल व बत्ती इन्हें अलग-अलग रख दिया जाय तो क्या उस कमरे का अन्धकार दूर होगा? पृथक्-पृथक् ये चीजें कभी भी अन्धकार को दूर नहीं कर सकती हैं।

उक्त दीपक, तैल, वर्ति रूप साधनों से रहित सर्वत्र परिपूर्ण कारणरूप अग्नि भी उक्त कमरे के अन्धकार को दूर नहीं कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' आदि वेदवाक्य के अनुसार हम लोगों के व्यवहार में आती आग का कारण जो अग्नितत्त्व है वह तो हमेशा सभी जगह मौजूद है, जहाँ ईंधन, जल नहीं भी रहा वहाँ भी वह अग्निं उपस्थित अवश्य है, किन्तु वह कभी अन्धेरा नहीं मिटाती। ईंधन से प्रकट होने पर ही आग अन्धेरा मिटा पाती है। यदि अग्नि अपने कारणीभूत रूप में रहे और वर्ति तैल दीपकादि पृथक् रहें तो क्या वे किसी पदार्थ को प्रकाशित कर सकते हैं ? कभी नहीं, अपितु वर्ति तैल अग्नि का समुचित सम्बन्ध ही जो दीपक नामक वस्तु है, वही उक्त अन्धकार को दूर करने में समर्थ है।

उक्त दृष्टान्त को प्रकृत दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—इसी प्रकार यहाँ स्थाली रूप अर्थात् दीपक रूप शरीर में, कर्मरूप तेल के द्वारा निर्मित बत्तीरूप मन से, जब अग्निरूप आत्मा का सम्पर्क होता है, तब अन्तःकरण व आत्मप्रतिबिम्ब का अभेदारोप हो जाता है। व्यवहार में जिसे जीव नाम से पुकारते हैं, शास्त्रीय भाषा में जिसे चिदाभास कहते हैं; तत् तत् विषयों के आच्छादक अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके दीपक जिस प्रकार घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह चिदाभास भी सभी बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों को प्रकाशित करता है अर्थात् उन्हें ज्ञात बनाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्माद्धे पुत्र! दीपप्रकाशः स्वभासा यथा स्वयमेव प्रकाशः सन् स्वसम्बन्धिपदार्थानपि प्रकाशयति, एवमेवान्तःकरणमारुह्य स्वचैतन्येनैव प्रकाशमान आत्मापि स्वसम्बन्धिपदार्थान् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च प्रकाशयति। अत आत्मनश्चिद्रूपत्वं सिद्धम्।

आनन्दत्वम्

अथानन्दरूपत्वमुच्यते। नित्यं निरुपाधिकं निरतिशयं यत् सुखं स आनन्दः। स एव आत्मनः स्वरूपम्। अत एव स्रक्चन्दनवनितादिविषयेभ्यो जातमनित्यं सोपाधिकमतिशययुक्तं यत्सुखं तदात्मस्वरूपानन्दो न भवति। तस्मात् पूर्वोक्त आनन्द एवात्मस्वरूपम्।

तत्कथमिति चेत् ? सौषुप्तानन्दे तत्सुखलक्षणस्य विद्यमानत्वात्, तमानन्दमहमेवेति विजानीहि।

ननु सुषुप्तौ दुःखनिवृत्तिरेव दृश्यते, भवदुक्तानन्दो नानुभूयते, तस्मात्तत्र कथं सुषुप्तावानन्दलक्षणविचार इति चेत् ? शृणु। लोके सुप्तोत्थितः पुरुषः "अहमेतावन्तं कालं सुखमस्वाप्सम्" इति सुषुप्तावात्मनः सुखसद्भावमेव वदति। अतः सुषुप्तौ सर्वेषामपि स्वानुभवेनानन्दोऽस्ति।

इसलिए हे पुत्र! दीप का प्रकाश जैसे स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अपने सम्बन्धी या सन्निकट स्थित पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आत्मा अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर स्वयं प्रकाशित होता हुआ अपने से सम्बन्धित बाह्य तथा आभ्यन्तर स्थित पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

इस प्रकार आत्मा की चिद्रूपता सिद्ध होती है।

आत्मा की चिद्रूपता की सिद्धि के बाद अब इसकी आनन्दरूपता सिद्ध करते हैं—जो सुख नित्य हो अर्थात् हमेशा रहने वाला हो, और निरुपाधिक हो, किसी विशेष साधन की अपेक्षा न रखता हो, तथा निरतिशय हो अर्थात् जिससे बढ़कर आगे कोई सुख न हो, ऐसे ही सुख को आनन्द कहते हैं। यही (आनन्द) आत्मा का स्वरूप है। अतएव स्रक् चन्दन वनितादि विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख अनित्य, सोपाधिक व तारतम्य से युक्त है, इस प्रकार का सुख आत्मस्वरूप नहीं हो सकता है। अतः पूर्वोक्त आनन्द ही आत्मस्वरूप है।

प्रश्न—यह आनन्द आत्मस्वरूप कैसे है ? उत्तर— सुषुप्तावस्था में अर्थात् गाढ निद्रा में वह सुखलक्षण आनन्द विद्यमान रहता है, उसी आनन्द को आत्मा समझो।

प्रश्न— सुषुप्ति में तो हमें दुःखाभाव ही प्रतीत होता है, आनन्द का तो अनुभव नहीं होता है, जैसा कि आप बतला रहे हैं। तब सुषुप्ति में सुखलक्षण आनन्द का विचार कैसे किया जाय ?

उत्तर—लोक में जब मनुष्य सो कर उठता है, तो यही कहता है कि "मैं इतने समय तक सुखपूर्वक सोया"। उक्त वाक्य सुषुप्तावस्था के सुख के सद्भाव को ही द्योतित करता है। यदि सुषुप्ति में किसी प्रकार का सुख या आनन्द नहीं होता तो फिर लोगों का इस प्रकार का परामर्श भी नहीं होता। चूँकि सुषुप्ति में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तर्हि भवदुक्तं नित्यत्वं निरुपाधिकत्वं निरतिशयत्वमिति लक्षणत्रयं सौषुप्तानन्देऽस्ति चेद् वक्तव्यमिति चेत्? शृणु। प्रथमतो निरुपाधिकत्वमुच्यते। स्रक्चन्दनवनितादिविषया उपाधयः। तैर्जायमानं सुखमौपाधिकम्। तेषूपाधिषु सुषुप्तौ न कोऽप्युपाधिः दृश्यते। सुखं तु सर्वैरप्यनुभूयते। अतः सुषुप्तौ निरुपाधिक आनन्दोऽस्तीत्यवगम्यताम्। तस्य निरतिशयत्वं कथमिति चेत्? शृणु। मनुष्यानन्दमारभ्य हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्ता एकादशानन्दाः, ते शतगुणोत्तरोत्तराः, अतस्तेषामानन्दानां सातिशयत्वम्। ब्रह्मानन्दस्य सर्वोत्तरस्य निरवधिकत्वात् ततोऽधिकानन्दाभावान्निरतिशयत्वम्। स ब्रह्मानन्द एव सौषुप्तानन्दः। अतस्तस्य निरतिशयत्वं सिद्धम्।

सर्वेऽपि पुरुषाः "सुषुप्तिसुखमेव सुखम्, विषयजन्यसुखं न सुखम्" इति स्त्रीपुत्रादिसुखं विहाय मृदुशय्यादिसाधनानि प्रयत्नेन संपाद्य सौषुप्तसुखमेवानुभवन्ति। अनुभवसमये मोहिनीं सौन्दर्यवतीं स्त्रियमपि प्रबोधयन्तीं प्रहरन्ति। तदानीं न किमपीच्छन्ति। पुनरुत्थिता अपि तमेवानन्दं स्मृत्वा अनुभवितुं पुनः शयनं कुर्वन्ति। अतस्तस्य सौषुप्तानन्दस्य निरतिशयत्वमस्तीत्यवेहि।

उक्त प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है, इसलिए लोगों को उस अनुभव की इस प्रकार स्मृति होती है। अतः सुषुप्ति में आनन्द है, यह सभी का अनुभव है।

प्रश्न—आपने जैसा कहा कि सुषुप्तिकालिक सुख में आनन्द के ये तीनों नित्यत्व, निरुपाधिकत्व व निरतिशयत्व लक्षण सङ्गत होते हैं तो इन्हें विशेष व्याख्यान द्वारा समझाइए ? उत्तर—सर्वप्रथम निरुपाधिक सुख के विषय में कहेंगे : यह सुषुप्तिकालीन सुख स्रक् चन्दन वनितादि विषयों से जन्य नहीं है, जैसेकि लौकिक सुख की उत्पत्ति में उक्त स्रक् चन्दन वनितादि विषय बनते हैं। इन्हीं विषयों को उपाधि कहते हैं। सुषुप्ति में इनमें से कोई भी उपाधि नहीं रहती हैं, परन्तु सभी लोग सुख का अनुभव तो करते ही हैं, अतः सुषुप्तावस्था का जो आनन्द है वह निरुपाधिक आनन्द है, ऐसा मानना ही पड़ेगा।

प्रश्न—इसकी फिर निरतिशयता कैसे है ? उत्तर—मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त ग्यारह प्रकार की आनन्दों की श्रेणियाँ हैं। ये उत्तरोत्तर सौ गुणा अधिक हैं, अतः ये सब आनन्द सावधिक तथा न्यूनाधिक भाव से रहने के कारण सातिशय हैं। परन्तु ब्रह्मानन्द तो लोकोत्तर होने से सर्वाधिक तथा निःसीम है, इससे अधिक अन्य किसी आनन्द के न होने से यह निरतिशय है। यह ब्रह्मानन्द ही सौषुप्तानन्द है इसलिए यह निरतिशय है।

सभी पुरुष सुषुप्तिसुख को ही सुख मानते हैं, विषयजन्य सुख को सुख नहीं मानते हैं, यहाँ तक कि स्त्री पुत्रादि से जन्य सुख को भी छोड़कर, प्रयत्नपूर्वक सुन्दर शय्यादि साधनों का सम्पादन कर, सुषुप्ति सुख के आनन्द का अनुभव करते हैं। उस सुषुप्ति सुखानुभव के समय, सुन्दर स्वरूप वाली जगाती हुई मुग्ध वनिता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्यत्वं कथमिति चेत् ? जाग्रत्स्वप्नयोः सुखस्यानेकरूपेणानेकैर्विषयैः पृथक् पृथगनुभूयमानत्वात् तस्य परिच्छिन्नत्वेनानित्यत्वमस्ति। सुषुप्तिसुखं त्वेकरूपं पूर्णम्। जन्यं च न भवति। अतो नित्यम्।

नित्यं चेज्जाग्रत्स्वप्नयोरप्यनुभवितव्यम्, तथा नानुभूयत इति चेत्? जाग्रत्स्वप्नयोरपि तत्सुखमस्त्येव, किन्तु वृत्तिविशेषैरावृतं सन्नानुभूयते।

कारणभूतमानन्दं कार्यरूपा अन्तःकरणवृत्तयः कथमावृण्वन्तीति चेत्? आदित्यं मेघवत्, अग्निं धूमवत्, रज्जुं सर्पवत्, ब्रह्मानन्दमप्यन्तःकरणवृत्तयः कार्यभूता अप्यावृण्वन्ति।

के वचनों की भी अवहेलना कर देते हैं! उस आनन्दमय सुषुप्ति क्षणों में अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करते हैं। लोग पुनः उठकर, उसी सुषुप्तिसुख के आनन्द का स्मरण कर फिर उसी के अनुभव के लिए शय्यादि साधनों का प्रबन्ध करते हैं। अतः वह सौषुप्तानन्द निरतिशय है अर्थात् उससे बढ़कर कोई भी आनन्द नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न—यह सौषुप्तानन्द भले ही निरतिशय हो, पर नित्य तो नहीं हो सकता है ? उत्तर— जाग्रत् व स्वप्नावस्था में अनेक विषयों के द्वारा अनेक रूप में पृथक् पृथक् उसका अनुभव होने से सीमित होने के कारण वह अनित्य है पर सुषुप्तावस्था में तो वह पूर्ण व एकरूप है, और जन्य भी नहीं है, अतः वह सौषुप्तिक सुख या आनन्द नित्य ही है।

प्रश्न—सुषुप्ति सुख यदि नित्य है तो फिर जाग्रत्-अवस्था व स्वप्नावस्था में भी उसका अनुभव होना चाहिए, परन्तु उक्त अवस्थाओं में तो उसका अनुभव नहीं किया जाता है ? उत्तर—उक्त दोनों अवस्थाओं में वह सुख विद्यमान रहता ही है, किन्तु विशेष वृत्तियों से आवृत होने के कारण उसका अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—यह सुषुप्तिकालीन सुख तो एक प्रकार से कारणरूप आनन्द है, फिर इसे कार्यरूपा अन्तःकरण की वृत्तियाँ कैसे आवृत कर लेती हैं ? उत्तर—अनेक योजन विस्तृत सूर्य को जिस प्रकार उसी के तापके फलस्वरूप उत्पन्न एक छोटा-सा मेघ का पटल आच्छादित कर देता है, कारण रूप अग्नि को जैसे उसका कार्य धूम आच्छादित कर देता है, अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को जिस प्रकार भ्रान्ति-विजृम्भित सर्प आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार व्यापक ब्रह्मानन्द को भी व्याप्य अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी आच्छादित कर देती हैं।

जैसे अग्नि व आदित्य बालकों व मूर्खों की दृष्टि में भस्म व तुषार कुहरे आदि से आच्छादित-से प्रतीत होने पर भी विवेकियों की दृष्टि में वे उक्त वस्तुओं से आच्छादित नहीं हैं, उसी प्रकार ब्रह्मानन्दरूप सुषुप्तिकालीन सुख भी बाह्य वृत्तियों की दृष्टि में आवृत-सा प्रतीत होता हुआ भी अध्यात्म दृष्टि वाले विवेकियों के मत में वह आवृत नहीं है, इनके मत में तो यह ब्रह्मानन्द आत्मस्वरूप होने के कारण तीनों कालों में एकरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए ब्रह्मानन्द से अभिन्न जो सुषुप्तिकालीन आनन्द है, वह भी नित्य है यह सिद्ध हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा अग्न्यादित्यौ भस्महिमाभ्यां बालमूढदृष्ट्या आवृतत्वेन प्रतीयमानावपि विवेकिदृष्ट्या तौ नावृतौ, तथा ब्रह्मानन्दरूपः सौषुप्तानन्दश्च जाग्रत्स्वप्नयोरावृत इव बहिर्मुखाणामेव भाति, न विवेकिनामन्तर्मुखाणाम्। तेषां तु ब्रह्मानन्दः स्वरूपभूतत्वात् कालत्रयेऽप्येकरूपः सन् प्रतीयते। अतो ब्रह्मानन्दाभिन्नसौषुप्तानन्दस्यापि नित्यत्वं सिद्धम्।

एवं निरुपाधिक-निरतिशय-नित्य-ब्रह्मानन्दत्रिविधलक्षणानाम् अस्मास्वनुभूयमानत्वाद् अस्माकमानन्दस्वरूपमस्ति।

एवं सच्चिदानन्दलक्षणस्यास्मासु श्रुतियुक्त्यनुभवसिद्धत्वादस्माकमात्मनः सच्चिदानन्द-ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यवेहि।

परोक्षं तत्त्वज्ञानम्

"वयं सच्चिदानन्दस्वरूपाः" इत्यनुभवः कथमायातीति चेत्? षड्विधलिङ्गैः वेदान्तशास्त्रतात्पर्यावधारणरूपं श्रवणं गुरुमुखात् कृत्वा, श्रवणानुसारेण मननं, मननानुसारेण निदिध्यासनं कृत्वा पश्चाद् बहुकालं स्थितवतः "सच्चिदानन्दब्रह्मैवाहम्" इति ज्ञानं जायते, इदं परोक्षज्ञानम्।

अपरोक्ष आत्मानुभवः

इदं परोक्षज्ञानमपि कृत्वा "अहं कर्ता", "ममेदं कर्म", "अहमेतज्जातिः",

इस प्रकार ब्रह्मानन्द के निरुपाधिक, निरतिशय व नित्य इन तीन लक्षणों का जब हम अनुभव कर रहे हैं तो फिर हमारी भी आनन्दरूपता सिद्ध ही है। वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही है, जिसका लक्षण सत् चित् व आनन्द स्वरूप है। यह बात श्रुति युक्ति व अनुभव द्वारा सिद्ध होने से हम लोगों का आत्मा भी सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म ही है। अतः आत्मा सर्वत्र ही सच्चिदानन्द ब्रह्म है यह सुतरां सिद्ध है।

"हम सभी सच्चिदानन्द स्वरूप हैं" इस प्रकार का अनुभव कैसे होता है ? यदि यह पूछो तो यह इस प्रकार है—उपक्रमोपसंहारादि जो पूर्व प्रकरण में बतलाये गये हैं, उन्हीं षड्विध लिङ्गों के द्वारा वेदान्तशास्त्र का तात्पर्यावधारणरूप श्रवण गुरुमुख से करके, श्रवणानुकूल मनन कर, मननानुकूल निदिध्यासन करके, तत्पश्चात् बहुत समय तक अभ्यास करते हुए साधक को "मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान हो जाता है। यह शास्त्रजन्यज्ञान परोक्ष ज्ञान कहा जाता है।

इस शास्त्रजन्य परोक्षज्ञान को सम्पन्न कर, "मैं कर्ता हूँ", "मेरा यह कर्म है", "मैं अमुक जाति का हूँ", "मैं अमुक वर्ण वाला हूँ", "मैं अमुक आश्रमवासी हूँ" यह सब अभिमान छोड़कर "मैं ब्रह्म हूँ", "ब्रह्म ही मैं हूँ" इस प्रकार के अनुभव को, उसमें विशेष प्रयत्न को और उसमें कर्तृत्वादि को छोड़कर, सुषुप्तावस्था की तरह चुपचाप स्थित हुआ, जल में लवण की तरह ब्रह्म में अपने अन्तःकरण को लीन कर विशेषताओं से अतीत दशा में वर्तमान इस महात्मा को स्वयमेव जो निर्विकल्पक ज्ञान स्फुरित होता है, वही अपरोक्षानुभव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अहमेतद्वर्णः", "अहमेतदाश्रमः", इत्यभिमानं सर्वमपि विहाय "अहं ब्रह्मास्मि", "ब्रह्मैवाहमस्मि" इत्यनुभवं च तत्र प्रयत्नं च तत्र कर्तृत्वं च विहाय, तूष्णीं सुषुप्ताविव, जले लवणवद् ब्रह्मणि लीनान्तःकरणस्य निर्विशेषं स्थितवतोऽस्य महात्मनो निर्विशेषं यज्ज्ञानं स्वयमेव स्फुरति स एवापरोक्षानुभवः।

अयमेतादृशानुभवो यदा जायते तदायं पुरुषः स्वानुभवरूपस्तथा आनन्दरूपः। तस्यानन्दवैभवं स एव जानाति, नान्यः। तथा आनन्दप्रतिपादको वेदान्तोऽपि न जानाति। न वक्तुमपि शक्नोति। तदानन्दानुभववान् स पुरुषोऽपि तमानन्दं केवलमनुभवत्येव, सौषुप्तानन्दमिव नान्यस्मै वक्तुं शक्नोति। मनसापि स्मर्तुं न शक्नोति।

हे पुत्र! तस्मात्तव स्वानुभूतिं त्वमेवानुभवितुं शक्तः। य ईश्वरः कृपया गुरुरूपेणागत्य त्वां बोधितवान् स गुरुरूप ईश्वरोऽपीदमित्थमिति वक्तुं न शक्नोति !

हे पुत्र! एवं त्वं स्वानुभवं जानन्नपि अजानन्निवानन्दरूपेण तिष्ठ।।

।। *इति एकादशवर्णकम्*।।

यह पूर्वोक्त अपरोक्षानुभव रूप आनन्द जब अनावृत होता है, तब यह पुरुष अनुभवरूप तथा आनन्दरूप ही हो जाता है। वह अनुभवकर्ता ही उस आनन्द के वैभव को समझता है, उससे कोई दूसरा नहीं। उक्त आनन्द का प्रतिपादक वेदान्तशास्त्र भी उस अनुभूत आनन्द की व्याख्या नहीं कर सकता है। ज्यादा क्या कहा जाय ! उक्त आनन्द का अनुभव करने वाला पुरुष भी उस आनन्द का केवल अनुभव कर सकता है, सुषुप्तिकालीन आनन्दानुभव की तरह उसे किन्हीं शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। मन से भी उक्त आनन्द का स्मरण नहीं कर सकता है।

हे पुत्र! इस अपनी अनुभूति को तुम स्वयं ही अनुभव कर सकते हो, किसी दूसरे को कह नहीं सकते। जो ईश्वर कृपाकर के गुरुरूप में आकर तुम्हें उक्त आनन्द का बोध कराता है, वह ईश्वर भी इस अनुभूत आनन्द को अपने शब्दों में इदमित्थंतया (यह इस प्रकार है) कहने में समर्थ नहीं है।

हे पुत्र! तुम अपने आनन्द को जानते हुए भी, उसे समुचित शब्दों में व्यक्त तो नहीं कर सकते हो, अतः न जानते हुए की तरह या जड भरत की तरह अपने स्वरूप में ही रहो।

।। *इति एकादश वर्णक*।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

द्वादशवर्णकम्

अखण्डार्थे प्रश्नः

अस्मिन् द्वादशवर्णके आत्मनोऽखण्डार्थं रहस्यमपि कृपया गुरुरुपदिशति।

शिष्यः – हे स्वामिन् ! भवद्भिरेकादशसु वर्णकेषूपदिष्टैरर्थैर्देहादिपञ्चकोशेषु "अहम्" "मम" इत्यात्मात्मीयत्वबुद्धिर्गलिता। "बुद्धिप्रकाशकं सच्चिदानन्दरूपं यद् ब्रह्म तदेवाहम्" इत्यात्मज्ञानमागतम्। सर्वे संशया नष्टाः। तथापि पुनरेकः संशयो वर्तते।

स क इति चेत्? शृणु। अयमात्मा सद्रूप इति, चिद्रूप इति, आनन्दरूप इति चोक्तं किल। एवं त्रिविधरूपप्रतिपादकानि त्रीण्यपि पदानि त्रिविधभेदभिन्नार्थं प्रतिपादयन्ति, तथा भिन्नार्थकानीव मम प्रतिभान्ति।

तस्मादेतस्य सच्चिदानन्दपदत्रयस्य भिन्नार्थवत्प्रतीयमानस्याखण्डार्थत्वं कथं सिध्येत्?

अखण्डार्थताविवरणम्

इति शिष्यवचः श्रुत्वा गुरुरुपदिशति–हे पुत्र! अखण्डार्थः क इति चेत् ? देशपरिच्छेदः, कालपरिच्छेदः वस्तुपरिच्छेद इति त्रिविधपरिच्छेदरहिततया अपरिच्छिन्नोऽर्थोऽखण्ड इति जानीहि।

इस द्वादशवर्णक में गुरु जी कृपापूर्वक आत्मा के अखण्डार्थ का भी उपदेश करेंगे जो रहस्यभूत है।

शिष्य–हे स्वामिन् ! आपने एकादश वर्णकों में जिन पदार्थों का उपदेश किया है उसके द्वारा देहादि पञ्चकोशों में "यह मेरा शरीर है", "मैं शरीरेन्द्रियादि पञ्च कोशों वाला हूँ" इत्यादि जो देहादि में अहन्ता-ममता रूप आत्मीयत्व बुद्धि थी, वह विगलित हो चुकी है। "बुद्धि को प्रकाशित करने वाला सच्चिदानन्द रूप जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ" इस प्रकार का आत्मज्ञान प्राप्त हुआ।

सभी संशय नष्ट हुए, परन्तु एक संशय फिर भी रह गया है। वह यह है कि आपने इस आत्मा को सद्रूप, चिद्रूप, व आनन्दरूप कहा। इस प्रकार तीनों रूपों के प्रतिपादक जो तीन पद हैं, वे त्रिविध भेद से भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, अतः मुझे ये तीन पद परस्पर भिन्न भिन्न अर्थों के प्रतिपादक हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

अतः ये जो सत् चित् आनन्द तीन पद हैं, ये परस्पर भिन्नार्थ के प्रतिपादक मालूम पड़ते हैं तो फिर इनकी परस्पर अखण्डार्थता या एकार्थता कैसे सिद्ध होगी?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तर्ह्यखण्डस्यैतानि त्रीणि लक्षणानि किमर्थानीति चेत्? शृणु। आकाशस्यापि व्यापकत्वेन देशपरिच्छेदरहितत्वात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय कालपरिच्छेद उपात्तः। आकाशस्योत्पत्तिविनाशवत्त्वेन कालपरिच्छेदोऽस्तीति न तत्रातिव्याप्तिः। देशकालपरिच्छेदमात्रोपादाने कालेऽतिव्याप्तिः। कालस्य देशपरिच्छेदो नास्ति, कालपरिच्छेदोऽपि नास्ति, स्वस्य स्वेनैव परिच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अत उक्तं वस्तुपरिच्छेदरहित इति। कालस्य स्वभिन्नवस्तुसद्भावाद् वस्तुपरिच्छेदोऽस्ति। आत्मन एवैतत् त्रिविधपरिच्छेदराहित्यमस्ति। अतस्त्रीणि लक्षणान्युक्तानीति विज्ञेयम्।

आत्माऽखण्डताशङ्का

ननु भवद्भिरुक्तमखण्डार्थलक्षणमात्मनि प्रदर्शयितव्यम्, आत्मन एवाखण्डार्थत्वात्। तच्चात्मनि न दृश्यते। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—सर्वेषाम् "अस्मिन् देशे तिष्ठामि", "तस्मिन् देशे न तिष्ठामि" इत्यनुभवेन देशपरिच्छेदराहित्यं नास्ति। "अहमस्मिन् वर्षे

शिष्य की उक्त आशङ्का पर गुरु उपदेश देते हैं—हे पुत्र! पहिले तुम अखण्डार्थ का तात्पर्य समझो : कोई भी वस्तु किसी देश काल व वस्तु से परिच्छिन्न होती है अर्थात् इनकी परिधि में रहती है, परन्तु आत्मा नाम की वस्तु इन तीनों प्रकारों के परिच्छेदों से रहित होने के कारण अखण्ड है, ऐसा समझो।

तब आपने अखण्ड के ये तीन लक्षण क्यों किये? अर्थात् जब सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म अखण्ड, परिपूर्ण एकरस है ही, तो फिर देश काल वस्तु वाले ये तीन लक्षण क्यों किये? उत्तर—सुनो : आकाश भी व्यापक होने से देश के परिच्छेद से रहित है। यदि हम केवल देशपरिच्छेद से रहित वस्तु को अखण्ड मान लें तो फिर आकाश में अतिव्याप्ति होती है, अतः इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए कालपरिच्छेद का भी ग्रहण किया। आकाश उत्पत्ति-विनाशशील होने से काल से परिच्छिन्न है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यदि "अखण्ड" को केवल देश काल के परिच्छेदों से रहित माना जाय, तो फिर "अखण्ड" का लक्षण काल में अतिव्याप्त होगा, क्योंकि काल किसी देश से परिच्छिन्न नहीं है और काल से भी परिच्छिन्न नहीं है, कोई वस्तु स्वतः अपने से परिच्छिन्न नहीं होती है। इसलिए "अखण्ड" को वस्तुपरिच्छेद से रहित भी कहा। काल यद्यपि देश व काल से परिच्छिन्न नहीं है, परन्तु काल से भिन्न वस्तुओं के विद्यमान होने से काल वस्तुओं से परिच्छिन्न है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है, जो इन तीनों तरह के परिच्छेदों से रहित है। अतः अखण्ड आत्मा के लक्षण में इन तीनों का ग्रहण किया।

प्रश्न—आपने जो अखण्डार्थ या अखण्ड पदार्थ का लक्षण किया है, उसे आत्मा में दिखलाना है या घटाना है, क्योंकि आत्मा ही एक अखण्ड पदार्थ है; परन्तु आपका जो त्रिविध-परिच्छेदशून्य यह लक्षण है वह आत्मा में सङ्गत नहीं हो रहा है। यह असङ्गति इस प्रकार है—सभी लोगों का यह अनुभव है कि "मैं इस देश में हूँ", "अमुक देश में नहीं हूँ" अतः जिस देश में मैं हूँ उससे परिच्छिन्न ही हूँ; इसलिए आत्मा किसी देश की परिधि से शून्य नहीं है। "मैं अमुक वर्ष में उत्पन्न हुआ" "इसके बाद दशवें वर्ष में मर जाऊँगा" इत्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जातः", "इतः परं दशमे वर्षे मरिष्यामि" इत्यनुभवेनात्मनः कालपरिच्छेदराहित्यं नास्ति। "नाहं ब्राह्मणः", "नाहं क्षत्रियः" इत्याद्यनुभवादात्मनो वस्तुपरिच्छेदराहित्यमपि नास्ति। भवद्भिस्त्रिविधपरिच्छेदशून्य आत्मेति कथमुक्तमिति चेत्?

समाधानम्

शृणु। मया पूर्वं तवैकादशवर्णक आत्मानात्मलक्षणकथनावसरे "आत्मा परिपूर्णः", "अनात्मा परिच्छिन्नः", "दृश्यं सर्वमध्यस्तम्", इत्युपदिष्टं खलु? तथापीदानीमात्म-लक्षणं प्रति शङ्कां करोषि? तस्मात्त्वं शिष्यो वा प्रतिवादी वेति सन्देहः! शिष्यश्चेत् कृपया पुनरप्यनुग्रहं कुर्मः।

प्रतिवादी चेत् क्षमया तूष्णीं भविष्यामः, अथवा कोपेन शप्स्यामः। भवतां कोपो वादिनि फलिष्यति वेति चेत् ? शिष्ये उपदेशार्थं क्रियमाणोऽनुग्रहः फलिष्यति चेद्वादिनि क्रियमाणो निग्रहोऽपि फलिष्यति। लोके निग्रहानुग्रहसामर्थ्यवत ईश्वरस्य ब्रह्मज्ञानिनश्च भेदो नास्तीति जानीहि।

तर्हि हे स्वामिन्! सद्गुरोः कृपापात्रभूतः शिष्य एवाहम्। ममैकः सन्देहो जातः, तस्मादेवं पृष्टवान्, न तु कुतर्केणेति चेत् ? शृणु। इदं देशकालवस्तुपरिच्छेदत्रयं स्वभावतो

अनुभव से प्रतीत होता है कि आत्मा काल से भी परिच्छिन्न है। "मैं ब्राह्मण नहीं, राजा हूँ", "मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय नहीं हूँ" इत्यादि अनुभव से आत्मा का वस्तुपरिच्छेद-राहित्य भी नहीं है अर्थात् आत्मा किसी न किसी ब्राह्मणत्व या क्षत्रियत्वादि उपाधि रूपी वस्तु से परिच्छिन्न ही है (ब्राह्मण-क्षत्रियादि परस्पर भिन्न हैं, भिन्न होना ही वस्तुपरिच्छिन्न होना कहा जाता है।) अतः आपने आत्मा को त्रिविध परिच्छेद से शून्य कैसे कह दिया?

उत्तर—इससे पहिले एकादशवर्णक में आत्मा व अनात्मा के लक्षण-विवेचन के अवसर पर मैंने कहा था कि "आत्मा परिपूर्ण है" "अनात्मा परिच्छिन्न है", "यह सारा दृश्य प्रपञ्च इसी परिपूर्ण आत्मा में अध्यस्त है", फिर भी तुम इस समय आत्मलक्षण के विषय में शङ्का कर रहे हो इसलिए मुझे सन्देह होता है कि तुम शिष्य हो कि प्रतिवादी हो? यदि शिष्य हो तो फिर कृपा करके तुम्हें बतलायेंगे। यदि तुम प्रतिवादी हो तो फिर क्षमाकर के चुप हो जायेंगे, अथवा क्रोध से तुम्हें शाप दे देंगे !

यदि तुम्हें यह सन्देह हो कि हमारा क्रोध वादी पर फलित होगा या नहीं ? तो यह समझो कि जिस प्रकार उपदेश द्वारा शिष्य पर किया गया अनुग्रह फलवान् होता है, उसी प्रकार प्रतिवादी के निग्रहार्थ किया गया कोप भी फलित होगा। और यह निश्चित समझो कि संसार में निग्रहानुग्रह-सामर्थ्य वाले ईश्वर में और ब्रह्मज्ञानी में कोई भी भेद नहीं है।

हे स्वामिन्! मैं तो आप जैसे सद्गुरु का कृपापात्र शिष्य हूँ; मेरे मन में एक सन्देह हो गया था, इसलिए मैंने आपसे इस प्रकार का प्रश्न किया, किसी कुतर्क या दुरभिप्राय से नहीं। अच्छा, जब ऐसी बात है तो सुनो—यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देहस्यैव, न तु परिपूर्णप्रत्यगात्मनः परिच्छेदत्रयमस्ति।

प्रत्यगात्मस्वरूपपरिपूर्णब्रह्मणो देशपरिच्छेदो नास्तीति एतत् कथं ज्ञातव्यमिति चेत्? शृणु। घटः सन्, पटः सन्, कुड्यं सत्, कुसूलं सत्, इति पृथिवी सती, आपः सत्यः, तेजः सत्, वायुः सन्, आकाशः सन्, इति चैवं भूतभौतिकप्रपञ्चे सद्रूपेणानुभूयमानत्वादात्मनो विभुत्वम्। एवं सर्वव्यापकस्यात्मनो देशपरिच्छेदो नास्ति।

आत्मनः पूर्वोक्तप्रकारकयुक्त्या अनादित्वेन नित्यत्वाद् भविष्यत्कालपरिच्छेदो नास्ति। एवं भूतकालभविष्यत्कालसम्बद्धस्यात्मन एकत्वाद् वर्तमानकालपरिच्छेदो नास्ति।

वस्तुपरिच्छेदराहित्यमात्मनः कथमिति चेत्? शृणु। आत्मनः सर्वात्मकत्वाद् वस्तुपरिच्छेदो नास्ति।

वस्तूनि कानीति चेत्? सजातीयभेदभिन्नं, विजातीयभेदभिन्नं, स्वगतभेद-भिन्नमिति वस्तूनि। तानि वा कथमिति चेत्? वृक्षस्य वृक्षान्तरात् सजातीयभेदः, वृक्षस्य

जो देश काल व वस्तु के परिच्छेद हैं ये तीनों परिच्छेद तो स्वभावतः देह के ही हैं, न कि परिपूर्ण प्रत्यगात्मा के। परिपूर्ण प्रत्यगात्मा तो इन तीनों परिच्छेदों से परे है अर्थात् वह परिच्छेदातीत है।

प्रत्यगात्मस्वरूप जो परिपूर्ण ब्रह्म है, उसका किसी देश से परिच्छेद नहीं है। यह हम कैसे जानें, यदि यह पूछो तो, यह इस प्रकार है, सुनो—“घड़ा है, वस्त्र है, दीवाल है, धान रखने का सन्दूक है, पृथिवी है, जल है, तेज है, वायु है” इत्यादि में जो “है” शब्द है, वह सत्तावाचक है अर्थात् सत्ता सर्वत्र है, जैसे घर में है वैसे ही वायु व आकाश में भी है। यह सत्तारूपी आत्मा भूत भौतिक सभी प्रपञ्च के रूप से प्रतीत होने के कारण विभु है अर्थात् व्यापक है। ऐसा सर्वव्यापक आत्मा किसी भी देश से परिच्छिन्न नहीं हो सकता है।

पूर्वोक्त प्रकार की युक्ति से आत्मा के अनादि व नित्य होने से भविष्यत् काल का परिच्छेद भी नहीं है। इस प्रकार भूत व भविष्यत् काल से सम्बद्ध आत्मा के एक होने से वर्तमान काल का भी परिच्छेद नहीं है; अर्थात् आत्मा अनादि व नित्य होने से वह किसी कालविशेष से परिच्छिन्न नहीं है। जो वस्तु सादि जन्य व अनित्य होती है, वही किसी कालविशेष से परिच्छिन्न होती है।

अब आत्मा वस्तुपरिच्छेद से रहित कैसे है, इस बात को भी सुनो— आत्मा व्यापक होने से, व सभी का अधिष्ठान होने से, सर्वात्मक है; अतः वह किसी वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है; इस तरह से आत्मा का वस्तु से भी परिच्छेद नहीं है।

प्रश्न—ये वस्तुयें कौन सी हैं जिनसे आत्मा परिच्छिन्न नहीं होता है ?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु त्रिविध भेद से एक दूसरे से भिन्न होती है। यह तीन प्रकार का वस्तुनिष्ठ भेद इस प्रकार है—सजातीय भेद, विजातीय भेद व स्वगत भेद। जैसे—वृक्ष से वृक्षान्तर का जो भेद है, वह उसका सजातीय भेद है। वृक्ष का शिलादि से जो भेद है वह विजातीय भेद है और वृक्ष का जो अपने पत्र पुष्प फलादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिलादेर्विजातीयभेदः, वृक्षस्य पत्रपुष्पादेः स्वगतभेदः। अस्य त्रिविधस्यापि भेदस्यात्मन्यभावादात्मा भेदशून्यः। अत एवात्मनो वस्तुपरिच्छेदो नास्तीति जानीहि।

आत्मभेदप्रश्नः

नन्वात्मनः सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदा न सन्तीति वक्तुं न शक्यते। कथमिति चेत् ? एकमेव चैतन्यं ब्रह्मचैतन्यमिति, ईश्वरचैतन्यमिति, कूटस्थचैतन्यमिति, जीव-चैतन्यमिति च वर्तते। अतः सजातीयभेदोऽस्ति। आत्मस्वरूपं ब्रह्मेति, अनात्मस्वरूपं प्रपञ्च इति द्वयोर्वर्तमानत्वाद् विजातीयभेदोऽस्ति। ब्रह्मणि सच्चिदानन्द इति त्रयस्य वर्तमानत्वात् स्वगतभेदोऽस्ति। एवं भेदत्रये स्थिते आत्मनो भेदत्रयं नास्तीति कथमिति चेत्?

उत्तरम्

शृणु। आकाश एक एवोपाधिभेदेन महाकाश इति मेघाकाश इति घटाकाश इति घटजलप्रतिबिम्बिताकाश इति च भेदेन यथा प्रतीयते, तथा मायोपाधिनैकमेव चैतन्यं ब्रह्मेति, ईश्वर इति च, अविद्योपाधिना कूटस्थ इति, जीव इति च केवलं प्रतीयते। एवं विचार्यमाणे सजातीयभेदो नास्ति।

से भेद है, वह उसका अपना स्वगत भेद है। आत्मा इन तीनों भेदों से शून्य है, इसलिए आत्मा किसी वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है, ऐसा जानो।

प्रश्न--भगवन् आपने जो आत्मा के सजातीय विजातीय व स्वगत भेद नहीं होते हैं, यह कहा, यह बात समीचीन नहीं है। आत्मा के विषय में आप सजातीयादि भेद नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि एक ही चैतन्य ब्रह्म चैतन्य, ईश्वर चैतन्य, कूटस्थ चैतन्य व जीव चैतन्य के भेद से अनेक प्रकार का है, अतः आत्मा में सजातीय भेद स्पष्ट है।

ब्रह्म आत्मस्वरूप है और प्रपञ्च अनात्मस्वरूप है, ये दोनों ही विद्यमान हैं, अतः (ब्रह्म से प्रपञ्च के भिन्न होने से) विजातीय भेद भी है ही। ब्रह्म को आप सच्चिदानन्दस्वरूप मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म में सत् चित् व आनन्द ये तीन अवान्तर भेद होने से, सत् चित् आनन्द के विद्यमान होने से ब्रह्म (आत्मा) का अपना स्वगत भेद भी है ही। जब ये सारे सजातीय विजातीय व स्वगत भेद विद्यमान हैं ही, तो फिर कैसे कह दिया कि आत्मा सजातीय विजातीय व स्वगत भेदों से रहित है ?

उत्तर--एक ही आकाश जैसे उपाधियों के भेद से महाकाश, मेघाकाश, घटाकाश तथा घटजल में प्रतिबिम्बिताकाश के कारण भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही व्यापक चैतन्य भी माया उपाधि से ब्रह्म, ईश्वर व अविद्या उपाधि के कारण कूटस्थ, जीव प्रतीत होता है। वस्तुतः आकाश की तरह चैतन्य एक ही है, उपाधिभेद से वह भिन्न-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार विचार करने पर चैतन्य आत्मा में कोई सजातीय भेद नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा विजातीय भेद से रहित है। जैसे रज्जु के बिना सर्प की अपनी कोई स्थिति नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विजातीयभेदः कथं नास्तीति चेत्? शृणु। रज्जुं विना यथा सर्पो नास्ति, आकाशं विना यथा तलमालिन्यं नास्ति, एवमात्मानं विना अनात्मापि नास्ति। अधिष्ठानं विना आरोपितं सर्वं मिथ्यैव। मिथ्या नाम वन्ध्यापुत्रशशविषाणादिवत् कालत्रयेऽप्यविद्यमानम्। अनात्मनः परमार्थतोऽविद्यमानत्वादात्मनो विजातीयभेदो नास्ति।

स्वगतभेदः कथं नास्तीति चेत्? शृणु। "आत्मा", "साक्षी", "कूटस्थः", "पारमार्थिकः", "प्राज्ञः", "ब्रह्म", "सत्", "चित्", "आनन्दः", "नित्यः", "एकः", "परिपूर्णः", इत्यादिविधिवाक्यनामानि च "अस्थूलम्", "अनणु", "अद्वैतम्", "अचिन्त्यम्" "अविकारि", "अविनाशी", "अकर्ता", "अकारयिता" इति निषेधवाक्यनामानि चैकस्मिन् निर्विशेषात्मस्वरूपप्रकाशन एव तात्पर्यवन्ति, न तु स्वरूपभेदे, आत्मनो निर्विशेषत्वान्निरंशत्वाच्च। तस्मात् स्वगतभेदो नास्तीत्येवं जानीहि।

अखण्डे वाक्यप्रवृत्तिः

ननु सच्चिदानन्दपदानां भिन्नार्थत्वाद्धस्तकरपाणिवत् पर्यायत्वाभावात् तैः पदैः प्रतिपाद्यमानस्यात्मनः "वृक्षः पत्रपुष्पफलरूपेण वर्तते" इत्यत्र पत्रादिपदानां भिन्नार्थत्वात्तैः पदैः प्रतिपाद्यमानस्य वृक्षस्येव स्वगतभेदेन भवितव्यमिति चेत् ? "लोहितोष्णप्रकाशो

है, आकाश के बिना उसके तलमालिन्य की स्थिति नहीं है। इसी प्रकार आत्मा के बिना अनात्मा (प्रपञ्च) की भी कोई अपनी अलग स्थिति नहीं है। अधिष्ठान के बिना यह समस्त आरोपित वस्तु मिथ्या ही है। जिस पदार्थ की वन्ध्यापुत्र व खरगोश के सींग की तरह किसी काल में सत्ता न हो, उसे मिथ्या कहते हैं। इसलिए अनात्मा (प्रपञ्च) की परमार्थतः कोई स्थिति न होने से आत्मा में विजातीय भेद भी नहीं है।

प्रश्न—वृक्ष का जैसे पत्र, पुष्प व फल से अपना स्वगत भेद है, वैसे ही आत्मा का भी सत्, चित्, आनन्द आदि स्वकीय धर्मों से स्वगत भेद क्यों नहीं है ? उत्तर—"आत्मा", "साक्षी", "कूटस्थ", "पारमार्थिक", "प्राज्ञ", "ब्रह्म", "सत्", "चित्", "आनन्द", "नित्य", "एक", "परिपूर्ण", इत्यादि विधि वाक्यों के नाम हैं अर्थात् ये पूर्वोक्त वाक्य "आत्मा", "साक्षी" इत्यादि विधिमुख से एक ही आत्मपदार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार—यह आत्मा न तो स्थूल है, न ही अणु है, द्वैत रहित भी है और अचिन्त्य अर्थात् कल्पनारहित है, किसी प्रकार के विकार से शून्य है, यह अविनाशी, कर्तृत्व तथा कारयितृत्वादि धर्मों से रहित है—ये पूर्वोक्त "अस्थूल" "अनणु" इत्यादि निषेध वाक्यरूप नामावली भी एक ही परिपूर्ण आत्मा के निर्विशेष रूप के प्रतिपादन में तात्पर्य वाली है, न कि आत्मा के स्वरूपभेद का प्रतिपादन करती है। क्योंकि आत्मा तो निर्विशेष तथा निरंश है, अतः उसमें स्वगत भेद की भी कोई गुंजाइश नहीं है, ऐसा समझो।

प्रश्न—भगवन् ! सत्, चित्, आनन्द के (सत्ता, चैतन्य व सुखरूप) भिन्नार्थक होने से "हस्तः, करः पाणिः" की तरह परस्पर पर्यायवाचक न होने के कारण उक्त सच्चिदानन्द इन विभिन्न पदों से प्रतिपाद्य एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीपः" इत्यत्र यथा दीपस्य स्वगतभेदो नास्ति, एवम् "सच्चिदानन्दरूप आत्मा" इत्यत्रापि स्वगतभेदो नास्ति।

न च तर्हि "पत्रपुष्पफलरूपो वृक्षः" इत्यत्रापि स्वगतभेदो न स्यादिति वाच्यम्। तत्र वृक्षस्य सर्वस्यापि पत्रादिरूपत्वं नोच्यते। एकस्मिन् प्रदेशे पत्ररूपः, एकस्मिन् प्रदेशे पुष्परूपः, एकस्मिन् प्रदेशे फलरूप इत्युच्यते। अतस्तत्र स्वगतभेदोऽस्ति। "सच्चिदानन्दरूप आत्मा" इत्यत्र सर्वांशेनाप्यात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वस्य प्रतिपाद्यमानत्वात् "लोहितोष्णप्रकाशो दीपः" इति सर्वांशेनापि लोहितोष्णप्रकाशत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य दीपस्येव स्वगतभेदो नास्ति।

एवं चेच्छ्रुतिः "आत्मा सद्रूपश्चिद्रूप आनन्दरूपः" इति पुनः पुनः किमर्थमुपदिशति, एकेनैवोपदेशेनात्मनो ज्ञातुं शक्यत्वादिति चेत्? शृणु, श्रुतेस्तात्पर्यं ब्रवीमि। कथमिति चेत्?

आत्मा का जैसे बोध होता है, इसी प्रकार "पत्र-पुष्प-फलों के रूप में पेड़ है" यहाँ पर भी पत्र-पुष्पादि विभिन्नार्थक पदों से एक वृक्ष ही प्रतिपाद्य है, तो फिर वृक्ष के पत्र पुष्पादि की तरह आत्मा के भी सत् चित् आनन्दादि में स्वगतभेद क्यों न माना जाय ?

उत्तर—"लाल गरम रोशनी वाला दीपक" इस वाक्य से जैसे दीपक का अपना स्वगतभेद द्योतित नहीं होता है, इसी प्रकार "सच्चिदानन्दरूप आत्मा" इस वाक्य से भी उसका स्वगतभेद बोधित न होकर अखण्ड एक आत्मा का ही बोध होता है।

प्रश्न— तब तो फिर "पत्रपुष्पफलरूपो वृक्षः" यहाँ भी वृक्ष का अपना स्वगतभेद बोध्य नहीं होगा? उत्तर— यहाँ सम्पूर्ण वृक्ष की पत्रादिरूपता नहीं कही जाती है, अपितु पत्रादि प्रदेश में ही तद्रूपता होती है। वृक्ष के एक देश में पत्ता है और एक देश में पुष्प है और एक देश में फल है अर्थात् वाक्य का अभिप्राय है कि वृक्ष ही पत्ते-फूल-फल रूपों में है, पत्तों आदि का भेद विवक्षित ही है, अतः पत्र पुष्पादियों से वृक्ष का परस्पर स्वगतभेद है।

"सच्चिदानन्दरूप आत्मा है" यहाँ सर्वांश से उक्त वाक्य आत्मा के सत् चित् आनन्दरूपता का प्रतिपादन करता है अतः यहाँ "लोहितोष्णप्रकाशो दीपः" वाक्य जिस प्रकार रक्त वर्ण वाले, उष्ण गुण वाले व प्रकाशरूप द्रव्य केवल एक दीपक का प्रतिपादन करता है, उसमें अपना कोई स्वगतभेद नहीं बताता है, उसी प्रकार उक्त "सच्चिदानन्दरूपः आत्मा" यह वाक्य भी अखण्ड एक आत्मा का ही प्रतिपादन करता है। अतः उसमें अपना कोई स्वगतभेद नहीं है।

जब आत्मा सजातीय, विजातीय व स्वगत भेदों से रहित है और सच्चिदानन्दरूप है, तो फिर श्रुति बार बार "आत्मा सत्रूप है, चित्रूप है और आनन्दरूप है" ऐसा उपदेश क्यों करती है ? क्योंकि एक ही उपदेश के द्वारा आत्मा का सत् चित् व आनन्द रूप जाना जा सकता है। जब एक ही उपदेश से आत्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो फिर बार बार उसका उपदेश करना तो पिष्टपेषण ही है ?

उत्तर—बार बार श्रुति उपदेश क्यों देती है, इसके तात्पर्य को सुनो—

आत्मा में रहने वाले सत्त्व को लोग जगत् में आरोपित करते हैं, और उसमें रहने वाले चित्त्व—चैतन्य को जड पदार्थ, बुद्धि आदि में आरोपित करते हैं, एवं तन्निष्ठ आनन्दत्व का आरोप पुत्रभार्यादियों में करते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मनिष्ठं सत्त्वं जगति, चित्त्वं जडेषु बुद्ध्यादिषु, आनन्दत्वं पुत्रभार्यादिषु च, जगन्निष्ठमसत्त्वं, बुद्ध्यादिनिष्ठं जडत्वं, पुत्रभार्यादिनिष्ठं दुःखत्वं च सच्चिदानन्द आत्मनि च परस्परं वैपरीत्येनाविद्यया आरोपितम्। अतः "सर्वं जगत् सत्यम्", "बुद्ध्यादयश्चेतनाः", "पुत्रभार्यादय आनन्दरूपाः", "अहं नश्वरः", "अहं जडः", "अहं दुःखी" इति च परिभ्रमन्ति। एतद्भ्रान्तिनिवृत्तये मातृभूता श्रुतिर्जीवान् प्रत्युपदिशति।

कथमिति चेत्? हे जीवाः! यूयं सच्चिदानन्दरूपा एव इति बोधनार्थम्, "आत्मा सद्रूपो नानृतरूपः, चिद्रूपो न जडरूपः, आनन्दरूपो न दुःखरूपः" इति तद्भ्रान्ति-निवृत्त्यर्थं बोधयतीति जानीहि।

श्रुतिरात्मनः सच्चिदानन्दरूपेण भेदं न बोधयति। लोके केचन वादिनः "आत्मनः सत्त्वं धर्मः, चित्त्वं सुखं च गुणौ, अत आत्मा सच्चिदानन्दरूपो न भवति" इति कथयन्ति। तन्निवारणार्थमपि श्रुतिः "आत्मा सच्चिदानन्दरूपः" इति वदतीत्यवगन्तव्यम्।

हैं। इसके विपरीत कभी-कभी जगत् में रहने वाले असत्त्व (मिथ्यात्व) का, बुद्धि आदि में रहने वाले जडत्व का और पुत्रभार्यादि में रहने वाले दुःखत्वादि का आरोप अविद्या के द्वारा सच्चिदानन्दरूप आत्मा में करते हैं, अर्थात् अविवेक द्वारा अन्य के धर्मों का अन्यत्र आरोप करते हैं, जिसे अध्यास कहते हैं। (जो जैसा नहीं उसे वैसा समझना अध्यास है। हो कोई एक वस्तु, उसे समझें कोई अन्य ही वस्तु—यह भी अध्यास है। आत्मा को हम असत्, नश्वरादि; अचित् अर्थात् ज्ञान में पराधीन; और अनानन्द अर्थात् सुख के लिये परापेक्षी समझते हैं। साथ ही संसार को मानते हैं कि वह है (सत्), भासमान है (चित्), प्रिय है (आनंद)। यों आत्मा व अनात्मा दोनों को उनके स्वभाव से विपरीत समझ रहे हैं। यह अध्यास ही संसरणहेतु है।) श्रुति इसी अध्यास को दूर करने का प्रयत्न करती है। पूर्वोक्त अविवेक के कारण ही, "यह समस्त चराचर जगत् सत्य है", "बुद्धि आदि सभी इन्द्रियाँ चेतन हैं", "पुत्र भार्यादि जितना भी ममत्व वाला वर्ग है वह सब आनन्द रूप है", "मैं नश्वर हूँ", "मैं जड अथवा अज्ञ हूँ", "मैं दुःखी हूँ" इत्यादि विपरीत भावना के वशीभूत या भ्रम के विभ्रम से मुग्ध हो जाते हैं। इसी भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए मातृभूता श्रुति जीवों को उपदेश देती है।

श्रुति इस प्रकार जीवों को सम्बोधित करती है : हे जीवों ! तुम सब सच्चिदानन्दरूप ही हो। इसी के ज्ञान के लिए यत्र तत्र सर्वत्र विधि व निषेध रूप से उपदेश किया गया है। जैसे—"आत्मा सद्रूप है मिथ्या नहीं, आत्मा चिद्रूप है जडरूप नहीं, आत्मा आनन्दरूप है दुःखरूप नहीं।" आत्मा के विषय में जो पूर्वोक्त प्रकार की अनेक भ्रान्तियाँ हैं, उन्हीं की निवृत्ति के लिए श्रुति का उपदेश है, वह आत्मा का सत् चित् व आनन्द से किसी प्रकार का भेद नहीं बतलाती है।

लोक में कुछ नैय्यायिक आदि "आत्मा का सत्त्व धर्म है और उसके चैतन्य व आनन्द गुण हैं अतः आत्मा सच्चिदानन्दरूप नहीं है" ऐसा कहते हैं। इन्हीं लोगों के सिद्धान्त के खण्डन के लिए श्रुति आत्मा को सच्चिदानन्दरूप मानती है, ऐसा समझना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवद्भिः श्रुतेस्तात्पर्यमेवमिति कथं ज्ञातमिति चेत्? सर्वासामपि श्रुतीनामुपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैरखण्डार्थे तात्पर्यस्यावधारणादिति मन्तव्यम्।

अखण्डत्वे युक्तिः

हे स्वामिन्! एवं श्रुत्यैवाखण्डार्थः साधितः, इतः परं युक्त्यापि कृपया साधनीय इति चेत् ? शृणु।

सत् स्वयमेव प्रकाशते वाऽन्येन वा प्रकाशते? आद्ये, सदेव चित्स्यात्। अन्येन चेत् ? सतः प्रकाशकं तदन्यद् वस्तु सद्विलक्षणं वा सदन्तरं वा? सद्विलक्षणत्वे तस्य शशविषाणादिवदसत्त्वेन तस्य सत्प्रकाशकत्वं न संभवति।

सदन्तरमिति पक्षे; तत् सदन्तरं स्वयं प्रकाशते वाऽन्येन प्रकाशते वा ? इति विकल्पे; आद्यपक्षे, सत एव स्वयंप्रकाशत्वे चित्त्वं स्यात्। अन्येन प्रकाशते इति पक्षे; पुनरपि विकल्पः पूर्ववदायाति। एवं विकल्पे क्रियमाणे आत्माश्रयदोषोऽन्योन्याश्रयदोषश्चक्रकापत्तिदोषोऽनवस्थादोष इति बहवो दोषा आपतेरन्। तस्मात् सत् स्वयमेव प्रकाशते।

प्रश्न—आपने श्रुति का इस प्रकार का तात्पर्य कैसे जान लिया? उत्तर—समस्त श्रुतियों का उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गों के द्वारा अखण्ड ब्रह्म में ही तात्पर्य है, ऐसा मानना चाहिए।

हे स्वामिन् ! पूर्वोक्त प्रकार से आपने अखण्डार्थ को केवल श्रुति-प्रमाणपुरःसर सिद्ध किया, अब कृपया इसे युक्तिपूर्वक भी सिद्ध कीजिए।

सुनो : यह बतलाओ कि सत् स्वयमेव प्रकाशित होता है या किसी अन्य (वस्तु) से प्रकाशित होता है? यदि स्वयमेव प्रकाशित होता है, तो फिर वही प्रकाश चित् है। यदि यह मानते हो कि सत् किसी अन्य वस्तु से प्रकाशित होता है, तब यह बतलाओ कि वह वस्तु सत् से विलक्षण है या सत् के ही अन्दर का कोई सत् का भेद है ? यदि यह माना जाय कि सत् से विलक्षण कोई वस्तु सत् को प्रकाशित करती है, तो फिर सत् से विलक्षण वस्तु तो शशविषाण की तरह तुच्छ है, ऐसी तुच्छ वस्तु से सत् का प्रकाशन कभी भी सम्भव नहीं है।

यदि सदन्तर (सत् का ही अपना भेद) है यह पक्ष लिया जाय, तो फिर वह सदन्तर स्वयं प्रकाशित होता है या और किसी से प्रकाशित होता है? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् वह स्वयं प्रकाशित होता है, तो फिर उसका चित्त्व (चैतन्य) भी स्वीकार करना पड़ेगा। वह सदन्तर किसी दूसरे से प्रकाशित होता है, ऐसा मानने पर, फिर वही पूर्वोक्त विकल्प आ जाता है कि, सदन्तर जब अपने को प्रकाशित करता है तब सत् को प्रकाशित करे, अथवा एक के प्रकाश की दूसरे को अपेक्षा हो अथवा वह भी किसी दूसरे से ही प्रकाशित हो फिर वह भी किसी दूसरे से प्रकाशित हो, इत्यादि क्रम से आत्माश्रय अन्योन्याश्रय चक्रक अनवस्था इत्यादि बहुत से दोष आयेंगे, अतः यही मानना चाहिए कि सत् स्वयं ही प्रकाशित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सतः स्वयंप्रकाशत्वे सदेव चिद् चिदेव सत्, उभयमप्येकमेव। सदन्तरमस्तीति वेदेषु न कुत्रापि दृश्यते। अतः सत् स्वयमेव प्रकाशत इति निश्चयः। अतः सदेव चिदिति सिद्धम्।

तस्य स्वयंप्रकाशमानस्य सत आनन्दत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते—सतोऽद्वैतत्वादानन्दत्वम्। आनन्दः परिपूर्ण एव तिष्ठति। नाऽल्पे पूर्णत्वम्। पूर्णत्वञ्च सतोऽद्वैतस्यैव न द्वैतस्य।

कथं सदद्वैतमिति चेत् ? हे पुत्र ! सतः सद्वितीयत्वं सदन्तरेण वा सद्विलक्षणेन वा? वद। नाद्यः, सदन्तरस्य शास्त्रेण, युक्त्या, अनुभवेन चासिद्धत्वात्। न द्वितीयः, सद्विलक्षणस्य शशविषाणवत् स्वरूपाभावेन तेन सद्वितीयस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अस्माद्

(उपपादक कल्पना में तार्किक ये दोष बताते हैं—१) स्वयं को स्वयं पर आश्रित या निर्भर मानना आत्माश्रय दोष है। २) दो को एक-दूसरे पर निर्भर मानना अन्योन्याश्रय दोष है। ३) प्रथम को द्वितीय पर निर्भर, उसे तृतीय पर किंतु तृतीय को पुनः प्रथम पर निर्भर मानना चक्रक दोष है। ४) उक्त तृतीय को यदि किसी चौथे पर आश्रित माना जाये तो अनवस्था दोष है। प्रकृत में : अस्फुरमाण सत् नहीं होता जैसे शशशृंग अतः सत्-स्फुरण चाहिये। इसके लिये वह स्वयं पर निर्भर करे तो आत्माश्रय है। दूसरे पर करे किन्तु वह दूसरा अपने स्फुरण के लिये सत् पर निर्भर हो तो अन्योन्याश्रय है। दूसरा किसी तीसरे पर लेकिन वह तीसरा पुनः सत् पर करे तो चक्रक है। तथा तीसरा यदि चौथे पर करे तो अनवस्था है। स्वप्रकाश स्वीकारने पर आत्माश्रय नहीं क्योंकि तब 'निर्भरता' नहीं वरन् स्वरूप से ही सत् को चित् माना जा रहा है। किंच कल्पना या कल्पित पदार्थों पर ही ये दोष लगते हैं, प्रमित पदार्थों पर नहीं और अखण्ड सच्चिदानन्द श्रुति से प्रमित है।)

जब सत् की स्वप्रकाशता है, तो फिर सत् ही चित् है और चित् ही सत् है, ये दोनों एक ही हैं। अलग से सत् का कोई भेद है, ऐसा वेदों में कहीं भी नहीं देखा गया है। अतः सत् स्वयमेव प्रकाशित होता है, यह निश्चय हुआ इसलिए सत् ही चित् है, यह सिद्ध हुआ।

प्रश्न—स्वयं प्रकाशित होने वाले उस सत् का आनन्दत्व कैसे है ? उत्तर—चित् रूप जो सत् है, वह अद्वैत है अर्थात् वह सजातीय विजातीय व स्वगतभेद से शून्य है, यह पहिले ही बतला चुके हैं, अतः यह आनन्दत्व भी सत् व चित् से अभिन्न वस्तु है। इसलिए इसका आनन्दत्व भी सिद्ध है। आनन्द हमेशा परिपूर्ण ही रहता है, न्यूनता में कहीं भी पूर्णता नहीं रहती है, यह पूर्णता सत् की अद्वैतता में ही होती है, न कि द्वैत में।

यह सत् किस प्रकार अद्वैत है, सो सुनो—हे पुत्र ! तुम यह बताओ कि सत् की सद्वितीयता सदन्तर से है या सद्विलक्षण से है ? सदन्तर शास्त्र युक्ति व अनुभव के द्वारा असिद्ध है। सद्विलक्षण स्वयं शशविषाणवत् होने से स्वरूपशून्य है, अतः सत् की सद्वितीयता किसी प्रकार नहीं कही जा सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकल्पद्वयादन्यो विकल्पो नास्ति, अत एकस्य सतो द्वितीयाभावादद्वैतत्वं सिद्धम्। तेन पूर्णत्वं सिद्धम्। तेन स्वप्रकाशसदेव आनन्दः।

एवं युक्त्यापि सच्चिदानन्द-पदानामखण्डार्थत्वं जानीहि।

अखण्डतानुभवः

अथानुभवेनाखण्डार्थत्वं साध्यते। अखण्डार्थत्वमेकादशवर्णकेऽप्युक्तम्। तथाऽपि पुनरुच्यते दार्ढ्यार्थम्। शृणु। सर्वेषां सुषुप्तावेकं सुखं भवति। तत् सुखं जाग्रत्स्वप्नयोरिव न नानारूपम्। किंत्वेकरूपं निर्बाधम्। तस्मात्तत्सुखमद्वैतमेव। तस्यामवस्थायां सूर्याद्यालोकानपेक्षं सौषुप्तानन्दस्य प्रकाशमानत्वात्तस्य चित्त्वम्।

तस्य सौषुप्तानन्दस्य स्वयंप्रकाशत्वे किं प्रमाणमिति चेत् ? सुप्तोत्थितस्य "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम्" इति स्मरणमायाति। स्मरणस्यानुभवपूर्वकत्वनियमात् सौषुप्तसुखस्यानुभवो वक्तव्यः। तदानीमनुभवकारणस्येन्द्रियादेरभावात् सोऽनुभवः सौषुप्तानन्दस्य स्वयंप्रकाशत्वादेवेति जानीहि।

इन दो विकल्पों से अन्य कोई विकल्प है नहीं, अर्थात् सदन्तर व सद्विलक्षण से अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प सत् के विषय में नहीं हो सकता है। उक्त विकल्पों का उत्तर पूर्व प्रकरण में दिया जा चुका है, अतः अद्वितीय एक सत् का द्वैताभाव के कारण अद्वैतत्व स्वतःसिद्ध है। जब सत् का अद्वितीयत्व सिद्ध है, तो फिर जो सत् है वही चित् है, और वही आनन्द भी है। इस प्रकार युक्ति से भी सच्चिदानन्द पदों की अखण्डार्थता है, ऐसा समझो।

अब अनुभव के द्वारा भी सच्चिदादि पदों की अखण्डार्थता सिद्ध करते हैं। यद्यपि यह अखण्डार्थता एकादशवर्णक में सिद्ध की जा चुकी है, तथापि शिष्यबुद्धि की दृढता के लिए फिर कही जा रही है, सुनो : सुषुप्ति में सबका एक प्रकार का ही सुख रहता है। वह सुख जाग्रत् व स्वप्नकालीन सुख की तरह अनेक रूप वाला नहीं रहता है, किन्तु एकरूप और एकरस ही रहता है। इसलिए यही एकरस सुख अद्वैत है। क्योंकि यह निर्बाध एकरूप है। सुषुप्ति अवस्था में वह सुख किसी अन्य सूर्यादि प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता है, अपितु स्वयं प्रकाश है, अतः स्वयं प्रकाश होने से उसका चित्त्व—चैतन्य भी स्वतःसिद्ध है।

सुषुप्तिकालीन आनन्द स्वयं प्रकाशित होता है, इसमें क्या प्रमाण है? यदि ऐसा प्रश्न करो तो सुनो—मनुष्य जब सो कर उठता है तो उसे इस प्रकार का स्मरण होता है कि "इतने समय तक मैं सुखपूर्वक सोया" अथवा "आज तो सोने में इतना आनन्द आया कि मैंने कुछ भी नहीं जाना"। स्मरण हमेशा अनुभवपूर्वक होता है, ऐसा नियम है। अतः सोये हुए व्यक्ति को सुषुप्तिकालीन सुख का अनुभव हुआ ऐसा मानना पड़ेगा।

लोक में जब हमें किसी प्रकार का या घट पटादि पदार्थों का अनुभव या ज्ञान होता है, तो वह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ही होता है। अब देखिए, उस अवस्था में हमारी कोई भी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय काम नहीं करती है या सक्रिय नहीं रहती है जिनके द्वारा कि हम उक्त अनुभव कर सकें। यहाँ तक कि अन्तःकरण भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु सुषुप्तावनुभवेन सुखं च प्रकाशतेऽज्ञानं च प्रकाशते, तयोर्मध्ये सुखं वा, अज्ञानं वा स्वप्रकाशं वस्त्विति विचार्यमाणे; सुखमेव स्वप्रकाशमिति वक्तव्यम्। नाज्ञानम्, तस्यावरणरूपत्वेन प्रकाशाभावात्।

अतः सुषुप्तावात्मरूपं सुखमेव स्वप्रकाशं सत् स्वस्मिन्नारोपितमज्ञानमपि प्रकाशयति। अतस्तत्सुखं स्वप्रकाशमेवेत्यनुभवेनापि सच्चिदानन्दपदानामखण्डार्थत्वं सिद्धम्।

एवं श्रुतियुक्त्यनुभवैरात्मनः स्वगतभेदोऽपि नास्ति। एवं सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदानामभावाद् वस्तुपरिच्छेदो नास्ति। एवं देशकालवस्तुपरिच्छेदाभावेनात्मा परिपूर्ण इति सिद्धम्। अनेनाखण्डैकरसत्वं सिद्धम्।।

उपदेशसारः

हे पुत्र! परिपूर्णानन्दात्मनो दुःखमागन्तुकम्। तद् दुःखं शरीरेण, शरीरं कर्मणा, कर्म रागादिना, रागादिरभिमानेन, अभिमानोऽविवेकेन, अविवेकोऽज्ञानेन, चागत इति

सुप्त ही रहता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि वह सौषुप्तानन्द या सुषुप्तिकालीन सुख स्वयं प्रकाशित होनेसे या अनुभव रूप होने से स्मृति पथ में आता है। और उस स्मृति से उक्त अनुभव का अनुमान किया जाता है।

प्रश्न—सुषुप्तावस्था में अनुभव द्वारा सुख भी प्रकाशित होता है और अज्ञान भी प्रकाशित होता है। इन दोनों में से किसे स्वप्रकाश या स्वयंप्रकाशरूप वस्तु माना जाय, क्योंकि सो कर जगे हुए व्यक्ति का यही अनुभव होता है कि "सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्" ? उत्तर—विचारपूर्वक देखा जाय तो सुख या आनन्द ही स्वप्रकाशरूप वस्तु है। "न किञ्चिदवेदिषम्" रूप अज्ञान स्वप्रकाश वस्तु नहीं है, क्योंकि अज्ञान स्वयं तमस्-प्रधान होने से आवरणस्वरूप है, अतः आवरक होने से वह प्रकाशरूप नहीं है।

अज्ञान तमोगुण प्रधान व आवरक होने के कारण प्रकाशरूप नहीं हो सकता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था में आत्मरूप सुख ही प्रकाशित होता है, वह आत्मरूप सुख स्वयं प्रकाशित होता हुआ, अपने में आरोपित अज्ञान को भी प्रकाशित करता है। अतः आत्मरूप वह सुख ही स्वप्रकाश है, यह अनुभव के द्वारा भी सिद्ध है। इस प्रकार सत् चित् व आनन्द इन पदों की अखण्डार्थता या परिपूर्णता अथवा एकार्थता सिद्ध है।

इस प्रकार श्रुति, युक्ति व अनुभव के द्वारा विचार करने पर आत्मा का अपना कोई स्वगतभेद भी नहीं है। एवं सजातीय विजातीय व स्वगत भेदों के अभाव के कारण आत्मा किसी वस्तु से परिच्छिंन नहीं है। अतः देश काल व वस्तु के परिच्छेद के न होने से आत्मा परिपूर्ण है यह सिद्ध हुआ। जब आत्मा परिपूर्ण है, तो फिर उसकी अखण्डता व एकरसता भी स्वतःसिद्ध है।

हे पुत्र! परिपूर्ण और आनन्दस्वरूप जो आत्मा है, उसमें प्रतीयमान ये दुःख आगन्तुक हैं (वह कोई उसका स्थायी धर्म नहीं है)। यह दुःख शरीर के द्वारा आता है, शरीर कर्म के द्वारा उत्पन्न होता है, कर्म की उत्पत्ति रागादि से है, राग अभिमानजन्य है, अभिमान का कारण अविवेक है, अविवेक का जनक अज्ञान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञात्वा, तदज्ञानं ज्ञानेन बाधितव्यमिति ज्ञानं च विचारेणागच्छतीति च, आत्मा सत्यज्ञानानन्दरूप इति च, देहादिप्रपञ्चोऽनृतजडदुःखरूप इति च, स प्रपञ्चोऽध्यारोप इति चैवं विचार्य, तत्त्वंपदवाक्यजन्यज्ञानेन स्वात्मनः "अहं ब्रह्मास्मि" इति यत्परोक्षज्ञानं तदनुभवेन साक्षात्काररूपं यदपरोक्षज्ञानमेतच्च यः प्राप्नोति स एव "चण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम" इति भगवत्पूज्यपादाचार्यवचनात् कुटीचक-बहूदक-संन्यासिभ्योऽधिकतया पूजनीयः। स एव परमहंस इति निश्चित्य, त्वमपि मदुक्तप्रकारेणात्मानं सम्यक् श्रुत्वा, मत्वा, ध्यात्वा, साक्षात्कृत्य, नित्य-शुद्ध-बुद्धमुक्त-सत्य-परमानन्दाद्वयब्रह्मरूपेण तिष्ठ।

इस प्रकार पूर्व पूर्व के प्रति पर पर को कारण जानकर अर्थात् उक्त कारणमाला का भलीभाँति विचार करके, अज्ञान को ज्ञान के द्वारा नष्ट करना चाहिए। ज्ञान विचार के द्वारा आता है और यह आत्मा सत्य, ज्ञान व आनन्द रूप है।

यह जो देहादि प्रपञ्च है, वह असत्य=मिथ्या, जड व दुःख रूप है। यह सब आत्मा में अध्यस्त होने से "अध्यारोप" कहलाता है। इस प्रकार आत्मा की सत्यता तथा देहादि प्रपञ्च की असत्यता का विचार कर "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान के द्वारा आत्मा की "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार ब्रह्मरूपता का जो परोक्ष ज्ञान है, इसके अनुभव द्वारा जो साक्षात्काररूप अपरोक्ष ज्ञान है, इसे जो प्राप्त करता है, वह "चाहे चाण्डाल हो, अथवा ब्राह्मणादि हो, वह मेरा गुरु है, यही मेरा विचार है"[1], इस भगवत्पादाचार्य के कथन का विषय है। वह कुटीचक बहूदक आदि संन्यासियों से अधिक पूजनीय है।[2] शास्त्र द्वारा आत्मा का परोक्ष ज्ञान

---

१. देहसे विविक्त आत्मा ही मुक्त होता है। चाहे ब्राह्मण के देहसे विविक्त हुआ हो या अन्य किसीके देह से, इससे आत्मामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्मोपदेष्टा गुरु मुक्त ही हो सकता है। जो भी मुक्त है वह आत्मस्वरूप ही है। मुक्त आत्मा की एकता ही उदाहृत आचार्यवचन का अभिप्राय है।

२. शास्त्रों में संन्यासियों के चार भेद बतलाये हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस।

१. कुटीचक—ऐसा संन्यासी जो शिखा सूत्र का त्याग नहीं करता है, केवल अपने ही कुल व कुटुम्बियों के यहाँ भिक्षा करता है।

२. बहूदक— बहूदक संन्यासी अपने घर कुटुम्ब से दूर किसी अपरिचित नगर में निवास करता है और घर-घर भिक्षा माँगता है।

३. हंस—हंस संन्यासी यज्ञोपवीत व जटाधारी एवं दण्डकमण्डलु धारी रहता है, किसी गाँव में एक रात से अधिक नहीं ठहरता है, तथा कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत परायण रहता है।

४. परमहंस—परमहंस को दण्ड व शिखा सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, यह भावात्मक समाधि द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में करता है, संन्यासियों में यही उच्च कोटि का संन्यासी माना जाता है। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में उक्त संन्यासियों के लक्षण बताये हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एतावदेवाचार्यैर्वक्तव्यं शिष्येण च श्रोतव्यम्। इतः परं वक्तव्यं श्रोतव्यं च नास्तीति सिद्धम्।।

।। इति द्वादशवर्णकम्।।

।। इति वासुदेवयतीश्वरकृतं लघुवासुदेवमननं प्रकरणम्।।

तथा श्रवण मनन निदिध्यासनादि द्वारा अपरोक्ष ज्ञान को जो प्राप्त कर चुका है ऐसा साधक ही परमहंस है।

ऐसा निश्चय करके तुम भी मेरे उपदेशानुसार आत्मा के विषय में अच्छी तरह श्रवण, मनन व निदिध्यासन करके तथा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्य परमानन्द अद्वय ब्रह्मरूप अपने को समझो।

बस इतना ही आचार्यों का उपदेश है, इतना ही शिष्य को समझना है। इसके बाद वक्तव्य व श्रोतव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है।

।। इति द्वादशवर्णक।।

।। इति श्री वासुदेवयतीश्वरकृत लघुवासुदेवमनन प्रकरण का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता

दशश्लोकी

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥
न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥२॥
न माता पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥३॥
न साङ्ख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा ।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥४॥
न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वाऽपरा दिक् ।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥५॥
न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम् ।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥६॥
न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः ।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥७॥
न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा ।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीयस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥८॥
अपि व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात् स्वतस्सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥९॥
न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतस्स्याद् न वा केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥१०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीमद्-मधुसूदनसरस्वती-कृतः

सिद्धान्तबिन्दुः

मङ्गलम्

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य ।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम् ।।

प्रयोजनम्

इह खलु साक्षात् परम्परया वा सर्वानेव जीवान् समुद्दिधीर्षुर्भगवानाचार्यः श्रीशङ्करोऽनात्मभ्यो विवेकेनाऽऽत्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं संक्षेपेण बोधयितुं दशश्लोकीं प्रणिनाय ।

श्रीशङ्कराचार्य जिनके नूतन अवतार हैं उन जगद्गुरु श्रीविश्वेश्वर[1] को प्रणाम-कर[2] वेदान्त-शास्त्र को सुनने में आलस्य करनेवाले लोगों के बोध के लिए मैं एक विलक्षण ग्रन्थ की रचना करता हूँ। (शास्त्रकी दुर्गमतासे समझने की कठिनाई देखकर जो श्रवणमें अप्रवृत्ति है उसके निवारणार्थ यह प्रकरण है क्योंकि यह शास्त्रार्थ में प्रवेशोपयोगी बोध प्रदान करता है।)

यहाँ[3] साक्षात्[4] अथवा परम्परा[5] से समस्त प्राणियों का उद्धार करने की इच्छावाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने अनात्माओं[6] से विवेकपूर्वक नित्य,[7] शुद्ध,[8] बुद्ध[9] मुक्तस्वभाव[10] आत्मा का संक्षेप से बोध कराने के लिए दशश्लोकी की रचना की।

---

१. यहाँ 'विश्वेश्वर' शब्द में श्लेष है, जिससे भगवान् शंकर के साथ अपने गुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती को भी नमन किया गया है। वस्तुतस्तु श्रीशंकराचार्य के नवीन अवतार निजगुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती प्रणम्य हैं ऐसा योजितार्थ है। २. 'वेदान्त' यानी उपनिषत्। उप-समीप में आये हुए प्रत्यगात्मपरायण पुरुषों के मूलाज्ञानसहित संसारको सादयति—नष्ट कर देती है, इसलिए उपनिषत् शब्द का अर्थ 'ब्रह्मविद्या' है। उस ब्रह्मविद्या की शिक्षा देनेवाले उपनिषत्-विद्या के भाष्यादि के श्रवण में अलस पुरुषों को संक्षेप से बोध कराने के लिए। बिन्दुकार अध्यासभाष्य की रीति से प्रारंभ करने जा रहे हैं अतः व्याख्याता यहाँ वेदान्तशास्त्र-शब्दसे शारीरकभाष्य और उसकी महान् व्याख्याओं का संग्रह समझाते हैं। ३. मोक्ष के साधन अद्वितीय आत्मतत्त्व का विचार प्रस्तुत होने पर। ४. उत्तमाधिकारी को दशश्लोकी के श्रवणमात्र से। ५. अन्य पुरुषों को दशश्लोकी के उपदेश के अनन्तर श्रवण-मननादि साधनों के द्वारा। ६. देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि पदार्थ अनित्य, अशुद्ध, जड और कर्मों के वश में रहने वाले हैं, अतः ये आत्मा नहीं हैं। ७. कालकृत परिच्छेद से रहित। ८. अविद्यारूप मल से रहित। ९. स्वयंप्रकाश अनुभवरूप। १०. प्रमातृत्व आदि बन्ध से रहित।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्विदङ्कारास्पदेभ्योऽनात्मभ्यो विवेकेनाऽहङ्कारास्पदमात्मानं सर्वोऽपि लोकोऽहमस्मीति प्रत्येति दुःखं चानुभवति तेन ज्ञातज्ञापकत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च आत्मतत्त्वप्रतिपादनं व्यर्थमिति चेत् ? न; चिद्भास्यत्वेन लक्षणेनेदंकारास्पदानामपि देहेन्द्रियमनसां प्रतिभासतोऽहङ्कारास्पदत्वेन तदविवेकात्। तेन च शुद्धेऽप्यात्मनि दुःखित्वाभिमानात्। शास्त्रीयेण च ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन समूलस्य तस्य निवृत्तेः। तस्मादज्ञातज्ञापकत्वात् सप्रयोजनत्वाच्च आत्मतत्त्वप्रतिपादनं न व्यर्थम्।

प्रमाणम्

तस्य चाऽऽत्मतत्त्वस्य 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवेदान्तमहावाक्यमेव प्रमापकम्। वाक्यं च पदार्थज्ञानद्वारेणैव[1] बोधकमिति तत्त्वंपदार्थयोः प्रकृतवाक्यार्था-

शङ्का—'ये[2] हैं' ऐसी प्रतीति के विषय अनात्माओं (देह, इन्द्रिय, मन, प्राण) से विवेक [3]पूर्वक 'अहम्' इस प्रतीति के विषय आत्मा[4] को 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी जानते हैं, और दुःख का अनुभव भी करते हैं। इसलिए ज्ञात वस्तु का बोधक होने तथा निष्प्रयोजन होने से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन व्यर्थ क्यों न हो ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते; चिद्भास्यत्वरूप[5] लक्षण से यद्यपि देह, इन्द्रिय और मन 'इदम्' ऐसी प्रतीति के विषय हैं, तथापि भ्रम से 'मैं गौर हूँ' इत्यादि स्थल में देह में 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होने से आत्मतत्त्व का विवेक नहीं होता।

उसी अविवेक से शुद्ध आत्मा में भी 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार दुःखित्व का अभिमान होता है। शास्त्रोक्त ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से समूल (अज्ञान सहित) दुःख की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए अज्ञात वस्तु का बोधक होने एवं सप्रयोजन होने के कारण आत्मतत्त्व का प्रतिपादन निष्फल नहीं है।[6]

---

१. द्वारैव ज्ञापकम् इति न्या. र. पाठः। २. अनात्मपदार्थ घट आदि 'इदम्' ('यह') कहे जाते हैं। ३. उनके भेद से। ४. 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा को प्राणिमात्र जानता है, इसलिए प्राणिमात्र को आत्मज्ञान है। इसीलिए ज्ञातज्ञापक होने से शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण हुआ करता है। ५. आत्मज्ञानी होते हुए भी प्राणिमात्र को दुःख का अनुभव होता है, इसलिए दुःखनिवृत्तिरूप प्रयोजन भी शास्त्र से सिद्ध नहीं होता। इसलिए शास्त्र का निर्माण व्यर्थ है। शरीरादि यद्यपि अहंकारास्पदत्वेन अर्थात् 'मैं—इस तरह प्रतीत होते हैं, तथापि वे आत्मा नहीं हैं। किन्तु इदङ्कारास्पद होने से अनात्मा हैं। इदङ्कारास्पदत्व का अर्थ 'इदम्' इस प्रतीति का विषय होना नहीं है, किन्तु चिद्भास्यत्व (जडत्व) है। इसलिए यद्यपि अज्ञानियों को घट आदि कतिपय अनात्माओं से भिन्न आत्मा का ज्ञान है, तथापि शरीरादि से भिन्न शुद्ध-बुद्धादिरूप आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं है। उस शुद्धादिस्वरूप आत्मा के ज्ञान के लिए आचार्यों का दशश्लोकीरूप शास्त्र की रचना करना व्यर्थ नहीं है। और जो पूर्ववादी ने कहा है कि आत्मज्ञान के होने पर भी दुःख का अनुभव होता है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि शुद्ध चित्-स्वरूप आत्मा में दुःख का सम्बन्ध सूर्य में अन्धकार के सम्बन्ध की तरह अत्यन्त असम्भव है। उस आत्मा का दृढ अपरोक्ष न होने तक ही अभिमान व दुःखादि रहते हैं, तदनन्तर तो उनका सर्वथा उन्मूलन ही हो जाता है यह शास्त्र और विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है। ६. तात्पर्य है कि अज्ञावस्था में आत्माका भ्रमज्ञान ही है जिसकी निवृत्ति मोक्षफलक है और इसीलिये वेदान्तों द्वारा आत्मप्रतिपादन करना उचित है। 'सप्रयोजनकत्वात्' भी पाठ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नुकूलयोरन्यतोऽसिद्धत्वात्तावपि शास्त्रेणैव प्रमातव्यौ, यूपाऽऽहवनीयादिपदार्थवत् ।

पदार्थः

ततश्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३। १। १) इत्यादिसृष्ट्यादिश्रुतयस्तत्पदवाच्यस्यार्थस्य समर्पिकाः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २।१।१) इत्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य। एवं[1] 'तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च' (बृ० ४। ३। १८) इत्याद्याः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिश्रुतयस्त्वंपदवाच्यस्यार्थस्य समर्पिकाः। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु

उस आत्मतत्त्व का 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तमहावाक्य ही यथार्थ ज्ञान कराते हैं। वाक्य स्वयं में प्रयुक्त पदों के अर्थों के ज्ञान द्वारा ही बोधक होता है। प्रकृत अखण्डरूप वाक्यार्थ के अनुकूल तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ की अन्य लौकिक प्रमाण से सिद्धि[2] नहीं हो सकती, अतः उनका भी यथार्थ ज्ञान यूप[3] आहवनीय आदि पदार्थ की तरह शास्त्र से ही सम्पादनीय है।

इस नियम से ही 'यतो वा०'[4] इत्यादि सृष्टि आदि की प्रतिपादक श्रुतियाँ 'तत्' पद के वाच्य अर्थ का बोधन करती है। 'सत्यं ज्ञान०'[5] इत्यादि श्रुतियाँ 'तत्' पद के लक्ष्य अर्थ का बोध कराती हैं। इसी प्रकार 'तत् यथा०'[6] इत्यादि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की श्रुतियाँ 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ की बोधिका हैं। 'योऽयं

१. एवं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिश्रुतयः 'तद्यथा...' द्यास्त्वंपदवाच्यार्थस्य समर्पिकाः। इति रत्नावलीपुस्तकपाठः। २. वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थज्ञान की नियम से अपेक्षा करता है, पदार्थ के अस्तित्व की नियम से अपेक्षा नहीं करता। अन्यथा 'भीम ने दुर्योधन को मारा' इस वाक्य का अर्थ उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि भीम तथा दुर्योधन दोनों पदार्थों की सत्ता वाक्यार्थ-ज्ञान-काल में नहीं है। ३. 'यूपे पशुं बध्नाति' इस श्रुति ने पशु के बन्धन के आधाररूप से यूप का विनियोग किया है। यूप-पदार्थ की सिद्धि लौकिक प्रमाणों से नहीं होती, किन्तु 'यूपं तक्षति' यूप को छीलता है, 'यूपमष्टास्त्री करोति' यूप के ८ कोने बनाता है, इस शास्त्र ही से आठ कोणोंवाला काष्ठ यूप है, यह सिद्ध होता है। वैसे ही 'आहवनीये जुहोति' इस श्रुति ने होम का आधार आहवनीय बतलाया है। आहवनीय पदार्थ की भी लौकिक प्रमाणों से सिद्धि नहीं होती, किन्तु 'नक्तं गार्हपत्यमादधाति दिवाऽऽहवनीयम्' इस श्रुति से ही दिन में आधान का आधार अग्नि आहवनीय कहा जाता है, यह निश्चय होता है। ४. श्रुत्यर्थ—जिस उपादान से ये प्रत्यक्ष प्रतीत होते हुए नामरूपात्मक ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त भूत उत्पन्न होते हैं और जिस निमित्त से उत्पन्न हुए जीवन धारण करते हैं; सुषुप्ति, मृत्यु आदि अवस्थाओं में जिस ब्रह्म में वासनारूप से लीन हो जाते हैं और ज्ञानकाल में बाध होने से जिस ब्रह्म के स्वरूप ही हो जाते हैं, उसका विचार करो। विचार करने पर जो सृष्टि आदि का कर्त्ता है, वही ब्रह्म है। ५. श्रुत्यर्थ—जो पुरुषधौरेय व्यापक, सत्य (कालत्रयाबाध्य), ज्ञानस्वरूप, अनन्त (परिच्छेदत्रयरहित), पञ्चकोशरूपी गुफा में छिपे हुए ब्रह्म को साक्षीरूप से जानता है। (पञ्चकोशों का साक्षी ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्म को जानता है) वह युगपत् सब भोगों को प्राप्त करता है। ६. 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव है, क्योंकि उद्दालक ने श्वेतकेतु का सम्बोधन करके 'त्वम्' यह पद कहा है। जीव का स्वरूप 'तद्यथा०' इस श्रुति में जाग्रदादि अवस्थावान् कहा है, अवस्थावान् ही का सम्बोधन हो सकता है, इसलिए 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव ही है। 'तद्यथा' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है—जैसे लोक में महामत्स्य महान् होने से नदी के प्रवाह के वश नहीं होता, प्रत्युत वही नदी के प्रवाह को रोक लेता है और नदी के पूर्व एवं अपर दोनों तटों में स्वच्छन्द विचरता रहता है, वैसे ही यह पुरुष (जीवात्मा) स्वप्न, जाग्रत्‌रूपी दोनों अवस्थाओं में यथेष्ट संचार करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ३ । ४ । ७) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३ । ४ । २) इत्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य।

लक्षणा

तेन प्रथममवान्तरवाक्येभ्योऽनुभूतयोः शुद्धयोर्जीवब्रह्मणोस्तत्त्वमस्यादिवाक्ये मुख्यार्थान्वयानुपपत्त्या लक्षणया[1] निर्विकल्पकस्मरणोपपत्तिः; सुषुप्तौ निर्विकल्पकसाक्षिचैतन्यानुभवाङ्गीकाराच्च। अद्वितीयब्रह्मविजिज्ञापयिषया प्रवृत्तानां सत्यादिपदानामुपाधिविशिष्टचैतन्ये शक्तत्वेऽपि चैतन्यमात्रे तात्पर्येण तदंश एव संस्कारोद्बोधाच्च। इच्छन्ति ह्याकाशादिपदादपि निर्विकल्पकं स्मरणम्, तात्पर्याधीनत्वाच्छब्दवृत्तेः। एतेन प्रमितिप्रमात्रोर्महावाक्यार्थबोधे भानमपास्तम्। असम्प्रज्ञातसमाधेः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाच्चेति। पारोक्ष्यसद्वितीयत्वाभ्यां च न तत्त्वंपदार्थमात्रानुभवादेव कृतकृत्यता।

वि०', 'न दृष्टे०'[2] इत्यादि श्रुतियाँ 'त्वम्' पद के लक्ष्य अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। इससे पहले अवान्तर वाक्यों से ज्ञात शुद्ध जीव एवं शुद्ध ब्रह्म के मुख्य अर्थ की 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में अनुपपत्ति[3] होती है, इसलिए लक्षणा से निर्विकल्पक अर्थ की उपस्थिति होती है; क्योंकि सुषुप्ति[4] में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्यरूप ज्ञान स्वीकार है। तथा अद्वितीय[5] ब्रह्म का बोध कराने की इच्छा से प्रवृत्त हुए सत्य, ज्ञान आदि पदों की यद्यपि सत्यत्वज्ञानत्वरूप उपाधियुक्त चैतन्य में शक्ति गृहीत है; तथापि तात्पर्य से उपाधियुक्त चैतन्य के अंशरूप केवल चैतन्यमात्र में संस्कार का उद्बोध होता है। नैयायिक लोग भी आकाश आदि पदों से निर्विकल्पक अर्थ की

---

१. लक्षणया स्मरणोपपत्तिः—इति रत्नावलीपाठः। २. 'योऽयम्' आदि—'मैं' अनुभवका विषय आत्मा बुद्धि में अभिमानी है, इंद्रियों व प्राणों में अन्तर्यामीरूप से स्थित है, बुद्धि-साक्षीरूप से वर्तमान् चित्प्रकाश है, पूर्ण है। 'न दृष्टेः' आदि—जन्य ज्ञानों का साक्षी कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। ३. 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ का अभेद से अन्वय प्रतीत होता है, और वह अभेद तत्पद और त्वम्पद के वाच्य अर्थों का हो नहीं सकता, क्योंकि जाग्रदादि अवस्थावान् जीव-जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए शब्दप्रमाण से पहले अनुभव किये हुए शुद्ध चैतन्य का संस्कार द्वारा स्मरण होने पर शुद्ध चैतन्य में शक्य अर्थ का सम्बन्ध होने से लक्षणा से शुद्ध चैतन्य ही गृहीत होता है। ४. सुषुप्ति-अवस्था में निर्विशेष साक्षिचैतन्य का सब पुरुषों को अनुभव है, इसलिए महावाक्य में यह लक्षणा से गृहीत हो सकता है। ५. सुषुप्ति-अवस्था में साक्षिचैतन्यमात्र का अनुभव होता है, किसी भी औपाधिक धर्म की प्रतीति नहीं होती। इसलिए औपाधिक धर्मों का सुषुप्ति-अवस्था में व्यभिचार होने से ब्रह्म उन धर्मों से विशिष्ट नहीं है। केवल चैतन्यमात्र ही है। इसलिए मोक्ष के साधन ज्ञान का विषय जो ब्रह्म उसके स्वरूप के प्रतिपादक सत्यादि वाक्य का चैतन्यमात्र के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। इसलिए सत्यादि पद से शक्ति के ही द्वारा निर्विशेष चैतन्य की यद्यपि उपस्थिति हो सकती है, तथापि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत्पद से निर्विशेष चैतन्य की उपस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुति से पहिले जगत् के कारण सूक्ष्मतर सविशेष आत्मस्वरूप का अणिमा शब्द से निर्देश करके सारे स्थूल जगत् का उसे सूक्ष्म कारणस्वरूप बतलाया है। इसलिए 'तत्' पद से सविशेष ईश्वर ही का स्मरण हो सकता है, अतः 'तत्' पद में लक्षणा आवश्यक है। 'त्वम्' पद से भी सम्बोधन के योग्य सविशेष जीव ही का परामर्श होता है, इसलिए 'त्वम्' पद में भी लक्षणा आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महावाक्येऽपुनरुक्तिः

वाच्यार्थभेदावभासान्न पौनरुक्त्यम्। लक्ष्यस्य चार्थस्यैकत्वादखण्डार्थता। पदजन्यस्मरणस्य निर्विकल्पकवाक्यार्थानुकूलस्य निर्विकल्पकत्वमनुभववदेवाविरुद्धम्। सविकल्पकवाक्यार्थबोधे च सविकल्पकपदार्थोपस्थितिरङ्गम्। निर्विकल्पकवाक्यार्थबोधे च निर्विकल्पकपदार्थोपस्थितिरङ्गम्। प्रकृते च निर्विकल्पको वाक्यार्थबोधः।

उपस्थिति मानते हैं,[1] क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति तात्पर्य के अधीन है। इसमें[2] महावाक्य के अर्थबोध में प्रमिति और प्रमाता का भान होता है, ऐसा कहनेवालों के मत का निषेध हो गया। असम्प्रज्ञात समाधि भी श्रुति और स्मृति[3] से सिद्ध है। परोक्षता[4] और सद्वितीयतारूप विरुद्ध धर्मों के रहने से तत् और त्वं पद के वाच्यार्थमात्र के ज्ञान से कृतकृत्यता नहीं हो सकती।

[5]'तत्' और 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ में भेद का अवभास होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है। लक्ष्य अर्थ दोनों पदों का एक ही है, अतः अखण्डार्थता भी है। निर्विकल्पक वाक्यार्थ के अनुकूल पदजन्यपदार्थोपस्थिति भी वाक्यजन्य निर्विकल्पक ज्ञान के समान निर्विकल्पक होती है, इसमें कोई विरोध नहीं है। सविकल्पक[6] वाक्यार्थ के ज्ञान में सविकल्पक पदार्थ की उपस्थिति साधन होती है और निर्विकल्पक[7] वाक्यार्थ के ज्ञान में निर्विकल्पक पदार्थ की उपस्थिति साधन है।

---

१. चिन्तामणिकार ने कहा है कि आकाश-पद से निर्विकल्पक का स्मरण होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो 'आकाशः शब्दाश्रयः' इस वाक्य में शब्दाश्रयत्व सविकल्परूप से आकाश की उपस्थिति होने पर इस वाक्य का अर्थ 'शब्दाश्रयः शब्दाश्रयः' ऐसा होता है। वह पुनरुक्ति दोष से अनुपपन्न है, इसलिए शब्दाश्रयत्वरूपी धर्म का त्याग करके शुद्ध निर्विकल्पक आकाश ही की उपस्थिति होती है। २. प्रभाकर के मत में 'घटः' इत्यादि सब ज्ञानों में प्रमिति और प्रमाता का भी भान अवश्य होता है, क्योंकि 'घटः' ऐसा ज्ञान होने पर मैं घट को जानता हूँ, इस प्रकार घटरूपी प्रमेय और उसकी ज्ञानरूपी प्रमिति तथा प्रमातारूपी ज्ञाता—इस त्रिपुटी (तीनों) का भान आवश्यक है। किन्तु सो मत ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति, स्मृति और योगशास्त्रादिकों में सविकल्प निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की समाधियाँ कही हैं। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार ही मुक्ति का साधक है, इसलिए श्रुत्यादि प्रमाणों से महावाक्य द्वारा निर्विकल्पक त्रिपुटीरहित आत्मचैतन्य की उपस्थिति होती है। इसलिए प्रभाकर का यह कथन कि सब ज्ञानों में त्रिपुटी का भान होता है, असंगत है। ३. 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।' इत्यादि। जिस अवस्था में मन, बुद्धि सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, वही मुख्य अवस्था है। 'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।' 'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।' जिस अवस्था में योगाभ्यास से चित्त निरुद्ध हो जाता है और अपने आत्मा ही से आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में प्रसन्न हो जाता है। इसलिए प्रभाकर का यह कथन कि निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य नहीं है, सब ज्ञानों में त्रिपुटी का भान होता है, असंगत है। ४. महावाक्य में चैतन्य मात्र का स्मरण करने पर भी तत्पदार्थ का स्वभावसिद्ध परोक्षत्व ज्ञान और त्वम् पदार्थ का अपरोक्षत्व ज्ञान अवश्य होगा, इसलिए मोक्ष का उपयोगी अद्वितीय आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः पदार्थों के ज्ञान से कृतार्थता नहीं हो सकती; एतदर्थ लक्षणा से अखण्डचैतन्य की उपस्थिति आवश्यक है। ५. वाच्यार्थाऽभेदावभासाद् इति रत्नावलीपाठः। तत्रैव तद्व्याख्या 'वाच्यार्थानां तादात्म्य-ज्ञानजननरूपप्रयोजनसत्त्वाद् इत्यर्थः; सत्यम् इत्यादिनानापदानाम् इति शेषः। सत्यत्वज्ञानत्वादिविशिष्टानां सत्यादिपदवाच्यानां तादात्म्यबोधनद्वारा शुद्धयोरैक्यं वाक्येन बोध्यते।' 'तत्'-'त्वम्' दोनों पदों से लक्षित अर्थ परस्पर विभिन्न हों तो वाक्यार्थ अखण्ड कैसे और दोनों से लक्षित अर्थ विभिन्न न हों तो 'कपड़ा वस्त्र' आदि प्रयोग की तरह पुनरुक्ति क्यों नहीं ?—इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। ६. सविकल्पक अर्थात् सप्रकारक जैसे 'घड़ा लाओ' वाक्य में घड़ापद से घटत्व-प्रकारक उपस्थिति होती है। ७. निष्प्रकारक शाब्दबोध में निष्प्रकारक पदार्थोपस्थित चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्यैव प्रमात्वेनाज्ञाननिवृत्तिसामर्थ्यात् । अतो न लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेण लक्षणानुपपत्तिः, प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितेरेव शक्तिलक्षणासाध्यत्वात् ।

विचारप्रयोजनम्

ननु तर्हि वेदान्तवाक्येभ्य एव पदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधे च सति तस्य स्वत एव प्रामाण्यात्तेनाज्ञानतत्कार्य्यनिवृत्त्युपपत्तौ किं विचारेणेति चेत् ? सत्यम्; वेदान्ता यद्यपि स्वतः प्रामाण्याद् निर्विकल्पकमात्मसाक्षात्कारं जनयन्ति, तथापि तस्य मन्दबुद्धीनां वादिविप्रतिपत्तिजसंशयप्रतिबन्धेन अज्ञाननाशकत्वासामर्थ्यात् । विचारेण तु संशयनिवृत्तौ निरपवादमज्ञाननिवृत्तिरिति संशयबीजभूतवादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थं विचार आरभ्यते ।

जीवे विप्रतिपत्तयः

तत्र त्वम्पदार्थे प्रथमं विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते । तत्पदार्थस्य शास्त्रतात्पर्यविषयतया

प्रकृत में वाक्यार्थबोध निर्विकल्पक है, क्योंकि वही प्रमा[1] है; उसीमें अज्ञान की निवृत्ति करने की सामर्थ्य है। इसलिए[2] लक्ष्यतावच्छेदक के बिना लक्षणा की अनुपपत्ति नहीं हुई। प्रकृत[3] वाक्यार्थ के अनुकूल पदार्थ की उपस्थिति करना ही शक्ति और लक्षणा का कार्य है।

शङ्का—जब उक्त वेदान्तमहावाक्यों से ही पदार्थ की उपस्थिति और वाक्यार्थबोध हो जाता है, और वह महावाक्यार्थ का बोध स्वतः[4] प्रमाण है, उसीसे अज्ञान और अज्ञान के कार्य द्वैत-प्रपञ्च की निवृत्ति हो जायेगी, फिर विचार[5] से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—ठीक है। यद्यपि महावाक्य[6] स्वतः प्रमाण होने से निर्विकल्पक आत्मज्ञान को उत्पन्न करते हैं, तथापि वह आत्मसाक्षात्कार वादियों के विवाद से उत्पन्न हुए संशयरूपी प्रतिबन्ध से मन्दबुद्धि लोगों के अज्ञान का नाश नहीं कर सकता। विचार करने से सन्देह[7] की निवृत्ति हो जाने पर निर्बाध अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए सन्देह के बीजरूपी वादियों के विवादों को दूर करने के लिए विचार का आरम्भ किया

---

१. अबाधित अर्थ को विषय करनेवाला ज्ञान प्रमा है। सुषुप्ति-अवस्था में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य का अनुभव होता है, इसलिए जाग्रत् अवस्था में अनुभव के विषय होनेवाले प्रमातृत्वादि विशेषधर्म व्यभिचारी होने से मिथ्या हैं, इसलिए सविकल्पक ज्ञान प्रमा नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमा होने से अज्ञान की निवृत्ति में समर्थ हो सकता है। निवर्तनसामर्थ्यात्—ऐसा अन्यत्र पाठ है। २. श्रुति के तात्पर्य के अनुरोध से निर्विकल्पक स्मरण ही अज्ञान की निवृत्ति करनेवाले बोध को उत्पन्न कर सकता है। वही महावाक्य में उपयोगी है। ३. शक्ति और लक्षणारूप दोनों प्रकार की वृत्तियाँ तात्पर्य के अधीन हुआ करती हैं। प्रकृत में महावाक्य का तात्पर्य निर्विकल्पक में ही है। ४. साक्षिमात्रभास्य होने से। ५. ऐसी दशा में दशश्लोकी की रचना व्यर्थ है, यह आशय है। ६. महावाक्य पारमार्थिकसत्तानिश्चयरूप आत्मसाक्षात्कार को उत्पन्न करने में समर्थ है, यह सत्य तो है, किन्तु अधिकारी को ही वह हो सकता है। शुद्धचित्त ही अधिकारी हुआ करता है। उसके लिए विचार-शास्त्र की रचना नहीं है किन्तु जिसके चित्त में संशय है, उसके लिए विचार-शास्त्र का आरम्भ है। ७. संशयरूपी प्रतिबन्ध के हट जाने पर। जैसे शङ्ख श्वेत है, ऐसा उपदेश करने पर भी पित्तरूपी प्रतिबन्धक (कामल) से श्वेतता का दर्शन नहीं होता, तब पित्त को दूर करने के लिए अंजन आवश्यक होता है, वैसे ही यहाँ पर वेदान्तवाक्यों का विचार आवश्यक है। विचार से संशय का नाश होने पर बुद्धि निश्चित हो जाती है। बुद्धि के निश्चित होने पर साक्षात्कार अवश्य होता है। जैसे दिन के समय शुक्रतारा का दर्शन हो सकता है, एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यर्हितत्वेऽपि त्वंपदार्थस्य शास्त्रफलमोक्षभागितया ततोऽप्यभ्यर्हितत्वात्।

तत्र देहाकारेण परिणतानि चत्वारि भूतान्येव त्वंपदार्थ इति चार्वाकाः। चक्षुरादीनि प्रत्येकमित्यपरे। मिलितानीत्यन्ये। मन इत्येके। प्राण इत्यन्ये। क्षणिकविज्ञानमिति सौगताः। शून्यमिति माध्यमिकाः। देहेन्द्रियातिरिक्तो देहपरिमाण इति दिगम्बराः।

कर्त्ता भोक्ता जडो विभुरिति वैशेषिक-तार्किक-प्राभाकराः। जडो बोधात्मक इति

जाता है। तत् और त्वम्[1] पदार्थों में से पहिले त्वम् पदार्थ में वादियों के विवाद दिखाये जाते हैं। यद्यपि तत्पदार्थ शास्त्र के तात्पर्य का विषय होने से श्रेष्ठ है, तथापि त्वम् पदार्थ शास्त्रजन्य मोक्षरूप फल का भाजन है। इससे वह तत्पदार्थ से भी श्रेष्ठ है।

उन वादियों में से चार्वाक[2] कहते हैं—देह के आकार से परिणत चार भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु)

पुरुष की ऐसी निश्चित बुद्धि है, दूसरे की बुद्धि में संशय है, तीसरे की बुद्धि में इसके विपरीत निश्चय है कि दिन के समय शुक्रतारा का दर्शन नहीं हो सकता। ये तीनों पुरुष नेत्रवाले तो समान ही हैं। इन तीनों को यदि कोई पुरुष शुक्रतारा दिखाने के लिए यह कहे कि वृक्ष की शाखा के ऊपरी भाग में दृष्टि लगाओ, शुक्रतारा दीखेगा, तो जितने काल में प्रथम पुरुष शुक्रतारा का साक्षात्कार करेगा, द्वितीय को उससे अधिक काल, तीसरे को उससे भी अधिक काल लगेगा। अथवा यदि संशय और विपरीत बुद्धि दूर न हो, तो दूसरे और तीसरे को साक्षात्कार ही नहीं होगा। इसलिए संशय और विपरीत निश्चय को दूर करने के लिए आचार्यों ने आत्मस्वरूप के विचार का शास्त्र आरम्भ किया है। आत्मस्वरूप का प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) यह महावाक्य है। इसलिए इस महावाक्य में रहनेवाले तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का निर्धारण करना चाहिये। वह निर्धारण विरुद्ध मतों का प्रदर्शन करने ही से हो सकता है, इसलिए कहते हैं—'तत्र त्वंपदार्थे।' १. मुमुक्षु जीव को उद्देश्य करके ही शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, इसलिए मुख्य उद्देश्य होने से जीव अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) है। किंच, जीवात्मा और परमात्मा का अभेद यहाँ बोधन करना है और वह अभेद भेद का निरास करने पर ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए भेद के कारणों का निरास करना चाहिये। उस भेद के कारण जीवात्मा और परमात्मा में रहनेवाले परस्पर भिन्न प्रत्येक में प्रतीत होनेवाले धर्म हैं। उनमें से जीव में रहनवाले जाग्रत् आदि अवस्थावत्त्व, अज्ञत्व और कर्माधीनत्वादि अपने धर्मों का जीव को प्रत्यक्ष होता है। परमात्मा में रहनेवाले जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि जीव को परोक्ष हैं। उनमें से जीव के अपने धर्म प्रत्यक्ष अनुभूत हैं और उनके निरास की उसको अत्यन्त असम्भावना है। इसलिए पहिले उन्हीं का उच्छेद करना चाहिये। उन धर्मों का उच्छेद जब जीव के स्वरूप के विचार से हो जायेगा, तब परमात्मा में रहनेवाले परोक्ष-धर्मों का सुख से उच्छेद हो जायेगा। इस आशय से आचार्यों ने 'न भूमिः' इस प्रथम श्लोक से पहिले जीव के स्वरूप के विचार का आरम्भ किया है। यद्यपि आत्मा के बारे में सभी कुछ-न-कुछ जानते हैं तथापि क्योंकि सही जानकारी नहीं है इसलिये वेदोक्त सही समझ बुद्धि में स्थापित करने के लिये ग़लत ज्ञानों का परीक्षापूर्वक खण्डन आवश्यक है। इसी प्रयोजन से वेदान्तग्रंथ मतान्तर-निरास करते हैं। २. प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले चार्वाक आकाश को नहीं मानते; क्योंकि उनके मत में आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयात्मक देह ही आत्मा है, यह उनका मत है। इन्द्रियाँ भी देह से अतिरिक्त नहीं हैं। किन्तु देह का ही तत्-तत् भाग नेत्र आदि शब्द से व्यवहृत किया जाता है। मन हृदय का भाग है। प्राण शरीर में विचरनेवाला वायु है। यद्यपि भूत जडस्वभाव हैं, तथापि जैसे मदिरा के आकार में परिणत हुए अन्न में मादकता-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही देहाकार में परिणत भूतचतुष्टय में ज्ञानशक्ति उत्पन्न हो जाती है। 'स्थूलोऽहं जानामि' (मोटा मैं जानता हूँ) इस प्रतीति से स्थूल देह ही 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा और ज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद से देहों का भेद होने पर भी 'अहं प्रत्यय' ('मैं' प्रतीति) की अनुवृत्ति होने से देह अहंप्रत्यय का अवलम्बन नहीं है। किन्तु 'काणोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' (मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ) इत्यादि प्रतीति से यथासम्भव इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, यह चार्वाक के अनुयायियों का मत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाट्टाः। भोक्तैव केवलबोधात्मक इति सांख्याः पातञ्जलाश्च। अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः परमानन्दबोध एवेत्यौपनिषदाः।

ही 'त्वम्' पद के अर्थ हैं अर्थात् आत्मा हैं। दूसरे चार्वाक कहते हैं—प्रत्येक चक्षु आदि 'त्वम्' पद के अर्थ हैं।[1] कोई चार्वाक कहते हैं—चक्षु आदि सब मिलकर[2] 'त्वम्' पद के अर्थ हैं। अन्य चार्वाक कहते हैं—मन[3] 'त्वम्' पदार्थ है। कुछ चार्वाक कहते हैं—प्राण[4] त्वम् पदार्थ है। बौद्ध[5] कहते हैं—क्षणिक विज्ञान ही 'त्वम्' पदार्थ है। माध्यमिक लोग शून्य को 'त्वम्' पदार्थ मानते हैं। जैन[6] लोग कहते हैं—देह और इन्द्रियों से भिन्न देह के बराबर परिमाणवाला 'त्वम्'-पदका अर्थ है।

वैशेषिक[7], नैयायिक और मीमांसक कहते हैं—'त्वम्'पदार्थ (आत्मा) कर्त्ता[8], भोक्ता[9], जड[10] और व्यापक[11] है। मीमांसकों के एकदेशी भाट्ट[12] लोग कहते हैं—'त्वम्'-पदार्थ जड और बोधरूप है। सांख्य और पातञ्जल कहते

---

१. कौन इन्द्रिय आत्मा है ? इसमें कोई विनिगमक (प्रमाण) नहीं है, इसलिए सभी इन्द्रियाँ आत्मा हैं। अर्थात् एक देह में अनेक आत्मा हैं। यद्यपि सब प्राणियों के सब इन्द्रियाँ हों—यह नियम नहीं है, तथापि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हैं, उसके देह में उतने आत्मा हैं। २. कोई कहते हैं—इन्द्रियों का समूह आत्मा है। ३. स्वप्न में इन्द्रियों के न होने पर भी 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यह प्रतीति होती है; इसलिए इन्द्रियाँ आत्मा नहीं, किन्तु मन ही आत्मा है, यह अन्य के मत का कथन है—'मन इत्येके' से। ४. सुषुप्ति-अवस्था में मन नहीं होता और योगी के शरीर में व्यवहार के अभावकाल में मन नहीं होता, परन्तु श्वास चलता रहता है। इसलिए मन आत्मा नहीं, किन्तु प्राण आत्मा है। अहंप्रत्यय का अवलम्बन प्राण है। ५. सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार प्रकार के बौद्धों में से प्रथम तीन क्षणिक विज्ञानवादी हैं। ज्ञान के बिना बाह्य पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। वह ज्ञान अर्थक्रियाकारी होने के कारण क्रिया का प्रतिक्षण विनाश होने से प्रतिक्षण विनाशी है। इसलिए द्वितीय क्षण में होनेवाले ध्वंस का प्रतियोगी होने से क्षणिक है। वही आलय-विज्ञान (अहंकार) धारारूप है। माध्यमिक कहता है—जैसे घटादि दृश्य प्रमेय (ज्ञान का विषय) होने से दृश्य हैं, वैसे ज्ञान भी प्रमेय होने से दृश्य है। जो दृश्य है, वह सब मिथ्या है। ज्ञान भी दृश्य है, वह भी मिथ्या है। इसलिए बौद्धों के अनुसार आस्तिक-संमत आत्मा सत्रूप नहीं किन्तु शून्य (मिथ्याभूत) है। अतः बौद्ध अनात्मवादी कहे जाते हैं। ६. जैन को आर्हत कहते हैं। उनके मत में अर्हन् नामक एक नित्यसिद्ध पुरुष है। उसके मत के अनुयायी होने के कारण उनको आर्हत कहते हैं। इनका मत है—जैसे बाल्य आदि अवस्थाओं के भेद से शरीर के वृद्धि और क्षय होते रहते हैं, वैसे ही आत्मा के भी वृद्धिक्षय होते रहते हैं। इनके होने पर भी आत्मा अनित्य नहीं है, क्योंकि परिमाण का भेद होने पर भी आत्मा का देह की तरह सर्वथा नाश नहीं हो जाता, इसीको परिणामी नित्यत्व कहते हैं। ७. जो परिमाणवाला पदार्थ होता है, वह सावयव होता है। जो सावयव होता है वह विनाशी होता है। आत्मा परिमाणवाला है, इसलिए विनाशी होगा। तब कृतहानि (इस जन्म में किये हुए कर्मों के फल के भोग के बिना विनाश) और अकृताभ्यागम (इस जन्म में जो भोग प्राप्त हो रहे हैं उनकी कर्मों के बिना ही प्राप्ति) ये दो दोष प्राप्त होते हैं। इसलिए आत्मा देह और इन्द्रियों से अतिरिक्त है, नित्य है, निरवयव है, विभु है, ज्ञानवान् है। यह वैशेषिक, तार्किक और प्राभाकर का मत है। ८. कर्ता शब्द का अर्थ है कृतिमान्। ९. सुख-दुःखादि का अनुभव करनेवाला। १०. ज्ञान-भिन्न। ११. सर्व मूर्त्त-पदार्थों से संयोगवाला। १२. 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुति के विरोध से विभु आत्मा केवल जड ही नहीं, किन्तु 'मामहं जानामि' (मैं मुझको जानता हूँ) इस प्रकार दृश्यत्व और द्रष्टृत्व दोनों धर्म आत्मा में प्रतीत होते हैं, इसलिए आत्मा किसी अंश में जड और किसी अंश में ज्ञानरूप है, जैसे जुगनू किसी अंश में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं कि केवल ज्ञानस्वरूप और भोक्ता[1] ही 'त्वम्' पदार्थ है। आत्मस्वरूप में केवल उपनिषदों को प्रमाण स्वीकारने वाले कहते हैं कि अविद्या[2] से कर्तृत्व आदि अवस्थाओं को प्राप्त होनेवाला वस्तुतः निर्धर्मक परमानन्द-बोध ही 'त्वम्' पदार्थ है।

सप्रकाश और किसी में निष्प्रकाश होता है, यह कुमारिल भट्ट का मत है। १. 'निष्क्रियं निष्कलं शान्तम्' इस श्रुति से आत्मा निरवयव प्रतीत होता है, इसलिए निरंश होने से उसके जड और ज्ञान दो रूप नहीं हो सकते; इसलिए नित्यज्ञानस्वरूप भोक्ता ही आत्मा है। अपरिणामी होने से कर्त्ता नहीं है किन्तु परिणामिनी बुद्धि में ही कर्तृत्व है। भाव यह है कि अपरिणामी स्वभाव होने से आत्मा कर्त्ता तो हो नहीं सकता, परन्तु उसका भोक्ता होना युक्त है; क्योंकि जड देहादि पदार्थों को भोग प्राप्त नहीं हो सकता, अन्यथा मृतदेहादि को भी भोग की प्राप्ति होने लगेगी; इसीलिए जडत्वादि कल्पना से रहित केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह सांख्य और पतञ्जलि का मत है। २. 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असंग है) इस श्रुति के विरोध से आत्मा भोक्ता भी नहीं है, किन्तु प्रातिभासिक (कल्पित अथवा मिथ्या) कर्तृत्वभोक्तृत्ववान् आत्मा है—यह वेदान्त का मत है, क्योंकि निःसंग होते हुए भी आविद्यक (मिथ्या अथवा कल्पित) भोक्तृत्व की तरह आविद्यक कर्तृत्व भी आत्मा में युक्त है।

इस प्रकार जीव के स्वरूप के विषय में देहात्मवाद से आरम्भ करके निर्धर्मक आत्मवाद पर्यन्त मत दिखाये हैं। उनमें मतभेद से जीवात्मा का स्वरूप दो प्रकार का है—अनित्य और नित्य। अनित्य भी दो प्रकार का है—सत्य और मिथ्या। देहात्मवाद से लेकर क्षणिक विज्ञानवादी पर्यन्तों के मत में सत्य और अनित्य है। माध्यमिक के मत में मिथ्याभूत एवं अनित्य है। नित्य भी दो प्रकार का होता है—परिणामी नित्य और कूटस्थ नित्य। दिगम्बरों के मत में परिणामी मित्य है। वैशेषिक से लेकर औपनिषद पर्यन्तों के मत में कूटस्थ नित्य है।

वैशेषिक के मत में आत्मा स्वयंप्रकाश नहीं है। किन्तु अपने से भिन्न अपने गुण—ज्ञान से आत्मा का प्रकाश होता है, इसलिए स्वयंप्रकाश न होने से पाषाण आदि की तरह आत्मा इनके मत में जड ही है। भट्ट के अनुयायी कहते हैं—'अहमस्मि' (मैं हूँ) यह प्रतीति जब होती है तब उस प्रतीति का आश्रय और विषय भी आत्मा ही प्रतीत होता है। एक ही आत्मा में एक ही ज्ञान के आश्रयता और विषयता दो धर्म हैं। इस प्रतीति की सिद्धि के लिए आत्मा के जड और ज्ञान दो अंश अङ्गीकार करने चाहिये। ज्ञान-अंश से वह ज्ञाता और जड-अंश से ज्ञान का विषय है। इसी प्रकार 'मामहं न जानामि' (मैं अपने को नहीं जानता) इस प्रतीति में एक ही आत्मा में अंश-भेद से कर्तृत्व और कर्मत्व उपपादन करना चाहिये। भट्ट के अनुयायी वैशेषिकादि की तरह ज्ञान को आत्मा का गुण नहीं मानते, किन्तु अंश मानते हैं। इसलिए ज्ञान-अंश से आत्मा साक्षी और जड-अंश से सुखादिकों का भोक्ता है। सांख्यादि के मत में केवल ज्ञानरूप ही आत्मा है। अंश से भी जड नहीं—यह विशेष है। आस्तिकों में से वैशेषिक सबसे पिछड़ा हुआ है, क्योंकि शब्दप्रमाण को न मानने से वह वेद के प्रामाण्य को अङ्गीकार नहीं करता। ईश्वर को मानता है, इसलिए आस्तिक है। वेद को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है। इसीलिए वैशेषिक को अर्धवैनाशिक (आधा नास्तिक) कहते हैं। नैयायिक यद्यपि वेदप्रामाण्य और ईश्वर दोनों को मानता है, तथापि 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि शुद्ध जीवप्रतिपादक श्रुतियों का और 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद-प्रतिपादक श्रुतियों का अभेद की भावना में तात्पर्य है ऐसा अङ्गीकार करता है। अर्थात् अभेद है नहीं, अभेद की भावना करनी चाहिये—ऐसा मानता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि विश्व और ब्रह्म के अभेद की बोधक श्रुतियों का 'विश्व का कर्ता ब्रह्म है' ऐसा अर्थ करता है। इससे प्रतीत होता होता है कि नैयायिक का वेदान्तमत में आदर नहीं है। प्रभाकर और भट्ट का तो वेदान्तदर्शन से द्वेष नहीं है, क्योंकि—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहमर्थनिर्णयः

एवं सामान्यतोऽहंप्रत्ययसिद्धे चिदात्मनि वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धेऽहंप्रत्ययस्यालम्बनविशेषनिर्णयायाह भगवानाचार्यः —

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।१।।

अस्यार्थः अहम् अहम्प्रत्ययालम्बनम् एकः अद्वितीयः। अवशिष्टः सर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितः। शिवः परमानन्दबोधरूपः, तस्यैव मङ्गलरूपत्वात्। केवलो निर्धर्मकः। तेनाद्वितीयः सर्वप्रमाणाबाध्यः परमानन्दबोध एवाहम्प्रत्ययालम्बनमित्यौपनिषदपक्ष एव श्रेयानित्यर्थः।

इस प्रकार सामान्यतः 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति से सिद्ध चिदात्मा में वादियों के विवाद से सन्देह[1] होने पर 'मैं हूँ' इस प्रतीति के आश्रय के विशेष निर्णय के लिए भगवान् आचार्य कहते हैं—

'अहं' अहमर्थ[2] का अवलम्बन न भूमि है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाश है, न प्रत्येक इन्द्रिय है, न भूमि आदि का समूह है और न इन्द्रियों का समूह है; क्योंकि ये सब व्यभिचारी (विनाशी) हैं। सुषुप्ति में एक साक्षिरूप से सिद्ध, अद्वितीय, अविनाशी, निर्धर्मक शिव जो है, वही मैं हूँ।।१।।

अहम्[3] = 'मैं हूँ' इस ज्ञान का अवलम्बन। एक = अद्वितीय[4]। अवशिष्ट = घट-पट आदि समस्त प्रपञ्च के बाधित होने पर भी अबाधित[5]। शिव = परमानन्दज्ञानस्वरूप[6], क्योंकि वही मंगलरूप है। केवल =

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन।।'

इस भाट्टकारिका से प्रतीत होता है कि भट्टजी को वेदान्तदर्शन में बड़ा आदर है। इसी तरह—'आत्मा निष्प्रपञ्चं ब्रह्मैव, तथापि कर्मप्रसङ्गे न तथा वाच्यम्। उक्तं हि श्रीकृष्णेन भगवता—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।' ऐसा प्राभाकर के ग्रन्थ में कथन है। इससे प्रतीत होता है कि प्राभाकर को भी वेदान्त में आदर है। भट्ट अपने ग्रन्थ में आत्मा को जडबोधस्वरूप कहते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वेदान्तप्रतिपादित अविद्योपहित चिद्रूप आत्मा का वे अङ्गीकार करते हैं। प्राभाकर स्वयंप्रकाश अनित्य ज्ञान का आश्रय जडरूप आत्मा है, यह मानता है। और प्रपञ्च के ज्ञान में उसने अन्यथाख्यातिमात्र का भी कथन नहीं किया है, इसलिए भट्ट की अपेक्षा प्राभाकर वेदान्त मत से दूर है। सांख्यादि ने अपने ग्रन्थ में आत्मा को असङ्ग माना है, इसलिए वह भट्ट की अपेक्षा वेदान्तमत के समीप है। पातञ्जल 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस सूत्र से ईश्वर का अङ्गीकार करते हैं। सांख्य ईश्वर का अङ्गीकार नहीं करते। इसी आशय से वैशेषिकादि के निर्देश के अनन्तर तार्किकादि का निर्देश आचार्यों ने किया है। १. विचारप्रयोजन संदेहनिवृत्ति होने से विचारणीय वस्तु संदेहास्पद है यह पहले समझना पड़ता है। संदेह में कारण होता है उस वस्तु के बारे में विरुद्ध ज्ञान होना। आत्मा के बारे में अनुभव से और विभिन्न विद्वानों के मतों से परस्पर विरुद्ध ज्ञान हो जाते हैं अतः संदेह सहज है जिसकी निवृत्ति विचार से होगी। २. अहंप्रत्यय का जो आलम्बनविशेष देहादिरूप से प्रतीत होता है, वह भूमि आदि से भिन्न है, यह निर्णय करने के लिए। ३. अहंप्रत्यय का विषय। ४. द्वित्वादि संख्या के पूरक माया और तत्कार्यरूप द्वितीय से रहित। ५. आत्मतत्त्वज्ञान से सर्वद्वैत के मूलभूत अज्ञान का उच्छेद होने पर भी बाध का साक्षी होने से सत्यरूप। ६. नित्यानन्दबोधस्वरूप।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वादिनिरासः

एतदुपपादनाय इतरवादिमतानि निराकरिष्यन् प्रथमं देहात्मवादं निराकरोति 'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खम्' इति। अत्राहमिति सर्वत्र प्रत्येकं नञा सम्बध्यते। या भूमिः सोऽहं न भवामि, योऽहं सा भूमिर्न भवति इति च परस्परतादात्म्याभावो द्रष्टव्यः।

सङ्घातपरीक्षा

यद्यपि वादिना प्रत्येकं भूम्यादेरात्मत्वं[1] नाभ्युपेयते, संघातस्यैव तदभ्युपगमात्;

धर्मरहित[2]। इससे सिद्ध हुआ कि अद्वितीय किसी प्रमाण से भी जिसका बाध नहीं होता, परमानन्दबोध-स्वरूप ही 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान का विषय है, अर्थात् 'मैं' शब्द का अर्थ है—यह अद्वैत वेदान्त का पक्ष ही श्रेष्ठ है। इसके उपपादन के लिए अन्य वादियों के मतों का निराकरण करनेवाले आचार्य श्रीशङ्कर पहले[3] 'न भूमि है, न जल है' इत्यादि से देहात्मवाद का निराकरण करते हैं।[4] यहाँ पर 'अहम्' का प्रत्येक नञ् (न) के साथ सम्बन्ध है। जो भूमि है वह मैं नहीं हूँ, जो मैं हूँ वह भूमि नहीं है। इस प्रकार परस्पर अभेद का अभाव अर्थात् भेद देखना चाहिये।

यद्यपि वादी प्रत्येक भूमि आदि को आत्मा नहीं मानता, किन्तु पृथ्वी आदि के समूहरूप[5] देह को ही उसने आत्मा माना है, तथापि उसके मत में अवयवी[6] नहीं माना गया, अतएव उसे पञ्चम तत्त्व मानना पड़ेगा,

१. भूम्यादिरात्मत्वेन—पाठान्तरम्। २. सब धर्मों से रहित। धर्म अर्थात् जाति गुण क्रिया सम्बन्ध आदि विशेषताएँ। ३. देहात्मवाद अतितुच्छ है, इसलिए आचार्य ने पहले उसीका निराकरण किया है। ४. प्रश्न—जैसे शुक्ति में भ्रान्त पुरुष को 'इदं रजतम्' यह प्रतीति होती है, वैसे चार्वाक को आत्मा में 'अयं देहः' यह प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में शुक्ति की प्रतीति नहीं है, वैसे ही 'अयं देहः' इस प्रतीति में आत्मा की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, सो होती है। 'देह में यह आत्मा है' ऐसी प्रतीति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त न्याय से देह की प्रतीति के अभाव का प्रसङ्ग है। किन्तु देह और आत्मा का परस्पर भेद है, उसमें चार्वाक को अभेद की प्रतीति होती है। ऐसी दशा में जैसे रजतभ्रम की निवृत्ति के लिए 'नेदं रजतम्' कहा जाता है, वैसे ही 'देहात्मनोर्नाऽभेदः' (देह और आत्मा का अभेद नहीं है) ऐसा कहना चाहिये था। आचार्य ने 'न भूमिः' इत्यादि क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—'या भूमिः' इति। भाव यह है कि 'न भूमिः' यह एक वाक्य है, इसी प्रकार 'न तोयम्' इत्यादि भी भिन्न-भिन्न वाक्य हैं। 'अहम्' इस पद का सब वाक्यों से सम्बन्ध है। जो भूमि है, वह मैं नहीं हूँ, यह अर्थ है। इस वाक्य से भूमि का उद्देश्य करके 'अहम्' अर्थ के अभेद का निषेध है। इसी वाक्य की आवृत्ति से उद्देश्य-विधेयभाव को विपरीत कर देने से 'जो मैं हूँ वह भूमि नहीं' यह द्वितीय अर्थ होता है। इसमें 'अहम्' अर्थ को उद्देश्य करके भूमि के अभेद का निषेध है, अर्थात् देह और आत्मा का अभेद नहीं है, यह फलित होता है। 'न तोयम्' इत्यादि वाक्यों की भी ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये। ५. देहाकार से परिणत पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय का संघात ही आत्मा है—यह चार्वाक का सिद्धान्त है। ६. पृथ्वी आदि तत्त्वचतुष्टय का संघात देह है, वही आत्मा है—यह चार्वाक का मत है। उसमें चार्वाक से यह पूछना चाहिये कि वह संघात चारों तत्त्वों के संयोग से होता है अथवा बिना संयोग ही के ? प्रथम पक्ष में भी तन्तुओं का नाश किये बिना ही जैसे तन्तुओं के संयोगविशेष से तन्तुओं से अतिरिक्त पटरूप द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही चारों तत्त्वों का बिना नाश किये ही उन तत्त्वों के संयोगविशेष से उन तत्त्वों से अतिरिक्त देहरूपी द्रव्य उत्पन्न होता है ? अथवा जैसे दुग्ध के अवयवों के संयोगविशेष से दुग्ध के स्वरूप का नाश करके दधिरूप द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही पृथ्वी आदि तत्त्वों के संयोगविशेष से पृथ्वी आदि तत्त्वों के स्वरूप को नष्ट करके देह उत्पन्न होता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथापि तन्मतेऽवयव्यनङ्गीकारात्पञ्चमतत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गेन च संयोगादिसंबन्धानभ्युपगमात् संहन्तुरभावाच्च संघातो नोपपद्यते इत्यभिप्रेत्य प्रत्येकभूतनिराकरणेन भौतिकदेहात्मवादो निराकृतः।

आकाशोक्तिविचारः

यद्यपि भूतचतुष्टयतत्त्ववादिनो मते आवरणाभावत्वेनाभिमतस्य स्थिरस्यासत आकाशस्य देहानुपादानत्वम्; तथापि सिद्धान्ते तस्य भावत्वदेहोपादानत्वाद्यङ्गीकारात्तत्राप्यात्मत्वप्रसक्त्या तन्निराकृतम्।

क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध को भी वह नहीं मानता और संघात करनेवाले चेतन के अभाव से संघात भी नहीं बन सकता। ऐसा विचारकर प्रत्येक भूत (पृथ्वी आदि) के निराकरण से भौतिक देहात्मवाद का खण्डन हो गया।

यद्यपि[1] केवल पृथ्वी आदि चार भूतों को माननेवाले चार्वाक के मत में पृथ्वी आदि आवरण के अभावरूप से अभिमत, अस्थिर, असत् आकाश देह का उपादान नहीं हो सकता, तथापि[2] वेदान्त-सिद्धान्त में आकाश भावपदार्थ एवं शरीर का उपादान आदि माना गया है। उसमें आत्मत्वबुद्धि न हो जाय, इसलिए उसका निराकरण किया है।

प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं है, क्योंकि चार्वाक प्रत्यक्ष ही को प्रमाण मानता है। तन्तुओं से अतिरिक्त पटरूप द्रव्य का वह स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि तन्तु और पटरूप भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता, न उनका परिणाम ही द्विगुण हो जाता है। द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि चार तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली देह पृथ्वी नहीं कही जा सकती। क्योंकि पृथिवीत्व धर्म अव्याप्य वृत्ति (अपने आधार के एकदेश में रहनेवाला) नहीं है और इस मत में दुग्ध-अवयवों की तरह पृथ्वी आदि अवयवों का स्वरूप से विनाश का अङ्गीकार है। इसी न्याय से देह को जल, तेज और वायुरूप भी नहीं कह सकते, इसलिए चार भूतों से अतिरिक्त पाँचवाँ द्रव्य देह मानना होगा। तत्त्वचतुष्टयवादी चार्वाक को यह अङ्गीकार नहीं है। 'बिना संयोग के पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का संघात देह है' इस पक्ष में धान्य की राशि (ढेर) में पड़े हुए धान्यों का परस्पर संयोग होने पर भी उनका वह संयोग असंयुक्तों की तरह ही कोई विलक्षण संघातरूप कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। किसी प्रकार पृथ्वी आदि तत्त्वों का संघात देह है, यह भी सिद्ध हो जाय, तथापि चैतन्य तो उसमें तत्त्वों के संघात की सिद्धि के अनन्तर ही उत्पन्न होता है। संघात से पहले संघात करनेवाला चेतन उसके मत मे कोई है नहीं, तो चेतन के अभाव से तत्त्वों का संघात सिद्ध नहीं हो सकता। इस दोष की निवृत्ति (संघातसिद्धि) के लिए यदि वह पृथ्वी आदि चार तत्त्वों को आत्मा माने, तो पृथ्वी आदि चार आत्माओं का संघात देह है यह मानना होगा। सो कह नहीं सकते, क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्व प्रत्येक आत्मा नहीं है—इस अर्थ का निरूपण करने के लिए 'न भूमिः' इत्यादि श्लोक की रचना की है। १. चार्वाक के मत में आकाश नामवाला कोई भावरूप पदार्थ नहीं है, किन्तु आवरण करनेवाले चार प्रकार के भौतिक पदार्थों का जो अभाव है, वही आकाश-पद से कहा जाता है, इसलिए जिस देह में भूतचतुष्टय की स्थिति है, उस देह में भूतचतुष्टय का अभाव नहीं रह सकता है, इसलिए आकाश देह का उपादान कारण नहीं है। किंच देह की भावरूप से प्रतीति होती है, इसलिए उसका उपादान कारण भी भावरूप ही होना चाहिये, अभावरूप नहीं। ऐसी दशा में, जब कि चार्वाक आकाश को देह का उपादान कारण मानते ही नहीं हैं, फिर आचार्यों ने 'न खम्' इस वाक्य से आकाश के आत्मा होने के निषेध की प्रतिज्ञा क्यों की ? यह आशय है। २. अद्वैतवादियों के मत में भूतचतुष्टय की तरह आकाश भी स्थिर है, भावरूप से प्रतीत होता है और देह का उपादान कारण भी है। 'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः' इतना कहने से चार्वाक के मत का यद्यपि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा 'न वायुरि'त्यन्तमेव देहात्मवादस्य निराकरणम्। 'न खमि'ति शून्यवादस्य, खशब्दस्य शून्यवाचकत्वात्।

इन्द्रियाद्यनात्मता

नेन्द्रियमिति प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वनिरासः। न तेषां समूह इति मिलितानां भूतानां देहावयव्याकारेण परिणतानामिन्द्रियाणां च मिलितानां निरासः। पूर्वं सङ्घातमनभ्युपगम्य प्रत्येकं भूतानि निराकृतानि। अधुना तु संघातमभ्युपगम्यापि निराकृतानीति भेदः। भूतनिराकरणेन भौतिकयोः प्राणमनसोर्निरासः।

क्षणिकात्मवादनिरासः

मनोनिराकरणेन च मनोवृत्तेः क्षणिकविज्ञानस्य देहातिरिक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्य च निरासः, सिद्धान्ते ज्ञानेच्छासुखादीनामन्तःकरणाश्रयत्वाभ्युपगमात्। कामसङ्कल्पादीन् प्रकृत्य 'एतत्सर्वं मन एव' (बृ. १. ५. ३) इति श्रुतेः। तेन देहमारभ्य केवलभोक्तृपर्यन्तानां तत्तद्वाद्यभिमतानामनात्मत्वं प्रतिज्ञातं भवति।

अथवा 'न वायुः' यहीं तक देहात्मवाद का[1] खण्डन है। 'न खम्' (न आकाश ही आत्मा है) इससे शून्यवाद का[2] खण्डन है, क्योंकि खशब्द शून्य का[3] वाचक है।

'नेन्द्रियम्' (इन्द्रिय आत्मा नहीं है) इससे प्रत्येक इन्द्रिय में आत्मत्व का खण्डन किया है। 'न तेषां समूहः' (न उनका समूह ही आत्मा है) इससे देहरूपी अवयवी के आकार को प्राप्त हुए मिलित पृथिवी आदि भूतों का तथा मिलित इन्द्रियों का निरास किया गया है। पहिले संघात को न मानकर प्रत्येक भूत में आत्मत्व का निरास किया, अब संघात को मानकर भी उनका निराकरण किया, यह भेद है। भूतों के निराकरण से भौतिक प्राण एवं मन में भी आत्मत्व का निराकरण हो गया।

मन[4] के निराकरण से मन की वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान एवं देह से अतिरिक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि से विशिष्ट (आत्मा) का निराकरण हो गया। वेदान्त-सिद्धान्त में ज्ञान, इच्छा, सुख आदि अन्तःकरण के आश्रित माने गये हैं, क्योंकि काम[5] संकल्प आदि के प्रकरण में 'यह सब मन ही है' ऐसा श्रुतिप्रतिपादित है। इससे

खण्डन हो जाता है फिर भी यदि आचार्य 'न खम्' यह न कहते तो सन्देह हो सकता था कि आचार्य आकाश को तो आत्मा नहीं मानते हैं ? इस सम्भावना को दूर करने के लिए 'न खम्' यह कहा है। १. और देहपरिमाणी आत्मवाद का अर्थात् जैनों का। २. मिथ्या क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त आत्मा नहीं है—यह शून्यवादी की मान्यता है, उसका यहाँ निषेध है। ३. शून्य अर्थात् सत्यत्वरहित मिथ्या विज्ञान। ४. प्रश्न—सुगत के माने हुए क्षणिक विज्ञान में आत्मता का निषेध हो सकता है, क्योंकि मन जब आत्मा नहीं तो उसकी वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं, यह ठीक ही है। परन्तु वैशेषिक को अभिमत देह एवं मन से व्यतिरिक्त आत्मा का मन के आत्मत्व-निराकरण से कैसे निराकरण हो सकता है ? उत्तर—वैशेषिक यद्यपि देह और मन से अतिरिक्त आत्मा मानते हैं, तथापि उस आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार करते हैं। वेदान्त-सिद्धान्त में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मन ही के धर्म हैं तो मन के आत्मत्व-निराकरण से कर्तृत्वादिविशिष्ट आत्मा का निराकरण हो गया, इसलिए वैशेषिक के अभिमत आत्मा के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं हो सकती, यह आशय है।

प्रश्न—मनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस प्रतीति के अनुरोध से 'अहम्' शब्द के अर्थ आत्मा ही में कर्तृत्वभोक्तृत्व स्वीकार करना चाहिये ? उत्तर—उक्त प्रतीतिरूपी प्रमाण ही से 'अहमर्थ' में कर्तृत्व सिद्ध होता है, आत्मा में नहीं। 'अहम्' शब्द का अर्थ आत्मा नहीं है, किन्तु मन की वृत्तिविशेष है। इसीलिए 'अहं जानामि' (मैं जानता हूँ) 'अहमिच्छामि' (मैं इच्छा करता हूँ) 'अहं सुखी' (मैं सुखी हूँ) इस प्रकार 'अहम्' शब्दार्थ में प्रतीयमान ज्ञान, इच्छा, सुख आदि मन ही के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। ५. 'काम इच्छा' यह श्रुति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनात्मतानिर्णायकः

तत्र हेतुमाह—अनैकान्तिकत्वादिति। व्यभिचारित्वाद्, विनाशित्वादिति यावत्।

आत्माऽपरिच्छिन्नः

आत्मनो देशकालापरिच्छिन्नत्वात् तत्परिच्छिन्नानां घटादिवदनात्मत्वात् तद्ध्वंसप्रागभावयोश्च[1] ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अनात्मनां जडत्वात्, स्वभिन्नस्य चात्मत्वाभावात्, आत्मन एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयाणामन्तःकरणानां भेदाभ्युपगमाद् व्यवस्थोपपत्तेः। स्वेनैव स्वाभावग्रहणे विरोधाद्, ग्राह्यकाले ग्राहकासत्त्वाद्, ग्राहकसत्त्वे ग्राह्याभावात्, कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च न तस्य ध्वंसप्रागभावौ। सद्रूपस्य आत्मनः सर्वत्रानुगमाच्च नात्यन्ताभावसम्भवः। द्वैतस्य मिथ्यात्वेनाधिष्ठानसत्तादात्म्यापन्नतयैव सिद्धत्वात्

पूर्वोक्त तत्-तत् वादियों से स्वीकृत देह से लेकर केवल भोक्तापर्यन्त सब अनात्मा[2] हैं, ऐसी प्रतिज्ञा हुई। उसमें हेतु देते हैं—क्योंकि ये सब विनाशी हैं, नश्वर हैं। (श्लोक के 'अनैकान्तिक' शब्द का अर्थ है 'विनाशी'।)

आत्मा[3] देश और काल से अपरिच्छिन्न है। देश-काल से परिच्छिन्न पदार्थ घट, पट आदि के समान

इच्छा मन का धर्म है, यह प्रतिपादन करती है, इसलिए 'अहमिच्छामि' इस प्रतीति में भी इच्छा अहमर्थ का धर्म है, यह सिद्ध करती है। यदि अहमर्थ मन से अतिरिक्त होता तो श्रुति और प्रतीति का विरोध होता। इसलिए दोनों की एकवाक्यता के लिए मन ही अहमर्थ है, यह अङ्गीकार करना चाहिये। प्रश्न—अहमर्थ मन नहीं है, किन्तु मन से अतिरिक्त आत्मा ही अहमर्थ है। कामादि आत्मा ही के धर्म हैं, मन के नहीं। 'एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति से विरोध भी नहीं, क्योंकि मनश्शब्द का अर्थ लक्षणा से मनोमूलक है। वैशेषिक भी आत्मा में कामादि की उत्पत्ति मन के संयोग से मानते हैं। उत्तर—लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' (विधि में शब्दार्थ लाक्षणिक नहीं हुआ करता) इस न्याय का विरोध भी है। प्रश्न—कामादि को मन का धर्म मानने पर भी 'एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति के मनःशब्द का लक्षणा से आपको भी मनोनिष्ठ यह अर्थ करना होगा। इसलिए दोनों के मत में लक्षणा तुल्य है। उत्तर—हमारे मत में धर्म और धर्मी का तादात्म्य है, इसलिए 'नीलं वस्त्रम्' इस प्रतीति की तरह 'एतत्सर्वं मन एव' इस प्रतीति का लक्षणा के बिना ही निर्वाह हो सकता है। इसलिए अहमर्थ आत्मा नहीं, किन्तु मन ही है यह सिद्ध हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता त्रयोदशाध्याय में इच्छादि स्पष्टतः 'क्षेत्र' कहे गये हैं अतः कामनादिको आत्मगुण मानना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है।

१. रत्नावलीकार 'तद्ध्वंस०' की जगह केवल 'ध्वंसप्रा०' ही पाठ मानकर चकार से 'आत्मनः' का अनुषंग स्वीकारते हैं। 'तद्ध्वंस०' पाठ ही सुस्पष्ट है। २. भाट्ट, सांख्य और पातञ्जल आत्मा को भोक्ता मानते हैं। सुख-दुःखादिमान् होना ही भोक्तृत्व है। उक्त न्याय से भोक्तृत्व मन में ही है, आत्मा में नहीं। इस दशा में भोक्ता मन के आत्मत्व-निराकरण से भट्टादि अभिमत आत्मस्वरूप का निराकरण हो गया। दिगम्बरादि को अभिमत आत्मस्वरूप वृद्धि और क्षयवाला है। वास्तव में वृद्धि-क्षय देह ही के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार वृद्धि-क्षयवाले देह के आत्मत्व-निराकरण ही से दिगम्बरादि से अभिमत आत्मस्वरूप का निराकरण हो गया। ३. आत्मा देशादि से अपरिच्छिन्न है, अन्य दार्शनिकों द्वारा अभिमत आत्मा देह-इन्द्रियादि एवं घटादि की तरह काल-परिच्छिन्न है, इसलिए वह आत्मा नहीं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव ओर अन्योन्याभाव ये चारों प्रकार के अभाव आत्मा के नहीं हो सकते, क्योंकि काल से परिच्छिन्न वस्तु ही के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हुआ करते हैं। देश से परिच्छिन्न वस्तु का अत्यन्ताभाव होता है, जैसे—'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति से भूतल में घट का अभाव है। वस्तु से परिच्छिन्न वस्तु ही का भेद हुआ करता है। भेद ही अन्योन्याभाव है। वेदान्ती से अभिमत आत्मा का कोई भी अभाव सम्भव नहीं, क्योंकि उसका सत् रूप से सर्वदा सर्वत्र स्फुरण होता है। इसलिए आत्मा त्रिविध परिच्छेद से रहित है, यही उपपादन करते हुए पहिले आत्मा में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की अनुपपत्ति दिखाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुक्तिरजतादिवदध्यस्तस्य [1]तत्तादात्म्याभावानुपपत्तेः। तेनात्मा नाभावप्रतियोगी।

अनात्मा हैं। आत्मा के ध्वंस[2] और प्रागभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। आत्मा से भिन्न पदार्थ जड हैं। आत्मा से भिन्न कोई दूसरा आत्मा है नहीं, जो आत्मा के अभाव को ग्रहण करे। आत्मा के एक होने पर भी सुख, दुःख आदि के आश्रय अन्तःकरणों के भेद के स्वीकार से सुख-दुःख की व्यवस्था बन जाती है। स्वयं[3] अपने अभाव के ग्रहण में विरोध है, क्योंकि अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के समय आत्मा नहीं है, आत्मा की सत्ता में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं है। दूसरी बात यह कि कृत[4] कर्मों की हानि और अकृत कर्मों की प्राप्तिरूप दोष हो जायेगा। इसलिए आत्मा के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हो सकते। सत्रूप[5] से सर्वत्र विद्यमान होने के कारण आत्मा का अत्यन्ताभाव भी नहीं हो सकता। द्वैतप्रपञ्च[6] मिथ्या है, अधिष्ठानरूप ब्रह्म के साथ अभेद होने के कारण ही वह सिद्ध हुआ है। अतः शुक्ति में रजत के समान अध्यस्त होने से उसमें आत्मा के तादात्म्य का अभाव (भेद) उपपन्न नहीं हो सकता। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो गया कि आत्मा[7] अभाव का प्रतियोगी नहीं है।

अभाव के प्रतियोगी देह, इन्द्रिय आदि हैं। इसलिए[8] वे आत्मा नहीं हैं। किन्तु स्वप्रकाश ज्ञानरूप अद्वितीय

---

१. तत्तादात्म्येत्यत्र अधिष्ठानतादात्म्येति पाठान्तरम्। २. ध्वंसादि चारों में से कोई भी अभाव आत्मा का हो यह संभव नहीं इसे क्रमशः बतायेंगे। 'प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है' इस न्याय से ध्वंस और प्रागभाव के साधक प्रमाण के होने पर उनकी सिद्धि हो सकती है। प्रमाण यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमाण ज्ञाता में ज्ञान को उत्पन्न करता है। आत्मा के प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव का ज्ञाता अनात्मा तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह जड है। आत्मा अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का साधक हो नहीं सकता, क्योंकि वेदान्तमत में आत्मा एक है, वह स्वयं अपने अभाव को कैसे ग्रहण करेगा ? ३. प्रश्न—एक ही आत्मा अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता? उत्तर—स्वप्रागभावकाल और स्वध्वंसकाल में स्वयं आत्मा नहीं रह सकता है और 'स्व' के अस्तित्वकाल में ग्राह्य स्वप्रागभाव और स्वप्रध्वंसाभाव नहीं हो सकते। इस प्रकार ग्रहीता के असम्भव से, ग्रहीतृसापेक्ष प्रमाण का असञ्चार होने से आत्मा के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की असिद्धि का उपपादन करके कारणान्तर से भी उनकी असिद्धि का उपपादन करते हैं। ४. आत्मा का प्रध्वंसाभाव अङ्गीकार करने पर आत्मा के किए हुए उन कर्मों की, जिनके फल का उपभोग नहीं हुआ है, हानि का आत्मा के विनाशकाल में फलोपभोग के बिना ही स्वीकार करना होगा। वैसे ही आत्मा के प्रागभाव के अङ्गीकार करने पर आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर सद्यो जायमान सुख-दुःखोपभोग का आगमन बिना कारण ही के स्वीकार करना होगा। ये दोनों ही ठीक नहीं हैं, क्योंकि भोग के बिना कर्मों का क्षय और कारण के बिना आकस्मिक कार्य की उत्पत्ति किसी के भी स्वीकार करने के योग्य नहीं है। इस प्रकार आत्मा के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के असम्भव का उपपादन करके अब आत्मा के अत्यन्ताभाव के असम्भव का उपपादन करते हैं। ५. आत्मा सन्मात्ररूप है यह श्रुतियों का उद्घोष है। 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' (घट है, पट है) इस प्रकार सत्रूप आत्मा का सर्वत्र अनुगम देखा जाता है। इसलिए सत्रूप आत्मा के अत्यन्ताभाव का कहीं भी सम्भव नहीं है। अब इसके बाद आत्मा के अन्योन्याभाव के असम्भव का उपपादन करते हैं। ६. अन्योन्याभाव का अर्थ भेद है। जैसे पट में 'यह घट नहीं है' इस प्रकार घट के भेद का अनुभव होता है; वैसे ही किसी वस्तु में 'यह आत्मा नहीं है', इस प्रकार आत्मभेद कहना होगा। वह सम्भव नहीं है, क्योंकि अनात्मा—मिथ्याभूत सर्वपदार्थ—आत्मा में आरोपित है। आरोपित की सिद्धि अधिष्ठानभूत आत्मा के तादात्म्य ही से हो सकती है। आत्मा के तादात्म्य से सिद्ध होनेवाले अनात्माओं में आत्मभेद कहा नहीं जा सकता। जैसे शुक्ति के तादात्म्य से प्रतीत होनेवाले रजत में 'यह शुक्ति नहीं है' यह निषेध वास्तव में नहीं हो सकता; वैसे ही आत्मा के तादात्म्य से प्रतीत होनेवाले अनात्माओं में आत्मभेद सिद्ध नहीं हो सकता। ७. उक्त रीति से आत्मा में चतुर्विध अभाव का असम्भव होने से आत्मा अभाव का प्रतियोगी नहीं है। ८. अभाव के प्रतियोगी होने से वादियों को अङ्गीकृत देहादि का तो अभाव सम्भव है, क्योंकि देह की उत्पत्ति से पहले उसका प्रागभाव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभावप्रतियोगिनश्च देहेन्द्रियादयः। तेनामी नात्मानः। किन्तु स्वप्रकाशबोधरूपे आत्मन्यद्वैतेऽप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्याकल्पिता अनिर्वचनीया एवेति सिद्धान्तरहस्यम्।

सुषुप्तावात्मसिद्धिः

ननु बोधरूप आत्मेति तवाभ्युपगमात् सुषुप्तौ च बोधाभावाद् 'गाढं मूढोऽहमासं न किञ्चिदवेदिषमि'ति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात् कथमव्यभिचारिता तस्य ? इत्याशङ्क्याह—सुषुप्त्येकसिद्ध इति। अयमर्थः—आत्मनः सुषुप्तिसाक्षित्वान्न तत्र तदभावः।

आत्मा में अनिर्वचनीय अनादि अविद्यासे कल्पित[1] हैं और स्वयं भी अनिर्वचनीय ही हैं। यह वेदान्तसिद्धान्त का रहस्य है।

शङ्का—आप आत्मा को ज्ञानरूप मानते हैं। सुषुप्ति में ज्ञान होता नहीं, इसलिए सोकर उठे हुए पुरुष को 'मैं अत्यन्त मूढ हो गया था, मैंने कुछ भी नहीं जाना'—ऐसा स्मरण होता है। ऐसी दशा में आत्मा अविनाशी

देह का विनाश होने पर उसका प्रध्वंसाभाव है। देह विभु नहीं है, इसलिए जहाँ देह नहीं वहाँ उसका अत्यन्ताभाव भी है। देह से भिन्न घट-पटादिक वस्तुएँ उनके मत में सत्य हैं। उनमें देह का भेद भी है। इस प्रकार देह के चतुर्विध अभाव उपलब्ध होते हैं। आत्मा का तो इन चतुर्विध अभावों में से एक भी अभाव सम्भव नहीं है। जिसका एक भी अभाव हो, वह आत्मा नहीं हो सकता। तब चतुर्विध अभाव के प्रतियोगी देहादिक कैसे आत्मा हो सकते हैं? इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, प्राण और क्षणिक विज्ञान इनके चारों प्रकार के अभाव उपलब्ध होते हैं। वे आत्मा कैसे हो सकते हैं ? जिस आत्मा का प्रतियोगीरूप से भी किसी अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है, उसका अभाव के साथ तादात्म्य तो सुतरां नहीं हो सकता। इसलिए शून्यात्मवादी के मत का निरास हो गया।

जैन और मीमांसकों के मत में यद्यपि आत्मस्वरूप नित्य है, आत्मा की उत्पत्ति और विनाश के अभाव से उनके मत में आत्मा का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव सम्भव नहीं है, तथापि वे आत्मा को विभु नहीं मानते, इसलिए आत्मा का अत्यन्ताभाव सम्भव है। उनके मत में द्वैत सत्य है, इसलिए आत्मा से भिन्न घटादि वस्तुओं में आत्मा का भेद भी सम्भव है। वैशेषिक, सांख्य और पातंजलों के मत में आत्मा नित्य है, इसलिए उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हैं। विभु है, इसलिए उसका अत्यन्ताभाव भी नहीं है। परन्तु द्वैत को वे सत्य मानते हैं, इसलिए उनके मत में अचेतन पृथिव्यादि सत्य वस्तुओं में आत्मा का भेद सम्भव है। यद्यपि देहादि के मिथ्या होने से देहादि में अनात्मत्व सिद्ध है, तथापि आचार्यों ने वह हेतु नहीं दिया, क्योंकि वादी लोग देहादि को मिथ्या नहीं मानते।

प्रश्न—यदि देहादि आत्मा नहीं हैं, तो उनकी 'मनुष्योऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्' (मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ) इस प्रकार आत्मरूप से क्यों प्रतीति होती है ? उत्तर—शुक्ति में रजत की तरह अविद्या से देहादि आत्मा में आरोपित हैं, इसलिए उनकी आत्मरूप से प्रतीति होती है।

१. प्रश्न—शुक्ति का जब 'इदमंश' से प्रकाश और शुक्ति अंश से अप्रकाश होता है, तभी उसमें रजत का आरोप देखा जाता है। स्पष्ट प्रकाश में वर्त्तमान समीपवर्ती शुक्ति, शुक्ति-अंश से ही प्रकाशित होती है, इसलिए उसमें रजत का आरोप नहीं देखा जाता। गाढ अन्धकार में स्थित शुक्ति इदमंश से भी अप्रकाशित होती है, उसमें भी रजत का आरोप नहीं देखा जाता। शुक्ति आदि जड-पदार्थ परप्रकाश्य हैं, इसलिए प्रकाशक दीपादि के सन्निधान के तारतम्य से उनका अंश से प्रकाश और अंश से अप्रकाश बन सकता है। आत्मा को तो तुम स्वयंप्रकाश, ज्ञानस्वरूप और निरंश मानते हो, इसलिए वह सदा सब प्रकार से प्रकाशमान है, उसमें अप्रकाशित कोई अंश ही नहीं है, फिर आत्मा में देहादि का आरोप कैसे ? किंच, शुक्ति से भिन्न रजत अन्यत्र कान्ताकरादि में सत्यरूप से प्रतीत होता है, इसलिए उसका शुक्ति में आरोप होता है। असत् वन्ध्यापुत्र और शशशृङ्ग का किसी में आरोप नहीं देखा जाता। वेदान्ती के मत में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यथा 'मूढोऽहमासमि'ति परामर्शानुपपत्तेः। मातृमानमितिमेयानां व्यभिचारित्वेऽपि तद्भावाभावसाक्षिणः कालत्रयेऽप्यव्यभिचारात्।

कैसे ?[1]

समाधान—इस शङ्का के निराकरण के लिए कहा—'सुषुप्त्येकसिद्धः[२]।' इसका अर्थ यह है—आत्मा सुषुप्ति का साक्षी है, इसलिए सुषुप्ति में उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा 'मैं अत्यन्त मूढ हो गया था' इस प्रकार का स्मरण न होता। प्रमाता[३], प्रमाण, प्रमा और प्रमेय के व्यभिचारी होने पर भी उनकी सत्ता और असत्ता के साक्षी का तीनों काल में नाश नहीं होता।

शङ्का—प्रमा[४] का आश्रय प्रमाता है। वही कर्त्ता है और वही भोक्ता है। दीपक के समान अपना तथा

तो आत्मा से अन्यत्र कहीं देहादि की सत्ता है ही नहीं, तो फिर देहादि में आत्मा का आरोप-कैसे ? उत्तर—आत्मा स्वयंप्रकाश है, वास्तव में आवृत भी नहीं है, परन्तु अपनी शक्ति अनादि अविद्या से आवृतस्वरूप की तरह अविद्या से उपहित जीव की दृष्टि में अंश से प्रकाशमान होता है। निरंश स्वप्रकाश भी आत्मा में यह अनादि अविद्या अपने से उपहित जीव की दृष्टि से अंशभेद की कल्पना करके अंश से आत्मस्वरूप के आच्छादन में समर्थ हो सकती है। और यह जो पूर्ववादी ने कहा कि अन्यत्र सत्यत्वेन प्रतीत रजतादि का शुक्ति आदि में आरोप हुआ करता है, वेदान्ती के मत में देहादि सत्य कहीं हैं ही नहीं, तो फिर उनका आत्मा में आरोप कैसे ? इसका उत्तर यह है कि भ्रमस्थल में आरोपित वस्तु अन्यत्र सत्य होनी चाहिये—इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सत्य सर्प जिसने नहीं देखा है, चित्र-लिखित सर्प को देखकर उसके चित्त में 'ऐसा सर्प होता है' ऐसी भावना दृढ हो जाने पर कभी निमित्त के होने पर रज्जु में सर्प का आरोप हो सकता है। इसलिए भ्रम में आरोपित वस्तु के ज्ञान का संस्कार कारण है। वस्तु के सत्यत्व की अपेक्षा नहीं है। संस्कार तो मिथ्याभूत वस्तु से भी हो सकता है। १. सुषुप्ति-अवस्था में स्थित मूढत्व, जिसका जाग्रत् अवस्था में 'मूढोऽहमासम्' (मैं मूढ हो गया था) ऐसा स्मरण होता है, उससे सुषुप्ति में मूढत्व की सिद्धि होती है। मूढत्व ज्ञान का अभाव है। ज्ञान का अभाव होने पर ज्ञानरूप आत्मा सुषुप्ति में सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए सिद्धान्ती को अभिमत ज्ञानरूप आत्मा भी व्यभिचारी है—यह पूर्ववादी का आशय है। २. सुषुप्ति-अवस्था में विद्यमान मूढत्व का अनुभव सुषुप्तिकाल में है या नहीं ? यदि अनुभव नहीं है, तो जाग्रत् अवस्था में स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव के न होने से संस्कार नहीं होता और संस्कार के न होने से स्मरण नहीं हो सकता। यदि सुषुप्तिकाल में मूढत्व का अनुभव है, तो वह अनुभव ही सुषुप्ति का साक्षी ज्ञानरूप आत्मा है। इसलिए सुषुप्ति में आत्मा का व्यभिचार नहीं है, यह भाव है। इससे यह भी पता चल जाता है कि अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं वरन् आवरण करने वाली अभावविलक्षण वस्तु ही है। ३. शरीर को व्याप्त करके स्थित अन्तःकरण घटादि-ज्ञानकाल में गवाक्ष के खोल देने से दीपक के प्रकाश की तरह अपने आश्रयभूत शरीर को न त्यागता हुआ ही विकसित होकर नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकलकर सूक्ष्म तन्तु की तरह विषयदेश में जाकर, विषय को व्याप्त करके विषयाकार से परिणत हो जाता है, वहाँ शरीर में स्थित अन्तःकरण का भाग 'कर्ता' कहा जाता है। सूक्ष्म तन्तु की तरह शरीर और विषय के मध्य स्थित जो अन्तःकरण का भाग उससे उपहित चैतन्य प्रमाणचैतन्य कहा जाता है। विषय के आकार के सदृश आकार से परिणत विषयदेश में स्थित अन्तःकरण के भाग से उपहित चैतन्य प्रमितिचैतन्य कहा जाता है। घटादि विषयों से उपहित चैतन्य प्रमेयचैतन्य कहा जाता है। ये तत्तदुपहित चैतन्यरूप प्रमाता आदि चारों व्यभिचारी हैं, क्योंकि उपाधि के होने पर उनका भाव और उपाधि के न होने पर उनका अभाव हो जाता है। परन्तु उन चारों का साक्षिभूत जो अनुपहित चैतन्य है, वह तो सदा सत्रूप से अव्यभिचारी ही है। जैसे प्रमेय के भाव और अभाव का साक्षी अन्य होता है, वैसे ही प्रमाता के भाव एवं अभाव का साक्षी अन्य है—यह कहा। इसको सहन न करके वैशेषिकमतानुसारी 'ननु' इत्यादिसे शङ्का करता है। ४. शङ्का करनेवाले का यह आशय है कि प्रमा यथार्थज्ञान को कहते हैं और वह ज्ञान आत्मा का गुण है। उस ज्ञान का आश्रय केवल आत्मा ही कर्त्ता-भोक्ता है। अन्तःकरणोपहित आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। अन्तःकरण तो ज्ञान में, कर्तृत्व में और भोक्तृत्व में केवल आत्मा का सहायक है। उसका ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता आत्मा के स्वरूप में प्रवेश नहीं है। इस दशा में जैसे दीपक अपने और अपनी प्रभा से संयुक्त घट के प्रकाश में अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता है, वैसे ही आत्मा भी स्व, स्वनिष्ठज्ञान और विषय का प्रकाश करने में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए साक्षी की उसको अपेक्षा नहीं, अतः साक्षी नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षी

ननु प्रमाश्रयः प्रमाता, स एव कर्त्ता भोक्ता प्रदीपवत् स्वपरसाधारणसर्वभासकश्चेति न घटादिवत्साक्षिसापेक्ष इति चेत् ? न। विकारित्वेन स्वविकारसाक्षित्वानुपपत्तेर्दृश्यस्य द्रष्टृत्वाभावात् प्रमातुश्च परिणामित्वेन दृश्यत्वात्। एकस्य कूटस्थस्यैव सर्वसाक्षित्वात्।

नन्वेकः कूटस्थो निर्धर्मकः साक्षी नाद्रियते, अप्रामाणिकत्वादिति चेत् ? न; 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वेता० ६। १४, का० २। २)

अन्य का प्रकाशक भी वही है, घट आदि के समान साक्षी की अपेक्षा भी उसे नहीं है। समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाता विकारी[1] है, इसलिए प्रमाता अपने विकार का साक्षी स्वयं नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि दृश्य द्रष्टा नहीं हो सकता। प्रमाता परिणामी होने से दृश्य है, इसलिए प्रमाता भी प्रमेय की तरह अपनी सत्ता तथा असत्ता का साक्षी नहीं हो सकता। केवल असङ्ग, अविकारी आत्मा ही सबका साक्षी है।

शङ्का—[2]अद्वितीय, [3]कूटस्थ, प्रमादि धर्मरहित साक्षी मान्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसा साक्षी प्रामाणिक नहीं माना जाता। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि '[4]तमेव भान्त०', 'न दृष्टेः' इत्यादि कहते हुए वेदान्तप्रमाणराज ने उसीका (आत्मा का) सबके साक्षीरूपसे अभिषेक किया है। (अर्थात् साक्षी शास्त्रसिद्ध वस्तु है।)

---

१. विकारित्व परिणामित्व है। यदि आत्मा ही प्रमाता हो, तो उसका विषयाकार से परिणाम अवश्यंभावी है, क्योंकि विषयाकार परिणाम ही को ज्ञान कहते हैं। जो-जो परिणामी हैं, वे सब दृश्य हैं, इस व्याप्ति से आत्मा दृश्य सिद्ध हो जायेगा और दृश्य होने से वह द्रष्टा नहीं हो सकता एवं द्रष्टा न होने से वह साक्षी नहीं हो सकता। प्रश्न—ज्ञान विषयाकार परिणाम नहीं है, किन्तु तार्किक मत के अनुसार विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होनेवाला गुणविशेष है, इसलिए आत्मा परिणामी नहीं है। उत्तर—तथापि निर्गुण, सगुण दो अवस्थाओं के भेद से भिन्न होनेवाले आत्मा का परिणाम अवश्य मानना होगा, क्योंकि 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ धर्म अवश्य धर्मी को विकृत (उत्पत्ति-नाशवाला) कर देता है, इसलिए अवस्थाभेद से भी जहाँ भेद नहीं है, इस अपरिणामी कूटस्थ आत्मा को ही सर्वसाक्षी मानना चाहिये। दृश्य प्रमाता साक्षी नहीं हो सकता। २. याज्ञवल्क्यस्मृति में साक्षी के प्रकरण में कहा है—'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्त्तक्रियापराः'—उसके विरुद्ध एक निर्धर्मक आत्मा को साक्षी कैसे कह सकते हैं ? उसीके अग्रिम श्लोक में—'कूटकृद्विकलेन्द्रियाः' कूटकृत् (कपटकारी) की साक्षिता का निषेध किया है, इस स्मृति के विरुद्ध कूटस्थ को ही तुम साक्षी कहते हो, उसको हम कैसे मानें ? पूर्वपक्षी का यह आशय है। इसपर प्रमाणों में मूर्धाभिषिक्त श्रुति ही यहाँ प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—'तमेवेति'। ३. याज्ञवल्क्य का वचन व्यवहारविषयक है, इसलिए उससे विरोध नहीं। किंच, याज्ञवल्क्य ने जो कूटकृत् में साक्षिता का निषेध किया है, वहाँपर कूटकृत् का अर्थ कपटकारी है। आत्मा को तो कूटस्थ कहते हैं, यहाँ कूटस्थ शब्द का अर्थ एक निर्विकाररूप से सदा वर्तमान है, क्योंकि 'एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः' [अम० ३। १। ७३] एक ही रूप से जो तीनों कालों में व्यापक नित्य हो उसको कूटस्थ कहते हैं। 'कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ' इति मेदिनी। मेदिनीकोष में कूट-शब्द का अर्थ निश्चल है। इसलिए निश्चल होकर स्थित होनेवाला—यह कूटस्थ-शब्द का अर्थ है। ४. 'तमेव भान्तम्' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है—ये सब सूर्य, चन्द्र, बिजली, अग्नि आदि स्वतः प्रकाशमान नहीं हैं। सूर्यादि में स्वतःप्रकाश की सामर्थ्य नहीं है, किन्तु 'तमेव भान्तमनुभाति' सबसे पहले प्रकाशमान परमात्मा के अनुग्रह से सूर्यादि भासते हैं। उस परमात्मा की ही दीप्ति से सूर्यादि सारा जगत् भासता है। इसलिए परमात्मा 'भा' रूप है, यह निश्चय होता है, क्योंकि जिसमें भासनशक्ति न हो, वह दूसरे का भासन नहीं कर सकता। जैसे लोक में घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थ के भासक नहीं होते और जो भारूप सूर्यादि हैं, वे अन्य पदार्थों के प्रकाशक होते हैं, ऐसा देखा जाता है। इसलिए जगत् के प्रकाशक सूर्यादि का भी प्रकाश करनेवाला परमात्मा सर्वसाक्षी है, यह सिद्ध हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'न दृष्टेर्द्रष्टारं[1] पश्येः' (बृ० ३। ७। २३) 'अदृष्टो[2] द्रष्टा' (बृ० ३। ७। २३) "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३। ७। २३) इत्यादि वदता वेदान्तप्रमाणराजेन तस्यैव सर्वसाक्षित्वेनाभिषिक्तत्वात्।

ननु महदेतदिन्द्रजालं प्रमाश्रयानकूटस्थान् विहाय कूटस्थमप्रमाश्रयमेव प्रमाणराजः सर्वसाक्षिणं करोतीति ! बाढमिन्द्रजालमेवैतत्, स्वप्नवदविद्याविलसितत्वात्। तथापि दृश्यस्य .घटादिवज्जडत्वेन कथं प्रमाश्रयत्वमिति चेत् ? न; दर्पणादिवत्स्वच्छत्वेन चित्प्रतिबिम्बग्राहकत्वाच्चित्तादात्म्याध्यासाद्वा।

शङ्का—यह तो बड़ा इन्द्रजाल है जो कि प्रमाणराज प्रमा के आश्रय[5] एवं अकूटस्थों[6] को छोड़कर कूटस्थ[7] तथा प्रमाशून्य[8] को सबका साक्षी बनाता है ! समाधान—हाँ, अवश्य यह इन्द्रजाल ही है। क्योंकि स्वप्न के जगत् के समान यह भी अविद्या से उत्पन्न हुआ है।

शङ्का—तो[9] भी दृश्य पदार्थ घट आदि के समान जड है, अतः वह प्रमा का आश्रय कैसे ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पण के समान स्वच्छ होने से अन्तःकरण में चित् के प्रतिबिम्ब[10] को ग्रहण करने की शक्ति है। अथवा; अन्तःकरण में चित्[11] का तादात्म्याध्यास है इसलिए जड भी अन्तःकरण प्रमा का आश्रय हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का[12]—नीरूप निरवयव आत्मा का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? समाधान—इसमें क्या अनुपपत्ति

---

१. चक्षुरादि में रहनेवाली लौकिक दृष्टि (दर्शनशक्ति) के। २. अन्तर्यामीरूप से व्याप्त हुए द्रष्टा परमात्मा को तू नहीं देख सकता, परमात्मा लौकिक दृष्टि का विषय नहीं होता, क्योंकि वह लौकिक दृष्टि का साक्षी है। इसलिए परमात्मा सर्वसाक्षी है, यह सिद्ध हुआ। ३. लौकिक दृष्टि का अविषय परमात्मा स्वयं सबका साक्षी होने से द्रष्टा है। ४. परमात्मा से भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है। इसलिए जिसको द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, जीव आदि कहते हैं, वह परमात्मा ही है। ५. यथार्थ ज्ञानवाले। ६. अकपटकारी। कूट नाम कपट का है, कूटस्थ कपट में स्थित होनेवाला, इसलिए अकूटस्थ (अकपटकारी) ऐसे ही पुरुषों को राजा लोक में साक्षी स्वीकार करता है, परमात्मा तो सर्वथा इससे विपरीत है। ७. कूट (कपट) कपटरूप संसार में स्थित। ८. जो प्रमा का आश्रय नहीं है। अबाधित विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति को प्रमा कहते हैं, उसका आश्रय अन्तःकरण ही है, क्योंकि वह परिणामी है, परमात्मा अपरिणामी है, इसलिए प्रमा का आश्रय नहीं है और वह कूट में स्थित है, इसलिए अकूटस्थ भी नहीं है। ९. प्रमा ज्ञानविशेष है, अन्तःकरण की वृत्ति में जो प्रमात्व है वह औपचारिक है, वास्तविक नहीं। क्योंकि ज्ञान चैतन्य ही है, इसलिए प्रमा चेतन का ही धर्म हो सकता है, अचेतन अन्तःकरण का नहीं, यह आशय है। १०. वास्तव में चैतन्य का आश्रय न होता हुआ भी अन्तःकरण चिति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, इसलिए उसको चैतन्य का आश्रय कहते हैं। ११. अथवा अचेतन अन्तःकरण का चेतन के साथ जो भेद है, उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए अन्तःकरण को चैतन्य का आश्रय कहते हैं। चैतन्य का आश्रय होना ही प्रमा का आश्रय होना (प्रमातृत्व होना) है। १२. पूर्वपक्षी—आत्मा का प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब की सामग्री नहीं है। तथाहि, अपने सम्मुख स्थित दर्पणरूपी उपाधि से अपहत होकर नेत्र की रश्मियाँ लौट जाती हैं, तब नेत्र द्वारा ग्रीवा में स्थित अपने बिम्बरूपी मुख को देखता हुआ भी पुरुष ग्रीवा में स्थितत्व के अज्ञानरूपी दोष से अभिमुख दर्पणरूपी उपाधि में अन्तर्गतत्व का आरोप कर लेता है कि मेरा मुख दर्पण के अन्दर है, इसीको प्रतिबिम्ब-भ्रम कहते हैं। वहाँपर बिम्बरूप मुख का चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप के अधीन है और दर्पणरूपी उपाधि की अभिमुखता सावयवत्व के अधीन है। आत्मा के न रूप है, न अवयव। फिर आत्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब कैसे ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिबिम्बनोपपत्तिः

ननु नीरूपस्य निरवयवस्यात्मनः कथं प्रतिबिम्ब इति चेत् ? कात्रानुपपत्तिः, विभ्रमहेतूनां विचित्रत्वात्। जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्। शब्दस्यापि प्रतिशब्दाख्यप्रतिबिम्बोपलम्भात्। तयोः संप्रतिपन्नप्रतिबिम्बवैलक्षण्यानिरूपणात्। तथापीन्द्रियग्राह्यस्यैव प्रतिबिम्ब इति चेत् ? न; व्यभिचारात्। अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षस्याप्याकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बोपलम्भात्। अन्यथा जानुमात्रेऽप्युदकेऽतिगम्भीरप्रतीतिर्न स्यात्। आकाशप्रतिबिम्बस्य साक्षिभास्यत्वेऽपि[१] सालोकस्य साभ्रस्य च प्रतिबिम्बितत्वात्तद्ग्रहणार्थमधिष्ठानग्रहणार्थं च चक्षुषोऽपेक्षणात्। एतेन नीलं नभ इत्यादिविभ्रमेऽपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकौ व्याख्यातौ। तत्र सालोकस्याकाशस्याधिष्ठानत्वात्। तस्माच्चाक्षुषप्रतिबिम्बमेव रूपसापेक्षं नान्यदित्यवधेयम्।

है ?[२] अर्थात् कोई भी नहीं, क्योंकि भ्रान्ति के कारण अनेक[३] हुआ करते हैं। जपा के फूल का रूप भी नीरूप है, पर स्फटिक आदि में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; और शब्द भी रूपरहित है, उसके भी प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। इनको हम प्रतिबिम्ब ही नहीं मानते ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वसम्मत प्रतिबिम्ब से इनमें[४] कोई विलक्षणता नहीं है।

---

१. 'ऽपि अधिष्ठानग्रहणार्थं चक्षुषोऽपेक्षणाद्' इति रत्नावलीपुस्तकपाठः। २. सिद्धान्ती—सरूप सावयव मुख के प्रतिबिम्ब की तरह नीरूप निरवयव वस्तु का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, इसलिए सरूप सावयव बिम्बस्थल की अपेक्षा नीरूप निरवयव बिम्बस्थल में सामग्री का भेद अवश्य मानना होगा, इसलिए आत्मा के प्रतिबिम्ब में अनुपपत्ति का कोई लेश भी नहीं है। ३. नाना प्रकार के। रूपवान् और सावयव वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है, सिद्धान्ती इस सामग्री का व्यभिचार दिखाता है। ४. नैयायिक स्पष्टतः समझाते हैं कि रूप रूप से रहित है, क्योंकि रूप गुण है, और गुण 'में' गुण नहीं रहता। अवयव द्रव्य ही का हुआ करता है, रूप द्रव्य नहीं, इसलिए वह सावयव भी नहीं है। तथापि जपाकुसुम के रूप का स्फटिक-उपाधि के अन्तर्गतत्वारोपरूप प्रतिबिम्ब देखा जाता है। तथा च रूपवान् और सावयव का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है, इस सामग्री का उक्त स्थल में व्यभिचार है।

पूर्वपक्षी—दर्पण में मुख की प्रतीति रूप और अवयव विशिष्ट ही हुआ करती है, उसीका प्रतिबिम्बशब्द से व्यवहार होता है। फिर नीरूप के प्रतिबिम्ब का कथन कैसे ? जपाकुसुम के रूप का जहाँ स्फटिक में प्रतिबिम्ब होता है, वहाँ रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस सामग्री का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि रूप में यद्यपि साक्षात् (समवाय-सम्बन्ध से) रूप नहीं है, तथापि तादात्म्य सम्बन्ध से रूप 'में' रूप है ही। सिद्धान्ती—तथापि किसी भी सम्बन्ध से रूप से रहित शब्द का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, क्योंकि मठ के मध्य स्थित पुरुष के कण्ठदेश में उत्पन्न हुआ शब्द मठ के ऊपरी भाग में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। पुरुष के कण्ठदेश में उत्पन्न हुए शब्द का मठ के ऊर्ध्वाकाश में प्रतिबिम्ब होता है, यह स्वीकार करना होगा।

पूर्वपक्षी—'रक्तः स्फटिकः' यह भ्रम 'पीतः शङ्खः' इस भ्रम के सदृश है, इसलिए भ्रम है। शब्दस्थल में तो प्रतिध्वनिरूप शब्दान्तर उत्पन्न होता है, इसलिए उसके अनुसार सामग्री का भेदकल्पन कैसे ? सिद्धान्ती—दर्पण में उपलभ्यमान मुख जैसे सर्वसम्मत मुख-प्रतिबिम्ब है, उसके सदृश ही स्फटिक में रक्तिमा की और मठ के ऊर्ध्वाकाश में प्रतिशब्द की प्रतीति होती है। जैसे मुख से भिन्न दर्पण में मुख की उपलब्धि होती है, वैसे ही जपाकुसुम की रक्तिमा से भिन्न स्फटिक में रक्तिमा की उपलब्धि होती है, इसलिए उसमें प्रतिबिम्ब का लक्षण तुल्य है, क्योंकि अन्य के संबंध से अन्य में उपलभ्यमान होना ही प्रतिबिम्ब का लक्षण है। अर्थात् उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप आरोपित धर्म से विशिष्ट बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार मुख की तरह जपाकुसुमरूप और शब्द भी उपाध्यन्तर्गतत्वरूप आरोपित धर्म से विशिष्ट होकर ही प्रतीत होते हैं। इसलिए रूप और शब्द के प्रतिबिम्बत्व में संकोच नहीं होना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो भी इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब होता है, ऐसा नहीं कह सकते; ऐसा मानने में व्यभिचार है, क्योंकि इन्द्रियों[१] से प्रत्यक्ष न होनेवाले साक्षिभास्य आकाश के भी प्रतिबिम्ब की जल आदि में उपलब्धि होती है। यदि[२] आकाश का प्रतिबिम्ब न मानोगे, तो जाँघमात्र जल में भी अतिगम्भीर जल की प्रतीति नहीं होगी।

---

१. पूर्वपक्षी—चक्षुर्योग्यता का व्यभिचार होने पर भी शब्द में बहिरिन्द्रिययोग्यता का व्यभिचार नहीं है। इसलिए शब्द का प्रतिबिम्ब हो, आत्मा तो किसी भी इन्द्रिय का ग्राह्य नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे ? सिद्धान्ती—किसी भी इन्द्रिय से अग्राह्य केवल साक्षिभास्य रूपरहित निरवयव आकाश का भी जलादि में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। पूर्वपक्षी—सुखादिकों की तरह आकाश यदि साक्षिभास्य है, तो साक्षिभास्य सुखादि की तरह आकाश का भी अन्धे पुरुष को साक्षात्कार होना चाहिये। सिद्धान्ती—होता ही है। जाग्रत् और स्वप्न में भासमान घट आदि मूर्त पदार्थों में रहनेवाले आकाश का अन्धे को भी प्रत्यक्ष होता ही है। पूर्वपक्षी—नेत्र को ऊपर करने से आकाश के जितने प्रदेश में नेत्र का संयोग होता है, उतने ही आकाश का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए आकाश चाक्षुष है, यह प्रभाकर का मत है। किंच, अन्धे पुरुष को भी घट में उसी आकाश की प्रतीति होती है, जो घट से अवच्छिन्न है, सम्पूर्ण आकाश की प्रतीति नहीं होती। यदि आकाश साक्षिभास्य है, तो अन्ध और अनन्ध दोनों को सम्पूर्ण आकाश का प्रत्यक्ष होना चाहिये। चाक्षुष मानने पर तो घट की तरह आकाश के जितने भाग में नेत्र का संयोग होता है, उतने ही का प्रत्यक्ष होता है। साक्षिभास्यत्वपक्ष में उसके प्रत्यक्ष के लिए नेत्र का कोई उपयोग ही नहीं है, इसलिए यह व्यवस्था नहीं हो सकती। सिद्धान्ती—जैसे काल के साक्षिभास्य होने पर भी भासमान घट-पटादि के अधिकरण वर्तमान क्षणरूप काल की ही 'इदानीं घटः', 'इदानीं पटः' इत्यादि रूप से प्रतीति होती है, क्योंकि घटाकार-वृत्ति से घटाधिकरण क्षण के आवरण का नाश होकर उसी क्षण का अनावृत साक्षी के साथ सम्बन्ध होता है। इसलिए उक्त प्रतीतियों में वर्त्तमान क्षण का ही भान होता है। उक्त प्रतीतियों को यदि परोक्षज्ञान मानें, तो अतीत और अनागत क्षणों की भी प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि परोक्ष ज्ञान स्थल में वृत्ति की विषयता अतीत अनागत पदार्थों में भी हुआ करती है जबकि 'इदानीं घटः' इत्यादि प्रतीति में विषयाधिकरण क्षण ही विषय होता है, यह नियम है; वैसे ही आकाश के साक्षिभास्य होने पर भी भासमान घटादिकों से अवच्छिन्न आकाश ही के आवरण का घटाकारवृत्ति से नाश होता है। इसलिए घटावच्छिन्न आकाश के साथ ही अनावृत साक्षी का सम्बन्ध होने से 'घटाकाशः' 'पटाकाशः' यह प्रतीति होती है। ऊर्ध्वभाग में व्यापृत नेत्र से जितना आलोक (प्रकाश) का भाग ग्रहण किया जाता है, उस आलोकावच्छिन्न आकाश का साक्षी से ग्रहण होता है। अन्धे पुरुष को भी त्वचा से गृह्यमाण घट में तदवच्छिन्न आकाश का साक्षी ही से ग्रहण होता है।

इसलिए आकाश का जो ज्ञान होता है, वह घटादि प्रत्यक्ष की तरह प्रमातृ-प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि आकाश में रूप के न होने से चक्षुरिन्द्रिय का उसमें सञ्चार ही नहीं है। अनुमान भी नहीं है, क्योंकि अनुमान के कारण व्याप्ति-ज्ञानादि वहाँ नहीं है। इसलिए आकाश में किसी भी प्रमाण का सञ्चार न होने से आकाश का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, क्योंकि प्रमाणजन्य मनोवृत्ति में ही मन का परिणाम हुआ करता है, यह नियम है। इसीलिए शुक्तिस्थल में रजताध्यास में रजताकारवृत्ति मन का परिणाम नहीं होता, वह वृत्ति अविद्या से कल्पित है। इसीलिए वेदान्त-सिद्धान्त में अध्यस्त रजत साक्षिभास्य है, वैसे ही आकाश भी साक्षी-प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध हो गया। इसलिए जैसे इन्द्रियों से अग्राह्य आकाश का जल में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही इन्द्रियों से अग्राह्य आत्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब हो सकता है।

२. पूर्वपक्षी—जल में प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु जल के अभ्यन्तरवर्ती जो आकाश है, उसीकी प्रतीति होती है। सिद्धान्ती—जानुमात्र परिमाण जल में उससे अधिक परिमाणविशिष्ट आकाश की प्रतीति होती है, क्योंकि उसीमें चन्द्र, नक्षत्र आदि दूर-दूर से प्रतीत होते हैं। इसलिए जल में आकाश का प्रतिबिम्ब अवश्य स्वीकार करना चाहिये। पूर्वपक्षी—इस रीति से जल में आकाश का प्रतिबिम्ब मानने पर भी उसके साक्षात्कार का साधन तो नेत्र ही है, यदि नेत्र उसका साधन न होता, तो अन्धे पुरुष को भी जलाकाश का प्रत्यक्ष हो जाता। इसलिए प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय साधन है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों के ज्ञान की सामग्री समान हुआ करती है। जब आकाश का प्रतिबिम्ब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[1]आकाश के प्रतिबिम्ब के साक्षिभास्य होने पर भी आकाश का प्रतिबिम्ब मेघसहित है और आलोकसहित है। उनके ग्रहण के लिए और अधिष्ठान के ग्रहण के लिए चक्षु की अपेक्षा है। इससे[2] नील आकाश इत्यादि भ्रम में भी चक्षु के अन्वय और व्यतिरेक की व्याख्या हो गयी। नील आकाश इस वाक्य से कथित भ्रम में आलोकसहित आकाश अधिष्ठान है। इसलिए[3] चाक्षुष द्रव्यों का प्रतिबिम्ब ही रूपसापेक्ष होता है, अन्य द्रव्यों का प्रतिबिम्ब रूपसापेक्ष नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

चाक्षुष है, तो बिम्ब भी चाक्षुष है। इसलिए आकाश साक्षिभास्य नहीं, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। अतएव इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है, इस नियम का व्यभिचार नहीं। आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। सिद्धान्त—आकाश में रूप नहीं है, इसलिए आकाश के प्रतिबिम्ब का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आकाश में जो चाक्षुषत्वप्रतीति होती है, वह भ्रम ही है।

पूर्वपक्षी—तब आकाश के बिम्ब और प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष में चक्षु की अपेक्षा क्यों होती है ? सिद्धान्ती—आकाशप्रदेश में पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का जो अभाव है, उस अभाव के ग्रहणं करने के लिए चक्षु का व्यापार है; क्योंकि पृथ्वी आदि का अभाव और आकाश ये दोनों समनियत पदार्थ हैं। जहाँ पृथिव्यादिकों का अभाव होता है, वहीं आकाश होता है। और जहाँ आकाश होता है, वहाँ पृथिव्यादि का अभाव होता है। पृथिव्यादि के अभाव के ग्रहण से ही आकाश का ग्रहण होता है। समनियत होने से ही बौद्ध लोग आकाश को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते, किन्तु पृथिव्यादि का अभाव ही आकाश है, यह कहते हैं। इसलिए आकाशदेश में स्थित पृथिव्यादि का अभाव ही चाक्षुष है, उस अभाव का अधिकरण भावरूप आकाश चाक्षुष नहीं है। अतः आकाश साक्षिमात्र-प्रत्यक्ष का विषय है, यह सिद्ध हुआ। किंच, प्रतिबिम्बाकाश के ज्ञान के समय प्रतिबिम्ब की उपाधिं जलरूप अधिष्ठान के ज्ञान के लिए चक्षु की आवश्यकता है।

१. पूर्वपक्षी—'नीलं नभः' यह प्रतीति चक्षुष्मान् ही को होती है, अन्धे को नहीं, इसलिए चक्षु के सद्भाव में उस प्रतीति का सद्भाव यह अन्वय और चक्षु के अभाव में उस प्रतीतिं का अभाव यह व्यतिरेक है। यदि यह प्रतीति सत्य है, तो उक्त अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु आकाश में रूपवत्ता सिद्ध होगी। यदि वह प्रतीति सत्य नहीं, किन्तु भ्रम है, तो भी आरोपित नीलरूप ज्ञान के लिए चक्षु की अपेक्षा है। इस दशा में भी चक्षु के अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु एक रूपवान् ही में दूसरे रूप का भ्रम हुआ करता है, जैसे श्वेत शङ्ख में पीत रूप का भ्रम। इस दशा में भी आकाश रूपवान् ही होता है। दोनों प्रकार से रूपवान् होने से आकाश इन्द्रियग्राह्य सिद्ध होता है, साक्षिभास्य नहीं। सिद्धान्ती—'नीलं नभः' यह प्रतीति भ्रम ही है, आरोपित नीलरूप का अधिष्ठान केवल आकाश होता, तो उसकी रूपवत्ता सिद्ध होती। किन्तु केवल आकाश अधिष्ठान नहीं, वरन् आलोकसहित आकाश अधिष्ठान है। आलोक रूपवान् है ही, इसलिए उसमें नीलरूप-भ्रम सिद्ध हो सकता है।

२. जैसे केवल रज्जु सर्प-भ्रम का अधिष्ठान नहीं, किन्तु अन्धकार से आवृत ही रज्जु सर्प-भ्रम का अधिष्ठान है, वैसे ही यहाँ आलोकसहित आकाश ही नीलरूप-भ्रम का अधिष्ठान है। तादृश अधिष्ठान के अन्तर्गत आलोक के ज्ञान के लिए और आरोपित नीलरूप के ज्ञान के लिए ही चक्षु की अपेक्षा है। इसलिए चक्षु के अन्वय-व्यतिरेक की भी अनुपपत्ति नहीं है और आकाश में रूपवत्ता का प्रसङ्ग भी नहीं है, यह भाव है। ३. रूपवान् ही का प्रतिबिम्ब होता है, यह नियम चाक्षुष प्रतिबिम्बविषयक ही है। सब प्रतिबिम्बों में यह नियम नहीं है, यह अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथाप्यात्मनः प्रतिबिम्बे किं मानमिति चेत् ? शृणु। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। तदस्य[1] रूपं प्रतिचक्षणाय' (बृ० २।५।१९) 'मायाभासेन[2] जीवेशौ करोति।' 'एक[3] एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।' (ब्रह्मबिन्दुः१२)[4] इत्यादिश्रुतिः, 'स[5] एष इह प्रविष्टः' (बृ० १।४।७) 'स एतमेव[6] सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३।१२) 'तत्सृष्ट्वा[7] तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१) इत्यादिप्रवेशश्रुत्यर्थान्यथानुपपत्तिः,[8] 'आभास[9] एव च' (ब्र० सू० २।३।५०) 'अतएव

शङ्का—तथापि[10] आत्मा के प्रतिबिम्ब में क्या प्रमाण है ? समाधान—सुनिये, 'रूपं[11] रूपम्' 'मायाऽऽभासेन',

---

१. श्रुत्यर्थ—प्रतिचक्षण अर्थात् 'मैं' इत्यादि व्यवहार। इस परमात्मा का मन में प्रवेश किया हुआ वह प्रतिबिम्बस्वरूप 'अहम्' इस अध्यास को उत्पन्न करके आचार्य-शिष्यादिरूप से अध्यापन-अध्ययनादि व्यवहार के लिए पर्याप्त हुआ। २. श्रुत्यर्थ—परमात्मा की शक्ति माया अर्थात् अविद्या आभास (प्रतिबिम्ब) से अपने आश्रयभूत एक ही परमात्मा को अपने में और अपने कार्य मन में प्रतिबिम्ब के वश जीवेश्वरभेद से विभक्त कर देती है। ३. श्रुत्यर्थ—स्वभाव से एकस्वरूप होता हुआ भी परमात्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह प्रत्येक मन में प्रवेश करके बहुस्वरूप होकर दृश्यमान होता है। ४. रत्नावलीकार के अनुसार '-करोतीत्यादिश्रुतिः, 'एकधा...वद्' इति स्मृतिः'—यह पाठ है। ५. श्रुत्यर्थ—वह परमात्मा ही कर्मफलों के आश्रय अशनायादिमान् (भूख-प्यासवाले) ब्रह्मादि स्थावरपर्यन्त देहों में प्रवेश किये हुए है। ६. श्रुत्यर्थ—वह परमात्मा ही इस मूर्धा के मध्यभाग कपालों की सन्धिरूप सीमा (स्थानविशेष) को विदीर्ण करके उस द्वार से देह में प्रवेश कर गया। ७. श्रुत्यर्थ—परमात्मा उस कार्यजात को उत्पन्न करके अपने से उत्पन्न किये हुए उस कार्यजात में आप ही प्रवेश कर गया। इन श्रुतियों में देहादिकों में परमात्मा का प्रवेश कहा है, वह प्रवेश बहिर्भाग में स्थित देवदत्त के गृहप्रवेश की तरह तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा के लिए कोई बहिर्भाग ही नहीं है। इसलिए श्रुतिप्रतिपादित प्रवेश की अन्यथानुपपत्ति से परमात्मा के प्रतिबिम्ब की कल्पना होती है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख प्रविष्ट की तरह होता है, वैसा ही आत्मा का प्रवेश है। यह प्रतिबिम्ब स्वच्छ अन्तःकरण में व्यक्त होता है। उस प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्तःकरण को ही जीव कहते हैं। ८. 'प्रवेशश्रुत्यर्थापत्तिः' इति रत्नावलीपाठः। ९. सूत्रार्थ—इस जीव को जड सूर्य की तरह परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही समझना चाहिये। यह न साक्षात् परमात्मा ही है और न परमात्मा से भिन्न ही है। १०. यद्यपि उक्त रीति से रूप के न होने पर भी और इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी आत्मा का प्रतिबिम्ब सम्भव है और प्रतिबिम्बरूप से मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी हो सकता है, यह सिद्ध हो गया, तथापि मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब है ही, यह निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि सम्भव प्रमाण नहीं है। निश्चय प्रमाण ही से हुआ करता है, क्योंकि वन में दूर से दृश्यमान वस्तु में 'स्थाणु है अथवा पुरुष ?' ऐसा संशय होने पर इस वन में भीलों के सञ्चार की सम्भावना है, इसलिए यह पुरुष ही है, ऐसा निश्चय नहीं हुआ करता। इसलिए चेतन के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से मन में प्रमातृत्व है, यह निश्चय कैसे हो सकता है, यह आशय है। ११. रूप-धातु का अर्थ व्यवहार है, उससे करण में घञ् प्रत्यय होकर रूप शब्द बनता है। इसलिए व्यवहार का करण रूप है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। सब व्यवहारों का करण मन है, इसलिए श्रुति ने मन को रूप कहा है और मन ही से 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) इस रूप से आत्मा का व्यवहार होता है। प्रतिरूप शब्द का अर्थ प्रतिबिम्ब है। परमात्मा प्रत्येक मन में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश कर गया, यह श्रुति का तात्पर्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चोपमा सूर्यकादिवत्'[1] (ब्रह्मसू० ३। २। १८) इत्यादिपारमर्षसूत्राणि च तत्र[2] मानानि।

तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेतिं प्रतिबिम्बवादिनः। मिथ्यात्वमेवेत्याभासवादिनः। स्वरूपे तु न विवाद इत्यन्यत्। अचेतनविलक्षणत्वं तु तस्य श्रुतिसिद्धं अनुभवसिद्धं च। तस्मात् सिद्धमन्तःकरणस्य प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा प्रमातृत्वम्।

'एक एव हि' इत्यादि श्रुतियाँ और 'स एष इह०', 'स एतमेव सीमानं वि०', 'तत्सृष्ट्वा०' इत्यादि प्रवेश-श्रुतियों की अन्यथा-अनुपपत्ति एवं 'आभास एव च', 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि आर्षसूत्र भी परमात्मा के प्रतिबिम्ब में प्रमाण हैं। अतः परमात्मा का प्रतिबिम्ब होता है, ऐसी मान्यता प्रामाणिक व संगत है।

प्रतिबिम्बवादी[3] उस प्रतिबिम्ब को सत्य कहते हैं और आभासवादी मिथ्या[4] कहते हैं। परन्तु स्वरूप में किसीका

१. सूत्रार्थ—आत्मा की एकता ही से श्रुति में जीव को सूर्यकादि की उपमा दी है, यह सूत्र का अर्थ है। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति श्रुतिः। जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होता हुआ भी घटादि-भेद से भिन्न जलों में अनुगत होकर अनेकरूप हो जाता है, वैसे ही यह अज स्वयंप्रकाश आत्मा देव एक होता हुआ भी मायारूप उपाधि से क्षेत्रों में अनुगत होकर अनेकरूप हो जाता है, यह श्रुति का अर्थ है। 'आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान्।।' (याज्ञ० स्मृ० ३। १४४) जैसे एक ही आकाश घटादि-भेद से भिन्न प्रतीत होता है, जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलपात्रों में भिन्न-भिन्न की तरह प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही आत्मा अन्तःकरणरूप उपाधियों के भेद से भिन्न-भिन्न की तरह प्रतीत होता है, यह स्मृति का अर्थ है। २. तत्र तत्रेति द्विवारं क्वचित्पठ्यते। ३. यद्यपि आत्मा की ससीम अनुभूति का उपपादन ही प्रतिबिम्ब, आभास या अवच्छेद के ढंग से अभिप्रेत है, दृष्टान्तों की सर्वांशमें विवक्षा नहीं है, तथापि उपपादनरीति का अन्तर तो दृष्टान्तों के अनुसार आता ही है। अतः विवेक कर समझना चाहिये। विवरणकार और संक्षेपशारीरककार प्रतिबिम्बवादी हैं। जीव चेतन का प्रतिबिम्ब है, यह उनका मत है। लोक में दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ की समीपता से मुखरूप बिम्ब ही मुख से भेद और दर्पण की अन्तर्गतता—इन दो धर्मों से प्रतीत होता है। वास्तव में बिम्बरूप मुख से भिन्न दर्पण के अन्तर्गत कोई वस्तु नहीं है। इस मत में बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब की पृथक् सत्ता नहीं है, न वह मिथ्या ही है, क्योंकि बिम्बरूप से वह सत्य है। इस मत में दर्पणादि में ऐसी शक्ति है कि वह दर्पणादि सत्य बिम्ब ही में भेद की कल्पना करके स्व (दर्पण) के अन्तर्गतत्वमात्र की कल्पना करता है। जैसे सत्य शङ्ख में नेत्रस्थित पित्त पीतिमा की कल्पना करता है—यह उनका आशय है। ४. आभासवादी वार्तिककार हैं। जीव चेतन का आभास है—यह उनका मत है। लोक में बिम्बभूत मुख आदि की अपेक्षा दर्पणादि में दृश्यमान प्रतिबिम्बस्वरूप मुख आदि बिम्ब के सदृश होते हुए भी बिम्ब से भिन्न हैं, वह प्रतिबिम्ब मिथ्याभूत प्रातिभासिक सर्प की तरह अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। इस मत में दर्पणादि में ऐसी शक्ति है कि वह अपने अन्तर्गत बिम्ब के सदृश बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब की कल्पना करता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवादियों के मत से क्योंकि प्रतिबिम्बत्वधर्म की कल्पनाकी अपेक्षासे बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है इसलिये उसकी सत्यता है और आभासवादियों के मत में प्रतिबिम्ब की स्वरूपतः भी असत्यता है। प्रतिबिम्ब के स्वरूप में दोनों एकमत हैं। अर्थात् प्रतिबिम्बत्व-विशिष्टका मिथ्यात्व उभय-सम्मत है।

इस रीति से मन में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, उसके सम्बन्ध से जड मन में भी प्रमातृत्व उत्पन्न होता है (मन प्रमाता हो जाता है), जैसे जल में प्रविष्ट सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है, उस प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से जल भी चमकता है। इस प्रकार जैसे जल में सूर्य के प्रकाश का सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही स्व (मन) के अन्तर्गत चित्प्रतिबिम्ब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवाद नहीं है। यह बात विचारान्तर की है। अचेतन-विलक्षणता[1] तो उसमें श्रुति से भी सिद्ध है और अनुभव से भी। इसलिए[2] यह सिद्ध हो गया कि अन्तःकरण प्रतिबिम्बाध्यास द्वारा प्रमाता है।

[3]शङ्का—अध्यास भी तो नहीं बन सकता, क्योंकि[4] आत्मा में अनात्मा का अध्यास करते हो या अनात्मा में आत्मा का ? पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा सामान्य-विशेष-शून्य है, सर्वदा भासमान है, सादृश्य आदि से रहित है; इसलिए आत्मा अधिष्ठान नहीं हो सकता।[5]

के सम्बन्ध से मन में प्रकाश का सम्बन्ध होता है। प्रकाश ही ज्ञान है। उसीको चैतन्य कहते हैं। इसलिए मन ज्ञाता (ज्ञानाश्रय) हो सकता है। चेतन का प्रतिबिम्ब चेतन के सदृश ज्ञानरूप है, उस ज्ञानरूप प्रतिबिम्ब का आश्रय होने से अन्तःकरण ज्ञाता और प्रमाता कहा जाता है।

१. शङ्का—प्रतिबिम्ब अचेतन है, जब वह स्वयं ही ज्ञानरूप नहीं तो उसके सम्बन्ध से मन ज्ञाता कैसे ? समाधान—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४। ४। १) इस श्रुति में जीव को विज्ञानमय कहा है, इसलिए जीव चेतन है और 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार प्राणिमात्र को अपने चैतन्य का प्रत्यक्ष भी होता है। शङ्का—उक्त श्रुति और प्रत्यक्ष से जीव में चेतनत्व सिद्ध होता है और 'रूपं रूपम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति आदि प्रमाणों से जीव की प्रतिबिम्बता सिद्ध होती है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। जीव चेतन है तो प्रतिबिम्ब नहीं, प्रतिबिम्ब है तो चेतन नहीं, इसलिए यह उभयतःपाशा रज्जु है। उत्तर—प्रतिबिम्बवादियों के मत में प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं होता, इसलिए चेतन का प्रतिबिम्ब जीव चेतन ही है, अचेतन नहीं। आभासवादियों के मत में तो यद्यपि प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न है, परन्तु शुक्ति-रजत की तरह प्रातिभासिक अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब की वे उत्पत्ति मानते हैं। उसकी उत्पत्ति में बिम्ब और अविद्या दोनों उपादान कारण हैं, इसलिए प्रतिबिम्ब के साथ बिम्ब के चैतन्य का सम्बन्ध सम्भव है। इस रीति से जैसे चित्र में स्थित सूर्य निस्तेज दीखता है, वैसे जल में निस्तेज नहीं दीखता, वैसे ही जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब की तरह चेतन का प्रतिबिम्ब जीव भी अचेतन नहीं है। प्रथम मत में प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन है, द्वितीय मत में चेतन और अचेतन दोनों से विलक्षण है, इसलिए अचेतन से विलक्षणता दोनों के मत में सिद्ध है। २. 'प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा' का द्वन्द्वसमास करने से अर्थ होता है—प्रतिबिम्ब और अध्यास के द्वारा अन्तःकरण में चेतन का प्रतिबिम्ब होता है, इसलिए प्रतिबिम्ब द्वारा अन्तःकरण प्रमाता है। ३. आत्मा (चित्), अनात्मा (अन्तःकरण) इन दोनों की एकता के अध्यास से भी अन्तःकरण प्रमाता है। अध्यास के द्वारा अन्तःकरण के प्रमातृत्व का आक्षेप करते हैं—'नन्वध्यासोऽपि' यहाँसे लेकर 'सौगतमतापत्तिः' एतत्पर्यन्त ग्रन्थ से। ४. ऐक्यवादी सिद्धान्ती के मत में आत्म-अनात्मरूपद्वय सत्य नहीं हैं। उन दोनों में से एक का आरोप अवश्य मानना होगा। वह आरोप दो प्रकार से होता है, इस आशय से विकल्प करते हैं—'तथाहि' इति। ५. प्रकाश और अन्धकार की सन्धि में विद्यमान शुक्ति जब रजतरूप से प्रतीत होती है, उस समय अधिष्ठानरूप शुक्ति जड होने से परप्रकाश्य है। वह प्रकाश के सम्बन्ध से 'इदन्त्व' अथवा द्रव्यत्व अथवा रजतसदृश चाकचिक्य आदि सामान्यरूप से प्रतीत होती है। अन्धकार का भी सम्बन्ध है, इसलिए शुक्तित्व अथवा नीलपृष्ठत्रिकोणत्व आदि विशेषरूप से वह नहीं प्रतीत होती। दूर देश में विद्यमान शुक्ति तो अन्धकार का अभाव होने पर भी दूरत्वदोष के वश से विशेषरूप से नहीं प्रतीत होती, इसलिए उस स्थल में रजत का आरोप हो सकता है। समीप में और स्पष्ट प्रकाश में विद्यमान शुक्ति तो शुक्तित्व आदि विशेषरूप से भी प्रतीत होती है, इसलिए वहाँपर रजत का आरोप नहीं होता। वैसे ही गाढ अन्धकार में विद्यमान शुक्ति सामान्यरूप से भी नहीं प्रतीत होती, वहाँपर भी रजत का आरोप नहीं होता। इसलिए सर्वत्र भ्रमस्थल में अधिष्ठान सामान्य-विशेष धर्मों का आश्रय और परप्रकाश्य तथा आरोप्य वस्तु के सदृश होना चाहिये। आत्मा तो निर्धर्मक है, स्वप्रकाश है, किसीके भी सदृश नहीं है, इसलिए आत्मा में अनात्मा अन्तःकरणादि का आरोप नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यासाक्षेपः

नन्वध्यासोऽपि नोपपद्यते। तथा हि—आत्मनि वा अनात्माऽध्यस्यते, अनात्मनि वाऽऽत्मा ? नाद्यः, तस्य निस्सामान्यविशेषत्वेन सर्वदा भासमानत्वेन सादृश्यादिरहितत्वेन चाधिष्ठानत्वासम्भवात्।

नापि द्वितीयः, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। मिथ्यावस्तुनोऽधिष्ठानत्वे शून्यवादप्रसङ्गात्, तस्य च सत्यत्वे तदनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। न हि सत्यं क्वचिन्निवर्तते, निवर्त्यमानं वा ज्ञानेन।

श्रुतयश्च—'भिद्यते[1] हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मु० २। २। ८) 'तमेव[2] विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था

अब रहा दूसरा पक्ष, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि अनात्मा[3] को मिथ्या माना है। यदि मिथ्या वस्तु को अधिष्ठान माना जाय तो शून्यवाद का प्रसङ्ग हो जायगा।[4] यदि अनात्मा को सत्य मानो तो अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग हो जायगा, अर्थात् मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि सत्य वस्तु की कभी निवृत्ति ही नहीं[5] होती, जिसकी ज्ञान से निवृत्ति होती है, वह सत्य[6] ही नहीं है। 'भिद्यते हृदय०' 'तमेव विदित्वा' 'तरति शोक०' इत्यादि श्रुतियाँ ज्ञान से सकल

---

१. श्रुत्यर्थ—जो पर (प्रकृष्ट) सर्वप्रपञ्च का अधिष्ठान सूक्ष्म ही स्थूल प्रपञ्चरूप से प्रतीत होता हुआ अवर हो जाता है, उस ब्रह्म का दर्शन होने पर अर्थात् 'वह परब्रह्म साक्षात् मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर बुद्धि में रहनेवाली हृदयग्रन्थि (अविद्यावासनापुञ्ज) नष्ट हो जाती है। गङ्गा के प्रवाह की तरह मरणपर्यन्त हृदय में सञ्चार करनेवाले सब संशय कट जाते और सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं। २. श्रुत्यर्थ—उस परमात्मा के ही ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण (मोक्ष) होता है। ज्ञान के सिवा मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है। ३. अनात्मा अन्तःकरणादि को अद्वैतवादी मिथ्या मानते हैं, मिथ्या वस्तु भ्रम का अधिष्ठान नहीं होती। मिथ्या शुक्ति में कभी रजत का भ्रम नहीं होता। पूर्वपक्षी—प्रातिभासिक सर्प में भी वर्णविशेष का आरोप देखा जाता है, उसी प्रकार अनात्मा में भी आत्मा का अध्यास हो सकता है, ऐसा मानने में क्या हानि है ? सिद्धान्ती—जैसे अन्धकार का अपसरण होने पर मिथ्याभूत सर्प और उसमें आरोपित वर्णविशेष दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही मोक्षकाल में मूल अविद्या का अपसरण होने पर मिथ्याभूत अनात्मवस्तु और उसमें आरोपित आत्मा दोनों ही निवृत्त हो जायँगे। इस प्रकार शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा। ४. यदि इस दोष के परिहार के लिए अनात्मभूत अन्तःकरणादिकों को सत्य मानोगे, तो सिद्धान्ती कहता है 'यदि अनात्माको'। ५. सत्य वस्तु का कभी भी किसी प्रकार ज्ञानमात्रसे नाश नहीं होता, अतः सत्य अन्तःकरणादि प्रपञ्च की निवृत्ति न होने से मोक्ष असम्भव हो जायगा, क्योंकि मोक्ष-अवस्था में द्वैत के भान का तुम्हें अङ्गीकार नहीं है। ६. सत्य वस्तु कालत्रयाऽबाध्य हुआ करती है। पूर्वपक्षी—जैसे वैशेषिकमत में सत्य घट का दण्ड से नाश देखा जाता है, वैसे ही सत्य अन्तःकरण का भी मोक्ष-अवस्था में नाश हो सकता है। सिद्धान्ती—जैसे घट के विनाश का कारण दण्ड है, वैसे ही सत्य अन्तःकरणादि द्वैत-प्रपञ्च के नाश का कारण कौन है ? उसका नाशक ज्ञान कहोगे, तो अत्यन्त अपरिदृष्ट कल्पना होगी। सत्य वस्तु का कभी भी ज्ञान से नाश नहीं देखा जाता। जिसका ज्ञान से नाश होता है वे शुक्ति-रजतादि कभी सत्य नहीं देखे गये हैं। यदि कहो कि ज्ञान से अन्य कोई विनाश का कारण है, तो वह कौन है ? यदि कहो आत्मा है, तो इस पक्ष में आत्मा अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा से सत्य अनात्माओं का विनाश कैसे हो सकता है ? और इस द्वितीय पक्ष में तत्त्वज्ञान से मोक्षसिद्धि की प्रतिपादक श्रुतियों का भी विरोध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३। ८), 'तरति[1] शोकमात्मवित्' (७। १। ३) इत्याद्या ज्ञानात् सर्वसंसारनिवृत्तिं दर्शयन्त्यस्तस्य मिथ्यात्वं सूचयन्ति। 'एकमेवाद्वितीयम्'[2] (छा०६ ।२ ।१) 'अतोऽन्यदार्तम्'[3] (बृ० ३। ४। २) 'नेह[4] नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४। ४। १६) 'अथात[5] आदेशो नेति नेति' (बृ० २। ३। ६) इत्याद्याः श्रुतयः साक्षादेव मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्ति। दृश्यत्वेन शुक्तिरजतादिवन्मिथ्यात्वानुमानाच्च।

संसार की निवृत्ति को दिखाती हुईं संसार को मिथ्या सिद्ध करती हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अतोऽन्यदार्तम्', 'नेह नानास्ति०', 'अथात आदेशो नेति०' इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् उसके मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती हैं। दृश्यत्व-हेतु से शुक्ति-रजत आदिके समान अनात्मा के मिथ्यात्व का अनुमान[6] भी हो सकता है।

---

१. श्रुत्यर्थ—आत्मज्ञानी शोक को तैर जाता है (मुक्त हो जाता है)। इन श्रुतियों में 'तस्मिन् दृष्टे, तमेव विदित्वा, आत्मवित्' इत्यादि पदों से आत्मज्ञान का अनुवाद करके हृदयग्रन्थिभेद, संशयच्छेद, कर्मक्षय, मृत्यूल्लंघन और शोकतरणादि का विधान है और वह संसार की निवृत्ति के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि संसार के होते हुए हृदयग्रन्थिभेदादि असम्भव है। आत्मज्ञान से उत्पन्न होनेवाली संसारनिवृत्ति तो संसार के मिथ्या होने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि सत्य की ज्ञान से निवृत्ति नहीं हुआ करती, यह अभी कहा है इसलिए इन श्रुतियों से संसार मिथ्या सूचित होता है। बाधबुद्धि के विषय को मिथ्या कहते हैं। अब साक्षात् मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतियाँ दिखाते हैं। २. पुरोदृश्यमान यह सब जगत् उत्पत्ति से पहले एक ही था, किञ्चिन्मात्र भी इसमें द्वितीय नहीं था। ३. इस आत्मा से भिन्न सब पदार्थ आर्त (विनाशी) हैं। ४. मन से द्रष्टव्य इस ब्रह्म में कुछ भी अनेक नहीं है। ५. 'वह ब्रह्म सत्य का सत्य है' इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करके इसके अनन्तर श्रुति ने कहा है—यतः सत्य का सत्य ही शेष रह जाता है, इसलिए उस ब्रह्म का उपदेश 'नेति-नेति' है। यहाँ दो 'इति' शब्दों से पुरोदृश्यमान सब जगत् का ग्रहण होता है। उसके साथ दो नकारों का सम्बन्ध होने से नेति-नेति का अर्थ होता है—जो-जो वस्तु प्राप्त होती है, उसका निषेध करना ही ब्रह्म का दर्शन है। अर्थात् सब वृत्तियों का निषेध करने से जो शेष रहता है, वही सत्य (मोक्षपर्यन्त रहनेवाला लिङ्ग-शरीर) का सत्य ब्रह्म है। इन श्रुतियों में न-शब्द से और आर्त शब्द से आत्मभिन्न सब वस्तुओं का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। ६. अनुमान का स्वरूप—घट, पट आदि जगत् मिथ्या है, दृश्य होने से, प्रातिभासिक रजत की तरह। इस प्रकार अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग के आपादन से, मिथ्यात्वसूचक श्रुतियों के विरोध के उद्भावन से, साक्षात् मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतियों के विरोध के उद्भावन से और अनुमान से अनात्मा के सत्यत्व को दूषित करके 'अनात्मा में आत्माध्यास होता है' इस द्वितीय पक्ष में शून्यवादप्रसङ्गरूपी दोष का समर्थन हुआ। पूर्वपक्षी—अनात्मा मिथ्या हो, तथापि वह शशशृङ्ग की तरह अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि तुम प्रातिभासिक को मिथ्या कहते हो। वैसे प्रातिभासिक अनात्मा का जो भी अधिष्ठान होगा, वह सत्य होगा। इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं है। जैसे प्रातिभासिक मृगजल में चलन, वहन आदि क्रियाओं का आरोप किया जाता है, वहाँपर तत्त्वज्ञान से जब चलन, वहन आदि क्रियाओं का नाश होता है, उसी समय उनके अधिष्ठान प्रातिभासिक जल का यद्यपि विनाश हो जाता है, तथापि उस आरोपित जल का अधिष्ठानभूत ऊसर तो शेष रह ही जाता है। इसी प्रकार सब अनात्माओं का नाश होने पर सत्य आत्मवस्तु शेष रहेगी ? ऐसी शङ्का होने पर सिद्धान्ती कहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मन्यध्यस्ततयैवानात्मनि[1] सिद्धेस्तत्रात्माध्यासः, अनात्माध्यासेन चात्मनो दोषसादृश्यादिसंभवात्तत्रानात्माध्यास इत्यात्माश्रयाद्यन्यतमदोषप्रसङ्गाच्च।

एतेनात्मानात्माध्यासस्य आविद्यकत्वात्[2] न विकल्पावसर इत्यपास्तम्, स्वप्रकाशात्मनि अविद्याया अप्यनुपपत्तेः। तथाहि—सा अध्यस्ता अनध्यस्ता वा ? तत्राद्ये, कथं नात्माश्रयाद्यन्यतमदोषप्रसङ्गः ? अन्त्ये, तस्या अनुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः।

आत्मा[3] में अध्यस्त होने के कारण ही अनात्मा सिद्ध है, उसमें (अनात्मा में) आत्मा का अध्यास[4] कैसे? आत्मा में जो अनात्मा[5] का अध्यास आप मानते हैं वह आत्मा में दोषसादृश्य आदि के न होने से उपपन्न नहीं हो सकता, उसकी उपपत्ति के लिए अनात्माध्यास स्वयं अपने अधिष्ठान को मलिन करता है। ऐसी दशा में अनात्माध्यास को अन्य अनात्माध्यास की अपेक्षा स्पष्ट है, अतः आत्माश्रय दोष हुआ।

इससे[6] 'आत्मा में जो अनात्मा का अध्यास है, वह आविद्यक है, इसलिए यहाँपर विकल्प का अवसर

---

१. 'आत्माध्यस्ततयैव' यह रत्नावली के अनुसार पाठ है और अर्थ है—'क्योंकि आत्मसम्बद्धरूप से ही प्रतीत होता है इसलिये'। 'सिद्धे' ऐसा सप्तम्यन्त पाठ बेहतर लगता है। २. अविद्यात्मकत्वादिति पाठान्तरम्। ३. सिद्धान्ती—आत्माध्यास के अधिष्ठान के लिए जो अनात्म-वस्तु होगी, वह भी अध्यास ही से सिद्ध होगी। उसके अध्यास की अनात्मा से भिन्न आत्मरूप वस्तु में ही कल्पना करनी होगी। स्व का स्व में अध्यास सम्भव नहीं है, इसलिए आत्माश्रय दोष होगा; अतः कहते हैं—'अनात्मा' इति। ४. सिद्धान्ती अनात्मा में आत्मा का संसर्गाध्यास मानता है। ५. आत्मा में जो अनात्मा का अध्यास है, वह सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा में दोषसादृश्यादि सम्भव नहीं है, यह अभी कहा है। इसलिए अध्यास की सिद्धि के लिए अनात्माध्यास ही से अधिष्ठान आत्मा में मलिनता का सम्पादन करना होगा। इस दशा में अनात्माध्यास से आत्मा में मलिनता और उस मलिनता से अनात्माध्यास—इस प्रकार आत्माश्रय दोष होता है। अथवा आत्मा में अनात्माध्यास की सिद्धि के लिए आत्मा में दोषसादृश्यादि का अध्यास मानना होगा। यह दोषसादृश्यादि का अध्यास भी अनात्माध्यास ही है, क्योंकि दोषसादृश्यादि आत्मा से भिन्न हैं। ऐसी दशा में अनात्माध्यास को अनात्माध्यास की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है। यदि कहें कि आत्मा में अध्यस्त अन्तःकरणादि भी अनात्मा हैं और दोषसादृश्यादि भी अनात्मा हैं, तथापि अनात्मव्यक्ति के भेद से आत्माश्रय दोष नहीं है। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि दोषसादृश्याध्यास भी स्वच्छ आत्मा में नहीं हो सकता; इसलिए आत्मा में मलिनता के सम्पादन के लिए दोषसादृश्याध्यास की अवश्य अपेक्षा होगी। इसलिए आत्माश्रय दोष तदवस्थ है। यदि कहें कि आत्मा में अनात्मा अन्तःकरणादि के अध्यास के लिए जिन प्रथम दोषसादृश्यादि का अध्यास किया है, वे ही प्राथमिक दोषसादृश्यादि अध्यास के उपपादक नहीं हैं, जिससे आत्माश्रय दोष हो, किन्तु प्राथमिक दोषसादृश्यों से भिन्न ये द्वितीय दोषसादृश्यादि अन्य ही हैं। तथापि इस द्वितीय दोषसादृश्यादि के अध्यास की सिद्धि के लिए तृतीय की कल्पना करनी होगी। वह तृतीय भी प्राथमिकों की अपेक्षा अभिन्न है अथवा भिन्न ? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है। द्वितीय पक्ष में तृतीयाध्यास की सिद्धि के लिए चतुर्थ की कल्पना करनी होगी। वह चतुर्थ भी प्राथमिकों की अपेक्षा अभिन्न है अथवा भिन्न? प्रथम पक्ष में चक्रक दोष है। द्वितीय पक्ष में उनके लिए पञ्चम, पञ्चम के लिए पष्ठ की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष होता है। ६. दोनों प्रकार का अध्यास असम्भव होने से। इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—आत्मा में अनात्माध्यास आविद्यक है, इसलिए विकल्प का अवसर नहीं है। उसका भाव यह है कि अध्यास अविद्या का परिणाम है, अविद्या स्वयं अनिर्वचनीया है। उसका किसी रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। उसका स्वरूप ही ऐसा है। जब अविद्या अनिर्वचनीया है, तो उसके कार्य अध्यास का भी निर्वचन नहीं हो सकता। जिस अर्थ का निर्वचन हो सकता हो, उसीके विषय में ईदृश (ऐसा)-तादृश (वैसा) यह विकल्प युक्त है, अनिर्वचनीय में नहीं। तथा च आत्मा में अनात्मा का अध्यास है अथवा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वस्याध्यासमूलत्वे भ्रमप्रमादिव्यवस्था च न स्यात्। एकस्यैवात्मानः प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रमातृरूपता च विरुद्धा। अविरोधाभ्युपगमे वा सौगतमतापत्तिरिति।

समाधानम्

'अत्रोच्यते—'अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ते'त्यादिप्रतीतिस्तावत्सर्वजनप्रसिद्धा। सा च न स्मृतिः, अपरोक्षावभासत्वाद् भेदाग्रहपूर्वकत्वाच्च। नापि प्रमा, श्रुतियुक्तिबाधितत्वात्।

नहीं है', ऐसा कहनेवाले अद्वैतवादी की उक्ति का निराकरण हो गया। क्योंकि स्वप्रकाश[२] आत्मा में अविद्या की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। तथाहि—अविद्या अध्यस्ता है या अनध्यस्ता ? प्रथम पक्ष में आत्माश्रयादि दोषों का प्रसङ्ग क्यों[३] न होगा। द्वितीय[४] पक्ष में उसका कभी नाश न होने से अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग हो जायगा।

यदि सभी[५] पदार्थों को अध्यासमूलक ही मानो, तो भ्रम, प्रमा आदि की व्यवस्था न बनेगी। एक ही आत्मा को प्रमाण, प्रमेय, प्रमा और प्रमाता मानना भी विरुद्ध[६] है। यदि कहो कि हम विरोध[७] नहीं मानते, तो बौद्धमत[८] में और आपके मत में कोई भेद नहीं रह जायगा।

अनात्मा में आत्मा का अध्यास ? इत्यादि विकल्प का अनिर्वचनीय अध्यास में अवकाश ही नहीं है। पूर्वपक्षी—जिसका अर्थ सम्भव न हो सके, उसमें स्वभाववाद का अङ्गीकार करके समाधान करना उचित नहीं है। इसलिए अद्वैतवादी की यह युक्ति समीचीन नहीं है कि आविद्यक पदार्थों में विकल्प का अवसर नहीं। यह विचार अविद्या की सिद्धि के उत्तरकाल में हो सकता है। वह अविद्या ही सिद्ध नहीं हो सकती। १. 'ननु अध्यासोऽपि नोपपद्यते' यहाँसे लेकर 'सौगतमतापत्तिः' एतत् ग्रन्थपर्यन्त सब पूर्वपक्ष ही कहे गये हैं। जहाँ कहीं सिद्धान्ती का कथन है, वह भी पूर्वपक्ष की पुष्टि के लिए ही कहा गया है। अब उन सब पूर्वपक्षों का समाधान करते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि-ग्रन्थ से। २. स्वप्रकाश आत्मा में सूर्य में अन्धकार के सम्बन्ध की तरह अविद्या का सम्बन्ध अयुक्त है। ३. स्वप्रकाश आत्मा के प्रकाश का जबतक थोड़ा भी तिरोधान न हो, तबतक अविद्या का अध्यास नहीं हो सकता, क्योंकि स्पष्ट आलोक में पूर्ण रीति से प्रकाशमान शुक्ति में रजत का अध्यास नहीं होता। प्रकाश का तिरोधान अविद्याध्यास से ही करना होगा। इसलिए अविद्याध्यास को अविद्याध्यास की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है। यदि अन्तःकरणादि के अध्यास के कारणभूत अविद्या से भिन्न द्वितीया अविद्या प्रकाश का तिरोधान करनेवाली है—ऐसा कहा जाय, तो उस द्वितीया अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश का तिरोधान जिस अविद्या के अध्यास से होता है, वह अविद्या द्वितीया अविद्यास्वरूपा है अथवा प्रथमा अविद्यास्वरूपा अथवा उन दोनों से भिन्न तृतीया है—ये तीन कल्प हो सकते हैं। आद्य कल्प में आत्माश्रय, द्वितीय कल्प में अन्योन्याश्रय, तृतीय कल्प में उस तृतीया अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश का तिरोधान जिस अविद्या के अध्यास से होता है, वह अविद्या क्या तृतीया अविद्यास्वरूपा है, अथवा द्वितीया अविद्यास्वरूपा है, अथवा प्रथमा अविद्यास्वरूपा है, अथवा इन तीनों अविद्याओं से भिन्न चतुर्थी है—ये चार कल्प हो सकते हैं। आद्य कल्प में आत्माश्रय, द्वितीय में अन्योऽन्याश्रय, तृतीय में चक्रक, और चतुर्थ कल्प में उस चतुर्थ अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश-तिरोधान किसी अन्य अविद्या से, उसका भी किसी अन्य अविद्या से, ऐसी अनवस्था दुर्धर हो जायेगी। ४. यदि अविद्या अध्यस्त न हो, तो आत्मा की तरह वह पारमार्थिक सत्य होगी। पारमार्थिक सत्य वस्तु का तत्त्वज्ञान से भी नाश नहीं हुआ करता, इसलिए अनध्यस्तत्वपक्ष में मोक्ष असम्भव है, यह आशय है। ५. सत्य शुक्ति का ज्ञान प्रमा, उसी शुक्ति में असत्य रजत का ज्ञान भ्रम—यह व्यवस्था लोक में देखी जाती है। यदि सम्पूर्ण जगत् को अविद्याध्यासमूलक मानोगे, तो रजत की तरह शुक्ति भी असत्य ही सिद्ध होगी। ऐसी दशा में यह ज्ञान यथार्थ है, यह अयथार्थ है—ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। ६. क्रिया ही कारक नहीं हुआ करती। द्वैतवादी तार्किकों के मत में प्रमिति ज्ञानविशेष है और ज्ञान मानसी क्रिया है। ज्ञान के साधन इन्द्रियादि प्रमाण हैं। ज्ञान के विषय शब्द, स्पर्शादि प्रमेय हैं। ज्ञान का आश्रय आत्मा प्रमाता है। अद्वैतवादियों के मत में तो एक ही चैतन्य प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति है—यह विरुद्ध है। ७. एक ही चैतन्य में औपाधिक भेद की कल्पना करके विरोध नहीं हो सकता, ऐसा कहें तो 'सौगतमतापत्तिः' होगी। ८. सौगत विज्ञानवादी बौद्ध को कहते हैं। उसके मत में आत्मा, मन, इन्द्रियाँ, विषय सुख आदि सब पदार्थ ज्ञानस्वरूप ही हैं। ज्ञान से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं। इसलिए अद्वैतवादी का विज्ञानवादी बौद्ध के मत में प्रवेश हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा[1] च श्रुतयः—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः[3] पुरुषः' (बृ० ४ । ३ । ७), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १६)। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १ । १), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३ । ६ । २८), 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८ । ७ । १)

यहाँ[4] पर कहते हैं—मैं[5] मनुष्य हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ इत्यादि प्रतीति सर्वजनप्रसिद्ध है। यह[6] प्रतीति स्मृति नहीं है, क्योंकि यह अपरोक्षज्ञानरूप[7] है और भेद के अज्ञान-पूर्वक है। उक्त प्रतीति प्रमा भी नहीं[8] है, क्योंकि श्रुति, स्मृति और युक्तियों से इसका बाध है। 'योऽयं वि०',

---

१. इसका 'अकर्तृभोक्तृब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति' इसके साथ अन्वय करना। क्योंकि इन श्रुतियों में जीवात्मा अकर्त्ता, अभोक्ता ब्रह्मरूप कहा जाता है, इसलिए 'अहं मनुष्यः कर्त्ता भोक्ता' इस प्रकार जीवात्मा में जो मनुष्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रतीत होता है वह मिथ्या ही है—यह सिद्ध होता है। २. 'कतमः आत्मा ?' जनक के इस प्रश्न का यह उत्तर है। प्राणों के मध्य जो ज्ञानस्वरूप है, वह आत्मा है, मनुष्यत्वादि धर्मविशिष्ट भौतिक देह आत्मा नहीं है। ३. 'हृत्' अन्तःकरण का नाम है। वह अन्तःकरण लौकिकज्ञानकाल में विषयाकार परिणाम को प्राप्त होकर विषय का प्रकाश करता है। आत्मा तो उस विषयप्रकाशक अन्तःकरण का अन्तर्ज्योति (अन्दर प्रकाशनशक्ति का दाता) है, इसलिए आत्मा सबका प्रकाशक ही है, किसीसे प्रकाश्य नहीं है, इसीलिए भौतिक जडदेहरूप नहीं है। ४. पूर्वपक्षी ने मायावाद को सहन न करते हुए अध्यास पर कतिपय आक्षेप किये हैं। आक्षेपरूप हेतु से अध्यास में विकल्पासहत्वप्रदर्शनपूर्वक असम्भवता दिखायी है। परन्तु आक्षेप का हेतु यह नहीं बतलाया कि अध्यास अनावश्यक है। तथाच यदि अध्यास की आवश्यकता सिद्ध कर दी जाय और पूर्वपक्षी भी उसको स्वीकार कर ले, उस दशा में अध्यास में जो असम्भवता दोष है, उसका निराकरण पूर्वपक्षी को भी करना ही पड़ेगा—यह विचार करके सिद्धान्ती पहले अध्यास क़ी आवश्यकता सिद्ध करता है। ५. 'अहं मनुष्यः'—मैं मनुष्य हूँ, कर्त्ता, भोक्ता हूँ इत्यादि प्रतीति सब पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है; वह भ्रमरूप है, यह दिखाते हैं। जब उसका भ्रमत्व सिद्ध हो जायगा, तो अध्यास के बिना भ्रम नहीं हुआ करता, इसलिए पूर्वपक्षी के गले में भी अध्यास बलात् पतित हो जायगा। अन्यथानुपपत्ति (और किसी प्रकार से इसके न बनने) से जहाँ वस्तु की सिद्धि किया करते हैं, वहाँपर अन्य बहुत से विरुद्ध प्रमाणों का भी अन्यथानुपपत्ति ही निरास कर दिया करती है, जैसा कि कहा है—'अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका। पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका।' 'अदृष्टि-वैमत्यम्'—अन्यत्र कहीं भी अदर्शन से होनेवाली विपरीत बुद्धि। अर्थात् जैसे अन्यथानुपपत्ति बलवती होने से अन्यत्र कहीं भी अदर्शनरूपी विरुद्ध हेतु को दूर करके वस्तु को सिद्ध करती है, वैसे ही यहाँ भी अध्यास के बिना भ्रम की अनुपपत्ति विकल्पासहत्व आदि दोषों को दूर करके अध्यास को सिद्ध कर ही देगी। ६. स्मृति और अनुभवभेद से ज्ञान दो प्रकार का है। अनुभव भी प्रमा और भ्रम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर 'अहं मनुष्यः कर्त्ता भोक्ता' इस ज्ञान में भ्रमता सिद्ध करनी है, इसलिए यह ज्ञान स्मृति भी नहीं है, प्रमा भी नहीं है, यह पहले सिद्ध करना होगा। इसलिए यह ज्ञान स्मृति नहीं है यह सिद्ध करते हैं। ७. 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रत्यक्षरूप अर्थात् साक्षात् है। यद्यपि परोक्ष और अपरोक्षभेद से अनुभवरूप ज्ञान दो प्रकार का होता है, तथापि स्मृतिरूप ज्ञान परोक्षरूप ही हुआ करता है अर्थात् स्मृति-विषयका 'मैं अनुभव कर रहा हूँ' यों भान नहीं होता वरन् 'मैंने अनुभव किया था' यों भूतकाल आदि के उल्लेखपूर्वक भान होता है—यह नियम है। 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। किंच, सत्य रजत और मिथ्या रजत में जो 'इदं रजतम्' यह प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष में पुरोऽवस्थित वस्तु में रजत के भेद का अज्ञान कारण है। सत्य रजत में रजत का भेद है ही नहीं, इसलिए उसका अज्ञान है। मिथ्या रजत में तो रजतभेद है, परन्तु इन्द्रिय के दोष से उसका अज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष में सर्वत्र भेदाग्रह की कारणता है। प्रकृत में 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्मृति में तो कहीं भी भेद के अज्ञान की कारणता नहीं है। इसलिए 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान स्मृति नहीं है, स्मृति होती तो 'मैं मनुष्य था' यह अनुभव होता, न कि 'हूँ' ! यह अर्थ है। अब प्रमात्व का निषेध करते हैं। ८. आत्मा में भौतिक शरीरविशेषरूप मनुष्यत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व श्रुति और युक्ति से बाधित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१)। 'स यत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्याद्या अकर्तृभोक्तृपरमानन्दब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति।

युक्तयश्च—(i) विकारिणः परिच्छिन्नत्वेन अनात्मत्वापत्तेः, (ii) स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे

'अयमात्मा०'[1], 'सत्यं ज्ञानम०', विज्ञानमानन्दं', 'य'[2] आत्मापहतपाप्मा०', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्'[3] ब्रह्म०' 'योऽशनायापि०'[4] 'स यत्र'[5] इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द ब्रह्मरूप बताती हैं। युक्तियाँ[6] ये हैं—(i) 'अहं मनुष्यः' ऐसी प्रतीति को यदि प्रमा मानो, तो देहविशेषरूप जो मनुष्य है, उसीको आत्मा मानना पड़ेगा। देह विकारी[7] होने से परिच्छिन्न है। अतः उसमें घट, पट आदि के समान अनात्मत्व

---

१. यह जीवात्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है और ब्रह्म के स्वरूप का 'सत्यं ज्ञानम्' इस श्रुति में और 'विज्ञानमानन्दम्' इस श्रुति में वर्णन किया है। ब्रह्म सत्य है अर्थात् मिथ्या नहीं है; ज्ञान है, जड नहीं; अनन्त है, विनाशी नहीं; आनन्दरूप है, कभी भी दुःखी नहीं—यह इन दोनों श्रुतियों का अर्थ है। अतः मिथ्याभूत, जड, विनाशी और दुःखी देह ब्रह्मरूप नहीं है। इसीलिए वह आत्मा भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और आत्मा में भेद ही नहीं है। २. पातकवाची 'पाप' शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है। आत्मा में पुण्य-पाप के न होने से कर्तृत्व का निषेध हो गया, क्योंकि पुण्य-पाप के बिना कर्तृत्व नहीं हुआ करता। कर्तृत्व के अभाव से भोक्तृत्व का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती और भोग के पुण्य-पाप कारण हैं। ३. 'अपरोक्षात्' इसका अर्थ है—अपरोक्ष (प्रत्यक्ष)। लोक में जो घट-पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, वे स्वरूप से प्रत्यक्ष नहीं हैं, क्योंकि जड और अप्रकाश हैं, किन्तु चेतन के तादात्म्य से उनका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए घट-पटादि पदार्थ साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु चेतन के द्वारा परम्परया प्रत्यक्ष हैं। ब्रह्म तो साक्षात् प्रत्यक्ष है, यह अर्थ है। 'सर्वान्तरः' इस श्रुति में सर्वशब्द बिना सङ्कोच के प्रवृत्त हुआ है, इसलिए लोक में आन्तरत्वेन प्रसिद्ध जो अन्तःकरणादि पदार्थ हैं, उनका भी आत्मा आन्तर है—यह सिद्ध होता है। साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप और सबका आन्तर जो आत्मा है, वह तू मुझे बतला—यह श्रुति का अर्थ है। इसलिए घट आदि की तरह जड होने, अन्य द्वारा प्रत्यक्ष होने और अन्तःकरणादि से बाह्य होने के कारण मनुष्यत्वादि धर्मविशिष्ट देह आत्मा नहीं है—यह सिद्ध हो गया। ४. अशनाया (भूख) और पिपासा (तृषा) दोनों प्राण के धर्म हैं। शोक और मोह अन्तःकरण के धर्म हैं। जरा और मृत्यु देह के धर्म हैं। आत्मा में भूख-प्यास नहीं, इसलिए वह प्राण नहीं। शोक-मोह नहीं, इसलिए वह अन्तःकरण नहीं। आत्मा में जरा और मृत्यु नहीं, इसलिए वह देह नहीं। ५. वह आत्मा स्वप्न में जिन अश्व-गजादि को देखता है, उनके साथ उसका वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष आत्मा असङ्ग (सम्बन्धसामान्यरहित) है। इससे आत्मा में कर्तृत्व का निषेध हो गया, क्योंकि कर्तृत्व क्रिया के सम्बन्ध के अधीन है, आत्मा सब सम्बन्धों से रहित है। कर्तृत्व का निरास होने पर भोक्तृत्व का निरास हो गया। ६. 'सुखात्मक एवात्मेत्याद्याः' इसके साथ इसका अन्वय करना चाहिए। ये युक्तियाँ आत्मा अकर्त्ता, अभोक्ता, परमानन्द ब्रह्मस्वरूप है—यह सिद्ध करती हैं। 'युक्ति' शब्द का अर्थ अनुमान और अनुकूल तर्क है। ७. 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति यदि प्रमा हो, तो देहविशेषरूप मनुष्य को आत्मा मानना पड़ेगा। यह सम्भव नहीं है, क्योंकि देह विकारी है। जो विकारी होता है वह परिच्छिन्न हुआ करता है, क्योंकि विकारी का विनाश आवश्यक है। जिसका विनाश होता है, वह काल से परिच्छिन्न हुआ करता है। किंच, वृद्धिक्षयरूप विकार व्यापक के नहीं हुआ करते, इसलिए देह को अव्यापक कहना होगा। और देह की अव्यापकता का अनुभव भी होता है, इसलिए देह में देशपरिच्छेद है ही। घटादि भिन्न वस्तुओं का भी देह में भेद है, इसलिए देह में वस्तुपरिच्छेद भी है। जो परिच्छिन्न होता है, वह आत्मा नहीं हुआ करता। इसलिए ऐसा अनुमान करना चाहिए—'देह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्तृकर्मभावविरोधाद् दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः, (iii) भेदेनाभेदेन वा धर्मिधर्मभावानुपपत्तेश्च।

की आपत्ति है। (ii) 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का साक्षी देहात्मवादी के मत में देह ही होगा। अतः अपने[१] से अपना ग्रहण भी नहीं हो सकता। देह को ही द्रष्टा और देह को ही दृश्य मानने से कर्ता और कर्म के परस्पर विरुद्ध होने से दर्शक और दृश्य सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होता। (iii) ज्ञान का देह के साथ भेद[२] या अभेद

आत्मा नहीं है, घटादिकों की तरह परिच्छिन्न होने से।' यहाँ पर देहात्मवादी चार्वाक की शङ्का है कि आत्मा परिच्छिन्न ही है, और देह ही आत्मा है। जो तुमने अनुमान किया वह अनुमान तो 'अहं मनुष्यः', 'अहं गौरः' इत्यादि प्रतीति के विरुद्ध होने से बाधित है। यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि देह को आत्मा मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दो दोषों की प्राप्ति है। स्वभाववाद से समाधान तो मध्यस्थ पुरुष को सन्तोष देनेवाला नहीं होता। देह को आत्मा मानकर भी दोष कहते हैं। १. देहात्मवादी के मत में 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का साक्षी भी देह ही को मानना होगा, क्योंकि उसके मत में देह से अतिरिक्त साक्षी का अङ्गीकार नहीं है। ऐसी दशा में देह ही द्रष्टा होगा और उसमें रहनेवाली दर्शनक्रिया का कर्म (दृश्य) भी देह ही होगा अर्थात् देह ही द्रष्टा और देह ही दृश्य होगा। सो सम्भव नहीं, क्योंकि दर्शन का कर्त्ता दर्शन का कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि स्वातन्त्र्येण विवक्षित अर्थ को कर्त्ता कहते हैं, अन्य कारक कर्त्ता के परतन्त्र हुआ करते हैं। स्वतन्त्ररूप और परतन्त्ररूप से एक देह की एक काल में विवक्षा नहीं हो सकती। यदि कहें, मनुष्यत्वादिधर्मविशिष्ट देह दृश्य है और केवल देह द्रष्टा है, इसलिए विरोध नहीं; तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृशिक्रिया ज्ञानरूप है, उसका जड देह में सर्वथा असम्भव है। २. भाव यह है कि देहात्मवादी के मत में दर्शनक्रिया आत्मस्वरूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि विलक्षण है। दर्शनक्रिया अमूर्त्त और ज्ञानरूप मानसी क्रिया है। स्थूल देह मूर्त्त है। उस मूर्त्त देह के साथ अमूर्त्त दर्शनरूपी क्रिया का अभेद सम्बन्ध तो बन नहीं सकता। उन दोनों का कोई भेदरूप सम्बन्ध कहना होगा। संयोग तो दो द्रव्यों का ही हुआ करता है। दृशिक्रिया द्रव्य नहीं है, उसका देहरूपी द्रव्य के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि समवाय अथवा अन्य किसी सम्बन्ध की कल्पना करोगे, तो वह सम्बन्ध दर्शन क्रिया और देह इन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है कि अभिन्न है ? अभिन्न तो कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसी दशा में धर्मों से अभिन्न सम्बन्ध और सम्बन्ध से अभिन्न धर्म—इस प्रकार ज्ञान और देह इन दोनों धर्म और धर्मियों का भी अभेद ही कहना होगा। वह बन नहीं सकता, क्योंकि दर्शनरूप ज्ञान आन्तर अमूर्त्त है। देह बाह्य और मूर्त्त है। इसलिए उनका अभेद सम्भव नहीं है। यदि सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न है—इस दूसरे पक्ष का अङ्गीकार करें, तो इस पक्ष में भी जैसे सम्बन्धियों के परस्पर सम्बन्ध के लिए समवाय का अङ्गीकार किया है, वैसे ही सम्बन्धियों के साथ समवाय के सम्बन्ध के लिए भी अन्य समवाय-सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि पूर्वपक्षी कहें कि जैसे दीपक प्रकाशरूप होने से अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही समवाय-सम्बन्धरूप होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता, सो ठीक नहीं; क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक में विषमता है। क्योंकि दीप में तो यह प्रत्यक्ष से अनुभव होता है कि वह अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' (जो दीखता है सो ठीक ही है) इस न्याय से दीपक में तो वैसा हो। किन्तु समवाय तो कहीं अन्यत्र दृष्ट नहीं है, उसकी तो तुम ही कल्पना करते हो। अतः जैसे सम्बन्धियों को सम्बन्ध के लिए अपने से भिन्न समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा है, वैसे ही समवाय सम्बन्ध को भी सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध के लिए अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा है, यह दोष समवायसंदर्भ में हो सकता है। इसलिए ज्ञान और आत्मा का धर्म-धर्मीभाव न भेद से सम्भव है और न अभेद से ही सम्भव है। शङ्का—देहातिरिक्त आत्मवादी वेदान्ती के मत में भी ज्ञान और आत्मा का धर्म-धर्मीभाव नहीं हो सकता, क्योंकि भेद से धर्म-धर्मीभाव कहोगे तो तुम्हारा कहा हुआ ही अनवस्था दोष हो सकता है, और अभेद तो सम्भव नहीं है, क्योंकि नित्य और अनित्य का अभेद नहीं हो सकता, जबकि आत्मा नित्य और ज्ञान अनित्य है—यह प्रत्यक्ष अनुभव है। उत्तर—ज्ञान नित्य है। नित्यत्व की सिद्धि के लिए अनित्यत्वपक्ष में दोष कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(iv) ज्ञानानित्यत्वपक्षे तत्तद्व्यक्तिभेदध्वंसप्रागभावसमवायज्ञानत्वजात्याद्यभ्युपगमे गौरवादेकत्वाभ्युपगमे चातिलाघवात् घटज्ञानं पटज्ञानमित्युपाधिभेदपुरस्कारेणैव ज्ञानभेद-प्रतीतेः, स्वतस्तु ज्ञानं ज्ञानमित्येकरूपावगमात् तदुत्पत्तिविनाशप्रतीत्योश्च अवश्य-कल्प्यविषयसम्बन्धविषयतयाप्युपपत्तेरुपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वत एव घटाद् घटान्तरस्य भेदप्रतीतेस्तत्प्रतिबन्दिग्रहासम्भवादाकाशकालदिशामपि नानात्वापत्तेश्च,

से धर्मि-धर्मभाव भी नहीं बनेगा। (iv) ज्ञान[1] को अनित्य मानने में अनेक ज्ञान, उनका अन्योन्याभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, सब ज्ञानों में रहनेवाली एक ज्ञानत्व जाति और उसका ज्ञान के साथ समवाय इत्यादि के स्वीकार में बहुत बड़ा गौरव[2] है। किन्तु एक मानने में अत्यन्त लाघव है। [3]तो घटज्ञान और पटज्ञान को भी एक ही मान लो, इसमें भी तो लाघव है ? नहीं, उक्त स्थल में उपाधि के भेद से ज्ञान में भेद की प्रतीति होती है। केवल ज्ञान तो एक ही है, ज्ञान-ज्ञान इत्यादि एक रूप से उसका बोध होता है। [4]ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति तो अवश्य कल्पनीय जो घट-पट आदि विषयसम्बन्ध, तद्विषयतया हो सकती है।

---

१. ज्ञान अनित्य है यह अङ्गीकार करने पर ज्ञान अनेक अवश्य मानने होंगे, क्योंकि नष्ट हुए, विद्यमान और उत्पत्स्यमान ज्ञानों की एकता नहीं हो सकती; इसलिए ज्ञानव्यक्ति का नानात्व अङ्गीकार करना एक गौरव। तथा प्रत्येक ज्ञान-व्यक्ति के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानने पड़ेंगे, फिर उन अनेक ज्ञान-व्यक्तियों में एक ज्ञानत्व जाति माननी पड़ेगी एवं उस ज्ञानत्व जाति का अपने आश्रयभूत व्यक्तियों के साथ समवाय सम्बन्ध मानना पड़ेगा—ये अनेक गौरव हैं। २. उपपादक कल्पना में न्यूनतम पदार्थ मानने चाहिये यह तर्कसिद्धांत है। कम से उपपत्ति संभव रहते अधिक की कल्पना की जाये तो गौरव (अर्थात् बोझ) दोष होता है। ३. संगति-संपादक कल्पना में कम मान्यताएँ अपेक्षित हों तो लाघव (अर्थात् हलकापन) गुण होता है जो गौरवग्रस्त पक्ष का निरास कर देता है। 'लाघव ही यदि अभीष्ट है, तो घट-पट आदिकों की भी एकता माननी चाहिये। परस्परविरुद्ध प्रकाश और अन्धकार की, शीत और उष्ण की, सुख और दुःख की भी एकता माननी चाहिये। किम्बहुना, पञ्च महाभूतों की और पञ्च इन्द्रियों की पञ्चत्वकल्पना भी गौरव से ग्रस्त है, इसलिए नहीं करनी चाहिये'—ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसको यह उत्तर देना चाहिये कि जहाँ परस्पर की विलक्षणता रूप स्वरूप के भेद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वहाँ तो अनुभव के अनुसार भेद अङ्गीकार करना ही चाहिये। उसमें गौरव दोष नहीं हो सकता। कल्पनीय (कल्पना करने के योग्य) पदार्थ में लाघव-गौरव की चर्चा हुआ करती है। यद्यपि 'घटज्ञानं पटज्ञानम्' इस प्रकार ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, स्वरूप से ज्ञान का भेद नहीं, तथापि घट-पट आदि उपाधि के भेद से भेद है; इसलिए उपाधि के भेद से उपाधेय ज्ञान में भेद की कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए यहाँ पर लाघव-गौरव चर्चा का अवसर है। इसीलिए घट-मठरूपी उपाधि का भेद होने पर भी आकाश का भेद तार्किकों ने स्वीकार नहीं किया है। इसलिए विषय एवं आश्रय का भेद होने पर भी लाघव से ज्ञान एक ही मानना चाहिये।

४. शङ्का—'घटज्ञानं नष्टम्' (घटज्ञान नष्ट हो गया), 'पटज्ञानमुत्पन्नम्' (पटज्ञान उत्पन्न हुआ) इस प्रतीति से ज्ञान अनेक मानने चाहिये। उत्तर—ज्ञान का घट-पट आदि विषयों के साथ जो सम्बन्ध है, यह प्रतीति उस सम्बन्ध को विषय करती है। अर्थात् 'घटज्ञानं नष्टम्' इसका अर्थ है—ज्ञान में घट का सम्बन्ध नष्ट हो गया। 'पटज्ञानमुत्पन्नम्' इसका अर्थ है—ज्ञान में पट का सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। इसलिए विषय-सम्बन्ध की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान में उपचार है। इसलिए ज्ञान एक है, नित्य है, यह सिद्ध हुआ। उस नित्य, एक ज्ञान के साथ नित्य, एक आत्मा का अभेद हो सकता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं, जहाँ अभेद से धर्म-धर्मीभाव होता है, वहाँ आश्रय की निर्धर्मकता में पर्यवसान होता है; इसलिए आत्मा निर्धर्मक सिद्ध हुआ। कर्तृत्वादि धर्म से भी आत्मा की सधर्मकता नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वादि अध्यस्त हैं। यदि कर्तृत्वादि संसार स्वाभाविक होता, तो उसका नाश न होने से कभी मोक्ष की सिद्धि न होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(v) कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वे अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, (vi) स्वप्रकाशानभ्युपगमे च जगदान्ध्यप्रसङ्गात्, (vii) परमप्रेमास्पदत्वेन च तस्यानन्दरूपत्वान्निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एवात्मेत्याद्याः।

अज्ञानविचारः

तस्मात् परिशेषाद् भ्रान्तिरियमिति स्थिते तत्कारणमपि योग्यं किञ्चित्कल्पनीयम्। कल्प्यमानञ्च तदात्मन्यध्यस्ततयैव धर्मिग्राहकमानेन सिद्ध्यतीति 'न जानामी'ति साक्षिप्रतीतिसिद्धमनिर्वाच्यमज्ञानमेव तत्।

उपाधि-परामर्श के बिना एक घट से दूसरे घट की भेद-प्रतीति होती है। उसकी प्रतिबन्दी का[1] उल्लेख यहाँ असम्भव है। और आकाश, काल, दिशाओं के भी नानात्व की आपत्ति होती है। (v) कर्तृत्वादि को वास्तव मानने पर अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग होता है, क्योंकि समस्त गुणों की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। कर्तृत्वादि की सत्ता में मोक्ष नहीं हो सकता। (vi) आत्मा को स्वप्रकाश न मानें, तो जगत् का आन्ध्य-प्रसङ्ग हो जायगा। (vii) परम प्रेम का पात्र[2] होने से वह आनन्दरूप है। इन श्रुतियों व युक्तियों से निश्चित हुआ कि कर्तृत्वादि धर्मरहित नित्य, स्वप्रकाश, सुखस्वरूप ही आत्मा है।

पूर्वोक्त सन्दर्भ[3] से यह सिद्ध हो गया कि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रम है। ऐसी दशा में उस भ्रम के योग्य किसी कारण[4] की भी कल्पना करनी चाहिये। कल्पना किया जाता हुआ वह कारण आत्मा में अध्यस्त होने से ही धर्मिग्राहक मान से सिद्ध होता है, इसलिए 'मैं नहीं जानता' ऐसी साक्षिप्रतीति से सिद्ध अनिर्वचनीय अज्ञान ही उक्त भ्रम का कारण है।

---

१. प्रकृत में दोष दिखाने के लिये अन्यत्र उसी युक्तिसे समान दोष प्रकट करना प्रतिबंदी होता है 'समानं विरोध्युत्तरम्'। 'यदि तुम्हारी बात मानें तो अमुक स्थल पर अमुक असंगति भी स्वीकारनी पड़ेगी जो तुम्हें भी इष्ट नहीं अतः तुम्हारी प्रकृत बात भी अमान्य है'—यह प्रतिबन्दी का भाव रहता है। यहाँ : यदि 'ज्ञान-ज्ञान' इस एकरूप अनुभवसे ज्ञानभेद नहीं मानते तो 'घट-घट' इस एकरूप अनुभव से घटभेद भी मत मानो—यह प्रतिबन्दी है। उत्तर है : बिना उपाधि अर्थात् विषय का उल्लेख किये ज्ञानभेद नहीं होता जबकि घटभेद की निरुपाधिक प्रतीति है अतः एकरूप प्रतीति ज्ञानका अभेद सिद्ध करती है, घट का नहीं, वहाँ वह प्रतीति घटत्व को सिद्ध करती है जो सब घटों में एक ही है। २. क्योंकि स्वयं से सभी को असीम और अकारण प्रेम है इसलिये वह परम प्रेम का आस्पद है। ३. इतने ही ग्रन्थसन्दर्भ से देह आत्मा है—इस मत का खण्डन हो गया, इसलिए 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रान्तिरूप है, यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। ४. शुद्ध चैतन्य तो निर्विकार है, इसलिए वह कारणता के योग्य नहीं है, वह उपादान-कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। यद्यपि अज्ञान प्रमाणसिद्ध नहीं वरन् अनुभवसिद्ध है तथापि उसके बारे में कई बातें प्रमाणसिद्ध हैं जैसे वह एक है, अभावविलक्षण है इत्यादि, फिर भी प्रमाणों से समर्थित होने के कारण उसे प्रमाणसिद्ध भी कह देते हैं। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये—'भ्रान्तिज्ञान भावरूप उपादान-कारणवाला है, घट की तरह जन्यभाव होने से'। इस अनुमान से सिद्ध होनेवाला उपादान-कारण भ्रान्ति ज्ञानरूप कार्य के आश्रयीभूत आत्मा ही में सिद्ध होता है, क्योंकि भ्रमरूप कार्य आत्मा में है, तो उसका उपादान-कारण भी आत्मा ही में होना चाहिये। व्यधिकरण होने पर कार्य-कारणभाव बन नहीं सकता। ऐसी दशा में धर्मीभूत उपादान-कारण का ग्राहक जो कार्य-कारण-भाव-मूलक अनुमान है, वही उस उपादान-कारण की आत्मवृत्तितारूप धर्म का ग्राहक होता है। भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है, इसलिए उसके योग्य उपादान-कारण को भी मिथ्या ही होना चाहिये; क्योंकि उपादान-कारण कार्य का सजातीय हुआ करता है—यह नियम है। आत्मा में वास्तव में कोई धर्म है नहीं, इसलिए आत्मा में भ्रान्तिज्ञान का उपादान कारण भी अध्यस्त ही सिद्ध होता है। वह उपादान-कारण ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अनादि अज्ञान ही 'न जानामि' (मैं नहीं जानता) इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है। वह अज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होता है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति में आत्मभिन्न सत् वस्तु का निषेध भी है और ज्ञानी की दृष्टि से अज्ञान की प्रतीति नहीं होती। वह भावरूप अज्ञान असत् भी नहीं है, क्योंकि भावरूप भ्रम कार्य का उपादान-कारण है और 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय है। इसलिए अज्ञान अनिर्वचनीय सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न चेदमभावरूपम्, (i) ज्ञानस्य नित्यत्वेन तदभावानुपपत्तेरुक्तत्वात्, (ii) धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां च व्याघातापत्तेः। (iii) नापि भ्रमसंशयतत्संस्कारपरम्परारूपम्,

यह[1] अज्ञान अभावरूप नहीं है, क्योंकि (i) ज्ञान[2] नित्य है। उसके अभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती—यह बात कही जा चुकी है; और (ii) धर्मी[3] और प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान से व्याघात भी हो जायगा। (iii) अज्ञान[4] भ्रम-परम्परारूप, संशय-परम्परारूप और तत्संस्कार-परम्परारूप भी नहीं है, क्योंकि अज्ञान

---

१. 'अहमात्मानं न जानामि', 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय भावरूप अनिर्वचनीय अज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है, इसलिए भावरूप अज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होता—यह पूर्वपक्षी का आशय है। ऐसा कहनेवाले पूर्वपक्षी से पूछना चाहिये कि 'न जानामि' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव ज्ञानसामान्याभाव है अथवा ज्ञानविशेषाभाव ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि 'न जानामि' यह प्रत्यक्ष प्रतीति भी तो ज्ञानरूप है। उसके होते हुए ज्ञानसामान्याभाव कैसे हो सकता है ? एक घट के होते हुए अन्य सकल घटों का अभाव होने पर भी घटसामान्याभाव की प्रतीति नहीं होती। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं : ज्ञान में स्वतः भेद है नहीं, क्योंकि ज्ञान की एकता सिद्ध कर चुके हैं। जब ज्ञान में भेद नहीं तो ज्ञानविशेष हो ही नहीं सकता, फिर उसका अभाव कैसा ? इसलिए ज्ञान एक है और नित्य है, उसका अभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव नहीं, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान है। तार्किकादि तो अभावरूप अज्ञान मानते ही हैं पर कुछ वेदांती भी इसी भ्रम में फँस गये हैं। आज भी कुछ वेदान्त-प्रचारक भावरूप अज्ञान का विरोध कर अभावात्मक अज्ञान से ही व्यवस्था बनाने की कोशिश करते हैं। क्योंकि शास्त्र ही अज्ञान को परमात्मा की 'शक्ति' कहता है इसलिये उसे भाव मानना ही उचित है, अभाव 'शक्ति' नहीं होता। इससे कुछ लोग अज्ञानभिन्न माया मानने लग गये हैं किन्तु तब स्पष्ट ही द्वैतापत्ति है; अद्वैत स्वीकारें तो अज्ञान-तत्कार्य से पृथक् कोई अनात्मा मान्य होना संभव नहीं। अज्ञान भावरूप है का मतलब उसे सत्य मानना नहीं; है वह मिथ्या ही, अभावविलक्षण है इस अभिप्राय से उसे भाव कहते हैं। इस विषय में विवरण आदि महान् ग्रन्थों में बहुत विचार उपलब्ध है। २. इससे दोनों को सम्मत ज्ञानाभाव ही से 'अहमज्ञः' इस प्रतीति की उपपत्ति होने पर ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान की कल्पना में गौरव होने से वह नहीं करनी चाहिये, यह निरस्त हो गया; क्योंकि ज्ञान नित्य है, हमारे मत में उसका अभाव अङ्गीकार नहीं। शङ्का—इस ग्रामीण को गवय का ज्ञान नहीं है, इस प्रकार प्रतीत होनेवाला जो ज्ञानविशेष का निषेध है, उसकी क्या गति होगी ? उत्तर—इस प्रतीति का यह अर्थ नहीं है कि इस ग्रामीण को गवय का ज्ञान नहीं है, किन्तु इसका अर्थ है—इसके ज्ञान का गवय विषय नहीं है। 'घटमहं न जानामि' इत्यादि स्थल में भी मेरे ज्ञान की विषयता का घट में निषेध है, यही समझना चाहिये। 'न जानामि' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाभाव को मानने में अन्य दोष कहते हैं। ३. 'अहं न जानामि' इस ज्ञानाभाव को विषय करनेवाले प्रत्यक्षानुभवकाल में ज्ञानाभाव में धर्मी आत्मा का अर्थात् जिसे वह अज्ञान है उसका प्रत्यक्ष ज्ञान है, अथवा नहीं ? वैसे ही उस काल में ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का स्मरणात्मक ज्ञान है, अथवा नहीं ? दोनों विकल्पों में से प्रथम पक्ष में धर्मीज्ञान और प्रतियोगीज्ञान के होते हुए उस काल में ज्ञानाभाव की सत्ता ही नहीं है, तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव कैसे हो ? क्योंकि विषय के न होने पर उस विषय का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। द्वितीय पक्ष में ज्ञानाभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव के ज्ञान में धर्मी और प्रतियोगी दोनों के ज्ञान की अपेक्षा हुआ करती है। ४. भ्रम-परम्परा, संशय-परम्परा, भ्रमसंस्कार-परम्परा और संशयसंस्कार-परम्परा इन चारों में से कोई भी 'अहमज्ञः' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय अज्ञानरूप नहीं है। 'परम्परा' प्रवाह का नाम है। प्रवाहघटक एक-एक व्यक्ति तो उस अज्ञान का स्वरूप नहीं है, क्योंकि 'अहमज्ञः' यह प्रतीति चिरकाल तक बनी रहती है। भ्रम आदि एक-एक क्षणिक हैं, इसलिए चारों की परम्परा का ग्रहण किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपरोक्षत्वात्; अतीतानागतभ्रमसंशयतत्संस्काराणां च परोक्षत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। (iv) आवरणात्मकत्वाद्, (v) भ्रमोपादानत्वाच्च, आत्मनो निर्विकारत्वादन्तःकरणादेश्च तज्जन्यत्वात्; (vi) 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इति गुणवत्त्वश्रुतेश्च।

(vii) 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०), 'इन्द्रो मायाभिः

का प्रत्यक्ष होता है। अतीत और अनागत भ्रम-संशय-संस्कार परोक्ष[1] हैं, अतः वे नहीं जाने जा सकते। (iv) अज्ञान आवरणात्मक[2] है, और (v) भ्रम का कारण[3] है, इसलिए अज्ञान अभाव नहीं है। आत्मा निर्विकार है, अतः वह भी भ्रम का कारण नहीं बन सकता। अन्तःकरण[4] अज्ञान से ही जन्य है, इसलिए वह भी अज्ञानरूपी भ्रम का उपादान नहीं हो सकता। (vi) 'देवात्मशक्तिं[5] स्वगुणैः०' इत्यादि गुणवत्त्व-श्रुति से अज्ञान में गुणवत्त्व की प्रतीति होती है। (vii) 'मायां[6] तु०', 'इन्द्रो माया०[7]', 'अनृतेन[8] हि०', 'नीहारेण०[9]', 'भूयश्चान्ते०' इत्यादि

---

१. 'अहमज्ञः' यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसका विषय भ्रम आदि की परम्परा नहीं हो सकती, क्योंकि परम्परा परोक्ष है, उनमें से परम्परा के घटक संस्कारों में से तो किसी एक का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, फिर उनकी परम्परा के प्रत्यक्ष का तो क्या कहना है! भ्रम और संशय वर्त्तमानकाल में यद्यपि प्रत्यक्ष के योग्य हैं, तथापि भूतभ्रम और भूतसंशय वैसे ही भविष्यद्भ्रम और भविष्यत्संशय प्रत्यक्ष के योग्य नहीं, इसलिए उनकी परम्परा भी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं। २. 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का जो विषय है, वह विज्ञानघन आत्मा के स्वरूप का आवरण करनेवाला प्रतीत होता है। भ्रम और संशय तो मनोवृत्तिरूप लौकिक ज्ञानविशेष होने से आवरण के कर्त्ता नहीं हैं। संस्कार भी आवरण का कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह मनोवृत्तिविशेष ज्ञान का जनक होता है। और मनोवृत्तिरूप ज्ञान सर्वत्र आवरण का भङ्ग करनेवाला देखा गया है। 'अहमज्ञः' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव पदार्थ से आवरण कहीं नहीं देखा जाता। शङ्का—तेज का अभावरूप अन्धकार घटादि पदार्थों का आवरण करता है, यह देखा जाता है। उत्तर अन्धकार भी अभाव नहीं है, किन्तु नीलरूपवाला द्रव्य है। ३. 'अहं मनुष्यः' इत्यादि भ्रम का उपादान इस भ्रम का सजातीय भावरूप अज्ञान ही 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है, यह स्वीकार करना चाहिये। ४. अन्तःकरणादि भी 'अहं मनुष्यः' इस भ्रम के उपादान कारण नहीं हैं, क्योंकि वे भी अनिर्वचनीय एवं जन्य हैं। उनका भी उपादान कारण भावरूप अज्ञान ही है, अज्ञान के कार्य अन्तःकरणादि त्रिगुणात्मक हैं, इसलिए उनका कारण भावरूप अज्ञान भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिये। इस प्रकार युक्ति से भावरूप अज्ञान की सिद्धिकर भावरूप अज्ञान में श्रुति प्रमाण दिखाते हैं। ५. देव (सृष्ट्यादि क्रीडावान् परमेश्वर) की आत्मशक्ति (स्वकीया शक्ति)—स्व (ईश्वर) को आश्रय करनेवाली स्व (ईश्वर) को विषय करनेवाली शक्ति—को ध्यान से युक्त होकर उन मुनियों ने देखा और वह शक्ति अपने सत्त्व, रज, तमरूप तीन गुणों से युक्त है। 'स्वगुणैः' इसमें स्वशब्द से आत्मशक्ति का परामर्श है। 'शक्ति' नाम है कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य का। इस श्रुति में जो आत्मशक्ति कही है, वही भावरूप अनादि अज्ञान है। गुणवती होने से भी वह अभावरूप नहीं है। ६. महेश्वर की जो अनिर्वचनीया कार्यजननशक्ति माया है, उसीको जगत् का मूल कारण समझना चाहिये। ७. इन्द्र (आत्मा) एक होता हुआ भी मायाओं से अनेकरूप प्रतीत होता है। ८. अनृत (अज्ञान) से प्रत्यूढ (व्याप्त) प्रजा मूल कारण को नहीं जानती। ९. नीहारसदृश भावरूप अनादि अज्ञान से आच्छादित तुम—जिसने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया है उसे नहीं जानते। जैसे नीहार अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि दृष्टि को आवृत कर लेता है। अत्यन्त सत् भी नहीं है, क्योंकि काष्ठ-पाषाणादिरूप अन्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार अज्ञान भी अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि ईश्वर-तत्त्व को आवृत करता है। सत् भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञान से तुम सब जीव 'प्रावृताः' (ढँके हुए) हो—यह अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरुरूप ईयते' (बृ० २। ५। १६)। 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८। ३। २), 'नीहारेण प्रावृताः' (तै० सं० ४। ६। २। २), 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'[1] (श्वे० १। १०) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च माया अविद्या अनिर्वाच्यमनृतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं चाज्ञानमेव स्वपराध्यासे कारणम्। न चात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः; [2]अनादित्वेनोत्पत्त्यभावात्, स्वप्रकाशात्मन एव तज्ज्ञप्तिरूपत्वात्।

श्रुतियों से माया[3], अविद्या[4], अनिर्वचनीय[5], असत्य[6] एवं तत्त्वज्ञान से निवृत्त होने योग्य अज्ञान ही अपने[7] और अहङ्कारादि जगत् के अध्यास में कारण है। आत्माश्रयादि दोष का भी यहाँ प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि अज्ञान अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, इससे आत्माश्रय का निराकरण हो गया। स्वप्रकाश आत्मा ही उसका ज्ञान है, इसलिए ज्ञप्ति में भी आत्माश्रय-दोष नहीं हुआ।

अध्यास[8] के निर्दोषपूर्वक समर्थित होने से अज्ञान के अध्यास से युक्त चैतन्य में अहङ्कार का अध्यास

---

१. परमात्मा के ध्यान से प्रारब्धभोग के अन्त में फिर विश्वमाया (सर्वमाया) की निवृत्ति होती है। माया का विश्वत्व अनेक प्रकार का होना ही है, वह आवरण और विक्षेपशक्ति के भेद से दो प्रकार का है। आवरणशक्ति भी असत्त्वापादक और अभानापादक भेद से दो प्रकार की है। २. '...सङ्गः, अनादित्वेन तन्निरासाद्, अनादित्वेनो...'—इति क्वचित् पाठः। ३. विचित्र सृष्टि करने की सामर्थ्य। ४. ज्ञान के विरुद्ध स्वभाववाली। ५. सत् और असत् से विलक्षण। ६. अध्यस्त। माया अविद्या अज्ञान प्रकृति आदि को एक ही के विभिन्न नाम मानकर बिंदुकार तथा प्रायः वेदान्ताचार्य चलते हैं। जहाँ स्पष्ट भेद न कहा हो वहाँ इन शब्दों को पर्याय समझकर ही चलना चाहिये। ७. जैसे जब अन्धकार से रज्जु का स्वरूप किञ्चित् आवृत होता है, तभी वह रज्जु सर्प का अधिष्ठान होती है; वैसे ही स्वच्छ आत्मा अज्ञान का अधिष्ठान है। उस अधिष्ठानता के लिए मलिनतारूप आवरण का उसी अज्ञानाध्यास से सम्पादन करना होगा। इसलिए अज्ञान के अध्यास में अज्ञान स्वयं ही कारण है। अज्ञानाध्यासविशिष्ट आत्मा अहंकारादि का अधिष्ठान होकर फिर उत्तरोत्तर अध्यास में कारण होता है। यहाँ अज्ञान स्व (अज्ञान) से कैसे उत्पन्न हुआ ? इस आत्माश्रय की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अज्ञान अनादि है, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए अज्ञान उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहना चाहिये। किन्तु अज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। अज्ञान के ज्ञान में भी आत्माश्रय दोष नहीं है, क्योंकि अज्ञान का ज्ञान आत्मरूप होने से नित्य है। 'अहमज्ञः' इस प्रकार साक्षीरूप ज्ञान का विषय होकर अज्ञान भासता है, वह साक्षी नित्य है। ८. शङ्का—'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीति के अधिष्ठान अज्ञानविशिष्ट चैतन्यरूप की प्रतीति कैसे होती है ? क्योंकि रजताध्यासमूलक 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में शुक्ति की प्रतीति नहीं हुआ करती, वैसे ही अहङ्कार के अध्यास में अधिष्ठान अज्ञानविशिष्ट चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। उत्तर—अन्योन्याध्यास का अङ्गीकार करने से यह दोष नहीं। अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य में अज्ञान के कार्य अहङ्कार का अध्यास होने पर फिर उस अध्यस्त अहङ्कार में अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य का अध्यास है, इसलिए 'अज्ञोऽहम्' यह प्रतीति रङ्ग-रजत में रजत-रङ्ग की तरह समूहालम्बनात्मक है। इसके कारण भी दो अध्यास हैं। विशेष इतना है—रङ्ग-रजत-स्थल में दोनों अधिष्ठानों की पृथक् सत्ता होने से दोनों अध्यस्तों की भेद से प्रतीति होती है। 'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीति में तो द्वितीयाध्यास का अधिष्ठान अहङ्कार अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य ही में अध्यस्त है। अध्यस्त होने से उसकी पृथक् सत्ता नहीं है और पृथक् सत्ता के अभाव से पृथक् प्रतीति नहीं है। इसी प्रकार जहाँ शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह प्रतीति होती है वहाँ भी शुक्ति में रजताध्यास और अध्यस्त रजत में शुक्ति की इदन्ता का अध्यास होता है, इसलिए 'इदं रजतम्' इस प्रतीति के कारण दो अध्यास हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यासक्रमः

तेन अज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासः, तद्विशिष्टे च कामसङ्कल्पादीनामहङ्कारधर्माणामिन्द्रियधर्माणां च काणत्वबधिरत्वादीनामध्यासः। इन्द्रियाणान्तु परोक्षत्वान्नापरोक्षधर्म्यध्यास इति सिद्धान्तः। तद्विशिष्टे च स्थूलदेहाध्यासो धर्मपुरस्कारेणैव 'अहं मनुष्यः' इत्याकारः। न च स्वरूपतोऽहं देह इत्यध्यासः, तथा प्रतीत्यभावात्[1]। तद्विशिष्टे च स्थौल्यादीनां देहधर्माणामध्यासः। तद्विशिष्टे च बाह्यानां पुत्रभार्य्यादीनां साकल्यवैकल्यादिधर्माध्यासः।

एवं चैतन्यस्याप्यहङ्कारादिषु देहपर्यन्तेष्वध्यासः संसर्गतः। अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम्। तदुक्तं वार्त्तिकामृते (बृ. १. ४. १०३१)—

होता है और अहङ्कारविशिष्ट[2] चैतन्य में काम, सङ्कल्प आदि अहङ्कार के धर्मों का एवं काणत्व, बधिरत्व आदि इन्द्रियधर्मों का अध्यास होता है। इन्द्रियाँ परोक्ष हैं, इसलिए अपरोक्ष इन्द्रियरूपी धर्मी का अध्यास नहीं होता, ऐसा सिद्धान्त है। पूर्वदर्शित सूक्ष्माध्यासविशिष्ट[3] में स्थूल देह का अध्यास होता है। उक्त अध्यास मनुष्यत्वादिधर्मपुरःसर ही होता है, देहत्वादि धर्मपुरस्कारेण नहीं, क्योंकि 'अहं देहः' ऐसी प्रतीति नहीं होती। देहाध्यासविशिष्ट चैतन्य में स्थूलता आदि देहधर्मों का अध्यास होता है। स्थूलताध्यासविशिष्ट चैतन्य में बाह्य पुत्र, भार्या आदि की सकलता एवं विकलता का अध्यास होता है।

---

१. 'कः पुनर्देहसम्बन्धः ? देहादिरयं सङ्घातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः, दृष्टा च सा सर्वप्राणिनाम्...' (ब्र. सू. भाष्य. २. ३. ४८) आदिप्रत्नोक्तयः पामरतरविषया इति सुसंस्कारिण आदाय प्रतीत्यभाव इह कथितः। २. 'अहङ्काराध्यासविशिष्ट चैतन्य में' का यह अर्थ है—'अहमिच्छामि' (मैं इच्छा करता हूँ) यह प्रतीति चैतन्य में पहले अहङ्कार का अध्यास बिना किये नहीं होती, इसलिए अध्यस्त अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही कामादि धर्मों का अधिष्ठान हो सकता है और अध्यस्ताहङ्कारविशिष्ट होकर ही इन्द्रियधर्म काणत्व, बधिरत्वादि का अधिष्ठान होता है। यहाँ इन्द्रियों के धर्म का अध्यास होता है, इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता, क्योंकि मैं काण हूँ, मैं बधिर हूँ, यह प्रतीति तो होती है, पर मैं नेत्र हूँ, मैं श्रोत्र हूँ, यह प्रतीति नहीं होती, इसलिए अध्यस्ताहङ्कारविशिष्ट चेतन में इन्द्रियों का अध्यास हुए बिना ही इन्द्रियों के धर्म काणत्वादि का अध्यास होता है। शङ्का—इन्द्रियों के तादात्म्य के बिना उनके धर्म काणत्वादि का अध्यास कैसे? उत्तर—इन्द्रियों के सामान्यरूप इन्द्रियत्व से और विशेषरूप नेत्रत्वादि से यद्यपि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में स्वरूपाध्यास नहीं है, तथापि संसर्गाध्यास है, क्योंकि मैं इन्द्रियवान् हूँ, मैं चक्षुष्मान् हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में इन्द्रियों का स्वरूप से अध्यास नहीं है, तथापि अज्ञानविशिष्ट चैतन्य में तो उनका स्वरूप से भी अध्यास है ही। क्योंकि भूत, भौतिक सकल प्रपञ्च जब अज्ञानविशिष्ट चैतन्य में अध्यस्त है, तो इन्द्रियाँ भी उसी में अध्यस्त हैं। ३. देह का मनुष्यत्वादि विशिष्टरूप से तादात्म्याध्यास है, देहरूप से नहीं, क्योंकि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति होती है, 'अहं देहः' यह प्रतीति नहीं होती। देहत्वधर्मविशिष्टरूप से देह का यद्यपि स्वरूपाध्यास नहीं है, तथापि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में देह का संसर्गाध्यास तो है ही; क्योंकि 'अहं देहवान्' यह प्रतीति होती है। मनुष्यादि विशेष स्वरूप से देहाध्यासविशिष्ट चैतन्य में स्थूलत्वादि धर्मों का भेद से अध्यास होता है, जबतक अहङ्कार का अध्यास होकर देह का अध्यास न हो, तबतक चैतन्य में स्थूलत्वादि धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि चैतन्य अमूर्त्त है, वह मूर्त्त, स्थूलता आदि धर्मों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। अध्यास का स्वीकार प्रतीति के अनुरोध और योग्यता के बल से होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

'वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः।।' इति

पिण्डः स्थूलशरीरम्। प्राणोऽन्तःकरणम्। देहापेक्षया चेन्द्रियाणां प्रियत्वं शस्त्रवृष्ट्यादि-धारापाते चक्षुषोर्निमीलनदर्शनादनुभवसिद्धम्।

अन्योन्याध्यासः

तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽध्यासः। एकतरस्याध्यासाङ्गीकारेऽन्यतरस्या-भानप्रसङ्गात्, अध्यस्तस्यैव भ्रमे भाननियमाद्। इमे रङ्गरजते इति समूहालम्बन-भ्रमवदवश्यमितरेतराध्यासः। सर्वबाधावधिभूतचैतन्यपरिशेषेण च न शून्यवादापत्तिः,

इसी[1] प्रकार चैतन्य का भी अहङ्कार से लेकर देहपर्यन्तों में संसर्गाध्यास होता है।[2] अध्यासव्यवधान के तारतम्य से प्रेमतारतम्य होता है। 'वार्तिकामृत' में भी कहा है—'धन से पुत्र प्रिय है, पुत्र से पिण्ड, पिण्ड से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से प्राण (अन्तःकरण), प्राण से आत्मा परम प्रिय है।' पिण्ड = स्थूलशरीर। प्राण = अन्तःकरण। देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ प्रिय हैं, यह बात शस्त्रों तथा वृष्टि आदि की धारा के सम्पात में नेत्रों के निमीलन-दर्शन से अनुभवसिद्ध है।

चित् में अहङ्कार आदि का स्वरूपतः अध्यास एवं अहङ्कारादि में चित् का संसर्ग से अध्यास है। इस अन्योन्याध्यास[3] से चित् और अचित् (जड) अध्यास ग्रन्थिरूप है। यदि एक ही का अध्यास मानो तो दूसरे का भान नहीं होगा। भ्रम में अध्यस्त[4] का ही भान होता है, ऐसा नियम है। 'ये रङ्ग और रजत हैं' (रङ्ग में रजत-भ्रम और रजत में रङ्ग-भ्रम) इस प्रकार के भ्रम को अन्योन्याध्यास अवश्य मानना पड़ता है। सब[5] बाधों के अवधिस्वरूप चैतन्य के शेष रहने से शून्यवाद की आपत्ति भी नहीं हुई, क्योंकि अध्यास सत्य[6] और अनृत का सम्मिश्रणस्वरूप ही है।

---

१. शङ्का—चैतन्य का अध्यास अङ्गीकार करोगे तो 'अध्यस्त पदार्थ मिथ्या हुआ करता है' इस नियम से चैतन्य के मिथ्या होने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा। उत्तर—चैतन्य का अध्यास शुक्ति में रजत की तरह स्वरूप से नहीं, किन्तु संसर्ग से है। संसर्ग सम्बन्ध का नाम है, इसलिए अहङ्कारादि में चैतन्य का जो सम्बन्ध अध्यस्त है, वही मिथ्या है। चैतन्य किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि वह अध्यस्त नहीं है। २. शङ्का—आत्मा प्रियतम है, इसलिए आत्मा में अध्यस्त सब पदार्थ आत्मवत् प्रियतम होने चाहिए। उनमें प्रेम का तारतम्य कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं—'अध्यासव्यवधानेऽपि'। ३. अध्यस्त अहङ्कारादि में चैतन्य का संसर्गाध्यास होने से। भाव यह है कि जैसे दो रज्जुओं की ग्रन्थि दृढ होती है, वैसे ही जड़ अहङ्कारादि और चेतन आत्मा की यह दृढ-ग्रन्थि है। अन्योन्याध्यास तथा संसर्गाध्यास—इन दो संकल्पनाओं से परमार्थ आत्मा की सत्यता तथा सारे व्यवहार्य प्रपंच का मिथ्यात्व वेदान्त-सिद्धान्त में संमत है। ४. संक्षेपशारीरक (१। ३६) में कहा है—'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु'—भ्रमों में अध्यस्त की ही प्रतीति हुआ करती है। जैसे 'इदं रजतम्' यहाँ शुक्ति में रजत अध्यस्त है, वैसे ही रजत में शुक्तिगत इदमंश अध्यस्त है। इसलिए अन्योन्याध्यास से समूहालम्बन ज्ञान की तरह अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों की प्रतीति हुआ करती है। ५. अन्योन्याध्यास में भी चैतन्य में अध्यस्त अहंकारादि में चैतन्य का जो अध्यास है, वह स्वरूप से नहीं, किन्तु संसर्ग से है, यह कहा है। इसलिए अध्यस्त चैतन्यसम्बन्ध के मिथ्या होने से बाध होने पर भी स्वरूप से अनध्यस्त चैतन्य का बाध नहीं होता, इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं है। इसीलिए 'सत्यानृतसंभेदावभासः' यह अध्यास का लक्षण भाष्यकारों ने कहा है। यदि चैतन्य का स्वरूप से अध्यास होता तो जैसे अध्यस्त अहंकारादि अनृत हैं, वैसे ही अहङ्कारादि में अध्यस्त चैतन्य भी अध्यस्त होने से अनृत ही होता। तब सत्यानृत का संभेद न होने से भाष्योक्त लक्षण की संगति न होती। चैतन्य का संसर्गाध्यास मानने पर तो चैतन्य सत्य ही है, इसलिए लक्षण की संगति हो जाती है। ६. 'संभेद'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

सत्यानृतसंभेदावभासत्वादध्यासस्य।

अनादिरध्यासः

तस्मात्पूर्वपूर्वाध्यासमूल एवायमुत्तरोत्तराहङ्काराद्यध्यासो बीजांकुरवदनादिः। अविद्याध्यासश्चैक एवानादिः। नन्वविद्याध्यासस्यानादित्वे 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः' इति वदता भाष्यकारेण स्मृतिरूपत्वेन संस्कारजन्यत्वमुक्तं विरुद्ध्येतेति चेत् ? न; कार्याध्यासाभिप्रायत्वात्तस्य। परत्र परावभासोऽध्यास इत्येतावन्मात्रस्यैव उभयानुगतलक्षणत्वात्।

यद्वा—'सत्यानृते मिथुनीकृत्ये'ति भाष्यवचनात् सत्यमिथ्यावस्तुसंभेदावभासोऽध्यास इत्येव सिद्धान्तलक्षणम्। तेन कारणाध्यासेऽपि न लक्षणाव्याप्तिः। कार्याध्यासस्य च प्रवाहरूपेण बीजांकुरवदनादित्वाभिधानान्न कोऽपि दोषः।

इसलिए[1] पूर्वअध्यासमूलक उत्तर-उत्तर अहङ्कारादि का अध्यास बीज और अंकुर के समान अनादि है। और अविद्याध्यास एक और अनादि ही है। शङ्का—अविद्या का अध्यास अनादि है तो 'पर में पूर्वदृष्ट पदार्थ की जो प्रतीति वह स्मृतिरूप है', ऐसा कहते हुए भगवान् भाष्यकार ने स्मृतिरूप होने से उसे जो संस्कारजन्य कहा, उससे विरोध[2] होता है। समाधान—नहीं, यह लक्षण कार्याध्यास[3] के अभिप्राय से किया गया है। अन्यत्र[4] अन्य का जो ज्ञान, वही अध्यास है—केवल इतना ही कहने से कार्याध्यास और कारणाध्यास दोनों का निर्दोष लक्षण हो जाता है।

अथवा 'सत्यानृते०' इस भाष्यवचन से सत्य और मिथ्या वस्तुओं की सम्मिश्रण-प्रतीति अध्यास है, यही सिद्धान्तलक्षण समझना चाहिए। ऐसा लक्षण करने से कारणाध्यास में भी अव्याप्ति नहीं हुई। कार्याध्यास प्रवाहरूप से बीज और अंकुर के समान अनादि काल से चला आ रहा है, ऐसा कह देने से कोई दोष भी नहीं है।

सम्बन्ध का नाम है, सत्य का अनृत के साथ जो सम्बन्ध है, उसकी प्रतीति को 'सत्यानृतसंभेदावभास' कहते हैं।
१. शङ्का—पहले रजत देखा हुआ हो, तभी उसके संस्कार से शुक्ति में रजत का अध्यास होता है। अहंकार का तो पहले कभी अनुभव हुआ ही नहीं, तो उसका आत्मा में अध्यास कैसे ? उत्तर—कल्पान्तर में अहंकार का अनुभव हो चुका है। यद्यपि वह अनुभव भी अध्यस्त होने से अयथार्थ ही है, तथापि वह संस्कार को उत्पन्न कर सकता है। केवल चित्र में स्थित सर्प को देखनेवाले पुरुष को भी रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। जिस पुरुष को धूलि-कदम्ब में पहले धूम का भ्रम हुआ हो, उसे भी धूम का संस्कार होता ही है। शङ्का—कल्पान्तर का अनुभव अयथार्थ होता हुआ भी संस्कार को उत्पन्न करे, किन्तु वह भी भ्रम ही है, उसके लिए उससे पहले संस्कार कैसे ? उत्तर—उससे भी पहले कल्प के अनुभव से संस्कार होता है, यह समझना चाहिये। यद्यपि इस प्रकार संस्कार और अध्यास का अन्योन्याश्रय प्रतीत होता है, तथापि बीजांकुर-न्याय से उसका परिहार करना चाहिए। अविद्याध्यास तो संस्कारजन्य नहीं है, क्योंकि अविद्या एक है। कल्प का भेद होने पर भी अविद्या का भेद नहीं होता, इसलिए एक अविद्याध्यास अनादि है, यह स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतस्तु आदिरहित बताने का तात्पर्य इसमें है कि वह है ही नहीं, विवर्तवाद को अजातवाद की ही पूर्वभूमि समझना चाहिये; समस्त भूतकाल में व्यापी होना यहाँ तात्पर्य मानना अनावश्यक है। २. अनादि अविद्याध्यास संस्कारजन्य नहीं है, इसलिए भाष्योक्त अध्यासलक्षण की अव्याप्ति है, यह पूर्वपक्षी का आशय है। ३. अविद्याध्यास से व्यतिरिक्त अविद्याध्यासमूलक जो अहङ्कारादि-अध्यास हैं, उन्हीं का भाष्यकारों ने 'स्मृतिरूप०' इत्यादि लक्षण किया है। अब सामान्य लक्षण कहते हैं। ४. यह लक्षण कारणाध्यास-शब्दित अविद्याध्यास और कार्याध्यासशब्दित अहंकारादि-अध्यासों में अनुगत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवेश्वरादिव्यवस्था

एवमध्यासे सिद्धे एकस्याप्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था चोपपद्यते। तथाहि—अज्ञानोपहित आत्मा[1] अज्ञानतादात्म्यापन्नस्वचिदाभासा-विवेकादन्तर्यामी साक्षी जगत्कारणमीश्वर इति च कथ्यते। बुद्ध्युपहितश्च तत्तादात्म्या-

इस[2] प्रकार जब अध्यास सिद्ध हो गया, तब एक ही आत्मा रहते जीव, ईश्वर आदि व्यवस्था और मान, मेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था भी उपपन्न हो जाती है। देखिये—अज्ञानरूप[3] उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर अपने चिदाभास के अविवेक से अन्तर्यामी, साक्षी, जगत्कारण और ईश्वर कहा जाता है। बुद्धि-उपहित बुद्धितादात्म्य को प्राप्त होकर बुद्धि में स्थित अपने चिदाभास के अज्ञान से जीव

---

१. 'अज्ञानतादात्म्यापन्नः' इति पृथक् पदं क्वचित् पाठे। एवमग्रेऽपि '...तत्तादात्म्यापन्नः स्वचिदा ...' इति। २. 'यह जीव है और यह ईश्वर है'—एक आत्मा में यह भेद-व्यवस्था अध्यासमूलक ही है। ऐसे ही किसी ही काल में कोई ही पुरुष किसी पदार्थ को जानता है, सब काल में सर्व पुरुष सब पदार्थों को नहीं जानते—यह मान, मेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था भी अध्यासमूलक ही है। ३. भाव यह है कि अद्वैतमत में एक आत्मा ही सत्य है, आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु सत्य नहीं। इसलिए वास्तव में आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण ही। यदि बाहर कोई अन्य वस्तु होती तो वह (आत्मा) उसका अन्तर्यामी होता। यदि कोई अन्य साक्ष्य होता तो यह उसका साक्षी होता। यदि जगत् होता तो यह उसका कारण होता। बाह्य, साक्ष्य और जगत् ये तीनों उपाधि से कल्पित हैं और वह उपाधि है—अनादि अज्ञान। उस उपाधिरूप अज्ञान का योग होने पर अज्ञानयुक्त चेतन उस उपाधि में भासता है। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में भासती है, वैसे ही वह अज्ञानरूपी उपाधि में रहनेवाला चिदाभास उपाधि के अन्तर्गत होने से ही अन्तर्यामी है। अज्ञानरूपी उपाधि उसका दृश्य है, इसलिए चिदाभास उसका साक्षी है। उपाधि के जगत्रूप परिणाम में चिदाभास कारण है, इसलिए चिदाभास जगत् का कारण कहा जाता है। उपाधि से मुक्त चिदात्मा तो वास्तव में न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण ही। यद्यपि यह आत्मा ऐसा है, तथापि अपने चिदाभास के साथ अविवेक होने से अन्तर्यामी, साक्षी, जगत्-कारण और चिदाभास कहा जाता है। अविवेक भेद के अज्ञान का नाम है। उपाधियुक्त चिदात्मा और उपाधि में रहनेवाला चिदाभास इन दोनों का भेद तो है, परन्तु गृहीत नहीं होता। उसका कारण है—अज्ञानरूप उपाधि में रहनेवाले चिदाभास का अज्ञान के साथ तादात्म्य होना। जैसे स्फटिक के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुई स्फटिक में रहनेवाली रक्तिमा स्फटिक से भिन्न नहीं प्रतीत होती, वैसे ही अज्ञान के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हुआ चिदाभास अज्ञान से भिन्न नहीं प्रतीत होता। उपाधिभूत अज्ञान शुक्ति में रजत की तरह चिदात्मा में तादात्म्य से अध्यस्त है, इसलिए उसका चिदात्मा और चिदाभास के साथ तादात्म्य है। अतः चिदात्मा और चिदाभास के भेद का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार अन्तर्यामी आदि शब्दों का वाच्य अर्थ चिदाभास ही है। वहाँ भी अन्तर्यामी और साक्षी शब्द से केवल चिदाभास ही कहा जाता है। जगत्-कारण, ईश आदि शब्दों से तो उपाधि-विशिष्ट कहा जाता है—यह विशेष अन्य विषय है। तादृश चिदाभास के अविवेक से चिदात्मा यद्यपि उन शब्दों से कहा जाता है, तथापि वह उन शब्दों का गौण अर्थ है। इसी प्रकार अज्ञान की कार्यभूत जो बुद्धि है, तादृश बुद्धिरूप उपाधि से युक्त वही बुद्धितादात्म्यभाव को प्राप्त हुए चिदाभास के अविवेक से जीव, कर्ता, भोक्ता और प्रमाता शब्दों से यद्यपि कहा जाता है, तथापि वह जीव आदि शब्दों का भेदाग्रहनिबन्धन गौण अर्थ है। उनका वाच्य अर्थ तो बुद्धि में स्थित बुद्धि-विशिष्ट चिदाभास ही है। बुद्धि अहङ्कार को कहते हैं। कोई कहते हैं कि जीवादि शब्दों का ऐसा वाच्य अर्थ है, इसमें कोई प्रमाण नहीं, किन्तु अज्ञान में स्थित चिदाभास और चिदात्मा ये दोनों मिले हुए परस्पर अविविक्त (परस्पर के भेद-ज्ञान के अविषय) होकर ही अन्तर्यामी आदि शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। इस प्रकार बुद्धि में स्थित चिदाभास और चिदात्मा ये दोनों परस्पर अविविक्त होते हुए जीवादि शब्दों के वाच्य अर्थ हैं, यह कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पन्नस्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्त्ता, भोक्ता, प्रमातेति च कथ्यते—इति वार्त्तिककारपादाः। प्रतिदेहं च बुद्धीनां भिन्नत्वात्तद्गतचिदाभासभेदेन तदविविक्तं चैतन्यमपि भिन्नमिव प्रतीयते। अज्ञानस्य तु सर्वत्राभिन्नत्वात् तद्गतचिदाभासभेदाभावात् तदविविक्तसाक्षिचैतन्यस्य न कदाचिदपि भेदभानमिति।

आभासवादः

अस्मिंश्च पक्षे तत्त्वमादिपदे जहल्लक्षणैव, साभासस्योपाधेर्वाच्यार्थस्य हानात्।

कर्ता, भोक्ता और प्रमाता भी कहा जाता है, यह वार्तिककारों का मत है। प्रत्येक देह में बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए बुद्धिगत चैतन्य के आभास के भेद[1] से उससे अभिन्न होता हुआ भी चैतन्य पृथक्-सा ज्ञात होता है। अज्ञान सर्वत्र एक ही है, इसलिए उसमें स्थित चिदाभास का भेद नहीं है, अतः अज्ञान से अभिन्न साक्षिचैतन्य की कभी भी भेद-प्रतीति नहीं होती।

इस[2] पक्ष में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद में जहती लक्षणा ही है, क्योंकि वाच्यार्थरूप साभास उपाधि का त्याग है। आभास[3] जड और चेतन से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। संक्षेप-शारीरक में भी कहा है—'जीव और ईश्वर की एकता का बोध करानेवाले 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में यदि[4] 'ब्रह्म' शब्द आभाससहित अज्ञान का बोधक है और 'अहम्' शब्द साभास अहङ्कार का बोधक है, तो उस पक्ष में जहती लक्षणा होती है'।

१. यद्यपि चिदात्मा एक ही है, तथापि बुद्धियों के और तद्गत (बुद्धिगत) चिदाभासों के भी अनेक होने के कारण तादृश चिदाभासों के अविवेक से गृहीत चिदात्मा भी अनेक की तरह प्रतीत होता है, यह अर्थ है।

२. इस पक्ष में 'तत्त्वमसि' यहाँ पर 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त जगत्कारणीभूत ब्रह्म ईश आदि पदों के वाच्य अज्ञानगत चिदाभास का परामर्श होता है और 'त्वम्' शब्द से जीव-पद-वाच्य बुद्धिगत चिदाभास का परामर्श होता है। इन दोनों की एकता सम्भव नहीं, इसलिए दोनों शब्दों से, लक्षणा से चिदात्मा का बोध होता है। इस मत में लक्ष्य चिदात्मा वाच्य अर्थ के अन्तर्गत नहीं है और वाच्य अर्थ का सर्वथा त्याग है, इसलिए 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा ही है। लक्षक का संपूर्ण त्याग कर लक्ष्य समझा जाये तो लक्षणा जहती कही जाती है जैसे गंगा छोड़कर तट समझा जाता है। लक्षक साथ रखकर लक्ष्य समझें तो अजहती लक्षणा होती है जैसे 'लाल दौड़ा' में लाल घोड़ा समझते हैं। लक्षक का कुछ हिस्सा छूटे और कुछ साथ रहे तो जहदजहल्लक्षणा कहते हैं जैसे 'वही यह देवदत्त' में 'वह' का पिंडांश रह जाता है, भूतकालादि छूट जाते हैं। शङ्का—चिदाभास चेतन के सदृश होने से जड नहीं, किन्तु चेतन है। और चेतन सर्वत्र एक ही है; इसलिए वाच्य अर्थ के अन्तर्गत चिदाभास का त्याग व्यर्थ है। वाच्य अर्थ के अन्तर्गत उपाधि-अंशमात्र के त्याग से तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ की एकता सम्भव है। इसलिए यह जहल्लक्षणा नहीं है, किन्तु वाच्यार्थ के एकदेशभूत उपाधिरूप अंश के त्याग से और चिदाभासरूप द्वितीय अंश के अत्याग से यह जहदजहल्लक्षणा ही है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तत्' पद के वाच्य अर्थ के एकदेशभूत तद्देशस्थत्व और तत्कालस्थत्व का त्याग है और 'अयं' पद में वाच्य के एकदेशभूत एतद्देशस्थत्व और एतत्कालस्थत्व का त्याग है, वाच्य के एकदेशभूत शरीरादि अंश का तो दोनों वाच्यों में त्याग नहीं है, इसलिए जहदजहल्लक्षणा होता है; वैसे ही महावाक्य में भी हो सकती है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'आभासस्यापी'ति। ३. चिदाभास यद्यपि जड नहीं, तथापि चेतन भी नहीं है; क्योंकि वह चित् नहीं, चित् का आभास है। इसलिए चिदाभास उपाधितन्त्र (बुद्धिरूप उपाधि के अधीन) प्रतीत होता है। ऐसी दशा में चिदाभास जड-चेतन दोनों से विलक्षण ही है। इस कारण 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से प्रतिपाद्य एकता की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ के एकदेशभूत उपाधिअंश की तरह वाच्य के एकदेशभूत चिदाभास अंश का भी त्यागकर वाच्यार्थ का अनन्तर्गत चिदात्मा ही लक्ष्य है। इसलिए 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में जहल्लक्षणा ही है। चिदाभास अनिर्वचनीय है, इसलिए वार्तिककार ने उसका मिथ्यास्वरूप स्वीकार किया है। ४. आशय यह है कि वस्तु-तत्त्व शुद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेनानिर्वचनीयत्वात्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके (१।१६६)—

'साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहं—

शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे।।'—इति।

न चाऽऽभासस्यैव बद्धत्वात् केवलचैतन्यस्य च मुक्तत्वाद् बन्धमोक्षयो-र्वैयधिकरण्यम्, स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम्; केवलचैतन्यस्यैवाभासद्वारा बद्धत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं वार्तिककारपादैः—'अयमेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम्।' —इति। तेन शुद्धचैतन्यस्याभास एव बन्धस्तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किञ्चिदसमञ्जसम्।

अथवा—चिदाभासाविविक्तचैतन्यमपि तत्त्वमादिपदवाच्यम्। तेन वाच्यैकदेशस्यात्यागा-दस्मिन् पक्षे जहदजहल्लक्षणैवेति न कोऽपि दोषः। अयमेव च पक्ष आभासवाद इति गीयते।

'बद्ध[1] है आभास और मुक्ति होती है केवल' चैतन्य की, इसलिए बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य हो जायगा; और अपने नाश के लिए आभास की प्रवृत्ति नहीं होगी'—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। कारण, केवल चैतन्य ही आभासद्वारा बद्ध है, ऐसा स्वीकार किया गया है। वार्तिककार ने कहा है—'यही[3] हमारे लिए अनर्थ है, जो संसारी आत्मा का दर्शन होता है।' इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध चैतन्य का आभास ही बन्ध है और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। इस प्रकार कोई असामञ्जस्य नहीं हुआ।

चिदात्मा वाच्य-वाचक आदि सब व्यवहारों से अतीत होने से अव्यवहार्य है, इसलिए साभास अज्ञान आदि ही व्यवहार्य होने से उसीमें शब्द की वाच्यता सिद्ध होती है। अतः साभास अज्ञान और साभास अहंकार ही शब्द का वाच्य है, उन दोनों का अधिष्ठान होने से उन दोनों में अनुगत उनके सम्बन्धी चिदात्मा में तो ब्रह्मशब्द और अहंशब्द जहल्लक्षणा से प्रवृत्त होते हैं।

'यदि भवति' यहाँ 'यदि' शब्द से इस मत में अरुचि सूचित होती है, कारण यद्यपि शुद्ध चिदात्मा स्वरूप से अव्यवहार्य है, तथापि अज्ञान और अहङ्कार के द्वारा वह व्यवहार्य हो सकता है। ऐसी स्थिति में केवल शुद्ध चिदात्मा यद्यपि ब्रह्म आदि शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता, तथापि उपाधिगत चिदाभासविशिष्ट चिदात्मा ब्रह्मादिशब्दवाच्य है ही। अतः जहल्लक्षणा नहीं है। किन्तु वाच्य के एकदेशभूत उपाधि-अंश और चिदाभास-अंश के त्याग तथा वाच्य के एकदेशभूत चिदंश के अत्याग से जहदजहल्लक्षणा ही है। १. कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मवान् चिदाभास बद्ध है। वह जड-चेतन से विलक्षण अनिर्वचनीय है। मुक्त तो तत्त्वज्ञान से अभिव्यक्त पूर्णानन्दस्वरूप और चिन्मात्रस्वरूप ही है, चिदाभास नहीं। ऐसी दशा में जो बद्ध चिदाभास है, वह मुक्त नहीं होता, किन्तु चिदाभास से अन्य शुद्ध चैतन्य ही मुक्त होता है। इसलिए बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य दोष है। किंच, बद्ध चिदाभास का, तत्त्वज्ञान से उपाधि का नाश होने पर, मोक्ष-अवस्था में नाश भी हो जाता है। ऐसी दशा में अपने नाश के लिए चिदाभास की प्रवृत्ति कैसे होगी ? यह आशय है। २. चिदाभास बद्ध है—यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु चिदाभास द्वारा चिदात्मा बद्ध है; इसलिए बन्ध-मोक्ष का वैयधिकरण्य भी नहीं है। और अपने नाश के लिए प्रवृत्ति की अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि चिदात्मा का वास्तव मुख्य स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य ही है। उसीका दूसरा गौणस्वरूप जीवशब्द का वाच्य चिदाभास है। इसलिए मुख्यस्वरूप से सदा स्थिति के लिए अपने गौणस्वरूप के नाश के निमित्त प्रवृत्ति भी हो सकती। गौणस्वरूप के नाश के लिए उसकी प्रवृत्ति गौणस्वरूप से हुआ करती है, क्योंकि कण्टक ही से कण्टक निकाला जाता है। ३. स्व (आत्मा) का गौणरूप से दर्शन ही संसारी आत्मा का दर्शन है। तादृश दर्शन के अनर्थत्व की उक्ति से तादृश दर्शन के मूलभूत अज्ञान का चिदात्मा में जो सम्बन्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिबिम्बवादः

अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रतिबिम्बितं

[1]अथवा चिदाभास से अविविक्त चैतन्य भी 'तत्' और 'त्वम्' पद का वाच्य है। इसलिए वाच्य के एकदेश के अत्याग से इस पक्ष में जहत्-अजहत् लक्षणा ही है। इससे कोई दोष नहीं। इसी पक्ष को आभासवाद[2] कहते हैं।

अज्ञान[3] से उपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर है। अन्तःकरण और अन्तःकरण[4] के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, यह विवरणकार का मत है। अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है

है वही बन्ध है, और उसका वियोग ही मोक्ष है—यह सिद्ध हुआ। १. इस प्रकार आभास ही 'तत्', 'त्वम्' पदों का वाच्य है इस मत का समर्थन करके आभास-अतिरिक्त चैतन्य भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों का वाच्य है, इस मत का प्रदर्शन करते हैं—'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से। २. यहाँ रत्नावली में संक्षिप्त परिभाषा दे दी है : 'स्वरूपतो मिथ्याभूतं प्रतिबिम्बम् इति वाद आभासवादः। स्वरूपतः सत्यं, प्रतिबिम्बत्वरूपेण मिथ्याभूतं बिम्बमेव प्रतिबिम्बम् इति (प्रतिबिम्बवादः)।' भाव यह है कि जपाकुसुम के सन्निहित स्फटिकमें दृश्यमान रक्तिमा को प्रायः 'रक्तिमाभास' और दर्पण में दृश्यमान मुख को प्रायः 'मुख का प्रतिबिम्ब' कहा जाता है। कहीं पर 'स्फटिक में रक्तिमा का प्रतिबिम्ब और दर्पण में मुख का आभास होता है' ऐसा भी प्रयोग देखा जाता है। वहाँ आभास को ग्रहण करनेवाली स्फटिकरूप उपाधि स्वसमीपस्थित जपाकुसुमगत केवल रक्तिमा-गुण को ही स्व (स्फटिक) में दिखाती है, प्रतिबिम्बग्राहक दर्पणरूप उपाधि तो अपने अभिमुख गुणविशिष्ट मुखरूप वस्तु ही को उससे भिन्न की तरह स्व (दर्पण) के अन्तर्गत दिखाती है। चैतन्य तो ज्ञान ही है, अन्य कोई उसका आश्रय नहीं। इस रीति से दर्पण के सदृश अथवा स्फटिक के सदृश बुद्धिरूप उपाधि में प्रतीयमान चैतन्य में जपाकुसुम की रक्तता के सदृश कोई विशेष नहीं है। किन्तु जैसे प्रतिबिम्बस्थल में वास्तव में विचार करने से दर्पण के अन्दर मुख नहीं, प्रत्युत दर्पण के प्रतिघात से परावृत (लौटे हुए) नेत्र की किरणों से बिम्बभूत मुख ही अन्य की तरह देखा जाता है और वह मुख बिम्बरूप से सत्य और प्रतिबिम्बरूप से असत्य है। ऐसी दशा में बिम्बभूत स्वरूप से सत्य चैतन्य ही बुद्धिरूपी उपाधि के सन्निधान से असत्य प्रतिबिम्बरूप से दृश्यमान होता हुआ जीवशब्द का वाच्य है—यह प्रतिबिम्बवादियों का मत है। इस मत में 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा का सम्भव नहीं है। आभासवाद में तो जैसे स्फटिक में प्रतिघात-परावृत्त चाक्षुषकिरणों से जपाकुसुमगत रक्तिमा का दर्शन नहीं हो सकता—क्योंकि वहाँ किरणों की परावृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु जपाकुसुमगत रक्तिमा के सदृश अन्य ही रक्तिमा स्फटिक में दीखती है और वह रक्तिमा स्वरूप से असत्य है—वैसे ही 'बुद्धिरूपी उपाधि में स्थित चिदाभास ही जीवशब्द का वाच्य है' इस मत में तत्त्वमसि-वाक्य में जहल्लक्षणा का सम्भव है। बुद्धिरूपी उपाधि में रहनेवाला चिदाभास और उससे भिन्न बिम्बभूत चेतन दोनों मिलकर जीवशब्द के वाच्य हैं। इस मत में जहदजहल्लक्षणा भी हो सकती है। ३. अज्ञानानुपहित तो शुद्ध ही है। ईश्वर बिम्ब चैतन्यरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप है—यह विवरणकारों का मत है। इसीको 'प्रतिबिम्बवाद' कहते हैं। ४. अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कार इन दोनों में से अन्यतर (किसी एक) से अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। सृष्टिकाल में अज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न होता है और प्रलयकाल में अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न होता है, यह विवेक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चैतन्यं जीवः, अज्ञानानुपहितं[1] तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः। अनयोश्च पक्षयोर्बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्। प्रतिबिम्बस्य च पारमार्थिकत्वाज्जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इममेव च प्रतिबिम्बवादमाचक्षते।

और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव। अज्ञानोपाधिरहित बिम्ब-चैतन्य शुद्ध[2] है—यह संक्षेपशारीरककार का मत है। इन दोनों पक्षों में बुद्धि[3] के भेद से जीव नाना हैं। [4]प्रतिबिम्ब के पारमार्थिक होने से 'तत् त्वम्' आदि पदों में जहदजहती लक्षणा ही है। इसीको प्रतिबिम्बवाद कहते हैं।

अज्ञान[5] का विषय जो चैतन्य है वही ईश्वर है और अज्ञान का आश्रय चैतन्य जीव है—यह वाचस्पति

अन्तःकरण और उसके संस्कार अनेक हैं, इसलिए तादृश उपाधि के भेद से एक ही अज्ञान घटाकाशादि की तरह नाना हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित चेतन भी नाना हो जाते हैं। इस प्रकार एक अविद्यापक्ष में भी नाना जीववाद का समर्थन हो जाता है। १. 'अज्ञानोपहितम्' इत्यन्यत्र पठ्यते। २. 'जीव, ईश्वर इन दोनों में अनुगत साक्षीरूप शुद्ध है' इस संक्षेप-शारीरककार के मत में जीव और ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं, इसलिए यह स्पष्ट ही प्रतिबिम्बवाद है। इस मत में समष्टि अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और व्यष्टि अज्ञान के कार्यभूत अनेक बुद्धियों में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव हैं। ३. बुद्धि अन्तःकरण को कहते हैं। आद्य पक्ष में बुद्धियों के भेद से बुद्धि के संस्कारों का भेद और संस्कारों के भेद से संस्कारावच्छिन्न अज्ञान का भेद और संस्कारावच्छिन्न अज्ञान के भेद से संस्कारावच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद इस प्रकार जीव नाना हैं। अन्त्यपक्ष में तो बुद्धि के भेद से बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद है, इस प्रकार जीव नाना हैं। ४. प्रतिबिम्ब बिम्ब से अन्य नहीं है, यह अभी कहा है, इसलिए प्रतिबिम्ब बिम्बरूप से पारमार्थिक ही है। एवं च 'प्रतिबिम्ब' शब्द का यहाँ अभिप्राय है—प्रतिबिम्ब का वास्तव स्वरूप जो चैतन्य। प्रतिबिम्बत्व से विशिष्ट रूप तो कल्पित ही है। ५. भावरूप अज्ञान के सम्बन्ध से स्वयं (जीव) ही स्व के रूप (ईश्वर) को नहीं जानता। जिसे नहीं जानता, उस रूप से वह ईश्वर है और जो नहीं जानता, उस रूप से वह जीव है। अज्ञान अनादि है, इसलिए यह अवस्था भी अनादि है। अज्ञान नाना हैं, अज्ञान की अपेक्षा अन्य कोई माया नहीं है। अज्ञान ही ईश्वर की उपाधियाँ हैं। वे अज्ञान विषयता-सम्बन्ध से ईश्वर के स्वरूप के अवच्छेदक हैं और आश्रयता सम्बन्ध से जीव के स्वरूप के अवच्छेदक हैं। वस्तुतः सीमित बिना किये सीमित व्यवहार का प्रयोजक बन जाने को 'अवच्छेदक' होना कहते हैं। घड़ा आकाश का अवच्छेदक बनता है अर्थात् आकाश को घड़े में सीमित 'बना' देता है, उससे सीमित आकाश का व्यवहार संभव कर देता है। तथा च, जैसे लोक में तूलाविद्या से उत्पन्न होने वाले रजताभासस्थल में अविद्या की विषयीभूता शुक्ति रजत के उत्पादन में समर्थ नहीं होती, किंतु अविद्या जिसके आश्रित होकर नृत्य करती है, वह जीव ही अविद्या की सहायता से रजत की कल्पना करता है, वैसे ही चेतन ईश्वर भी मूलाज्ञान का विषय होने से जगत् के उत्पादन में समर्थ नहीं है, किंतु जीव ही अपनी-अपनी अविद्या की सहायता से जगत् की कल्पना करते हैं।

कुछ आचार्यों ने व्यवहार की सिद्धि के लिए कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश—इन भेदों से चार चेतनों की कल्पना की है और अन्यों ने व्यवहार की सिद्धि के लिए जीव, ईश, शुद्ध भेद से तीन चेतनों की कल्पना की है, वे कल्पनाएँ भी इस मत में नहीं करनी पड़तीं। किंतु यहाँ जीव और ईश्वर के भेद से चेतन के दो ही भेद हैं। निरुपाधिक शुद्ध ईश्वर एक ही है। जगत् के उत्पादन के लिए शुद्ध चैतन्य से अतिरिक्त मायोपाधिक अन्य ईश्वर की कल्पना करनी होती है। इस मत में जगत् का उत्पादन जीवकृत ही है। तथा च, शुद्ध चिति ही ईशपद से इस मत में कही जाती है और वही (शुद्ध चिति) नाना प्रकार के जीव और उनकी नाना प्रकार की अविद्याएँ और उनके कार्यभूत नाना प्रकार के प्रपञ्च—इन सबकी अधिष्ठानभूता है। इसलिए उपचार से वह जगत्-कारण कही जाती है।

इस मत में चूँकि नाना प्रकार के जीव प्रत्येक प्रपञ्च की कल्पना करनेवाले हैं, इसलिए प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भिन्न-भिन्न है। चैत्र के अज्ञान से कल्पित प्रपञ्च मैत्र के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, क्योंकि चैत्र को 'इदं रजतम्'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवच्छेदवादः

अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्राः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदः, जीवस्यैवाज्ञानोपहिततया

मिश्र का मत है। इस पक्ष में अज्ञानों के नाना होने से जीवों को नाना मानते हैं। प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भी पृथक्-पृथक् है। जीव अज्ञानोपाधि होने से संसार का उपादानकारण है। प्रत्यभिज्ञा अत्यन्त सादृश्य से होती है। प्रपञ्चसहित जीव की उपाधिरूप अविद्या का अधिष्ठान होने से ईश्वर में कारणत्व का उपचार है, यही अवच्छेदवाद[1] है।

ऐसा ज्ञान होने पर चैत्र से भिन्न पुरुषों को उस रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता। कारण, अपने अज्ञान से कल्पित का अपने को ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। जहाँ पर एक ही घट को बहुत-से चैत्रादि देखते हैं—ऐसा अनुभव होता है, वहाँ भी वास्तव में एक घट नहीं, किंतु अनेक घट हैं। एक-एक द्रष्टा एक-एक ही घट को देखता है। 'जो घट चैत्र ने देखा, वही मैत्र ने देखा', इस प्रत्यभिज्ञा का तो 'यह वही ओषधि है' इस प्रत्यभिज्ञा की तरह सजातीयता से उपपादन करना चाहिये। कोई कहते हैं कि जहाँ दस पुरुषों ने एक घट देखा, वहाँ दस द्रष्टाओं के दस अज्ञानों ने मिलकर एक घट उत्पन्न किया है। इस प्रकार उक्त प्रत्यभिज्ञा का उपपादन समीचीन रीति से हो सकता है। इस सन्दर्भ से वार्त्तिककार के मत में आभासवाद, संक्षेपशारीरककार के मत में प्रतिबिम्बवाद और वाचस्पति मिश्र के मत में अवच्छेदवाद है, यह दिखाया गया।

(i) इन पक्षों में कौन सा पक्ष युक्ततर है? (ii) वैसे ही 'माया चाविद्या चैकैवेति' यह माया और अविद्या का अभेदवाद है, 'माया चाविद्या च भिन्नैवेति' यह माया और अविद्या का भेदवाद है, इन दोनों पक्षों में से कौन-सा युक्ततर है? (iii) वैसे ही एक ही अविद्या जीवत्वप्रापक उपाधि है, इस पक्ष में एकजीववाद है, एक ही अविद्या अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न होकर जीव की उपाधि है, इस पक्ष में नाना अविद्यारूप जीव की उपाधि होने से नाना जीववाद है; इन पक्षों में कौन-सा युक्ततर है? (iv) वैसे ही आश्रयता-सम्बन्ध से माया ईश्वर की उपाधि है, इस पक्ष में जगत् ईश्वररचित है और विषयतासम्बन्ध से माया ईश्वर की उपाधि है, इस पक्ष में जीवरचित है; इन पक्षों में कौन-सा युक्ततर है? (v) वैसे ही जगत् जीव-रचित है, इस पक्ष में दृष्टि-सृष्टिवाद है। ईश्वराश्रित माया से जगत् रचित है, इस पक्ष में साधारण सृष्टिवाद है। 'दृष्टि के अनुरोध से सृष्टि होती है' ऐसा जो वाद है उसको दृष्टि-सृष्टिवाद कहते हैं। जैसे स्वप्न में जितना जिसने देखा है, उतना ही वहाँ उत्पन्न हुआ है; और नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अथवा जैसे नैयायिक-मत में दो घड़ों में रहनेवाला द्वित्व जब ज्ञात होता है, उसी समय द्रष्टा की अपेक्षाबुद्धि से दो घड़ों में द्वित्व उत्पन्न होता है। उससे पहले एक घट के समीप अन्य घट की बहुत काल तक स्थिति होने पर भी द्वित्व उत्पन्न नहीं होता। और जैसे जीव में आश्रित तूलाविद्या से रचित प्रातिभासिक रजत जब तक देखा जाता है, तभी तक उसकी रचना होती है, उससे पहले या पीछे नहीं; वैसे ही यह समझना चाहिये, क्योंकि व्यावहारिक वस्तु ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो वह कार्य में समर्थ हुआ करती है, जैसे ज्ञात और अज्ञात अग्नि दाह को उत्पन्न करती ही है। प्रातिभासिक वस्तु तो कदापि अज्ञात होकर कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अज्ञात प्रातिभासिक की सत्ता ही नहीं है तो वह कैसे कार्य करने में समर्थ हो? ज्ञान-काल ही में उसकी सत्ता है। यही दृष्टि-सृष्टिवाद का बीज है। दृष्ट अथवा अदृष्ट सब वस्तु अपनी-अपनी कारण-सामग्री से उत्पन्न होती हैं। दर्शनकाल ही में उत्पन्न होती हैं, यह नहीं। उनका दर्शन यदा-कदा हो सकता है, ऐसा जो वाद है, उसको 'साधराण सृष्टिवाद' कहते हैं। इनमें कौन युक्ततर है?—ये पाँचों तथा ऐसे अन्य भी प्रश्न वेदांत दर्शन में कोई मायने नहीं रखते। जिस भी प्रक्रिया से अद्वैत प्रत्यगात्मा समझ आ जाये वह युक्त है यह संमत है। प्रक्रियायें तो सभी व्यावहारिक ही हैं। उनकी युक्तता इसीसे है कि वे सत्य को समझाती हैं। अतः विभिन्न अधिकारियों के लिये कारगर ये सभी प्रक्रियायें साम्प्रदायिकों में आदरणीय होने से युक्तियुक्त ही हैं। १. पूर्ण चिद्धातु हर उपाधि में मिथ्या वास कर ले, बिना उपाधि के भी पूर्ण बना रहे—यह अवच्छेद का अर्थ है। इस प्रकार अभिप्रायतः यह प्रतिबिम्बवाद से पृथक् नहीं है। अतः माण्डूक्यटीका में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने (३.३) कहा है 'उदाहरणे शब्दभेद एव, नार्थभेदः।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चातिसादृश्यात्। ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः।

एकजीववादः, दृष्टिसृष्टिवादः

अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा;

अज्ञान[1] से उपहित बिम्ब-चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। अथवा अज्ञानोपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है। अज्ञानोपहित चैतन्य जीव है। यही मुख्य वेदान्त का सिद्धान्त है। यही 'एकजीववाद' कहलाता है। इसीको 'दृष्टि-सृष्टिवाद' कहते हैं। इस पक्ष में जीव ही अपने आवरक अज्ञान से जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण भी है। सब दृश्य पदार्थ प्रातिभासिक हैं और देह के भेद से जीव के भेद का भ्रम होता है।

---

१. भाव यह है कि जैसे आकाश चार प्रकार का है—मूलभूत निरुपाधिक महाकाश एक, जल आदि उपाधि से सन्निहित सोपाधिक द्वितीय, जलान्तर्गत जलादि से अवच्छिन्न तृतीय और जल में प्रतिबिम्बित चतुर्थ; वैसे ही चैतन्य भी चार प्रकार का है—मूलभूत निरुपाधिक चैतन्य एक, अविद्योपाधियुक्तु सोपाधिक द्वितीय, अविद्यावच्छिन्न अविद्यान्तर्गत तृतीय और अविद्याप्रतिबिम्बित चतुर्थ। इस 'प्रतिबिम्बवाद' में इनमें से चतुर्थ जीव का स्वरूप है और द्वितीय ईश्वर का स्वरूप है। तृतीय ईश्वर का स्वरूप है, यह कल्पना तो कर नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर जीवों का नियन्ता है और प्रतिबिम्ब बिम्ब के अधीन होता है। इसलिए उपाधि से बहिर्भूत बिम्ब-चैतन्य ही उसका नियामक हो सकता है, उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य नहीं। 'अवच्छेदवाद' में उक्त चार भेदों में से तृतीय जीवस्वरूप है और प्रथम ईश्वरस्वरूप। इस मत में द्वितीय ईश्वरस्वरूप है, यह कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि वह उपाधि के बहिर्भूत होने से उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य के प्रति नियामक नहीं हो सकता। उपाधि के अन्तर्गत चैतन्यस्वरूप जीव का नियामक तो सर्वव्यापक शुद्ध चैतन्य ही है। इस प्रकार 'प्रतिबिम्बवाद' और 'अवच्छेदवाद' की रीति से दोनों प्रकारों से जीव-ईश्वर का स्वरूप यहाँ सिद्धान्तित है, इसलिए आचार्य ने उन्हीं का निर्देश किया है।

आभासवाद का तो यहाँ उल्लेख ही नहीं है। इसका कारण यह है कि आभासवाद में उपाधिविशिष्ट चिदाभास ही जीव है। उनमें उपाधि अंश और आभास अंश दोनों ही मिथ्या हैं। इसलिए मोक्ष में जीव के स्वरूप का विनाश है, यह जानकर किसी पुरुष की प्रवृत्ति न होगी। यद्यपि शुद्ध चैतन्य मोक्ष का भागी शेष रह ही जाता है, परन्तु उससे क्या! उसका तो जीव-शब्द की वाच्यकोटि में प्रवेश ही नहीं है। और जो 'अयमेव हि नोऽनर्थो यत् संसार्यात्मदर्शनम्' (यही हमारे लिए अनर्थ है जो संसारी आत्मा का दर्शन है) इस वार्तिक में कहा हुआ संसारी आत्मा का दर्शन है, वह शुद्ध चैतन्य को होता है, अथवा चिदाभास को? आद्य पक्ष में जीव बद्ध नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा का दर्शनरूप बन्ध चिदाभासरूप जीव में है नहीं। द्वितीय पक्ष में चिदाभास मुक्त नहीं है। इसलिए बन्ध-मोक्ष का वैयधिकरण्य तदवस्थ ही रहता है। माया और अविद्या दोनों एक ही हैं, क्योंकि इसमें लाघव है। यह सब कल्पना व्यवहारसिद्धि के लिए है और व्यवहार माया अविद्या के अभेद में भी सिद्ध हो जाता है। जब माया और अविद्या का अभेद सिद्ध हो गया, तो अविद्या भी एक ही सिद्ध होती है। वह एक अविद्या स्वरूप से ही जीवत्वप्रापक उपाधि है, इसलिए जीव भी एक ही है। जीव-भेद की जो प्रतीति होती है, वह देह-भेदमूलक भ्रम है। सुख-दुःखादि की उपलब्धि का भेद तो अन्तःकरणों के भेद से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कर्तृत्व, भोक्तृत्वप्रापक उपाधि अन्तःकरण ही है। अन्तःकरण नाना हैं। इसलिए एक जीववाद में सब शरीरों में क्रियासाम्य और भोगसाम्य की आपत्ति नहीं आ सकती।

शङ्का—यदि माया और अविद्या एक ही हैं, तो वही जीवत्वप्रापक उपाधि है और वही ईशत्वप्रापक उपाधि; क्योंकि दूसरी कोई उपाधि है नहीं। ऐसी दशा में उपाधि की एकता होने पर जीव और ईश्वर का भेद कैसे?

उत्तर—यद्यपि दोनों की एक ही उपाधि है, तथापि वह एक ही प्रकार से दोनों की उपाधि नहीं है। किंतु विषयता-सम्बन्ध से ईश्वर की उपाधि और आश्रयता-सम्बन्ध से जीव की उपाधि है। ईश्वर केवल अविद्या का विषय ही है, आश्रय नहीं। अविद्या का आश्रय तो जीव ही है। अविद्या का आश्रय न होने से ईश्वर जगत् की रचना नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः एकजीववादाख्यः[1]। इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते। अस्मिंश्च पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशाज्जगदुपादानं निमित्तं च। दृश्यं च सर्वं प्रातीतिकम्। देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः। एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः। शुकादीनां

एक[2] ही जीव का, अपने से कल्पित गुरु और शास्त्रों द्वारा श्रवण-मनन की दृढता से आत्मसाक्षात्कार होने पर, मोक्ष होता है। 'शुकदेवजी का मोक्ष हुआ', ऐसा कहना अर्थवाद है। महावाक्य[3] में स्थित 'तत्' पद भी अनन्त, सत्य आदि पदों के समान अज्ञान से अनुपहित चैतन्य का लक्षणा से बोध कराता है, इत्यादि अवान्तर-

---

करता। किंतु स्वाप्निक गज, रथादि की तरह जीव की स्वाश्रित अविद्या से जगत् की कल्पना करता है। तथा च इस मत में अर्थात् ही दृष्टि-सृष्टिवाद फलित होता है। इसलिए सब दृश्य पदार्थ प्रातिभासिक ही हैं, यह सिद्धान्तरहस्य है। आठवें श्लोक की व्याख्याका प्रारंभिक अंश भी इस सन्दर्भ में अनुसन्धेय है।

१. प्रारंभिक साधक भेदाग्रही होता है अतः शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर, जीव परस्पर विलक्षण हैं और जीव असंख्य हैं यह वार्तिकानुसारी प्रक्रिया से आरंभ करना सरल रहता है। एवं च आभासवाद श्रवणप्रधान है। किंचित् प्रबुद्ध साधक समझता है—शुद्ध ब्रह्म से तो मैं अभिन्न हूँ पर सर्वज्ञ जगत्कारण तो मुझसे विलक्षण ही है। इस अवस्था में संक्षेपशारीरककार के अनुसार विचार संगत होता है। जब ईश्वर से भी अपना अभेद अयुक्त न लगे तब विवरणकार के मतानुसार चिंतन सहज होता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद मननप्रधान है। जगत् के मिथ्यात्व की स्फुटता के लिये सारा दृश्य केवल प्रातीतिक है यह उपपन्न करने वाला वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद उपयोगी बन जाता है क्योंकि प्रत्यक्षादिकी भी व्यवस्था के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता, अन्य जीव और ईश्वर भी केवल शास्त्र की संगति के लिये स्वीकारे जाते हैं। यह पक्ष निदिध्यासनप्रधान है। जब साधक सब तरह से विरक्त हो भेद से वितृष्णा वाला बनकर द्वितीयमात्र की भी व्यवस्था में चित्त नहीं लगाता, अद्वैत में ही निष्ठा के लिये उन्मुख होता है तब प्रकृत एकजीववाद सन्तोषप्रद बन जाता है। यह निष्ठाप्रधान प्रक्रिया है। मुख्याधिकारी के लिये उपयोगी होने से यह मुख्य सिद्धान्त कहा गया है। कल्पना-न्यूनता अर्थात् अतिशय लाघव होने से भी प्रक्रिया दृष्टि से इसकी मुख्यता है। यों अधिकारी के भेद से सभी वाद सुसंगत हैं। मुख्य कहना अन्य प्रक्रियाओं की गौणता बताने के लिये नहीं है। अतः यहाँ सिद्धान्तशब्द प्रक्रियापरक है यह समझना चाहिये। २. 'एकजीववाद' में दो कल्प हैं—क्या एक ही जीव सब शरीरों में स्थित है, अथवा किसी एक शरीर में स्थित है? प्रथम कल्प तो युक्त नहीं, क्योंकि दूसरे शरीर में होने वाले सुखादि का दूसरे शरीर में अनुसंधान का प्रसङ्ग हो जायगा। शरीर-भेद अननुसंधान का नियामक है, यह कल्पना तो कर नहीं सकते, क्योंकि कायव्यूह में शरीरान्तरस्थ सुखादिकों का शरीरान्तर में योगी को अनुसंधान होता ही है। इसलिए अन्त्य कल्प ही युक्त है। यद्यपि इस कल्प में अमुक शरीर में जीव स्थित है—यह निश्चय नहीं हो सकता, तथापि किसी एक में स्थित है, यह निश्चय तो हो ही सकता है। बस, जिसमें स्थित है, वही जीव मुख्य है। अन्य सब देवदत्त आदि मिथ्याभूत जीवाभास उससे कल्पित हैं, इसलिए सभी मिथ्या ही हैं। जैसे नाना-जीववाद में भी यज्ञदत्त से स्वप्न में कल्पित देवदत्त आदि मिथ्या होते हैं, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। गुरु-शिष्य-भाव और श्रवण-मनन आदि सब उस एकशरीरस्थ जीव से कल्पित हैं। जब कभी आत्मसाक्षात्कार से मोक्ष होगा, तो उसी एक का होगा, और किसी का नहीं; क्योंकि और जीव ही नहीं हैं। ऐसी दशा में 'अनेक शुक, वामदेवादि मुक्त हो गये' यह कहना विधेय श्रवणादि का अर्थवाद है। यदि शुकदेव की मुक्ति मान ली जाय, तो इस काल में जगत् का दर्शन ही न हो। इसलिए एकजीववाद में एक शुक की मुक्ति होने से सबकी मुक्ति का प्रसङ्ग है ही। यह एक मुख्य जीव जिस शरीर में स्थित है तथा अन्य सब शरीर और उनमें रहने वाले सब अन्तःकरणादिक भी व्यावहारिक सत्य ही हैं। परन्तु अन्य शरीरों में सब जीव प्रातिभासिक (मिथ्याभूत) हैं, यह समझना चाहिये। ३. शङ्का—'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद पूर्वप्रकरण में स्थित जगत्-कारण का परामर्शक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मोक्षश्रवणं चार्थवादः। महावाक्ये च तत्पदमनन्तसत्यादिपदवदज्ञानानुपहितचैतन्यस्य लक्षणया उपस्थापकमित्याद्या अवान्तरभेदाः स्वयमूहनीयाः।

प्रक्रियाभेदोपपादनम्

ननु वस्तुनि विकल्पासम्भवात् कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यम्? तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेत्? क एवमाह—वस्तुनि विकल्पो न सम्भवतीति, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वा' इत्यादिविकल्पस्य वस्तुन्यपि दर्शनात्! अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवा, इयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति चेत्? नूनमतिमेधावी भवान्!! अद्वितीयात्मतत्त्वं हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य। जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवा अपि शास्त्रेणानूद्यन्ते, तत्त्वज्ञानोपयोगित्वात्। 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'ति न्यायाद्। भ्रमसिद्धस्यापि श्रुत्याऽनुवादसम्भवात्।

भेदों को स्वयं[1] जान लेना चाहिये।

वस्तु[2] में तो विकल्प हो ही नहीं सकता, इसलिए परस्पर विरुद्ध मतों में प्रामाणिकता कैसे ज्ञात होगी? इसलिए यहाँ पर किसका ग्रहण करना चाहिये? यह यदि कहो, तो पहले बताओ कि कौन कहता है कि वस्तु में विकल्प नहीं होता? स्थाणु है या पुरुष या राक्षस है? इत्यादि विकल्प वस्तु में भी देखा जाता है।

शङ्का—वह कल्पना तात्त्विक नहीं, किन्तु पुरुष की बुद्धिमात्र से पैदा हुई है। यह जीव-ईश्वर के विभाग की व्यवस्था तो शास्त्रीय[3] है। समाधान—निश्चय[4], आप बड़े बुद्धिमान् हैं! अद्वितीय आत्मतत्त्व फलवाला होने से शास्त्र का प्रधान विषय है और अज्ञात होने से वही (अद्वितीय आत्मतत्त्व) शास्त्र का प्रमेय है। जीव और ईश्वर के विभाग की कल्पना यद्यपि पुरुषों की बुद्धि से उत्पन्न हुई है, तथापि शास्त्र उसका अनुवाद करता

है। यदि वह जगत्-कारण जीव है, तो उसका 'त्वं' पद के वाच्य सम्बोध्य (श्वेतकेतु) जीव में अभेदान्वय का सम्भव है। फिर क्या यह महावाक्य ब्रह्म-प्रतिपादक न होगा? इसके उत्तर में कहते हैं—'महावाक्ये च' इति। उद्दालक श्वेतकेतु के प्रति आत्मतत्त्व का उपदेश करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। तथा च, प्रकरण के अनुरोध से यह श्रुति ब्रह्मपरक है, ऐसा निश्चय होने पर तात्पर्य की अनुपपत्ति से 'तत्' पद और 'त्वं' पद इन दोनों की निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य में लक्षणा स्वीकार है, इसलिए श्रुति का तात्पर्य उपपन्न होता है। १. क्योंकि यह पक्ष सर्वोत्कृष्ट साधक के समझने का है इसलिये अपनी मति के उपशम के लिये यथावश्यक संगति लगा लेनी चाहिये, इसे भी अन्य प्रक्रियाओं की तरह विविध मान्यताओं से बोझिल बनाकर व्यवस्था-निर्माण में उलझ नहीं जाना चाहिये। २. सिद्ध वस्तु का एक ही प्रकार का स्वरूप हुआ करता है। उसमें 'वस्तु ऐसी है या वैसी' यह कथन सम्भव नहीं। यदि ऐसा कहें, तो एक ही कथन का प्रामाण्य होगा, अन्य सब कथन अप्रमाण होंगे। ऐसी दशा में परस्पर विरुद्ध जीवस्वरूप के प्रतिपादक वार्तिककार, संक्षेपशारीरककार, वाचस्पति मिश्र इनमें से कोई एक ही यथार्थ वक्ता हो सकता है। उस एक का मत उपादेय और अन्यों का त्याज्य होना चाहिये, यह आशय है। ३. शास्त्र तत्त्वावेदक है, इसलिए जीवेश्वरस्वरूप के विभाग की शास्त्रोक्त-व्यवस्था मुमुक्षुओं को प्रमाण माननी चाहिये, यह आशय है। सोपहास दूषित करते हैं—'नूनम्' इस ग्रन्थ से। ४. शास्त्र में जिन-जिन विषयों का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें से एक ही मुख्य होता है, और सब उसके साक्षात्कार के उपयोगी हुआ करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रमाणम्

एतेन द्वैतज्ञानेनाद्वैतज्ञानस्य बाधो निरस्तः, घटादिद्वैतनिश्चयस्याप्यद्वैतसन्मात्रांशेऽज्ञाते प्रामाण्याभ्युपगमाच्च। ज्ञानाज्ञानयोः समानाश्रयविषयत्वनियमात्। जडे च

है, क्योंकि वह तत्त्वज्ञान में उपयोगी है। 'फलवान् की सन्निधि में फलरहित प्रधान का अङ्ग हो जाता है' इस न्याय से भ्रम[1] से सिद्ध जीव-ईश्वर-विभाग का श्रुति से अनुवाद हो सकता है।

इससे[2] द्वैतज्ञान से अद्वैतज्ञान के बाध का निराकरण हो गया। घटादि[3] द्वैतज्ञान भी अज्ञात अद्वैत सन्मात्र अंश में प्रमाण है, ऐसा स्वीकार किया है। ज्ञान और अज्ञान इन दोनों के आश्रय और विषय एक हुआ करता है। अचेतन पाषाण आदि अज्ञान के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का समान आश्रय हुआ करता है, यह नियम है। इसी तरह जो अज्ञान का विषय है, वही ज्ञान का विषय है, यह नियम है। घट अज्ञान का विषय नहीं, इसलिए वह ज्ञान का भी विषय नहीं। अतः घट-अंश ज्ञात नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

शङ्का—'घटं न जानामि' (मैं घट को नहीं जानता) इस प्रकार घट में अज्ञान-विषयता की प्रतीति होती है।

उत्तर—घट के अधिष्ठान चेतन के ही अज्ञान से 'घटमहं न जानामि' इस व्यवहार की सिद्धि हो सकती है। इसलिए अतिरिक्त घटविषयक अज्ञान की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। गौरव भी है, चित्-अंश के अज्ञान के प्रयोजन की अपेक्षा स्वतन्त्ररूप से घटविषयक अज्ञान का कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः चेतन-अंश ही अज्ञात है। चेतन अंश की ज्ञापकता ही से 'घटोऽस्ति' इस ज्ञान को प्रामाण्य है, घट-अंश की ज्ञापकता से नहीं। घट-अंश तो अज्ञान का विषय ही नहीं है। अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण हुआ करता है। अन्यथा ज्ञातज्ञापक स्मृति में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग हो जायगा।

शास्त्र में अद्वितीय आत्मतत्त्व का ज्ञान मोक्ष का साधन कहा गया है। वही मुख्य प्रमेय है। आत्मतत्त्व का ज्ञान जिस-जिस मार्ग से सुलभ हो सकता है, वैसे अनेक मार्ग ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना करके दिखाये हैं। कल्पित वस्तु कभी सत्य भी हुआ करती है, इसलिए ग्रन्थकारों द्वारा प्रदर्शित मार्गों में कोई एक 'मार्ग' सत्य नहीं हो सकता है तो परस्पर विरुद्ध अनेक मार्गों के सत्य होने में सम्भावना की गंध भी कहाँ है ? सत्य तो प्रतिपाद्य अखण्ड चिन्मात्र ही है। मुख्य प्रमेय के ज्ञान के उपकारक सभी मार्ग हो सकते हैं, इसलिए अप्रामाण्य की शङ्का का अवकाश नहीं है। गन्तव्य तक पहुँचाये यही मार्ग की सत्यता कहो तो उक्त सभी मार्ग सत्य हैं। जैसे श्रुति में भी कोई अर्थवादवाक्य सर्वथा अविद्यमान अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ भी विधिप्ररोचनरूप मुख्य कार्य को सिद्ध करता ही है, एतावता अर्थवाद-वाक्य में अप्रामाण्य नहीं होता, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। १. यदि ये सब मार्ग असत्य ही हैं, तो 'रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुतियों में उसका कथन क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं—'भ्रमसिद्धस्यापि' से। जैसे असत्य स्वप्न-प्रपञ्च का श्रुति अनुवाद करती है, वैसे ही असत्य व्यावहारिक प्रपञ्च का भी वह अनुवाद ही करती है। २. जीवेश्वर-विभागरूप द्वैतप्रपञ्च की प्रतीति के मूलभूत अज्ञान के सिद्ध करने से उक्त रीति से अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान ही परम पुरुषार्थ का साधन है। अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान ही फलवान् होने से और अज्ञानविषयक होने से सबसे बलवान् प्रमाण है। द्वैतज्ञान प्रमाण नहीं, क्योंकि वह अध्यासमूलक होने से दुर्बल है। अद्वैत के बारे में सभी प्रकार के संभावित बाधों का उद्धार ग्रंथकार ने 'अद्वैतसिद्धि' में अतिविस्तार से किया है। ३. विरोध होने पर बलवान् से बाधित दुर्बल में अप्रमाणिकता हुआ करती है। यहाँ तो विरोध ही नहीं है, क्योंकि 'घटोऽस्ति' यहाँ घट-अंश और सत्-अंश प्रतीत होते हैं। उनमें से सत्-अंश के साथ तो अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान का विरोध नहीं है, क्योंकि स्व के साथ स्व का विरोध नहीं हुआ करता। अद्वितीय आत्मतत्त्व ही तो सत् अंश है। ऐसी दशा में विरोध का अभाव होने से घटज्ञान सत्-अंश में प्रमाण ही है। घट-अंश के साथ भी उसका विरोध नहीं है, क्योंकि घट-अंश ज्ञात ही नहीं है, उसके साथ विरोध कैसे? 'घटः प्रकाशते' यह व्यवहार तो घट के अधिष्ठान चेतन-अंश के अभिप्राय से है और यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा जो घट स्वरूप से जड एवं प्रकाश के विरुद्ध स्वभाववाला है, वह स्वरूपतः कैसे प्रकाशित हो सकता है? इसलिए घट के अधिष्ठान चेतन ही का घटरूप से प्रकाश होता है, उस प्रकाश का घट में आरोप करके 'घटः प्रकाशते' यह व्यपदेश गौण ही है। किं च, जो अज्ञान का आश्रय हुआ करता है, वही ज्ञान का आश्रय हुआ करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

प्रमाणप्रयोजकाभावेन[1] अज्ञानानङ्गीकारात्। सर्वप्रमाणानां चाज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्यात्[2]। तदवच्छिन्नचैतन्याज्ञानादेव तत्राप्यज्ञानव्यवहारोपपत्तेः। प्रामाण्यस्य चाज्ञातज्ञापकरूपत्वात्। [2]अन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तिरिति।

विरोधपरिहारन्यायः

एवं वेदान्तेषु सर्वत्रैवंविधे विरोधेऽयमेव परिहारः। तदाहुर्वार्त्तिककारपादाः (बृ.१.४.४०२)

'यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।

सा सैव प्रक्रिया[3] ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता।।'—इति।

श्रुतितात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं च हेयमेवेति शतश उद्घोषितमस्माभिः। तस्मान्न किञ्चिदेतत्। तदेवं जीवस्योपाधिनाऽभिभूतत्वात् संसारोपलब्धिः। परमेश्वरस्य तु उपाधिवशित्वात् सर्वज्ञत्वादिकमिति सम्यगुपपद्यते व्यवस्था।

करते हैं, यह नियम है। प्रमाण और प्रयोजन का अभाव होने से जड में अज्ञान अङ्गीकार नहीं है। सब प्रमाणों का अज्ञातज्ञापक होने के कारण ही प्रामाण्य है। तत्-तत् विषयावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान से तत्-तत् विषयों में अज्ञानव्यवहार की उपपत्ति हो जायगी। अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रामाण्य का स्वरूप है। अन्यथा (ज्ञातज्ञापक को प्रमाण मानने पर) स्मृति को भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

इस[4] प्रकार वेदान्त में सब जगह ऐसे विरोध होने पर यही परिहार है। वार्तिककारपादों ने भी कहा है—'जिस-जिस प्रक्रिया से पुरुष को प्रत्यगात्मा में व्युत्पत्ति हो, वही प्रक्रिया साध्वी समझनी चाहिये। वह अनवस्थित है।'[5] श्रुतितात्पर्य-विषयीभूत अर्थ से विरुद्ध अर्थ का त्याग कर देना चाहिये, यह बात हमने सैकड़ों बार उद्घोषपूर्वक कही है। अद्वितीय आत्मा में ही सब प्रमाणों के समन्वय का समर्थन होने से कुछ असमंजस नहीं है। इस प्रकार जीव को, उपाधि से अभिभूत होने से, संसार की उपलब्धि होती है। उपाधि परमेश्वर के वश में है, अतः परमेश्वर में सर्वज्ञत्वादि है। इससे व्यवस्था ठीक बन गयी।

१.'...प्रयोजनाऽभावेन अज्ञानाऽनभ्युपगमात्, तदवच्छिन्नचैतन्याऽज्ञानादेव तत्राऽपि अज्ञानव्यवहारोपपत्तेः। सर्व ...' इति म.अ.सं. पाठः। २. '...प्रामाण्यात्। अन्यथा...' इति म. अनु. सं. पाठः। ३. 'सा सैव प्रक्रियेह स्याद्' इति प्रसिद्धः पाठः। ४. जीवादि के स्वरूप के विषय में अनेक निबन्धकारों द्वारा कल्पित आभास आदि वाद परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि अद्वितीय आत्मतत्त्वरूप मुख्य प्रयोजन के ज्ञान की साधनता सब वादों में तुल्य ही है। उसीके लिए उनकी कल्पना है। तथा च, मुख्य प्रमेय के ज्ञान के उपकारक होने से सबका अविरोध है, इसलिए वे सभी ग्राह्य हैं। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य जीवात्मा और परमात्मा की एकता का बोधक है, यह सभी अद्वैतवादियों ने अङ्गीकार किया है। वार्तिककार के अनुयायियों ने जहल्लक्षणा से उसकी सिद्धि की है। संक्षेपशारीरक और वाचस्पति मिश्र के अनुयायियों ने जहदजहल्लक्षणा से एकता का उपपादन किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने लक्षणा के बिना ही उसका समर्थन किया है। इस प्रकार आपाततः प्रारम्भ में विरोध प्रतीत होने पर भी अन्त में ऐक्य-प्रतिपादन में अविरोध ही है। ५. अनिश्चित है। फिर भी तो कोई हानि नहीं, क्योंकि मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ के विरुद्ध नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिकर्मव्यवस्था

ननु भवत्वविद्यावशात् जीवेश्वरविभागव्यवस्था। मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था तु कथमिति चेत्? उच्यते। दृश्यत्वाज्जडत्वाद्विनाशित्वाच्च परिच्छिन्नाऽप्यविद्या अनिर्वचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति, अङ्गुलिरिव नयनपुरःस्थिता सूर्यमण्डलम्। तत्र चक्षुष एवाऽऽवरणेऽङ्गुलेरप्यभानप्रसङ्गात्, अधिष्ठानावरणमन्तरेण विक्षेपानुपपत्तेश्च। ततश्च सा पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता सती निखिलजगदाकारेण परिणमते। सा च स्वगतचिदाभासद्वारा चित्तादात्म्यापन्नेति तत्कार्यमपि सर्वमाभासद्वारा चिदनुस्यूतमेव।

शङ्का—अविद्या के वश से जीव और ईश्वर-विभाग की व्यवस्था भले ही हो जाय, पर प्रमाण[1], प्रमेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था कैसे होगी? समाधान—इस विषय में कहा जाता है। दृश्य[2] होने से, जड होने से, विनाशी होने से परिच्छिन्न और अनिर्वचनीय होने के कारण विचार को सहन न करती हुई, आवरण और विक्षेप दो शक्तिवाली अविद्या सर्वगत चिदात्मा का आवरण कर लेती है, नेत्र के सामने रखी हुई अंगुलि[3] जैसे सूर्यमण्डल का आवरण कर लेती है। वहाँ पर नेत्र के आवृत होने पर अंगुलि का भी अभानप्रसङ्ग होता है। अधिष्ठान[4] के आवरण के बिना विक्षेप की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए[5] वह अविद्या पूर्व-पूर्व संस्कार से जीव

---

१. सब कालों में सब पुरुषों को सब पदार्थ ज्ञात नहीं होते, किन्तु किसी काल में किसी पुरुष को कोई ही पदार्थ ज्ञात होता है। इस व्यवस्था को 'मानमेयादि-प्रतिकर्म-व्यवस्था' कहते हैं। यहाँ 'कर्म' शब्द ज्ञान के विषय का बोधक है। प्रत्येक विषय के लिये होने वाले ज्ञानादि के साधनों की व्यवस्था प्रतिकर्मव्यवस्था कही जाती है। यह व्यवस्था ईश्वर में नहीं है, क्योंकि ईश्वर को सदा ही सब पदार्थों का ज्ञान बना रहता है। इसलिए उक्त व्यवस्था जीव ही में है। उसमें उपपत्ति दिखाते हैं—'दृश्यत्वात्' इत्यादि ग्रंथ से। २. दृश्य द्रष्टा की अपेक्षा से अन्य है, इसलिए उसमें वस्तु-परिच्छेद है। जड चेतन में कल्पित है, इसलिए चित् का अव्यापक होने से उसमें देशपरिच्छेद है। विनाशी है, इसलिए कालपरिच्छेद है। इस प्रकार दृश्या, जडा, और विनाशिनी अविद्या त्रिविध परिच्छेद से युक्त है। अविद्या स्वयं अनादि है और चिदात्मा के साथ उसका सम्बन्ध भी अनादि है। उसका चिदात्मा के साथ पूर्णतः सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जैसे अल्प भी घट महाकाश के किसी भाग से संयुक्त होता है, वैसे ही यह अविद्या आत्मा के किसी भाग से संयुक्त है। ज्ञान से इसका बाध होता है, इसलिए यह सत् ही नहीं है। 'अहमज्ञः' इस प्रतीति से इसकी सिद्धि होती है, इसलिए असत् भी नहीं। अतएव वह सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीया है। अनिर्वचनीयत्व ही इसका स्वरूप है, इसलिए 'ऐसी है या वैसी' इस विचार का उसमें अवकाश नहीं है। अतः 'साऽध्यस्ताऽनध्यस्ता वा' यह प्रागुक्त विकल्प निरस्त हो गया। इस अविद्या की कार्य के अनुसार आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति इन दो शक्तियों की कल्पना की जाती है। उनमें आवरण-शक्ति से वह अखण्ड परमानन्द साक्षात्कारस्वरूप चिदात्मा का आवरण करती है—इसीलिए यह आत्मा स्वयंप्रकाशरूप होता हुआ भी स्वयंप्रकाशरूप से प्रतीत नहीं होता—और विक्षेपशक्ति से आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। ३. शङ्का हो कि जब अविद्या आत्मा के किसी एकदेश में स्थित है; तो वह सर्वव्यापक चिदात्मा का आवरण कैसे कर सकती है? इसका दृष्टांत द्वारा उत्तर देते हैं—'अङ्गुलिरिव' इत्यादि ग्रन्थ से। अङ्गुलि सूर्यमण्डल का ही आवरण करती है, चक्षुरिन्द्रिय का नहीं, इसमें प्रमाण देते हैं। चक्षुरिन्द्रिय का आवरण होने पर अङ्गुलि का दर्शन नहीं हो सकता, इसलिए अङ्गुलि सूर्यमण्डल का ही आवरण करती है, यह कल्पना करनी चाहिये। ४. जैसे शुक्ति में रजताध्यासस्थल में यदि शुक्ति-अंश अनावृत हो, तो रजताध्यास नहीं हो सकता, वैसे ही यदि चिदात्मा अनावृत हो, तो प्रपञ्चाध्यास नहीं हो सकता। इसलिए प्रपञ्चाध्यास की अन्यथानुपपत्ति द्वारा अविद्या से चिदात्मा आवृत है, यह निश्चित होता है। ५. अविद्या का स्वगत चिदाभास के साथ तादात्म्य है। चिदाभास मुख्य चिति से अतिरिक्त नहीं है। इसलिए चिदाभास का मुख्य चित् के साथ तादात्म्य है। अतः अर्थात् सिद्ध हुआ कि अविद्या चित्तादात्म्य से युक्त है। अतः अविद्यो-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

तथा च चैतन्यस्य दीपवत्स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वात् जगदुपादानचैतन्यं प्रमाणापेक्षामन्तरेणैव सर्वदा सर्वं भासयत्सर्वज्ञं भवति। तेन तत्र न मानमेयादिव्यवस्था; किन्तु जीवे, तस्य बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वात्। तेन चिदभिव्यक्तियोग्येन येनान्तःकरणेन यदा यत्सम्बद्धं भवति तदेव तदा तदवच्छिन्नो जीवोऽनुभवतीति न साङ्कर्यप्रसङ्गः।

के कर्मों से प्रयुक्त होती हुई, समस्त संसार के आकार में परिणत हो जाती है। वह (अविद्या) अपने में रहने वाले चिदाभास द्वारा चेतन के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त हुई है, अतः उसका समस्त कार्य आभास के द्वारा चेतन से अनुगत ही है।

क्योंकि चैतन्य दीपक की तरह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थों का प्रकाशक हुआ करता है इसलिए जगत् का उपादान चैतन्य ईश्वर प्रमाण की अपेक्षा के बिना ही सर्वदा सबका भान करता हुआ सर्वज्ञ होता है। अतएव उसमें प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था नहीं है, किन्तु जीव में है। क्योंकि जीव बुद्धि से अवच्छिन्न होने के कारण परिच्छिन्न[1] है। इसलिए चैतन्य की अभिव्यक्ति के योग्य जिस अन्तःकरण के साथ जीव का जिस काल में सम्बन्ध होता है, उस काल में उस अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीव ही अनुभव करता है, अतः साङ्कर्य नहीं हुआ।

पादानक यह सारा प्रपञ्च चित्तादात्म्य से युक्त ही है। चित् ही ईश पद का वाच्य है। ईश्वर दीपक की तरह स्व-सम्बद्ध सब पदार्थों का प्रकाशक है। स्वभावसिद्ध अर्थ में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती, इसलिए ईश्वर का ज्ञान कादाचित्क नहीं है; किंतु सर्वदा बना रहता है। इसी कारण ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव का तो विषय के साथ सम्बन्ध है नहीं, क्योंकि विषय जीव में कल्पित नहीं है। अध्यास ही सम्बन्ध है, बाह्य विषय ईश्वर में अध्यस्त है; इसलिए ईश्वर का ही उनके साथ अध्यास-सम्बन्ध है। जीव को तो विषय के साथ सम्बन्ध और विषय के आवरण-भङ्ग के लिए अन्तःकरण-वृत्ति की अपेक्षा है, पर व्यापक होने से ईश्वर का विषय के साथ सदा सम्बन्ध है और अविद्या ईश्वर के वश में है, इसलिए ईश्वर की दृष्टि से विषय पर आवरण नहीं है। जैसे चक्षु के तैजस होते हुए भी मनुष्य की दृष्टि में अन्धकार के निवारण की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए अन्धकार विषय को आवृत कर लेता है। बिल्ली की दृष्टि से तो अन्धकार से विषय का आवरण नहीं होता; वैसे ही ईश्वर की दृष्टि से विषय में आवरण नहीं है। इसलिए निरपेक्ष होने से ईश्वर को सदा सब वस्तुओं का ज्ञान बना रहता है।

१. परिच्छिन्न होने से असन्निकृष्ट वस्तुओं के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वह सर्वज्ञ नहीं। सन्निकृष्ट वस्तुओं के साथ भी जीव का सम्बन्ध अन्तःकरण द्वारा ही होता है, इसीलिए सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण की वृत्ति का अभाव होने से ज्ञान नहीं होता। तथाच जीव-ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन है। वह सदा कैसे हो सकता है? शङ्का—अन्तःकरण जीव की उपाधि है, इस पक्ष में तो वह कथन ठीक है। किन्तु जिस पक्ष में अविद्या जीव की उपाधि है, उस पक्ष में सभी आविद्यिक वस्तुओं के साथ जीव का नित्य सम्बन्ध है ही। उस पक्ष में जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये। उत्तर—अविद्या और माया भिन्न-भिन्न हैं। इस पक्ष में मायोपाधिक ईश्वर जगत् की रचना करता है। माया और अविद्या के अभेद पक्ष में भी विक्षेप-शक्ति-प्रधान अविद्या ईश्वर की और आवरण-शक्ति-प्रधान जीव की उपाधि है। इसलिए इस पक्ष में भी ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा है, ईश्वर स्वयं अधिष्ठान होकर माया को भूत-भौतिक सृष्टि के आकार में परिणत करता है, यह तात्पर्य है। इन दोनों पक्षों में अविद्योपहित जीव सर्वव्यापक होता हुआ भी जगत् का अधिष्ठान न होने से असङ्ग है। भूत-भौतिक वस्तुओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे आम के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लौकिकज्ञानप्रक्रिया

एवमत्र प्रक्रिया—शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मभूतारब्धोऽन्तःकरणाख्योऽविद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत्। तस्य च सौरालोकादिवत् झटित्येव संकोचविकासावुपपद्येते। स च सावयवत्वात् परिणममानो देहाभ्यन्तरे घटादौ

यहाँ इस प्रकार[1] प्रक्रिया है—शरीर में स्थित सारे शरीर में व्यापक (व्याप्त), सत्त्वप्रधान होने के कारण सूक्ष्म भूतों से आरब्ध और दर्पण आदि के समान स्वच्छ अन्तःकरण नामक अविद्या का विवर्त नेत्र आदि के द्वारा निकलकर योग्य घटादि विषयों को व्याप्त करके पिघले हुए ताँबे के समान घटादि तत्तत् आकार के रूप में परिणत हो जाता है। उसके सूर्य के प्रकाश[2] के समान शीघ्र ही सङ्कोच एवं विकास भी उपपन्न होते हैं।[3]

फल में व्याप्त होकर रहनेवाले रूप का रस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही सर्वव्यापक होते हुए भी जीव का किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं है। तथा च अन्तःकरण की वृत्ति से वस्तु का सम्बन्ध होने पर ही जीव को ज्ञान होता है। इसलिए जीव का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन ही है।

शङ्का—जिस पक्ष में अविद्या और माया एक ही हैं और विषयता-सम्बन्ध से वह ईश्वर की और आश्रयता-सम्बन्ध से जीव की उपाधि है, उस पक्ष में माया का आश्रय न होने से ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं है, किन्तु माया का आश्रय जीव ही स्वयं अधिष्ठान बनकर माया में जगत् की कल्पना करता है। इस पक्ष में जीव असङ्ग नहीं है, सब वस्तुओं के साथ उसका सम्बन्ध है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा के बिना ही जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये। उत्तर—इस पक्ष में भी तत्तद्वस्तुगत अज्ञानकृत आवरण के भङ्ग के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा आवश्यक है, क्योंकि अन्तःकरण घटादिज्ञानकाल में घटादि विषय-देश में प्राप्त होकर स्वयं अज्ञान का परिणाम होता हुआ भी सात्त्विकतर होने से अतिस्वच्छ एवं चैतन्य की अभिव्यक्ति के योग्य हो, विषयाकार से परिणत होकर विषयगत अज्ञानावरण को दूर का देता है।

१. अविद्या के परिणाम में से जो अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूत हैं, उनमें से प्रत्येक के अनन्त अंश हैं। उनमें कई सत्त्वप्रधान, कई रजःप्रधान तो कई तमःप्रधान हैं। उनमें से सत्त्वप्रधान अंशों में भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का एक-एक अंश मिला रहता है। इस प्रकार अनन्त पञ्चकों के परिणामभूत अनन्त अन्तःकरण हैं। २. जैसे सौरालोक(सूर्य-प्रकाश) किवाड़ों के खुलने पर तत्काल ही विकसित होकर घर के अन्दर प्रवेश कर जाता है और किवाड़ों के बन्द करने पर तत्काल ही संकुचित होता हुआ निकल जाता है, वैसे ही सूर्य के दर्शन के समय देवदत्त का अन्तःकरण उस शरीर को न त्यागता हुआ ही क्षणमात्र में वृक्षनिर्यास की तरह लम्बा होकर सूर्यपर्यन्त जाकर सूर्याकार हो जाता है और शीघ्र ही समीपस्थ घट के दर्शन के समय क्षणमात्र में संकुचित होकर घटाकार हो जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि यह 'ज्ञान' की प्रक्रिया समझाई जा रही है। आधुनिक वैज्ञानिक विभिन्न तरंग आदि के गमन-आगमन और उनसे मस्तिष्क में परिवर्तनों की चर्चा करते हैं किन्तु वे सभी जड क्रिया-प्रतिक्रियाएँ 'अनुभव' में कैसे परिवर्तित होती हैं इसे नहीं सोच पाते। चेतन ज्ञानस्वरूप है, वह विषयसम्बन्ध से विषयानुभव करता है यह ज्ञान का ढंग यहाँ स्पष्ट है। ३. अन्तःकरणरूप अविद्या का परिणाम देह से कदापि पृथक् नहीं होता। जैसे दूरस्थ पर्वत को देखते हुए भी देवदत्त के देह से चक्षुरिन्द्रिय का विश्लेष नहीं होता। किन्तु देह में रहते हुए ही केवल किरणों के द्वारा उसका पर्वत से संयोग होता है, वैसे ही अन्तःकरण का भी देह को न त्यागते हुए ही विषयों के साथ सम्बन्ध होता है। उस समय अन्तःकरण के तीन भाग होते हैं—एक तो देह में स्थित, दूसरा देह और विषय के मध्य सूक्ष्मतन्तु की तरह स्थित और तीसरा घटादि विषयों में स्थित। उनमें से देह में स्थित प्रथम भाग का नाम 'अहंकार' है। क्रिया का आश्रय होने से यह अहंकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च सम्यग् व्याप्य देहघटयोर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नो व्यवतिष्ठते। तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते। देहविषयमध्यवर्ती दण्डायमानस्तद्भागो वृत्तिज्ञानाख्यः क्रियेत्युच्यते। विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते। तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वाच्चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते। तस्य चाभिव्यक्तस्य चैतन्यस्यैकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभागभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति। कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता। क्रियाभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमाणम्। विषयगतोऽभिव्यक्तियोग्यत्वभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमितिः। प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्मचैतन्यमेवाज्ञातम्। तदेव च ज्ञातं सत्फलम्।

वह अन्तःकरण सावयव होने के कारण परिणत होता हुआ देह के अन्दर और घटादि में पूर्ण रीति से व्याप्त होकर देह और घट के मध्य भी चक्षु के समान अविच्छिन्न रहता है। उनमें से देहावच्छिन्न अन्तःकरण का भाग, जिसे अहङ्कार कहते हैं, 'कर्ता' कहा जाता है। देह और घटादि विषयों के मध्य विद्यमान, दण्ड के समान लम्बायमान अन्तःकरण का भाग, जिसे वृत्ति-ज्ञान कहते हैं, 'क्रिया' कहा जाता है। विषय (घटादि) को व्याप्त करनेवाला अन्तःकरण का भाग विषय को ज्ञान का कर्म बनानेवाला है, वह अभिव्यक्ति-योग्यत्व (प्रमा) कहा जाता है। तीन भागवाला वह अन्तःकरण अतिस्वच्छ है, इसलिए उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उक्त

'कर्त्ता' कहा जाता है। 'घटं जानाति' इत्यादि वाक्य में अभिव्यक्ति के अनुकूल व्यापाररूप किया 'ज्ञा' धातु का अर्थ है, अभिव्यक्तिरूप फल विषयनिष्ठ है। 'अभिव्यक्ति' अभिव्यञ्जकता (प्रकाश) को कहते हैं। उसके अनुकूल व्यापार है विषय-पर्यन्त अन्तःकरण का लम्बीभाव। वह लम्बीभवनरूप क्रिया देहस्थ अन्तःकरण की ही है, इसलिए देहस्थ अन्तःकरण उस ज्ञान-क्रिया का कर्त्ता है। इसी कारण उस अन्तःकरण से उपहित चैतन्य **'प्रमाता'** कहा जाता है। देह और विषय के मध्य वर्तमान अन्तःकरण का जो द्वितीय भाग है, वही 'अन्तःकरण-वृत्ति' रूप ज्ञान है। वही अन्तःकरण की वृत्तिरूप क्रिया 'ज्ञा' धातु का अर्थ है। उस अन्तःकरण की वृत्तिरूप क्रिया से जड विषय में भी अभिव्यञ्जकत्व-योग्यतारूप फल उत्पन्न होता है। अभिव्यञ्जकता ही को **'प्रमा'** या 'प्रमिति' कहते हैं। प्रमिति की साधन होने से लम्बीभवन क्रिया प्रमाण है। इसलिए द्वितीय भागरूप अन्तःकरण से उपहित चैतन्य **'प्रमाण'** कहा जाता है। घटादि विषयों में स्थित विषयाकार परिणामरूप अन्तःकरण का जो तृतीय भाग है, उससे विषय ज्ञान का कर्म होता है, क्योंकि उस समय विषय ज्ञानजन्य-अभिव्यञ्जकतारूप फल का आश्रय है। तथा च, जड घदादि में अभिव्यञ्जकत्व के विरुद्ध जड-स्वभावता होने पर भी घटादि-ज्ञानकाल में उनमें जो अभिव्यञ्जकत्व योग्यता देखी जाती है, वह तादृश घटाकार अन्तःकरण का ही परिणाम है। अभिव्यञ्जकत्व ही प्रमिति है, इसलिए तादृश अन्तःकरण-परिणामरूप तृतीयभागावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य 'प्रमिति' कहा जाता है। प्रमेय तो विषयावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य है। यद्यपि घटावच्छिन्न घटाकारान्तःकरण-परिणामरूप अभिव्यञ्जकत्वयोग्यता से अवच्छिन्न चैतन्य एक ही है क्योंकि उपाधियों के एकदेश में स्थित होने पर उपधेय वस्तु में अभेद रहता है, इस रीति से प्रमेय-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही हैं; तथापि वहाँ इतना विशेष है कि अज्ञात-अवस्था में वह चैतन्य 'प्रमेय' कहा जाता है और ज्ञात-अवस्था में 'प्रमिति।' इस प्रकार उक्त रीति से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार अन्तःकरण-परिणामरूप अभिव्यञ्जकत्वयोग्यतावच्छिन्न चैतन्य एक ही है, क्योंकि अन्तःकरण-परिणामविशेषावच्छिन्न चैतन्य भी अन्तःकरणावच्छिन्न ही है, क्योंकि घटावच्छिन्न आकाश मृत्तिकावच्छिन्न नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता। प्रमातृ-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही है, तथापि प्रमितिचैतन्य के साथ तादात्म्य से पूर्व-अवस्थावाला अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, वही अन्तःकरण-परिणामरूप अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न होकर फल होता है, यह विवेक है। इस रीति से प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में प्रमातृ-चैतन्य, प्रमेय-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्त्युपयोगः

अत्र च यस्मिन् पक्षेऽन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः, यस्मिंश्च पक्षे सर्वगतोऽसङ्गोऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, तत्रोभयत्रापि प्रमातृचैतन्योपरागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था चान्तःकरणवृत्तिः। यस्मिंश्च पक्षे अविद्यावच्छिन्नः सर्वगतो जीव आवृतः, तस्मिन् पक्षे जीवस्यैव जगदुपादानत्वेन सर्वसम्बद्धत्वादावरणभङ्गार्था वृत्तिरिति विवेकः।

अभिव्यक्त-चैतन्य यद्यपि एक है, तथापि अभिव्यञ्जक अन्तःकरण के भागों के भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है। कर्तृभाग से अवच्छिन्न चिदंश 'प्रमाता' कहलाता है। क्रिया-भाग से अवच्छिन्न चिदंश 'प्रमाण' कहा जाता है और विषयगत अभिव्यक्तियोग्यत्वरूप अन्तःकरणभागावच्छिन्न चिदंश को 'प्रमिति' कहते हैं। प्रमेय तो विषय में रहनेवाला अज्ञात ब्रह्मचैतन्य है। वही ज्ञात होता हुआ 'फल' कहलाता है।

यहाँ पर जिस पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है और जिस पक्ष में सर्वव्यापक, असङ्ग[1] अविद्याप्रतिबिम्ब जीव है, उन दोनों पक्षों में भी प्रमातृ-चैतन्य के उपराग[2] के लिए या विषयगत चैतन्य के आवरण का भङ्ग

वास्तव में एक ही चैतन्य उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न होता है। उस उपाधि के आकार के सदृश आकार धारण करने से चैतन्य भिन्न की तरह प्रतीत होता है। वह भेद भी प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में नहीं रहता, क्योंकि तीनों चैतन्य एकाकार हो जाते हैं। प्रमेय-चैतन्य ही घटरूप उपाधि से घटाकार हुआ और प्रमिति-चैतन्य भी घटाकार हुआ, क्योंकि अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न ही प्रमिति-चैतन्य है और अभिव्यक्ति-योग्यता घटसम्बद्ध अन्तःकरण-परिणाम-विशेषरूप सात्त्विकी छाया है। वही सात्त्विकी छाया घट के स्वरूप को व्याप्त करके घटाकार हो जाती है। जैसे शरीर में लावण्य (सौन्दर्य) अथवा मोती में जलरूप तरल छाया होती है, वैसी ही घट को व्याप्त करनेवाली यह अन्तःकरण की सात्त्विकी छाया है। इसलिए अन्तःकरण-परिणामविशेषरूप छाया ही घटाकार हो गयी है। अतः तदवच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य घटाकार हो जाता है। उस काल में प्रमातृ-चैतन्य भी घटाकार ही है, क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न ही प्रमातृ-चैतन्य है और अन्तःकरण ही उस काल में घटगत अभिव्यक्तियोग्यतास्वरूप हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है 'अहं घटं जानामि' (मैं घट को जानता हूँ) इस व्यवहार के अनुरोध से प्रमातृ-चैतन्य का घट-चैतन्य के साथ सम्बन्ध कहना चाहिये। वह सम्बन्ध ज्ञान द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि 'जानामि' (मैं जानता हूँ) ऐसा व्यवहार होता है। ज्ञान 'प्रमिति'पद-वाच्य विषयगत अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न चैतन्य है। इस प्रकार जिस काल में प्रमातृ-चैतन्य का प्रमिति-चैतन्य के साथ और प्रमेय-चैतन्य का भी प्रमिति-चैतन्य के साथ अभेद होता है, उस काल में अर्थात् ही प्रमातृ-चैतन्य और प्रमेय-चैतन्य का ज्ञान द्वारा तादात्म्य होता है।

वास्तव में चैतन्य एक ही है। चैतन्य का भेद तो औपाधिक है। भिन्नदेशस्थ दो उपाधियाँ ही उपहित का भेद दिखा सकती हैं। उपाधियों के एकदेश में स्थित होने पर तो उपहित का तादात्म्य ही है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है और उस अन्तःकरण का विषयपर्यन्त जो दीर्घीभाव है, तदवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य है और वही प्रमातृ-चैतन्य है, क्योंकि अन्तःकरण ही दीर्घीभाव को प्राप्त हुआ है। इसलिए दीर्घीभूत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य भी अन्तःकरणावच्छिन्न है ही। ऐसी दशा में विषयगत अभिव्यक्ति-योग्यता भी अन्तःकरण का ही तीसरा भाग है, इसलिए तादृश अभिव्यक्तियोग्यतावच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य भी प्रमातृ-चैतन्य है ही। इस प्रकार अभिव्यक्ति-योग्यता विषय में है, इसलिए तादृश अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य ही प्रमेय-चैतन्य हो गया है। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में त्रिविध चैतन्य एक हो जाता है और तत्तदुपाधिभेद से भिन्न चैतन्य तत्तदुपाध्याकार हो जाता है। ऐसी दशा में जीव-पद का वाच्य प्रमातृ-चैतन्य जब प्रमिति-चैतन्य से अभिन्न हो जाता है, तब वह विषयाकार के सदृश हो जाता है। १. घटादितादात्म्यशून्य। २. उपराग=सम्बन्ध। भाव यह है कि 'जीव अन्तःकरणोपहित है' इस पक्ष में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु चिदुपरागार्था वृत्तिरिति पक्षे स्वतोऽन्तःकरणसम्बद्धानां धर्माधर्मादीनां ब्रह्मणश्च वृत्तिमन्तरेणैव सर्वदा भानं स्यात्? न स्यात्, चैतन्यस्य तत्तदाकारत्वाभावात्। तदभावश्च स्वच्छेऽपि ब्रह्मचैतन्ये आवरणात्, अनावृतेऽपि शुक्तिरजतादावस्वच्छत्वात्। धर्माधर्मादौ तु अस्वच्छत्वादावृतत्वाद्वा। तेन स्वच्छेऽप्यावृते प्रमाणवृत्त्या तदाकारता। अनावृतेऽप्यस्वच्छे शुक्तिरजतादौ अविद्यावृत्त्या तदाकारता। अनावृते स्वच्छे तु सुखदुःखादौ स्वत इति नान्तःकरणसम्बन्धमात्रेण भानप्रसङ्गः।

करने के लिए अन्तःकरण की वृत्ति होती है। और जिस पक्ष में अविद्यावच्छिन्न सर्वव्यापक जीव आवृत है, उस पक्ष में जीव ही संसार का उपादान है; इसलिए सब पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने से जीव के आवरण-भङ्ग के लिए वृत्ति होती है, यह विवेक है।

शङ्का—'चित् के उपराग' के लिए वृत्ति होती है' इस पक्ष में स्वरूप-सम्बन्ध से अन्तःकरण के साथ

जीव विभु नहीं है, किन्तु अन्तःकरण की तरह परिमित है। वही अन्तःकरणोपहित जीव वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप अधिक कञ्चुक(वस्त्रविशेष, 'कुर्ता') में प्रवेश से 'प्रमाता' कहा जाता है। इस प्रकार प्रमातृ-चैतन्याभिन्न जीव का वृत्ति विषय से सम्बन्ध कराती है। इसी प्रकार 'जीव अविद्योपहित है' इस पक्ष में यद्यपि जीव सर्वगत है, तथापि जगदुपादानकारण अविद्या का आश्रय न होने से उसका आविद्यिक वस्तुओं के साथ तादात्म्य नहीं है। इसलिए पदार्थों से असम्बद्ध जीव का वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप अधिक कञ्चुक के प्रवेश से प्रामतृत्व है, आविद्यिक विषयों से असम्बद्ध जीव का विषय-सम्बन्ध कराना ही अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन है। क्योंकि सम्बन्ध के अभाव में 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार प्रमातृ-चैतन्य और प्रमेय-चैतन्य के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती इसलिए जीव के परिमितत्व-पक्ष में और सर्वगत के असङ्गत्व-पक्ष में वृत्ति का प्रयोजन सम्बन्ध ही है। इन दोनों पक्षों में सारे आविद्यिक प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म-चैतन्य है। विषय का आवरणभङ्गरूप प्रयोजनान्तर भी इन दोनों पक्षों में विद्यमान ही है। वाचस्पति मिश्र के मत में तो अविद्यावच्छिन्न सर्वगत जीव स्वाश्रित अविद्या से स्व (आत्मा) में ही स्वरूपविशेष (नित्यमुक्तत्वादि) के आवरणपूर्वक प्रपञ्च की कल्पना करता है। अतः जीव को आविद्यिक वस्तुओं का तादात्म्य सर्वदा सिद्ध है। इसलिए वाचस्पति मिश्र के मत में वृत्ति का प्रयोजन विषय-सम्बन्ध नहीं, किन्तु केवल आवरणभङ्ग ही है।

१. यह भाव है—प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में जीव को विषय के साथ सम्बन्ध के लिए अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा होती है और वृत्ति से अन्तःकरण का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। जीव का तो अन्तःकरण के साथ नित्य सम्बन्ध है। प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में अन्तःकरण विषय-देश में जाकर केवल विषय के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिए वृत्ति के बिना जिन धर्माधर्मादिकों का स्वभाव ही से सम्बन्ध है, उनका तो वृत्ति के बिना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने से सर्ववस्तुओं के साथ सर्वदा सम्बद्ध है। मन भी ब्रह्म के साथ सदा सम्बद्ध ही है। इसलिए वहाँ भी सम्बन्ध के लिए वृत्ति के अपेक्षा नहीं है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति के बिना ही जीव को सदा ब्रह्मज्ञान होना चाहिये। किंच, परिच्छिन्न भी जीव व्यापक ब्रह्म के साथ नित्य सम्बद्ध है। इसलिए ब्रह्म के ज्ञान में अन्तःकरण की भी अपेक्षा नहीं है, फिर वृत्ति की कथा तो दूर रह गयी। वैसे ही अनावृत चैतन्य में अध्यस्त जो प्रातिभासिक रजतादि हैं, अविद्या-काल में उनका भी वृत्ति के बिना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। यद्यपि व्यावहारिक अन्तःकरण का प्रातिभासिक रजत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए तादृश रजत-प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, तथापि वहाँ पर रजतज्ञान के लिए रजत-अंश में अन्तःकरण की वृत्ति के स्थान में अविद्या की वृत्ति स्वीकार की जाती है। पर उस वृत्ति का स्वीकार न करना चाहिये, वहाँ पर जीव का अविद्या द्वारा तादृश रजत के साथ सम्बन्ध होने से अविद्या की वृत्ति के बिना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये, यह पूर्वपक्षी का आशय है। इस शङ्का का परिहार करते हैं—'न स्यात्' इत्यादि ग्रन्थ से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवरणम्

ननु ब्रह्मणः कथमावरणम्, निरवद्यस्वप्रकाशत्वेन सर्वज्ञत्वात्? सत्यम्, स्वसम्बद्धसर्वभासकतया सर्वज्ञमपि अन्तःकरणावच्छिन्नजीवाज्ञानविषयतया आवृतमिति व्यपदेशात्। तस्माद् ब्रह्म जगदुपादानमिति पक्षे चिदुपरागार्था आवरणभङ्गार्था च वृत्तिः। जीवोपादानत्वपक्षे तु आवरणभङ्गार्थैवेति।

सम्बन्ध रखनेवाले धर्माधर्मादि का एवं स्वरूप ही से अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्म का भी वृत्ति के बिना ही सर्वदा भान होना चाहिये। समाधान—नहीं[1] होना चाहिये, क्योंकि चैतन्य धर्माद्याकार तथा ब्रह्माकार नहीं है। तत्तदाकारता का अभाव स्वच्छ भी ब्रह्म-चैतन्य में आवरण से है। और अनावृत भी शुक्ति-रजतादि में अस्वच्छ होने से है। धर्माधर्मादि में तो अस्वच्छ होने या आवृत होने से है। इससे स्वच्छ भी आवृत में प्रमाण-वृत्ति से तदाकारता होती है और अनावृत[2] भी अस्वच्छ शुक्ति, रजत आदि में अविद्या-वृत्ति से तदाकारता होती है। अनावृत,[3] स्वच्छ सुखःदुख में तो स्वतः ही तदाकारता होती है। इसलिए धर्माधर्मादि में और ब्रह्म में अन्तःकरण के सम्बन्धमात्र से भान-प्रसङ्ग नहीं है।

शङ्का—ब्रह्म का आवरण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह निर्दोष स्वयंप्रकाश होने से सर्वज्ञ है। समाधान—ठीक है, स्व से सम्बद्ध सबका भासक होने से यद्यपि ब्रह्म सर्वज्ञ[4] है, तथापि अन्तःकरणावच्छिन्न जीव के अज्ञान का विषय होने से 'ब्रह्म आवृत है' ऐसा व्यपदेश होता है। इसलिए 'ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है' इस पक्ष में चित् के उपराग और आवरण-भङ्ग के लिए भी वृत्ति होती है। 'जीव जगत् का उपादान है' इस पक्ष में तो केवल आवरण-भङ्ग के लिए ही वृत्ति होती है।

---

१. भाव यह है कि 'अन्तःकरण घटादि के प्रत्यक्ष-ज्ञान-काल में वृत्ति द्वारा विषय के साथ सम्बद्ध होकर स्व द्वारा जीव-चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध कराता है—इतना ही अन्तःकरण का कर्त्तव्य है', इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। किन्तु वृत्ति द्वारा विषय के साथ सम्बद्ध होकर, विषयगत आवरण का नाशकर विषय में स्वच्छता का सम्पादनकर, विषय के आकार को स्वयं धारण करता हुआ स्वोपहित चैतन्य में उस आकार को दिखाता है। ऐसी दशा में अन्तःकरण की वृत्ति घटादि विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध कराती है, विषयगत अज्ञानावरण का नाश करती है और उस विषय में स्वच्छता का सम्पादन करती है। प्रश्नकर्त्ता ने तो धर्माधर्मादिकों में और ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्ति के बिना सम्बन्धमात्र का उपपादन किया है पर वृत्ति के बिना अज्ञानावरण का नाश और स्वच्छता का सम्पादन कैसे हो सकता है? यद्यपि ब्रह्म में स्वयमेव स्वच्छता है, तथापि अज्ञानावरण-भङ्ग के लिए वृत्ति की अपेक्षा है। वैसे ही शुक्तिरजतस्थल में अनावृत चैतन्य में अविद्या ही से रजत कल्पित है, इसलिए प्रातिभासिक रजत में अविद्याकृत आवरण नहीं है, क्योंकि अन्धकार से अन्धकार का आवरण नहीं हुआ करता, तथापि प्रातिभासिक रजतस्थल में स्वच्छता-सम्पादन के लिए अविद्या-वृत्ति की अपेक्षा है। धर्माधर्मादिकों में तो आवरणभङ्ग और स्वच्छता-सम्पादन ये दोनों ही कार्य अन्तःकरण की वृत्ति से ही सम्पन्न होते हैं। वास्तव में धर्माधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष-योग्य ही नहीं, यह विषय अन्य है। घटादिकों में तो आवरण-भङ्ग, स्वच्छता-सम्पादन और जीव-चैतन्यसम्बन्ध—ये तीनों अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन हैं, यह समझना चाहिये। २. प्रातिभासिक पदार्थ का ज्ञान के बिना अस्तित्व न होने से आवृत का अस्तित्व ही नहीं कहा जा सकता, इसलिए प्रातिभासिक आविधिक रजत अनावृत सिद्ध होता है। ३. साक्षिमात्रभास्य होने से अज्ञान के अविषय सुखादि में जीव की स्वतःसिद्ध सुखाकारता है। अज्ञान साक्षिभास्य होने से यद्यपि अनावृत है, तथापि तामस होने से अस्वच्छ है। इसलिए उसका परिणामभूत प्रातिभासिक रजत भी अस्वच्छ है। अतः प्रातिभासिक रजत में स्वच्छता-सम्पादन करने के लिए अविद्यावृत्ति की अपेक्षा है। सुखादि सात्त्विक अन्तःकरण का परिणाम होने से स्वच्छ हैं, यह समझना चाहिये। ४. जैसे जीव का स्वस्वरूप स्व के प्रति आवृत है, वैसे ब्रह्म का नहीं है। इस दशा में ब्रह्म के स्वस्वरूप के स्व के प्रति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्वेकेन घटादिज्ञानेन आवरणस्य भंगे सद्यो मुक्तिप्रसङ्गः, अज्ञानस्यैकत्वात्। नानाऽज्ञानपक्षेऽप्येकस्य जीवस्यैकाज्ञानोपाधित्वात्? न; उत्तेजकेन मणेरिव वृत्त्या आवरणस्याभिभवाङ्गीकारात्। तथा च प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभावसहकृतमज्ञानं सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीति प्रतीतिजननसमर्थमावरणमित्युच्यते। वृत्तौ जातायां तु अवच्छेदकाभावात् विद्यमानमप्यविद्यमानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थमज्ञानं तेनाभिभूतमित्युच्यते।

शङ्का—एक[1] ही घट आदि के ज्ञान से आवरण-भङ्ग होने पर शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि अज्ञान एक ही है, उसका नाश हो गया। 'अज्ञान अनेक हैं' इस पक्ष में भी एक जीव की उपाधि एक ही अज्ञान है। समाधान—नहीं, उत्तेजक[2] से मणि की तरह वृत्ति से आवरण का अभिभव होता है, नाश नहीं। इस प्रकार[3] प्रमाणजन्य अन्तःकरण की वृत्ति के अभाव से सहकृत अज्ञान—विद्यमान और प्रकाशमान वस्तु में भी 'नहीं है, नहीं प्रतीत होता' ऐसी प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ—आवरण कहलाता है। वृत्ति के उत्पन्न होने पर अवच्छेदक के अभाव से विद्यमान भी अविद्यमान के समान ही है। इसलिए अपने कार्य को करने में असमर्थ अज्ञान तिरस्कृत किया गया, ऐसा कहा जाता है।

अनावृत होने पर भी जीव के प्रति वह (ब्रह्मस्वरूप) आवृत ही है। इसीलिए 'ब्रह्म अविद्या से आवृत है' ऐसा व्यवहार होता है। इस कारण जीव के प्रति ब्रह्म का ज्ञान आवरणभङ्ग के अधीन ही है। १. देवदत्त के घटज्ञानकाल में उसके अन्तःकरण की वृत्ति से आवरण का भङ्ग होता है, क्योंकि आवरण के मूल कारण अज्ञान की विद्यमानता में चैतन्य का स्फुरण नहीं हो सकता। इसलिए आवरणनाश का कारण अज्ञाननाश ही कहना चाहिये। ऐसी दशा में अज्ञान का नाश होने से देवदत्तादि सब प्राणियों की मुक्ति हो जानी चाहिये। प्रत्येक जीव में अज्ञान का भेद है। इस प्रकार नाना अज्ञानपक्ष में भी देवदत्त के घटज्ञानकाल में देवदत्त की मुक्ति होनी चाहिये, यह दोष अटल ही है। २. भाव यह है कि प्रतिक्षण तत्तत्प्राणियों के आवरणभङ्ग होने पर ही विषय का ज्ञान होता है और मोक्ष किसी का होता नहीं। इसलिए मोक्षाभाव की अन्यथानुपपत्ति से यह कल्पना अवश्य करनी चाहिये कि अन्तःकरण की वृत्ति से अज्ञान का नाश नहीं होता, केवल क्षणमात्र अज्ञान का तिरोभाव होता है। जैसे चन्द्रकान्तमणि के समीप होने से अग्निगत दाहकत्वशक्ति का प्रतिबन्ध होता है, उत्तेजक मन्त्रादिकों के सन्निधान में चन्द्रकान्तमणिगत प्रतिबन्धकशक्ति का केवल तिरोभाव होता है, नाश नहीं होता; वैसे ही घटादिज्ञानकाल में अज्ञान का केवल तिरोभाव होता है, नाश नहीं। ३.क्रियाभागावच्छिन्न चेतन-अंश प्रमाण है, उससे उत्पन्न होनेवाली घटादिविषयनिष्ठ अन्तःकरण की वृत्ति विषय को व्याप्तकर स्थित होती हुई सूक्ष्म सात्त्विकी अन्तःकरण की छाया है। तदभावविशिष्ट (उसके न होने पर) अज्ञान विद्यमान वस्तु में भी 'नास्ति वस्तु' इत्याकारक प्रतीति उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रकाशित वस्तु में भी 'न भाति वस्तु' (वस्तु नहीं प्रतीत होती है) इत्याकारक प्रतीति उत्पन्न करता है। ऐसी दशा में 'नास्ति वस्तु' और 'न भाति वस्तु' इत्याकारक प्रतीतियों का जनक अज्ञान है, अज्ञान में रहनेवाला अन्तःकरण की वृत्ति का अभावविशिष्टत्व उस प्रतीति का जनकतावच्छेदक है। वृत्ति के उत्पन्न होने पर तो उक्त प्रतीति का जनक अन्तःकरणवृत्त्यभाव-विशिष्टत्व का अभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवरणनिवृत्तिः

नन्वेवं सति ब्रह्मज्ञानेनाऽप्यविद्याया अनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः? न, तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानादविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमात्। स्वविषयविषयकप्रमात्वेनैव अविद्यानिवर्तकत्वाभ्युपगमात्। महावाक्यार्थज्ञानस्यैवाबाधितविषयतया प्रमात्वात्। प्रत्यक्षादीनां तु बाधितविषयतया भ्रमत्वेऽपि व्यवहारसामर्थ्येन प्रामाण्याभिमानात्। किञ्च ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्यत्रादर्शनमकिञ्चित्करम्; स्वानुभवसिद्धत्वात्, अन्यथानुपपत्तेश्च सर्वतो बलवत्त्वात्। तदुक्तम् (खण्डन.१.६)—

शङ्का—ऐसा[1] मानने पर ब्रह्मज्ञान से भी अविद्या की निवृत्ति न होने से अनिर्मोक्षप्रसङ्ग हो जायगा। समाधान—नहीं, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के अर्थज्ञान से अविद्या की निवृत्ति स्वीकृत की गयी है। स्वविषयविषयक[2] प्रमा ही से अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है। महावाक्यजन्य

होने से (अन्तःकरण की वृत्ति के होने से) विद्यमान भी अज्ञान 'नास्ति, न भाति' इत्याकारक प्रतीतिरूप अपने कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है, यही अज्ञान का तिरोभाव है। १. अन्तःकरण की वृत्ति से केवल अज्ञान का तिरोभाव होता है, ऐसा अङ्गीकार करने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य ज्ञानस्थल में भी अन्तःकरण की वृत्ति में कोई विशेष न होने से उस वृत्ति से अज्ञान का तिरोभाव ही होगा। ऐसी दशा में स्वरूप से अज्ञान विद्यमान रहेगा। तथा च मोक्ष की असिद्धि हो जायेगी, यह पूर्वपक्षी का आशय है। इस पर समाधान करते हैं—'नेति' इस ग्रन्थ से। २. स्व (अविद्या) उसका जो विषय हो, वही विषय जिस प्रमा का हो, वही प्रमारूप ज्ञान अविद्या का निवर्त्तक होता है। महावाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान ऐसा ही है, क्योंकि मूल अविद्या का विषय ब्रह्म ही महावाक्यजन्य प्रमारूप ब्रह्मज्ञान का विषय है। इसलिए ब्रह्मज्ञान अविद्या का निवर्त्तक होता है। 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञानस्थल में तो ऐसा है नहीं, क्योंकि वहाँ 'अयं घटः' इस ज्ञान से पहले 'अज्ञातो घटः' ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए उस अज्ञान के विषय घट को विषय करनेवाला 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रमा नहीं है। अतः 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञानस्थल में अज्ञान का नाश नहीं होता, किन्तु तिरोभाव ही होता है अर्थात् ज्ञान कहलाने वाली वृत्ति रहने तक तद्विषयविषयक अज्ञान अपना कार्य रोके रखता है, उतने समय तक उस विषय को 'नहीं जानता' ऐसा नहीं लगता। ब्रह्म का तीनों कालों में बाध नहीं है। इसलिए ब्रह्म को विषय करनेवाला महावाक्यजन्य ज्ञान प्रमा है। घटादि पदार्थ तो बाधित हैं, इसलिए उनको विषय करनेवाले ज्ञान प्रमा नहीं हैं। ऐसी दशा में शुक्ति में रजतज्ञान की तरह 'अयं घटः' यह ज्ञान भी भ्रम ही है।

इतना विशेष है कि रजत के बाध का अनुभव व्यवहारकाल ही में हो जाता है, घटादि के बाध का अनुभव व्यवहारकाल में नहीं होता। इसलिए बाध-ज्ञान का अभाव होने से ही घटादिज्ञान को साधारण लौकिक पुरुष प्रमाण समझते हैं। शुक्तिरजतादि ज्ञानस्थल में भी बाध-ज्ञान से पूर्व किञ्चित्कालपर्यन्त प्रामाण्य का अभिमान देखा ही जाता है। परन्तु शुक्तिरजतज्ञान में प्रामाण्य का अभिमान क्षणमात्र में निवृत्त हो जाता है। घटादि ज्ञान में तो मोक्षपर्यन्त प्रामाण्याभिमान बना रहता है।

शङ्का—घटादिज्ञानों में वस्तुतः प्रमात्व का अभाव होने से उनसे अज्ञान का नाश नहीं होता, किन्तु केवल तिरोभाव ही होता है; ऐसा मानें, तो पूछा जा सकता है कि 'ज्ञान अज्ञान का विनाशक है' इस प्रकार अज्ञान और ज्ञान का विनाश्य-विनाशकभाव कहाँ देखा, जिसके बल पर महावाक्यजन्य ज्ञान में अज्ञाननाशकता की कल्पना करते हो? उत्तर—आप्तवाक्य से शुक, वामदेवादि में ज्ञान से अज्ञान का नाश देखा जाता है। प्रश्न—अविद्या के नानात्वपक्ष में यह उत्तर समीचीन हो सकता। पर 'अविद्या एक ही है' इस पक्ष में यह कैसे सम्भव हो सकता है? यदि शुक-वामदेवादि की अविद्या का ज्ञान से नाश हो गया है, तो हमें बिना आयास के मोक्ष मिलना चाहिये; सो तो नहीं देखा जाता। इसलिए ज्ञान से अज्ञान के नाश का अन्यत्र अदर्शन तदवस्थ ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१"अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका।।"—इति।

ज्ञान ही अबाधित-विषयक होने से प्रमा है। प्रत्यक्ष आदि ज्ञान बाधित-विषयक होने से यद्यपि भ्रम हैं, तो भी व्यवहारकाल में अबाधित-विषयक होने के कारण उनमें प्रामाण्य का अभिमान होता है। ज्ञान[२] से अज्ञाननिवृत्ति अन्यत्र न होने से प्रकृत में अन्तर नहीं पड़ता है, क्योंकि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होना अनुभवसिद्ध[३] है। और दूसरी बात अन्यथानुपपत्ति[४] सबसे बलवती है। कहा भी है—'वस्तु को सिद्ध करनेवाली अन्यथानुपपत्ति[५] यदि है, तो वही अदृष्टि के विवाद को पीस देती (दूर कर देती) है, क्योंकि वह सब प्रमाणों से अधिक बलवती है।'

अथवा[६] घट आदि विषयों का आवरण करनेवाले अज्ञान मूल अज्ञान के अवस्थारूप हैं। जैसे नैयायिकों

१. 'दृष्टवैषम्यम्', 'दृष्टवैमत्यम्' इति च क्वचित्पठ्यते। दृष्टस्य यो विरोधः सोऽन्यथानुपपत्त्या परिह्रियत इत्यर्थः। 'अदृष्टिवैमत्यम्' इत्यस्य 'अन्यत्र अदर्शनेन विवादम्' इति रत्नावल्यां व्याख्या। २. समाधान—अन्यत्र अदृष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होता, यह नियम नहीं। प्रमाण की सत्ता में उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, अर्थात् प्रमाण के होने पर अन्यत्र अदृष्ट अर्थ की भी सिद्धि होती है। जैसे अन्यत्र अदृष्ट भी श्रुतिप्रतिपादित जगत्कर्तृत्व की अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर में सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है, वैसे ही श्रुतिप्रतिपादित ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से महावाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान में अज्ञान की विनाशकता सिद्ध होती है। किंच, 'अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी सिद्ध ही होता है' यह नियम भी नहीं है, क्योंकि महानस में धूम के सम्बन्ध से दृश्यमान भी अग्नि अयोगोलक में धूम की सिद्धि में समर्थ नहीं होती। ऐसी दशा में अन्यत्र दर्शन वस्तु की सिद्धि में हेतु नहीं है और अन्यत्र अदर्शन वस्तु की असिद्धि में भी हेतु नहीं है। अनुमान में उदाहरणवाक्य से जायमान अन्यत्र दर्शन पक्ष में साध्य के सम्भवमात्र का द्योतक है, साध्य का निश्चय नहीं करा सकता। साध्य का निश्चय तो व्याप्ति के ही अधीन है। ३. अन्यत्र अदृष्ट अश्रुतपूर्व भी कोई विलक्षण जीव वन में देखा जाय, तो उसकी असिद्धि नहीं होती। किंच ग्रंथकार निजानुभव की ओर भी संकेत कर रहे हैं कि अविद्यानिवृत्ति उन्हें प्रत्यक्ष है। ४. 'सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मुं० २।१।१०) इत्यादि श्रुतियाँ ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति का अनङ्गीकार करने पर उपपन्न नहीं होतीं, यह भाव है। ५. यदि किसी वस्तु की साधक अन्यथानुपपत्ति हो, तो वह अन्यत्र अदर्शनमूलक वस्तु की असिद्धिरूप विरुद्धमति का नाश कर देती है; क्योंकि अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण सबसे बली है।

६. अब 'घटादि-विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति से अज्ञान का केवल तिरोभाव नहीं होता, किन्तु विनाश ही होता है' इस साम्प्रदायिक मत का उपपादन करते हैं—'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से। घटादिविषयाकार अन्तःकरणवृत्ति से जिस अज्ञान का नाश होता है, वह मूल अज्ञान नहीं; किन्तु जल के बुद्बुद की तरह मूल अज्ञान का अवस्थाविशेष है और ऐसे मूलाज्ञान के अवस्थाविशेष बहुत-से अज्ञान हैं जिन्हें तूलाज्ञान, पल्लवाज्ञान आदि भी कहते हैं। जैसे न्यायमत में जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही ज्ञानप्रागभाव भी होते हैं; वैसे ही जितने ज्ञान उतने ही अज्ञान हैं। इस प्रकार ज्ञान के प्रागभावों की तरह अज्ञानों का भी ज्ञान के अनुरोध से बहुत्व सिद्ध होता है। ऐसी दशा में घटज्ञानस्थल में घटाकार अन्तःकरणवृत्ति से घटविषयक अज्ञान का ही नाश होता है, इतरविषयक अज्ञानान्तरों का या मूलाज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिए न तो सद्योमोक्षप्रसङ्ग है और न घट के सर्वदा भान का ही प्रसङ्ग है, यह भाव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभूतान्यज्ञानानि घटादिविषयावरणानि। अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यभ्युपगमादेकेन ज्ञानेन एकस्यैवाज्ञानस्य नाशाद् घटादिज्ञानेनाऽऽवरणनाशेऽपि न काचिदनुपपत्तिः।

द्विविधावरणव्यवस्था

नन्वनुमानादिभिरावरणं निवर्तते, न वा? आद्ये, साक्षात्कारिभ्रमस्य शङ्खपीतत्वादेः श्वेतत्वाद्यनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। दिङ्मोहादेरपि अनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। अधिष्ठानाज्ञानोपादानकत्वेन भ्रमस्य तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः। यौक्तिकज्ञानेन च ब्रह्मण्यविद्यानिवृत्तेः साक्षात्कारार्थं श्रवणमननाद्यपेक्षा न स्यात्। द्वितीये च, वह्न्यादिव्यवहारो न स्यात्, प्रतिबन्धस्य विद्यमानत्वात्।

के मत में जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही ज्ञान के प्रागभाव भी होते हैं; वैसे ही यहाँ पर भी जितने ही ज्ञान हैं, उतने ही अज्ञान हैं, ऐसा अङ्गीकार है। अतः एक ज्ञान से एक ही अज्ञान का नाश होता है। इसलिए घट आदि के ज्ञान से आवरण का नाश होने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का[1]—यह आवरण अनुमान से निवृत्त होता है, या नहीं? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष-भ्रम—शंखपीतत्वादि—की श्वेतत्वादि के अनुमान आदि से निवृत्ति का प्रसङ्ग है। और अनुमानादि से दिङ्मोह आदि स्वरूप भ्रम की निवृत्ति का प्रसङ्ग है; क्योंकि अधिष्ठान का अज्ञान भ्रम का उपादान कारण है इसलिए उसकी निवृत्ति से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है। यौक्तिक-ज्ञान से ब्रह्मगत अविद्या की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म के साक्षात्कार

१. जैसे घट-प्रत्यक्ष-स्थल में घटाकार अन्तःकरणवृत्ति से घट-विषयक अज्ञान का नाश होता है, वैसे ही पर्वत में अग्नि की अनुमिति में अग्न्याकार अन्तःकरणवृत्ति से अग्नि-विषयक अज्ञान का विनाश होता है, अथवा नहीं? 'विनाश होता है' इस पक्ष में अग्नि-विषयक अज्ञान का नाश होने पर भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता, यद्यपि यह कह सकते हैं; तथापि पित्त-दोष से जहाँ शंख में पीतत्वभ्रम होता है, वहाँ पर 'शंखः श्वेतः शंखत्वात्' इस अनुमान से श्वैत्याकार अन्तःकरणवृत्ति से श्वैत्य-विषयक अज्ञान के नष्ट होने से, भ्रम के उपादान कारण अज्ञान के नष्ट होने से एवं भ्रम का नाश हो जाने पर इन्द्रिय-संयोग तो शंख के साथ स्वतः विद्यमान है ही, इसलिए श्वैत्य का प्रत्यक्ष होना चाहिये, सो होता नहीं। किन्तु जबतक नेत्र में पित्तदोष विद्यमान है, तब तक शंख में पीतिमा का ही अनुभव होता है। इसी प्रकार शुक्ति-रजतभ्रमस्थल में भी 'यह शुक्ति है' इत्याकारक आप्तवाक्यजन्य शाब्दबोध होने पर शुक्त्याकार अन्तःकरणवृत्ति से शुक्ति-विषयक अज्ञान का नाश होने पर तन्मूलक भ्रम का भी नाश हो जायगा। वहाँ इन्द्रिय-संयोग तो शुक्ति के साथ स्वतः विद्यमान है, इसलिए शुक्ति का प्रत्यक्ष होना चाहिये। अनुभव तो इसके विपरीत है कि जबतक दोष है, तबतक रजत ही का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा में जिस पुरुष को उत्तर दिशा का भ्रम हुआ है, वहाँ पर 'यह पूर्वा है' इत्याकारक आप्तवाक्यजन्य शाब्दबोध से पूर्वविषयक अन्तःकरणवृत्ति से पूर्वाविषयक अज्ञान का नाश होने पर भ्रम का भी नाश होगा। इन्द्रिय-संयोग तो पूर्वदिशा के साथ विद्यमान है, इसलिए 'यह पूर्वा है' ऐसा प्रत्यक्ष होना चाहिये। वैसे ही ब्रह्मविषयक अनुमान से मूलाज्ञान का विनाश होने पर तत्क्षण ही ब्रह्मसाक्षात्कार होना चाहिये। ऐसी दशा में 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि विधि निरर्थक हो जायगी। यदि इस दोष के परिहार के लिए 'अनुमित्यादि स्थल में तत्तद्विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति के होने पर भी तत्तद्विषयक अज्ञान का विनाश नहीं होता' इस द्वितीय पक्ष का आश्रय करोगे, तो अनुमिति के होने पर भी अग्निविषयक अज्ञान के अविनाश से 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। प्रत्युत 'अग्नि नहीं है' ऐसा व्यवहार होना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—द्विविधमावरणम्। एकमसत्त्वापादकमन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यनिष्ठम्, अन्यदभानापादकं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठम्[1]; घटमहं न जानामीत्युभयावच्छेदानुभवात्। तत्राद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रेण निवर्तते, अनुमितेऽपि वह्न्यादौ नास्तीति प्रतीत्यनुदयात्। द्वितीयं तु साक्षात्कारेणैव निवर्तते। यदाश्रयं यदाकारं ज्ञानं तदाश्रयं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमात्। परोक्षज्ञानस्य च विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन अन्तःकरणमात्राश्रयत्वात्। अपरोक्षज्ञानस्यैव विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेन विषयान्तःकरणोभयनिष्ठत्वात्। तदुक्तम्[2]—

के लिए श्रवण, मनन आदि की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। दूसरे पक्ष में अनुमान से वह्नि आदि का 'पर्वत में वह्नि है'—ऐसा व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबन्धक अज्ञान वहाँ पर विद्यमान है।

समाधान—आपकी शङ्का का समाधान किया[3] जाता है—आवरण दो प्रकार का है, पहला असत्त्वापदक आवरण अन्तःकरणावच्छिन्न साक्षी चैतन्य में रहता है और दूसरा[4] अभानापादक आवरण विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यनिष्ठ है, क्योंकि 'मैं घट को नहीं जानता' इस प्रकार घट और अहंकार दोनों के अवच्छेद का अनुभव होता है। उनमें से पहिला (असत्त्वापादक) आवरण परोक्ष अथवा अपरोक्ष साधारण प्रमाण ज्ञान से निवृत्त होता है, क्योंकि अनुमित अग्न्यादि में भी 'नहीं है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। दूसरा अभानापादक आवरण तो साक्षात्कार

---

१. इस विषय पर रत्नावलीकार ने सूक्ष्मतर विवेचन कर निष्कर्ष निकाला है 'द्विविधमपि अज्ञानम् उभयावच्छिन्नाऽऽश्रयताकमेव .. ।...असत्त्वापादकाऽज्ञाननिवर्तकत्वं, प्रमामात्रस्य तत्समानविषयत्वेनैव। अभानापादकाऽज्ञाननिवर्तकत्वं तदवच्छेदकावच्छिन्नप्रमात्वेनेति।' (पृ.११६) तथापि बिन्दुकार की व्यवस्था सुगम है। २. 'अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता' इति द्वितीयार्धेनायं श्लोकः पञ्चदशी-तृप्तिदीपे ४५ तमः। ३. सत्त्व के अभाव को 'असत्त्व' कहते हैं। 'यह यहाँ नहीं है' इस प्रकार के व्यवहार का आपादन करने वाला यह आवरण है। इस आवरण से विद्यमान वस्तु में विद्यमान सत्ता के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। सत्ताज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमाता में रहता है। उसका प्रतिबन्धक आवरण भी प्रमाता में ही अवश्य कहना चाहिये, क्योंकि वैयधिकरण्य में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव सम्भव नहीं है। ४. विषयरूप से चेतन का प्रकाशरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसे 'भान' कहते हैं। उसका प्रतिबन्धक आवरण विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमेय में कहना चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ज्ञानों में विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति होती ही है, किन्तु प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रिय द्वारा विषयदेश में व्याप्त अन्तःकरण की वृत्ति होती है। परोक्षज्ञानस्थल में तो विषयप्रवेशगमन में कोई साधन नहीं है। इसलिए हृदय-स्थान में स्थित ही अन्तःकरण की वृत्ति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में अन्तःकरण का विषयदेश में गमन होता है, इसलिए अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृ-चैतन्य और विषयावच्छिन्न प्रमेय-चैतन्य एक ही होते हैं। अतः उस अन्तःकरणवृत्ति से प्रमातृ-चैतन्यनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण और प्रमेय चैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण—दोनों आवरणों का नाश होता है। इसलिए यहाँ पर 'घटोऽस्ति', 'घटो भाति' ये दोनों व्यवहार होते हैं।

अनुमित्यादि परोक्षज्ञानकाल में तो हृदयदेश में ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न हुई है, इसलिए उस वृत्ति से अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृ-चैतन्यनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण ही का नाश होता है। विषयावच्छिन्न प्रमेय-चैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण का तो वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति के अभाव से विनाश नहीं होता। ऐसी दशा में 'पीत शंख' इस भ्रमकाल में श्वैत्य की अनुमिति होने पर अन्तःकरणवृत्ति से असत्त्वापादक आवरण का नाश होने पर 'शंख में श्वैत्य है' ऐसी प्रतीति तो होती है, परन्तु श्वैत्य का भान नहीं होता, क्योंकि अभानापादक आवरण विद्यमान है। अतः उस काल में 'शंख में श्वैत्य है' ऐसा ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु 'श्वैत्य की प्रतीति होती है' यह व्यवहार नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता।
अपरोक्षधिया नश्येदभानावृतिहेतुता।।'—इति।

तेनानुमानादौ असत्त्वावरणनाशात्तद्व्यवहारः। अभानावरणानिवृत्त्या च सोपाधिकसाक्षात्कारिभ्रमानिवृत्तिरिति[1]। तस्मान्निर्धर्मकस्याप्यात्मनोऽविद्यया अन्तःकरणतादात्म्याध्यासात् तद्धर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यास उपपद्यते।

द्विविधकर्तृतादेरप्रतीत्युपपत्तिः

ननु त्वन्मते अनिर्वचनीयख्यात्यभ्युपगमाद् ये कर्तृत्वादयोऽन्तःकरणधर्मा आत्मन्यध्यस्यन्ते ते अनिर्वचनीयास्तत्रोत्पद्यन्त इति वाच्यम्। तथा च व्यावहारिकप्रातीतिकभेदेन

(अपरोक्ष ज्ञान) से ही निवृत्त होता है, क्योंकि ज्ञान जिस आश्रय में होता है और जिसे विषय करता है, उसी विषय को विषय करनेवाले अज्ञान को निवृत्त करता है—ऐसा नियम है। परोक्ष ज्ञान विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध के अभाव से अन्तःकरणमात्र में आश्रित है। अपरोक्ष ज्ञान ही विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्य होने से विषय और अन्तःकरण दोनों में रहता है। कहा भी है—'परोक्ष[2] ज्ञान से अज्ञान में रहनेवाली असत्त्वावरण-हेतुता नष्ट होती है। और प्रत्यक्ष ज्ञान से अज्ञान की अभानावृति-हेतुता नष्ट होती है।' इसलिए अनुमानादि में असत्त्वावरण के नाश से वह्नि आदि का व्यवहार होता है। अभानावरण की निवृत्ति के न होने से सोपाधिक प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। इस कारण धर्मरहित भी आत्मा का अविद्या से अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास होने से अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अध्यास उपपन्न होता है।

शङ्का[3]—तुम्हारे मत में अनिर्वचनीय ख्याति स्वीकार है, इसलिए कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि अन्तःकरण के जो धर्म आत्मा में अध्यस्त होते हैं, वे (कर्तृत्वादि धर्म) आत्मा में अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं—ऐसा कहना

१. 'अभानावरणनिवृत्त्या च सोपाधिकसाक्षात्कारभ्रमनिवृत्तिः' इत्यन्यत्र पठ्यते। २. मूलाज्ञान अपने परिणाम-विशेष से असत्त्वापादक और अभानापादक इन दो आवरणों को उत्पन्न करता है। वहाँ पर मूलाज्ञान में रहनेवाली जो असत्त्वापादक आवरण की हेतुता है, वही केवल परोक्षज्ञान से नष्ट होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान से तो अभानापादक आवरण की हेतुता भी नष्ट हो जाती है, यह अर्थ है। ३. अनिर्वचनीय की ख्याति=प्रतीति। शुक्ति में जो रजत प्रतीत होता है, वह सत् नहीं है, क्योंकि दूरत्व, अन्धकारादि दोष का अपसरण होने पर 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से उसका बाध देखा जाता है। वह रजत असत् भी नहीं है, क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है। असत् वन्ध्यापुत्रादि की तो दोष से भी प्रतीति नहीं होती। इसलिए उस रजत को न सत् कह सकते हैं, न असत्; किन्तु दोनों से विलक्षण वह 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। अनिर्वचनीय कार्य का उपादानकारण भी कार्य के सदृश अनिर्वचनीय ही कहना चाहिये। वह अज्ञान मूलाज्ञान का अवस्थाविशेष है। उस अवस्था विशेष अज्ञान का शुक्तिज्ञान से नाश होने पर उसके कार्य रजत का भी नाश हो जाता है। यह प्रातीतिक रजत अन्यत्र प्रतीयमान व्यावहारिक रजत से पृथक् प्रतीत होता है, व्यावहारिक रजत से अभिन्न होकर नहीं। वैसे ही प्रकृत में अनिर्वचनीय कर्तृत्वादि धर्म यदि आत्मा में आरोपित हों तो उन प्रातीतिक धर्मों की आत्मा में प्रतीति होनी चाहिये। और अन्तःकरण में रहनेवाले व्यावहारिक कर्तृत्वादिकों की अन्तःकरण में प्रतीति होनी चाहिये। इस प्रकार व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से परस्पर भिन्न कर्तृत्वादि धर्मों की आत्मा और अन्तःकरण में दो प्रतीतियाँ होनी चाहिये। स्फटिक में रहनेवाला रक्तिमाभास इसका दृष्टान्त है। जैसे जपाकुसुमगत रक्तिमा की अपेक्षा उसके सन्निकृष्ट स्फटिक में पृथक् रक्तिमा दीखती है, वैसे ही अन्तःकरण के कर्तृत्वादि की अपेक्षा आत्मा में पृथक् कर्तृत्वादि की प्रतीति होनी चाहिये—यह पूर्वपक्षी का आशय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनां द्विधाऽवभासः स्यात्? न स्यात्, तादात्म्याभिमानेनाविवेकात्। सकलधर्मविशिष्टस्यैवान्तःकरणस्य आत्मन्यध्यस्तत्वेन द्वयाभावाद् वा।

निगमनम्

तस्मादेकस्यात्मन उपाधिभेदेन प्रमात्रादिव्यवस्थोपपत्तेर्न सौगतमतापत्तिः, न वा विरोधः। अन्या अपि व्यवस्थाः स्पष्टतरमुपरिष्टात् उपपादयिष्यन्ते। तस्माज्ज्ञानरूपस्यात्मनः सुषुप्तावव्यभिचारित्वाद् देहेन्द्रियादीनां च व्यभिचारित्वाद् दृश्यत्वाच्च तत्र तत्रात्मबुद्धिस्तेषां तेषां वादिनां भ्रान्तिरेवेत्यौपनिषदमेव मतं प्रमाणमिति सिद्धम्।।१।।

पड़ेगा। ऐसी दशा में व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों की दो प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये। समाधान—नहीं[१] होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा और मन के तादात्म्याभिमान से आत्मा और मन के भेद-ज्ञान का अभाव है। अथवा कर्तृत्वादि सकल[२] धर्मों से विशिष्ट अन्तःकरण का ही आत्मा में अध्यास होता है, इसलिए व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से प्रकारद्वय[३] का अभाव है।

इसलिए[४] एक ही आत्मा के उपाधि-भेद से प्रमाण, प्रमा, प्रमाता, प्रमेय आदि व्यवस्था होने से बौद्ध-मत की आपत्ति भी नहीं है और विरोध भी नहीं है। आगे चलकर अन्य व्यवस्थाएँ भी स्पष्टतया उपपादित होंगी। इस कारण ज्ञानरूप आत्मा का सुषुप्ति में अव्यभिचार है, देह और इन्द्रियों का व्यभिचार है और ये दृश्य भी हैं। इस कारण उन-उन वादियों की देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि भ्रान्तिरूप है। अतः यह उपनिषद् का मत ही प्रमाणरूप से सिद्ध हुआ।।१।।

(प्रष्टा—) यह[५] बात रहे। आपके कथनानुसार आत्मा[६] निर्धर्मक है। उस आत्मा में प्रमाता, प्रमाण आदि व्यवहार अध्यासमूलक हैं। इसलिए 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि शास्त्र में अप्रामाण्य हो जायगा, क्योंकि अकर्ता

१. जैसे जपाकुसुम और स्फटिक का भेदग्रह होता है, वैसे आत्मा और अन्तःकरणरूपी धर्मियों के भेद के अग्रह से धर्मों का भी भेदग्रह नहीं होता, यह भाव है। २. 'अन्तःकरण के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों के भेद से आत्मा में अध्यास होता है' इस पक्ष को ग्रहण करके पहले उत्तर कहा है। अब 'धर्मविशिष्ट अन्तःकरण का ही अभेद से आत्मा में अध्यास है' इस पक्ष को ग्रहण करके उत्तर देते हैं। जैसे कदाचित् जपाकुसुमसन्निकृष्ट रक्त-स्फटिक को देखकर किसी व्यवधान से जपाकुसुम का दर्शन न होने पर स्फटिक में ही रक्त-जपाकुसुम-बुद्धि होती है, वैसे ही अन्तःकरण का पृथक् दर्शन न होने पर कर्तृत्वादि धर्मों की आत्मा में ही प्रतीति होती है। ३. कर्तृत्वादि धर्मों के व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से रूपद्वय का अभाव होने से—यह अर्थ है। ४. जो पहले पूर्वपक्षी ने एक ही आत्मा की प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमातृरूपता का विरोध कहा है और अविरोध का अङ्गीकार करने पर सौगतमतापत्ति कही है, उसका सोपपत्तिक निरास हो गया। ५. इस कथन से सिद्धान्ती की उक्ति के उत्तरदान में असामर्थ्य से अर्धाङ्गीकार सूचित होता है। ६. आत्मा निर्धर्मक है, यह 'शिवः केवलोऽहम्' इस श्लोक से सिद्ध किया गया है। ज्ञातृत्व धर्म वाला न होने से वह कर्त्ता भी नहीं। ज्ञाता ही लोक में कार्यकारी होता है। कर्त्ता न होने से वह भोक्ता भी नहीं। 'ब्राह्मणो यजेत' यह वाक्य स्वर्गादि किसी फल की अभिसन्धिकर ब्राह्मण को उद्देश्य करके यज्ञ का विधान करता है। आत्मा भोक्ता नहीं, इसलिए उसको फल की अभिसन्धि नहीं। निर्धर्मक होने से आत्मा ब्राह्मण नहीं, अकर्त्ता होने से अनधिकारी और अनधिकारी होने से यज्ञ करने में समर्थ नहीं, क्योंकि यज्ञ क्रियाविशेष है। ऐसी दशा में 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों का निर्विषय होने से अप्रामाण्य-प्रसङ्ग है। यदि कहें कि मूल अविद्या, उसके कार्य अन्तःकरणादि और आत्मा इन दोनों के भेद के अज्ञान से प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्वादि धर्म आत्मामें अध्यस्त है, इसलिये वैसे आत्माका स्वरूप उद्देश्य करके 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि विधियों की प्रवृत्ति है; तो खेद है कि यह घट्ट-कुटी-प्रभात-न्याय है—श्रुतियों के प्रामाण्य की रक्षा के लिए तुम प्रवृत्त हुए थे और श्रुतियों का अत्यन्त अप्रामाण्य तुम्हारे गले में पड़ गया। शुक्ति को रजत देखनेवाला और उस रजत का अलङ्कार बनाने की इच्छावाला दोनों ही के नेत्र दूषित हैं। इन दोनों में से पहले की अपेक्षा द्वितीय का भ्रम दृढ और अधिक है। स्वभाव ही से स्वस्वरूप के अज्ञान से जीव भ्रान्त है, वैसे भ्रान्त जीवों को उद्देश्य करके प्रवृत्त हुई श्रुति अत्यन्त भ्रान्त सिद्ध होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवहारआध्यासिकः

स्यादेतत्—आत्मनो निर्धर्मकत्वे प्रमात्रादिव्यवहारस्याध्यासमूलत्वे 'ब्राह्मणो यजेत' इत्येवमादीनां शास्त्राणामप्रामाण्यप्रसङ्गः, अकर्तुरभोक्तुश्चात्मनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। वेदाप्रामाण्ये च कुतो ब्रह्मसिद्धिरपि, तस्य तन्मात्रगम्यत्वात्, 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति न्यायात्। तथा च वेदप्रामाण्याय प्रमात्रादिव्यवहारस्य सत्यत्वमभ्युपेयमित्याशङ्क्य; किं तत्त्वज्ञानात्[1] पूर्वमप्रामाण्यमापाद्यते, ऊर्ध्वं वा? तत्राद्ये सर्वेषां प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वेन तद्दशायां बाधाभावान्निष्प्रत्यूहं प्रामाण्यम्। द्वितीये[2] त्विष्टापत्तिरेवेत्याह—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।२।।

और अभोक्ता आत्मा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। फिर वेद में अप्रामाण्य[3] होने पर ब्रह्मसिद्धि भी कैसे? क्योंकि 'शास्त्रयोनित्वात्' आदि न्याय से ब्रह्म केवल वेद से ज्ञातव्य है। अतः वेद के प्रामाण्य के लिए प्रमाता आदि के व्यवहार की सत्यता को स्वीकार करना चाहिये। ऐसी आशङ्का करके; क्या तत्त्व-ज्ञान के पूर्व में अप्रामाण्य की आपत्ति है, या तत्त्व-ज्ञान के पश्चात्? पहले पक्ष में समस्त प्रमाण अविद्यावान् ही को विषय करते हैं,[4] इसलिए उस दशा में बाध न होने से वेद में निर्विघ्न प्रामाण्य है। दूसरे पक्ष में इष्टापत्ति ही है, यह कहते हैं—

१. निर्विषयत्व अथवा बाधितविषयत्व रूप हेतु से श्रुति के अप्रामाण्य की जो शङ्का की जाती है, तत्त्वज्ञान से पूर्व तो वह सम्भव नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान से पूर्व श्रुति का निर्विषयत्व और बाधितविषयत्व हेतु ही अज्ञात है। निर्विष्यत्व और बाधितविषयत्व ज्ञात ही अप्रामाण्य में हेतु हुआ करता है, स्वरूप-सत् नहीं; क्योंकि स्वाप्न हस्ती के प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य को कोई नहीं जान सकता। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान से पूर्व लोक-व्यवहार अव्याहत (बेरोक) देखा जाता है। इसलिए तत्त्वज्ञान से पूर्व निर्विषयत्व और बाधितविषयत्व ज्ञात नहीं है। अतः अप्रामाण्य-प्रसङ्ग नहीं है। २. तत्त्वज्ञान होने पर श्रुति का अप्रामाण्य इष्ट ही है। ३. शङ्का—श्रुति का अप्रामाण्य हो जाय, इससे अद्वितीय आत्मवादी की क्या हानि है? उत्तर—प्राणिमात्र द्वारा 'अहं' इस रूप से आत्मस्वरूप का जो अनुभव किया जाता है, वह वास्तविक आत्मस्वरूप नहीं है। वेदान्ती को अभिमत वास्तविक आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष से अनुभव नहीं होता। रूपादि गुणों का अभाव होने से उसका बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आन्तर प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण की शक्ति का अपने उपजीव्य आत्मा में अवकाश नहीं है जैसे सूर्य से प्रज्वलित अयस्कान्त सूर्य के प्रज्वालन में समर्थ नहीं होता। 'यन्मनसा न मनुते' (के० १।५) इस श्रुति से भी प्रतीत होता है कि आत्मा का आन्तर प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान से भी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि असङ्ग चिद्रूप आत्मा में तद्व्याप्त लिङ्ग का अभाव है। उपमान से भी वह नहीं हो सकता, क्योंकि निर्धर्मक आत्मा में सादृश्यप्रयोजक साधारण धर्म असम्भव है। ऐसी दशा में आत्मस्वरूप केवल श्रुतिगम्य है। श्रुति भी साक्षात् उसका प्रतिपादन नहीं कर सकती, किन्तु लक्षणा अथवा निषेध-मुख से ही प्रतिपादन करती है। 'शास्त्रयोनित्वात्'। (ब्र० १।१।३) यह सूत्र भी यही कहता है। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इस पूर्वसूत्र में जगज्जन्मादिकारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण कहा है वह किस तरह जाना जा सकता है? ऐसी आकांक्षा होने पर उसमें हेतुप्रदर्शनपरक यह सूत्र है। सूत्र का अर्थ यह है—शास्त्र=श्रुति ही एक, योनि=प्रमाण जिसका है, ऐसा होने से। पूर्वोक्त रीति से अध्यस्त आत्मस्वरूप के उद्देश्य से प्रवृत्त हुई श्रुति में यदि अप्रामाण्य होगा तो उस श्रुति से प्रतिपादित आत्मस्वरूप भी सत्य नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्षी का आशय है। ४. अध्यासभाष्य की प्रसिद्ध पंक्ति 'अविद्यावद्विषयाणि एव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च, पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्।' की ओर संकेत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यासनिवृत्त्या व्यवहारनिवृत्तिः

न वर्णा इति। वर्णाः ब्राह्मणत्वादयः। आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयः। आचाराः स्नानशौचादयः। धर्माः ब्रह्मचर्यगुरुसेवादयः।[1] अत्र द्वन्द्वद्वयगर्भषष्ठीतत्पुरुषेण वर्णानामाचार-धर्माश्चाश्रमाणामप्याचारधर्माश्च लभ्यन्ते। धारणा बाह्यविषयत्यागेन मनःस्थैर्य्यम्। ध्यानं परमात्मचिन्तनम्[2]। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। आदिशब्देन श्रवणमननादयो गृह्यन्ते। सर्वेषां ज्ञानोत्तरकालमसत्त्वे हेतुमाह—अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानादिति। अनात्मा आत्मविरोधिनी अविद्या। तदाश्रयस्तदुपादानो योऽहङ्कारममकाराध्यासः, तस्य समूलस्यापि तत्त्वज्ञानेन हानात् तत्प्रयुक्तवर्णाश्रमादिव्यवहारो नास्तीत्यर्थः।।२।।

व्यवहाराऽध्यासिकत्वदृढीकरणम्

वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य मिथ्याज्ञानमात्रमूलत्वेन मिथ्यात्वं द्रढयितुं तद्व्यतिरेके

मेरे न वर्ण हैं, न वर्णों के आचार-धर्म हैं, न आश्रमों के आचार-धर्म हैं, न मेरी धारणा है, न ध्यान है, न योगादि ही हैं; क्योंकि अविद्या से उत्पन्न अहंकार और ममकार के अध्यास का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है, इसलिए तत्प्रयुक्त वर्णाश्रम आदि व्यवहार भी नहीं रहते। सब प्रमाणों के बाध होने पर भी अबाधित, अद्वितीय, निर्धर्मक, शिव मैं हूँ।

वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि। आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि। आचार—स्नान, शौच आदि। धर्म—ब्रह्मचर्य, गुरु-सेवा आदि। यहाँ वर्ण और आश्रम का एवं आचार और धर्म का परस्पर द्वन्द्व करके पुनः षष्ठी-तत्पुरुष किया है। इससे वर्णों के आचार-धर्म और आश्रमों के आचार-धर्म—इस अर्थ का लाभ होता है। धारणा-बाह्य घट-पट आदि विषयों का त्यागकर ब्रह्म में मन को स्थिर करना। ध्यान—परमात्मा का चिन्तन। योग—चित्तवृत्तियों का निरोध। श्लोकस्थ 'आदि' पद से श्रवण, मनन आदि का ग्रहण किया जाता है। ज्ञान के अनन्तर सबकी असत्ता में हेतु देते हैं—'अनात्माश्रया०' से। अनात्मा—आत्मा की विरोधिनी अविद्या है। वह अविद्या है आश्रय (उपादान) जिसका ऐसा जो अहंकार, ममकार आदि का अध्यास उस अध्यास का और उसके मूल कारण अविद्या का भी तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। इसलिए अविद्याप्रयुक्त वर्णाश्रमादि-व्यवहार भी नहीं है—यह अर्थ है।।२।।

वर्णाश्रमादि[3] व्यवहार के भ्रममूलक होने से उसमें मिथ्यात्व को दृढ करने के लिए सुषुप्ति में मिथ्याज्ञान

१. 'चरणं चारित्रम् आचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षं, न हि सदाचारहीनः कश्चिद् अधिकृतः स्यात्' इति सूत्रभाष्यम् (३.१.सू.६-१०)। तत आचारा धर्मात् पृथक् सन्ति। २. धारणाध्यानयोरनात्मविषयसाधारण्येऽपि तत्त्वनिष्ठस्य प्रकृतत्वाद् तयोग्ययोर्धारणाध्यानयोरेवात्र ग्रहणमिति रत्नावल्यां स्पष्टी कृतम्। ३. वर्ण ब्राह्मणादि और आश्रम ब्रह्मचर्यादि हैं। तन्मूलक 'अयं ब्राह्मणः, अयं क्षत्रियः, अयं ब्रह्मचारी, अयं गृहस्थः, ब्राह्मणो यजेत, ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि व्यवहार मिथ्याज्ञानमूलक हैं, इसलिए मिथ्या हैं। 'अहं मनुष्यः' इत्यादि प्रतीति को भ्रान्तिरूप कहने से ऐसे व्यवहारों की मिथ्याज्ञानमूलकता पीछे सिद्ध की गयी है। इसलिए ईदृश व्यवहार और मिथ्याज्ञान इन दोनों का कार्य-कारण-भाव है। मिथ्याज्ञान के होने पर ईदृश व्यवहार होता है, यह अन्वयमुख से उपपादन किया है। अब मिथ्याज्ञान के न होने पर ईदृश व्यवहार का अभाव होता है, इस प्रकार व्यतिरेकमुख से उपपादन करते हैं। अन्वय और व्यतिरेक से उपपादन किया हुआ कार्य-कारण-भाव दृढ हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुषुप्तौ तद्व्यतिरेकमाह—

न माता पिता वा न लोका न देवा न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।३।।

न मातेति। माता जनकस्त्री। पिता जनकः पुमान्। देवाः इन्द्रादय आराध्याः। लोकाः तदाराधनफलानि स्वर्गादीनि। वेदाः लौकिकप्रमाणाप्रतिपन्नहिताहितसाधनताप्रतिपादकानि ब्रह्मप्रतिपादकानि च प्रमाणवाक्यानि[1]। यज्ञाः स्वर्गादिसाधनीभूता ज्योतिष्टोमादयः। तीर्थम् यज्ञादिसाधनीभूतः कुरुक्षेत्रादिदेशः। एवं पापकर्मसाधनान्यप्युपलक्षणीयानि। सर्वेषां देहाभिमानमूलकत्वात्तदभावे स्वतः सम्बन्धाभावाद् अविद्यमानतेत्यर्थः।

विचारे सुप्त्युपयोगः

तथा च सुषुप्तिं प्रकृत्य श्रुतिः—'अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहा अभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः[2] श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं[3] पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति' (बृ० ४। ३। २२) इत्याद्या अभिमानाभावे सर्वानर्थनिवृत्तिमनुवदन्ति।

के न रहने पर वर्णाश्रम आदि के व्यवहार का भी अभाव (आचार्य) प्रतिपादन करते हैं :—

(मेरे) न माता है, न पिता है, न देवता हैं, न लोक हैं, न वेद हैं, न यज्ञ हैं, न तीर्थ हैं। सुषुप्ति में निरस्त अतिशून्यात्मक होने से एक, अवशेष, केवल शिव मैं हूँ।

माता=उत्पन्न करनेवाली स्त्री (जननी)। पिता=उत्पन्न करनेवाला पुरुष (जनक)। देव=आराधना-योग्य इन्द्र आदि। लोक=देवताओं की आराधना के फलस्वरूप स्वर्ग आदि। वेद=लौकिक प्रमाणों से अज्ञात हित और अहित साधनों का प्रतिपादन करनेवाले तथा ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले प्रमाण-वाक्य। यज्ञ=स्वर्ग के साधन ज्योतिष्टोम आदि। तीर्थ=यज्ञ के साधन-स्वरूप कुरुक्षेत्र आदि देश। इसी[4] प्रकार पापकर्म के साधनों का भी उपलक्षण समझना चाहिये, क्योंकि इन सबका[5] मूल देहाभिमान है। देहाभिमान के अभाव में साक्षात् सम्बन्ध न रहने से माता-पिता आदि की सत्ता नहीं है।

१. 'अलौकिकहिता...'इति क्वचित् पठ्यते। 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अनवगतेष्टाऽनिष्ट-प्राप्तिपरिहारोपाय-प्रकाशनपरः' इति बृहदारण्यकसम्बन्धभाष्यम्। २. शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न चाण्डाल, शूद्र से क्षत्रियाणी में उत्पन्न पौल्कस, श्रमण=संन्यासी, तापस=वानप्रस्थ। यह ब्रह्मचारी, गृहस्थों का उपलक्षण है। सुषुप्तिअवस्था में आश्रम-लक्षण किन्हीं कर्मों से सम्बन्ध न होने से किस आश्रम से मनुष्य आश्रमवाला उस समय होगा! ३. उस समय आत्मस्वरूप पुण्य (शास्त्रविहित कर्म) से, पाप (निषिद्ध कर्म) से अनन्वागत (असम्बद्ध) होता है। क्योंकि उस समय आत्मा हृदय के सर्वशोकों से अतिक्रान्त होता है। यहाँ 'शोक' शब्द का अर्थ शोक का कारण काम लिया जाता है, क्योंकि इष्ट-वस्तु-विषयक काम ही उस इष्ट-वस्तु का वियोग होने पर शोकरूप से परिणत हो जाता है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में काम ही का अभाव होने से काममूलक पुण्य-पाप-कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। ४. अहितोपदेष्टा नर, नास्तिक-ग्रन्थ, हिंसादि कर्म, श्मशानादि देश आदि को पाप-कर्म-साधन समझना चाहिये। ५. क्योंकि मातृत्वजनक स्त्रीत्व है और जनकत्व जन्यनिरूपित होता है। आत्मा जन्य नहीं, किन्तु देह है। इसलिए आत्मा में देहतादात्म्याभिमान ही से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शून्यतापत्तिनिरासः

ननु सर्वव्यवहाराभावे शून्यतैव स्यात्? नेत्याह—निरस्तातिशून्यात्मकत्वादिति। निरस्तमतिशून्यात्मकत्वं यस्मात्तत्तथा। भावप्रधानो निर्देशः। तस्य सुषुप्तिसाधकत्वात् पुनरुत्थानानुपपत्तेश्च। 'अविनाशी[1] वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य[2] भवति'। (बृ० ४। ५। १४), 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै[3] तन्न पश्यति। नहि

सुषुप्ति के प्रकरण में 'अत्र[4] पिता अपिता भवति०' इत्यादि श्रुतियाँ देहाभिमान के अभाव में समस्त अनर्थों की निवृत्ति का अनुवाद करती हैं।

शङ्का—समस्त व्यवहार की निवृत्ति होने पर शून्यता ही हो जायेगी। समाधान—नहीं होगी। अतिशून्यात्मकता का ब्रह्म में निराकरण किया गया है, क्योंकि वह सुषुप्ति का साधक[5] है। शून्य साधन नहीं हुआ करता, शून्य होने पर पुनः उत्थान की उपपत्ति भी नहीं हो सकती। 'अविनाशी वा०' इत्यादि श्रुति से भी सुषुप्ति में आत्मचैतन्य की शून्यता नहीं है। यद्यपि इसका हम पहले निराकरण कर चुके हैं;

मातृत्व आदि की सम्पत्ति हो सकती है। देहाभिमान ही से इन्द्रादि देवता आराध्य होते हैं। स्वर्गादि फल भी देहाभिमान ही से भोगे जाते हैं। कर्म भी देहाभिमान ही से किये जाते हैं। देहाभिमान का अभाव होने पर तो स्वभाव से असङ्ग आत्मा का माता आदि के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं। इसलिए सुषुप्तिकाल में न कोई माता है, न पिता—यह वस्तुस्थिति है। पूर्व श्लोक से 'मे' शब्द का यहाँ भी सम्बन्ध है। सुषुप्ति में अपनी स्थिति के अनुशीलन से निश्चय होता है कि माता आदि मेरे नहीं हैं यह भाव है। १. यह आत्मा विनाश से रहित है, क्योंकि उच्छेद-लक्षण विनाश इसमें नहीं है, इसके विरुद्ध सदा अस्तित्व ही आत्मा का स्वाभाविक रूप है। २. मात्रा (शब्दादि विषय) के साथ आत्मा का सुषुप्ति में संसर्ग नहीं होता, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ उस समय वृत्तिशून्य हैं। वृत्तिशून्यता ही उस समय शब्दादि के ज्ञान के अभाव में कारण है। आत्मा की असत्ता इसका कारण नहीं, क्योंकि श्रुति में 'अस्य' पद से आत्मा का अनुवाद करके केवल विषय-संसर्ग ही का निषेध किया है। ३. 'वै' शब्द का अर्थ अवधारण है। सुषुप्ति-अवस्था में यह जीवात्मा जो नहीं देखता, वह वस्तुतः देखता हुआ ही नहीं देखता। यहाँ पर 'देखता हुआ' यही हेतु है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का लोप किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं। तब क्यों नहीं देखता, इसका उत्तर कहते हैं—'न तु तत्' इति से। ४. सुषुप्ति में देहाभिमान से शून्य जीवात्मा की 'यह मेरा पिता है' ऐसी वृत्ति नहीं होती, क्योंकि पिता जनक पुरुष को कहते हैं और जन्य-जनक-भाव कर्ममूलक है। कर्म जीवात्मा में स्वरूप से नहीं है, किन्तु देहरूपी उपाधि से देहाभिमान के अधीन है। सुषुप्तिअवस्था में देहाभिमान नष्ट हो गया है, इसलिए पिता में देहाभिमाननिरूपित पितृत्व नहीं रहता। इसी प्रकार माता भी अमाता होती है। यह भार्या, पुत्रादि सबका उपलक्षण है, क्योंकि नष्टाभिमान जीवात्मा के सुषुप्ति-अवस्था में भार्या, पुत्रादि कैसे रह सकते हैं? कर्म से प्राप्य स्वर्गादि लोक भी उस समय कर्म के सम्बन्ध का अभाव होने से अलोक ही हैं। कर्म से आराधनीय कर्म के अङ्गभूत देव भी उस समय अदेव ही हैं। कर्म-सम्बन्धी मंत्र-ब्राह्मण-लक्षण वेद भी अवेद ही हैं। वैसे ही कर्मविशेषरूप यज्ञ भी उस समय अयज्ञ ही हैं। सुषुप्ति-अवस्था में यह जीव न केवल शुभ कर्मों ही से शून्य है, किन्तु अत्यन्त घोर अशुभ कर्मों से भी उस समय असम्बद्ध ही है। क्योंकि शुभ कर्म की तरह अशुभ कर्म भी देहाभिमानमूलक ही है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में स्तेन (चोर) भी अस्तेन हो जाता है; 'भ्रूण' गर्भ को कहते हैं, उसका विघातक भी सुषुप्ति-अवस्था में अभ्रूणहा ही है। उस समय जीव न केवल प्रत्युत्पन्न कर्म से निर्मुक्त है, किन्तु जन्मान्तर में उपार्जित अत्यन्त निकृष्टजातिप्रापक कर्म से भी उस समय वह निर्मुक्त ही है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में चाण्डाल भी अचाण्डाल है। ५. सुषुप्ति होती है इसे सिद्ध ही आत्मा कर पाता है। यदि किसीको कभी अनुभूत ही न हो तो सुषुप्ति है यह बात ही अमान्य हो जायेगी। यहाँ साधक का अर्थ है साक्षी; सुषुप्तिका साक्षी है इसलिये सुषुप्ति में आत्मा का होना मना नहीं किया जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वान्नतु[1] तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं 'यत्पश्येत्' (बृ० ४ ।३ ।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मचैतन्यस्य सुषुप्तौ न शून्यतेत्यर्थः । निराकृतमप्येतत्पुनरपि स्थूणानिखननन्यायेन निराक्रियते ।

यद्वा—निरस्तम् अशनायाद्यतीतम्, अद्वितीयम् अतिशून्यं[3] यद् ब्रह्म तदात्मकत्वात् । तथा च श्रुतिः—'यदा[4] वै पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६ ।८ ।१), 'तद्[5] यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४ । ३ । २१) इति । तेन जगत्कारणीभूतसर्वज्ञसर्वशक्तिपरिपूर्णानन्दबोधरूपेण ब्रह्मणा सहैकत्वादसंसार्येव जीव इति सिद्धम् । ।३ । ।

तत्पदार्थे विप्रतिपत्तयः

एवं तावत् त्रिभिः श्लोकैर्वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं त्वंपदार्थो निर्धारितः । सम्प्रति तत्पदार्थस्तथैव निर्धारणीयः । तत्र निराकार्या वादिविप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते ।

'तथापि 'स्थूणानिखनन' न्याय से फिर भी निराकरण किया जाता है।

अथवा निरस्त=अशनाया-पिपासा आदि से रहित। अद्वितीय=अपने से अतिरिक्त और सबसे शून्य जो ब्रह्म तत्स्वरूप होने से। इस विषय में 'यदा वै०' इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् के कारणस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, आनन्दबोधरूप ब्रह्म के साथ जीव की एकता होने से जीव असंसारी ही है। ।३ । ।

इस[7] प्रकार तीन श्लोकों से वादियों की विप्रतिपत्तियों का निरास करके त्वंपद के अर्थ का

---

१. दृश्य के अभाव से ही दृष्टि का अभाव केवल प्रतीत होता है, वास्तव में दृष्टि का अभाव नहीं; क्योंकि चिद्रूप से प्रकाशमान ही आत्मा केवल चाक्षुषवृत्ति के अभाववाला है, यह अर्थ है। २. 'यद् इत्यव्ययं, येनेत्यर्थः'—रत्नावली। ३. अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—इस प्रसिद्ध ऊर्मि- षट्क से रहित है। अतिशून्य अर्थात् शून्य से अतीत। शून्य व्यवहार्य है, ब्रह्म परमार्थ है। स्वप्रकाश होने से अव्यवहार्य ब्रह्म संभव है, शून्य स्वप्रकाश न होने से अव्यवहार्य स्तर पर 'है' नहीं माना जा सकता यह भाव है। ४. जब यह पुरुष सोता है, तब सद्रूप ब्रह्म से सम्पन्न (एकीभूत) होता है। अपने स्वकीय परमार्थ-सत्य सद्रूप को प्राप्त होता है, यह अर्थ है। ५. जैसे प्रिया स्त्री से सम्परिष्वक्त (सम्यक् आलिङ्गित) पुरुष एकीभूत की तरह होकर उस क्षण में बाह्य-आभ्यन्तर किसी पदार्थ को नहीं जानता, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में यह जीवात्मा प्राज्ञ परमात्मा से सम्परिष्वक्त हो एकीभूत होता हुआ बाह्य-आभ्यन्तर किसी को नहीं जानता, यह अर्थ है। ६. 'न भूमिर्न तोयम्' इस श्लोक में 'न खम्' इस कथन से शून्यवाद का आचार्यों ने निराकरण किया है, उसीका 'निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्' इस पद से दृढ प्रतिपत्ति के लिए पुनः निराकरण किया है। जैसे गाड़ा हुआ भी स्तम्भ दृढ करने के लिए बार-बार हिलाया जाता है, वैसा ही यह निराकरण है। वस्तुतस्तु दशश्लोकीकार ने प्रथम श्लोक में ख-शब्द का ही प्रयोग किया था, बिंदुकारने ही उससे शून्यनिरास समझाया था। मूलकार समाप्ति श्लोक में भी 'न शून्यम्' कहेंगे। अथवा 'निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्' इससे शून्यवाद का निराकरण नहीं क्योंकि 'न खम्' इससे पहले ही उसका निराकरण हो चुका है। किन्तु सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा में केवल अद्वितीय ब्रह्मात्मकता का बोध किया जाता है। यह पक्षान्तर कहा जाता है—'यद्वा' इस ग्रन्थ से। ७. अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति से प्रतिपादित जीव-ब्रह्म की एकता यहाँ दिखाना ही आचार्यों का उद्देश्य है। वह एकता जीव और ब्रह्म में प्रतीयमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु न ब्रह्मणा[1] सह जीवस्यैक्यमुपपद्यते। तथाहि—सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म 'सदेव[2] सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यादिवाक्येन प्रतिपादितम्। (i) जगत्कारणं च प्रधानमचेतनमिति सांख्याः[3]। (ii) पशुपतिरेव जगत्कारणम्, स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नस्तदुपास्य एवेति पाशुपताः। (iii) भगवान् वासुदेव ईश्वरो जगत्कारणम्।

निर्धारण[4] हो गया। अब उसी प्रकार तत्पद के अर्थ का भी निर्धारण करना चाहिये। निर्धारण के लिए पहले निराकरणयोग्य वादियों की विप्रतिपत्तियाँ दिखायी जाती हैं।

शङ्का—ब्रह्म के साथ जीव की एकता उपपन्न नहीं हो सकती। देखिये—सत्-शब्द का वाच्य ब्रह्म जगत् का कारण है, यह बात 'सदेव सौम्य०' इत्यादि वाक्यों से कही गयी है। सांख्य कहते हैं—जगत् का कारण प्रधान अचेतन (जड) है। पाशुपत[4] (शैव) कहते हैं कि पशुपति ही जगत् का कारण है। वह यद्यपि चेतन है, तथापि जीव से भिन्न है, क्योंकि वह जीव का उपास्य ही है। पाञ्चरात्रिक[5] कहते हैं कि भगवान् वासुदेव ईश्वर हैं, वे ही जगत् के कारण हैं; उनसे संकर्षणनामक जीव उत्पन्न होता है, उससे मन का अभिमानी देव प्रद्युम्न उत्पन्न होता है, उससे अहंकार का अभिमानी देव अनिरुद्ध उत्पन्न होता है। इसलिए कार्यरूप जीव के साथ

धर्मों को आरोपित मानकर ही हो सकती है। दोनों में से अन्यतर में आरोपितत्व अङ्गीकार करने से भी निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि एक में धर्मों के सत्य होने पर निर्धर्मक के साथ उसका अत्यन्ताभेद हो नहीं सकता। इसलिए दोनों ही में धर्मों का आरोपितत्व सिद्ध करना होगा। पहले तीन श्लोकों से जीव में धर्मों का आरोपितत्व सिद्ध कर दिया। अब ब्रह्म में धर्मों के आरोपितत्व की सिद्धि के लिए 'न साङ्ख्यम्' इत्यादि श्लोक का प्रणयन करते हैं। १. जीव-ईश्वर में भेदाभेद की संभावना मिटाने के लिये अत्यन्त अभेद स्पष्ट करना ज़रूरी है अतः अखण्डता के योग्य जो तत्पदार्थ का स्वरूप है वह बताया जायेगा। २. यह पुरोदृश्यमान सारा जगत् सृष्टि से पहले सद्रूप ही था—यह श्रुति का अर्थ है। जैसे 'यह जो घट है, वह पूर्वाह्ण में मृत्तिका ही था' ऐसा कहने से मृत्तिका घट का कारण है, यह जाना जाता है; वैसे ही इस श्रुति में सत् जगत् का कारण है, यह जाना जाता है। यह श्रुति सद्रूप ब्रह्म को ही जगत् का कारण कहती है; यह सिद्धान्त है। ३. प्रधानकारणवादी साङ्ख्य कहते हैं कि यह श्रुति प्रधान को जगत्-कारण कहती है। त्रिगुणात्मक अचेतन ही प्रधान जगत् का कारण है। प्रधान से व्यतिरिक्त कोई ब्रह्म है ही नहीं। साङ्ख्य-मत में ब्रह्म नहीं है, इसलिए जीव-ब्रह्म की एकता के वाद की कथा ही दूर है। ४. महावाक्यार्थ में उपयोगी जो जीव का स्वरूप वह समझा दिया गया। तात्पर्य-विषय अर्थ बुद्धि में आये तभी वाक्यार्थ सही समझ आ सकता है। साधक त्वं-शब्द से क्या समझे कि महावाक्य का अखंड अर्थ स्पष्ट हो—यह बता चुके। अब तत्-शब्द से समझने योग्य अर्थ बतायेंगे। ५. पशुपति ही ब्रह्म है, किन्तु वह जीव का उपास्य है। उपास्य और उपासक का भेद अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। इसलिए इस मत में भी जीव-ब्रह्म की एकता नहीं है; किन्तु अत्यन्त भेद ही है। वैसे ही पाञ्चरात्रिक मत में भी अत्यन्त अभेद नहीं है, यह आशय है। ६. भगवान् वासुदेव ही ब्रह्म है। वे षड्गुण-परिपूर्ण हैं। उनके ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण हैं। इनमें (१) सामान्य और विशेषरूप से सर्ववस्तुविषयक प्रत्यय को 'ज्ञान' कहते हैं। (२) जगत् के उत्पादन में श्रम का अभाव 'बल' है। (३) जगत्-प्रकृति होने पर भी दुग्ध के दधिभाव की तरह विकार का अभाव 'वीर्य' है। (४) इच्छा का अप्रतिघात 'ऐश्वर्य' है। (५) जगत् की मूलकारणता 'शक्ति' है। और (६) सहकारी अनपेक्षता 'तेज' है। उन वासुदेव भगवान् से संकर्षण उत्पन्न होता है। सब जीवों के अभिमानी जीव की संकर्षण संज्ञा है। उस जीव से 'प्रद्युम्न' उत्पन्न होता है। सब मनों के अभिमानी मन की 'प्रद्युम्न' संज्ञा है। उस मन से 'अनिरुद्ध' उत्पन्न होता है। सब अहंकारों के अभिमानी अहंकार की 'अनिरुद्ध' संज्ञा है। जीव, मन और अहंकार यद्यपि साक्षात् और परम्परा से भगवान् के कार्य होने से षड्गुणों के आश्रय हैं, तथापि उनमें भगवान् की तरह उन गुणों का निरतिशयोत्कर्ष नहीं है, किन्तु सामान्यतः उन्मेषमात्र है। उनमें से भी जीव में ज्ञान और बल का उन्मेष है, इतर गुण तिरोभूत हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मादुत्पद्यते संकर्षणाख्यो जीवः। तस्मान्मनः प्रद्युम्नः। ततोऽहङ्कारोऽनिरुद्धः। तेन कार्यत्वाज्जीवस्य तेन सह न ब्रह्मणो वासुदेवस्यात्यन्ताभेद इति पाञ्चरात्रिकाः। (iv) परिणामी नित्यः सर्वज्ञो भिन्नाभिन्न इति जैनास्त्रिदण्डिनश्च[१]। (v) नास्ति सर्वज्ञत्वाद्युपेतं ब्रह्म, आम्नायस्य क्रियापरत्वेन तत्र तात्पर्याभावात्। किन्तु 'वाचं धेनुमुपासीते' तिवत् सर्वज्ञत्वादिदृष्ट्या जगत्कारणं परमाण्वादि जीवो वोपास्य इति मीमांसकाः। (vi) अस्ति[२] नित्यज्ञानादिमानीश्वरः सर्वज्ञः पृथिव्यादिकार्यलिङ्गानुमितः। स च जीवाद्भिन्न एवेति तार्किकाः। (vii) क्षणिकः सर्वज्ञ इति सौगताः[३] (viii) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो[४]

वासुदेवरूप ब्रह्म का अत्यन्त अभेद नहीं है। जैन[५] और त्रिदण्डी कहते हैं—परिणामी, नित्य, सर्वज्ञ भिन्न-अभिन्न तत् पदार्थ है। मीमांसक[६] कहते हैं कि सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वेद बाह्य या मानस

मन में वीर्य और ऐश्वर्य का उन्मेष है, इतर तिरोभूत हैं। अहङ्कार में शक्ति और तेज का उन्मेष है, इतर तिरोभूत हैं। इस प्रकार जीवादि सारे जगत् के भगवान् वासुदेव कारण हैं। कार्य और कारण का अत्यन्त अभेद नहीं, किन्तु भेदसहकृत अभेद है। मोक्षपर्यन्त भेद, फिर अभेद—इस प्रकार काल-भेद से भेद और अभेद का अविरोध है। १. 'रामानुजेन मकारार्थस्य जीवकोटौ प्रवेशाङ्गीकाराज्जीवपरमात्मनोः पितृपुत्रन्यायेनैव अभेदाङ्गीकाराच्च जैनादपि अपकर्षो ज्ञातव्यः ...अत एव मूले पश्चाद् उक्तिः।' इति नारायणी-व्याख्यायाम्। २. वैशेषिक कहते हैं—जीव के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न अनित्य हैं और ईश्वर के नित्य हैं। वह ईश्वर सर्वज्ञ है। वे ईश्वर में अनुमान प्रमाण देते हैं, जो इस प्रकार है—'पृथ्वी सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्। द्व्यणुकजनकमाद्यं परमाणुकर्म, प्रयत्नवज्जन्यम् कर्मत्वात्, सम्मतवत्। ब्रह्माण्डादिधृतिः प्रयत्नवज्जन्या, धृतित्वात्, वियति विहङ्गमधृतिवत्', आदि। इन अनुमानों से नित्य, एकप्रयत्नवान् ईश्वर की सिद्धि होती है। और जन्यता तो 'जहाँ समवाय-सम्बन्ध से कार्य रहता है, वहाँ विषयता-सम्बन्ध से ज्ञानादि रहते हैं' इस प्रकार घटादिकों में प्रत्यासत्ति से नियत देखी गयी है। उक्त रीति से जीव से सिद्धसाधन और अर्थान्तर नहीं है, क्योंकि जीव के ज्ञान-कृत्यादि की जन्यता द्व्यणुक में नहीं है, क्योंकि विषयता-सम्बन्ध से जीव के ज्ञान आदि द्व्यणुक में नहीं रहते। ३. बौद्ध मानते हैं कि जगत् में दृश्यमान सब वस्तु क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षण और शून्य हैं। राग-द्वेषादि दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट जो सर्ववस्तुविषयक क्षणिक ज्ञान है, उस ज्ञान का प्रवाह ही ईश्वर है। स्व (व्यक्ति) ही जिसका लक्षण हो, उसको 'स्वलक्षण' कहते हैं। घटादि सब पदार्थ प्रत्येक व्यक्तितः स्वस्वरूप से ही लक्षित होते हैं, अनेक घटों में अनुगत घटत्वजाति से नहीं; क्योंकि बौद्ध जाति का अङ्गीकार नहीं करते। जीव का ज्ञान दोषों से अस्पृष्ट नहीं और न सर्वविषयक ही है। अतः इनके मत में जीव और ईश्वर का भेद सिद्ध ही है। यहाँ बौद्धों के योगाचार-संप्रदाय का उल्लेख है ऐसा नारायणी व्याख्या में बताया है। ४. अविद्या आदि पञ्चक्लेश और विहित, प्रतिषिद्ध, मिश्रभेद से तीन प्रकार के कर्म, विपाक (कर्मफल), आशय (फल के पाकपर्यन्त चित्त में रहनेवाले संस्कार) इन अविद्यादि से कालत्रय में भी असंस्पृष्ट नित्य ज्ञानस्वरूप ईश्वर है। वह प्रधान के कार्य सब पदार्थों में अंशभूत जो सत्त्वगुण है, उसमें प्रतिबिम्बित होकर उन सबका प्रकाश करता है। इस प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ है। इसके विपरीत 'संसारी जीव अल्पज्ञ है' इस मत में भी जीव और ईश्वर का भेद ही है। ५. जैनों के मत में जीवात्मा तत्तत् शरीर के अनुसार शरीर के सदृश परिमाणवाला होता है। भगवान् अर्हन् परमेश्वर का भी ऐसा ही स्वभाव है और यह इच्छानुसार अणु, मध्यम और महान् हो सकता है। ऐसा होने पर भी वह प्रवाहरूप से नित्य ही है। जैसे अनेक घटों का तत्तत् व्यक्ति की दृष्टि से परस्पर भेद और घटत्वदृष्टि से अभेद होता है, वैसे ही जीव और ईश्वर का व्यक्ति-दृष्टि से भेद और चैतन्य-दृष्टि से अभेद है। त्रिदण्डियों का मत भी ऐसा ही है। उसमें विशेष यह है कि जैन नास्तिक और त्रिदण्डी आस्तिक कहे जाते हैं। त्रिदण्डी लोग तार्किकों की तरह सर्वज्ञ ईश्वर अङ्गीकार करते हैं। वह ईश्वर परिणामी, नित्य और जीव से भिन्न और अभिन्न है। आस्तिक होने से त्रिदण्डी श्रुति को प्रमाण मानते हैं। अभेददृष्टि से 'तत्त्वमसि' श्रुति उपपन्न होती है और भेददृष्टि से 'य आत्मनि तिष्ठन्' यह श्रुति उपपन्न होती है। ६. ईश्वर ही नहीं है, फिर जीव के साथ उसके भेद और अभेद की कथा तो दूर रही। कर्म ही जीवों को शुभ-अशुभ फल देने में समर्थ हैं। समस्त वेद-राशि तो प्रधानता से कर्म की ही प्रतिपादक है। श्रुतियों के तात्पर्य का विषय ब्रह्म कोई है ही नहीं। जहाँ श्रुति में सर्वज्ञ की उपासना प्रतीत होती है, वहाँ जगत् के कारणभूत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्यज्ञानादिरूपः प्रधानांशसत्त्वगुणप्रतिफलिततया सर्वज्ञः संसारिपुरुषविलक्षण एवेति पातञ्जलाः।

(ix) अद्वितीयपरमानन्द एव ब्रह्म। तच्च जीवस्य वास्तवं स्वरूपम्। मायया च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं जगदुपादानं निमित्तं चेत्यौपनिषदाः[1]। एवं वादिविप्रतिपत्तिभिः संदिग्धे तत्पदार्थे औपनिषदपक्षपरिशेषेण तन्निर्णयायाऽऽह भगवान्—

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।

विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।४।।

क्रियापरक है, अतः उसका ब्रह्म में तात्पर्य ही नहीं है। किन्तु जैसे 'धेनु-दृष्टि से वाणी की उपासना करे' कहा गया है, वैसे ही 'सर्वज्ञत्व आदि दृष्टि से जगत्कारण परमाणु आदि की अथवा जीव की उपासना करे' ऐसा कहा गया है। नैयायिक कहते हैं कि नित्यज्ञान आदि से सम्पन्न, सर्वज्ञ, पृथिवी आदि कार्यरूप लिङ्ग (हेतु) से अनुमित ईश्वर है। वह जीव से भिन्न ही है। बौद्ध कहते हैं कि क्षणिक तथा सर्वज्ञ आत्मा है। भगवान् पतञ्जलि के अनुयायी कहते हैं कि क्लेश, कर्म, फल और वासनाओं के सम्बन्ध से रहित, नित्यज्ञानस्वरूप, प्रधानांश सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित होने से वह सर्वज्ञ और संसारी जीवों से विलक्षण है।

वेदान्ती कहते हैं कि अद्वितीय[2] परमानन्द ही ब्रह्म है, वही जीव का वास्तव स्वरूप है। माया से सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट होता हुआ वह जगत्[3] का उपादान एवं निमित्तकारण है। इस प्रकार वादियों के मतभेद से तत्पदार्थ के संदिग्ध होने पर वेदान्त-पक्ष का ही परिशेष होने से उसके निर्णय के लिए भगवान् आचार्य कहते हैं—

न सांख्य का मत श्रेष्ठ है; न शैव; न पाञ्चरात्र, न जैन और न मीमांसकों का ही मत उचित है; विशिष्टानुभूति से विशुद्धात्मक होने से एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

परमाणु, प्रधान आदि ही में सर्वज्ञत्व का आरोप करके उनकी उपासना के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य है। अथवा जीव में सर्वज्ञत्व का आरोप करके जीव की उपासना में तात्पर्य है। जैसे वाणी में धेनुत्व का आरोप करके वाणी की उपासना 'वाचं धेनुमुपासीत' इस श्रुति में प्रतिपादित है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिये। १. 'उपनिषत्प्रमाणमात्रप्रधाना वेदान्तिनः'—नारायणी। माध्वरामानुजनिम्बार्कवल्लभादयो न प्राधान्येन उपनिषत्प्रमाणकाः किंतु स्वस्वतन्त्रागमादिप्रमाणका अतो न तन्मतप्रसिद्धपदार्था उपनिषत्सु श्रूयन्ते, न वा ते प्रधानत उपनिषद्विचारे प्रवर्तन्त इति भावः। २. विज्ञान आनन्दमात्रस्वरूप ब्रह्म है, यह जीव और ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है और सब जगत् माया से कल्पित ही है। जब कि सब कल्पित है, तो अर्थात् ही सर्वनिरूपित सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व ब्रह्म में मायिक ही है। वह मायिकधर्मविशिष्ट ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहा जाता है। इसी प्रकार मायिक किञ्चिज्ज्ञत्व आदि धर्मविशिष्ट ब्रह्म ही 'जीव' कहा जाता है। इनके मत में जीव और ईश्वर का वास्तविक स्वरूप एक ही है। इसलिए इस मत में जीव-ईश्वर का अभेद ही सिद्ध होता है। ३. मायाविशिष्ट होने से वह उपादान-कारण है और मायासहकार से निमित्तकारण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साङ्ख्यमतखण्डनम्

न सांख्यमिति। आदिपदेनानुक्तानां संग्रहः। न[1] तावदचेतनं प्रधानं जगदुपादानम्, (i) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इतीक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणात्, (ii) 'अनेन[2] जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति जीवात्मत्वव्यपदेशात्। (iii) 'येनाश्रुतं[3] श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।३) इति, 'यस्मिन्[4] विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् प्रधानज्ञानेन तदप्रकृतीनां पुरुषाणां ज्ञातुमशक्यत्वात्, (iv) 'ऐतदात्म्यमिदं[5] सर्वं तत्सत्यं

श्लोकस्थ 'आदि' पद से उन सभी वादियों के मत का संग्रह है जिनका उल्लेख श्लोक में नहीं आया है। अचेतन प्रधान जगत् का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि (i) 'तदैक्ष०' इस श्रुति से विचारपूर्वक सृष्टि सुनी गयी है, (ii) और 'अनेन जीवेन०' इस श्रुति से जगत्कारण सत् में जीवात्मता का व्यपदेश है। (iii) 'यस्मिन् विज्ञाते०' इस श्रुति से एक के विज्ञान से सब विज्ञानों के ज्ञान की प्रतिज्ञा है। प्रधान के अकार्य पुरुषों का प्रधान के ज्ञान से ज्ञान नहीं हो सकता। (iv) 'ऐतदात्म्यमिदं०' इस श्रुति से जीव का सत् के साथ अभेद का

---

१. उस जगत्कारण सत् ने 'ऐक्षत' ईक्षण (विचार) किया। किस प्रकार विचार किया? 'बहु स्याम्' (मैं प्रभूत प्रकर्ष से उत्पन्न) हो जाऊँ। ईक्षण चेतन का धर्म है। सांख्यादि मत में अचेतन जगत्कारण प्रधान में ईक्षण बन नहीं सकता। 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' (१.१.५) सूत्र इसमें प्रमाण है। २. 'जगत्कारण सत् ने तेज, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करके फिर ईक्षण किया कि जीवरूप आत्मा से प्रवेशकर 'इसका यह नाम है, यह रूप है' इस प्रकार नाम-रूप का व्याकरण करूँ।' ईक्षण चेतन का धर्म है, जीव भी चेतन है, इसलिए जीवरूप से प्रवेश चेतन का ही हो सकता है, अचेतन प्रधान का नहीं। इस श्रुति में 'जीवेन आत्मना' इस प्रकार जगत्कारण का जीव स्वरूप बतलाया है। 'गौणश्चेद् न, आत्मशब्दात्' (१.१.६) सूत्र इसमें प्रमाण है। ३. जिस जगत्कारण वस्तु के श्रवण से सबका श्रवण और मनन से सबका मनन और विज्ञान से सबका विज्ञान होता है। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (१.४.२३) सूत्र इसमें प्रमाण है। 'येनाश्रुतम्' आदि वाक्य सिद्धान्तबिंदु के प्रकृत वाक्य में कहीं-कहीं नहीं भी हैः '...व्यपदेशात्, 'यस्मिन्...' ऐसा क्रम है। ४. जिस जगत्कारण वस्तु के ज्ञात होने पर यह सब जड-चेतनात्मक जगत् विज्ञात हो जाता है, वह परमात्मा जब जगत्कारण है, तो उसके ज्ञान से उससे अभिन्न जीव का भी यथार्थरूप से ज्ञान हो सकता है और जड जगत् भी उसी में कल्पित है, इसलिए परमात्मा के ज्ञान से जड जगत् का भी ज्ञान हो सकता है। सांख्याभिमत प्रधान यदि जगत्कारण हो, तो उसके कार्य जड-पदार्थों का तो यथार्थरूप से ज्ञान हो सकता है, जीव का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जीव न तो प्रधान से अभिन्न है, न प्रधान का कार्य ही है। ५. एतत्-शब्द से प्रकरणस्थित जगत् के मूल कारण का परामर्श है। आत्म-शब्द स्वरूप का वाचक है। यह सब दृश्यमान जगत् मूलकारणस्वरूप है, वह मूलकारण सत्य है। जो मूलकारण है, वह आत्मा है। वह आत्मा तू है अर्थात् मूलकारण तू है—यह श्वेतकेतु के प्रति उद्दालक का उपदेश है। सांख्याभिमत प्रधान जगत्कारण नहीं है, क्योंकि वह आत्मा नहीं है। आत्मा जगत् का कारण है—यह प्रतिपादन करने के लिए ही यह वाक्य है। किंच 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जगत्कारण के साथ जीवात्मा की एकता का प्रतिपादन करता है। प्रधान जगत्कारण हो तो उस जड प्रधान के साथ जीवात्मा की एकता नहीं होती। यदि तत्पद की तदधीन अर्थ में लक्षणा करें, तो तत्-शब्द से प्रधान का परामर्श होगा। ऐसी दशा में जीवात्मा प्रकृति के अधीन है, यह 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ होगा, सो क्लिष्ट कल्पना है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस न्याय से लक्षणा अनुचित भी है। किंच, जीव के प्रकृत्यधीनत्व-प्रतिपादन में यदि श्रुति का तात्पर्य होता, तो श्रुति स्पष्ट कर देती कि तू प्रकृति के अधीन है। यद्यपि ऐसा कहने में गौरव होता है, तथापि जैसे दृढ प्रतिपत्ति के लिए लाघव का अनादर करके 'तत्त्वमसि' यह नौ बार उपदेश किया है, वैसे ही अधीन शब्द के अनुच्चारणजन्य लाघव का अनादर करके स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए 'तू प्रकृति के अधीन है' ऐसा ही कहना उचित था। 'हेयत्वावचनाच्च' (१.१.८) सूत्र इसमें प्रमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६ । ८ ।७) इति च तदभेदस्य नवकृत्व उपदेशात्, (v) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २ ।१ ।१) इति श्रुत्यन्तराद्[1], (vi) अचेतनस्य जगत्कारणत्वे विचित्ररचनानुपपत्तेः[2], (vii) प्रधानमहदादेरप्रामाणिकत्वाच्च[3] न सांख्यमतं साधु।

मतान्तरनिरासः

एवं पाशुपतं पाञ्चरात्रिकं जैनं त्रैदण्डं च मतं श्रुतियुक्तिबाधितत्वादयुक्तम्। न च

नौ बार उपदेश है। (v) 'तस्माद्वा एतस्मात्'[4] इस श्रुत्यन्तर से चेतन आत्मा जगत् का कारण है। (vi) अचेतन प्रधान को यदि जगत् का कारण मानें, तो विलक्षण[5] रचना की उपपत्ति नहीं होगी। (vii) प्रधान[6] और महत्तत्त्व आदि में कोई वैदिक प्रमाण भी नहीं है। इसलिए सांख्य-मत युक्तियुक्त नहीं है।

इसी[7] प्रकार शैव, पाञ्चरात्र, जैन और त्रैदण्डिक-मत भी श्रुति तथा युक्ति से बाधित होने के कारण युक्त नहीं हैं। विधि[8] का शेष होने के कारण श्रुति ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करती, यह मीमांसकों का मत भी

१. 'श्रुतत्वाच्च' (१.१.११) सूत्र इसमें प्रमाण है। २. 'रचनाऽनुपपत्तेश्च नानुमानम्' (२.२.१) सूत्र इसमें प्रमाण है। ३. 'इतरेषां चाऽनुपलब्धेः' (२.१.२) सूत्र इसमें प्रमाण है। ४. उस आत्मशब्दित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु। इस प्रकार आत्मा से जगत् की उत्पत्ति कही है, इसलिए आत्मा ही जगत्कारण है, प्रधान नहीं। ५. विलक्षण अवयवसन्निवेशयुक्त गिरि, नदी, समुद्रादि की रचना विचित्र है और वह स्रष्टव्य की आलोचना से शून्य, चेतन से अप्रेरित, अचेतन प्रधान से नहीं हो सकती। ६. चेतन से अनधिष्ठित होने से सांख्याभिमत प्रधान, महदादि अप्रामाणिक हैं। भारतादि में उक्त प्रधान आदि तो चेतन से अधिष्ठित हैं, इसलिए प्रामाणिक हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—ईश्वर से अधिष्ठित माया ही प्रधान अथवा प्रकृति कही जाती है। 'तदैक्षत०' (छा० ६ । २ । ३) इस श्रुति में कहा हुआ स्रष्टव्यालोचनरूप ईक्षण महत्तत्त्व कहा जाता है। 'सोऽकामयत' (तै० २ । ६) इस श्रुति में कहा हुआ काम अहङ्कार कहा जाता है। ७. सांख्य-मत की तरह पाशुपत, पाञ्चरात्रिक और जैनों का मत भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह श्रुति और युक्ति के विरुद्ध है। क्रमशः जड एवं चेतनरूप जीव और ईश्वर का वास्तव भेद मानने से ये द्वैतवादी हैं। 'तत्त्वमसि' (छा० ६ । ८ । ७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १ । ४ । १०), 'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' (कै० १७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २ । ४ । ५) इत्यादि श्रुतियाँ तो अद्वैत का प्रतिपादन करती हैं। 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४ । ४ । १६), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (ब्र० ४ । ४ । १६) इत्यादि श्रुतियाँ द्वैत का निषेध करती हैं। औपाधिक भेद के अङ्गीकार से सब व्यवहारों की सिद्धि हो सकती है। इसलिए द्वैत का अङ्गीकार गौरवदोष से दुष्ट होने के कारण युक्तिविरुद्ध है। पाशुपतमत 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (२.२.३७) में, पांचरात्र मत 'उत्पत्त्यसम्भवात्' (२.२.४२) में, जैन मत 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (२.२. ३३) में विस्तार से खण्डित हैं। त्रैदण्डमतनिरास 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः' (१.४.२०) में द्रष्टव्य है। चकारसे 'एतेन सर्वे व्याख्याताः' (१.४.२८) का संग्रह समझना चाहिये। मीमांसकादि भी द्वैतवादी ही हैं। इस प्रकार यद्यपि उनके मत का भी निरास हो गया, तथापि मीमांसकोक्त अधिक अंश का अनुवाद करके दूषण देते हैं—'न च विधिशेषत्वात्' इस ग्रन्थ से। समन्वयाधिकरण में भाष्यकारादि ने एवं बृहदारण्यकवार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने मीमांसकमत का तिलशः खंडन किया है। पुरुषार्थाधिकरण (३.४.१) भी द्रष्टव्य है। ८. 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १ । १ । ९), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १ । १) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करतीं, किन्तु जगत् के कारण परमाणु आदि में अथवा जीव में सर्वज्ञत्व का आरोप करके उसकी प्रशंसा करती हैं। इसलिए सर्वज्ञत्वादि दृष्टि से उनकी उपासना सिद्ध होती है। इसलिए 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुतियाँ 'आत्मानमुपासीत' इस विधि की अङ्ग हैं। अथवा यज्ञादि कर्मों के कर्ता जीव के स्तावक होने से यज्ञादि कर्मविधि के अङ्ग हैं, सर्वथा कर्माङ्गत्व के बिना किसी भी श्रुति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधिशेषत्वाच्छ्रुतिर्न ब्रह्म प्रतिपादयतीति मीमांसकमतं युक्तम्, असिद्धत्वाद् विधिशेषत्वस्य। न चार्थवादाधिकरणन्यायाद् विधिशेषत्वम्; वैषम्यात्। स्वतः प्रयोजनवदर्थाप्रतिपादकानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।।१) इत्येवमादीनां स्वाध्यायविधिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रयोजनवदर्थपरत्वे कल्पनीये शब्दभावनेतिकर्त्तव्यतांशसाकाङ्क्षस्य विधेः सम्प्रदानभूतदेवतादिस्तुतिद्वारेण तदंशपूरकत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन तदुभयैकवाक्यतेत्यर्थवादाधिकरणे निर्णीतम्।

युक्त नहीं है। क्योंकि ब्रह्म विधिशेष (विधि का उपकारक) नहीं है।[1] अर्थवादाधिकरण-न्याय[2] से भी ब्रह्म विधि-शेष नहीं है, क्योंकि विषमता है। साक्षात् प्रयोजनवाले अर्थों के अबोधक 'वायुर्वै०' इत्यादि वाक्यों को 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से प्रयोजनवत् अर्थपरत्व की कल्पना करनी चाहिये, इसलिए शब्द-भावना और इतिकर्तव्यतारूपी अंश की विधि को आकांक्षा है। इसलिए सम्प्रदानभूत देवता

की सार्थकता नहीं क्योंकि वेद केवल क्रिया के लिए है—यह मीमांसकों का आशय है। १. विधि क्रिया की होती है। आत्मा न क्रिया है और न क्रिया से सम्बद्ध है। अतः आत्मा विधि-सम्बन्धी ही संभव नहीं। ज्ञान भी प्रमाणाधीन होने से विधिविषय नहीं बनता। अतः ज्ञान द्वारा भी आत्मा का विधिसम्बन्ध असंभव है। २. जैमिनीय मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का यह प्रथम अधिकरण है। आशय यह है—'वायव्यं, श्वेतमालभेत भूतिकामः' (तै० सं० २।१।१) यह विधिवाक्य है। वायु देवता जिसका हो, उस पशु को 'वायव्य' कहते हैं। ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष को वायुदेवता के लिए श्वेत पशु का आलम्भन करना चाहिये, यह इससे विधान किया जाता है। इसके अनन्तर 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' (तै० सं० २।१।१) यह अर्थवादवाक्य है। 'क्षेपिष्ठा' का अर्थ है शीघ्र गतिवाला। 'शीघ्रगति वायुदेव यज्ञकर्ता यजमान द्वारा दिये गये योग्य हविर्भाग से प्रसन्न होकर भाग देनेवाले यजमान को ऐश्वर्य देता है', यह उसका अर्थ है। इस अर्थवादवाक्य में कोई कर्तव्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु भारत, रामायण आदि की तरह इसमें कोई वृत्तान्त प्रतीत होता है। इसलिए यह वाक्य विधिवाक्य नहीं है। पूर्व विधिवाक्य के साथ इसकी एकवाक्यता भी नहीं है, क्योंकि दोनों ही वाक्य परस्पर निरपेक्ष होने से स्वतन्त्रता से अर्थ-बोधन कर सकते हैं। इस प्रकार क्रिया का शेष न होने से इस अर्थवादवाक्य की अनर्थता प्राप्त होती है। यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुति में स्वाध्याय के अध्ययन का विधान किया है। उक्त अर्थवादवाक्य स्वाध्याय के अन्तर्गत है, इसलिए उसका भी अध्ययन प्राप्त है। अध्ययन का दृष्ट फल है अर्थज्ञान। अर्थज्ञान होने पर जैसे 'इससे साध्य क्या है?' यह आकांक्षा होती है, वैसे ही विधिवाक्य को भी आकांक्षा होती ही है, क्योंकि विधिवाक्य पुरुष को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह प्रेरणा ही 'शब्दभावना' है। 'प्रेरणा' शब्द का अर्थ है पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल व्यापार। 'व्यापार' और 'भावना' पर्यायवाची शब्द हैं। वह व्यापार विधिवाक्यरूप शब्द में रहता है, इसलिए प्रेरणा भावना कही जाती है। सामान्यतः प्रेरणामात्र से सब पुरुष प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु प्रेरणाविशेष से प्रवृत्त होते हैं। वही प्रेरणा इतिकर्त्तव्यता-अंश है और वह यहाँ विधेय अर्थ का प्राशस्त्यज्ञापनरूप है। वह प्राशस्त्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' एतावन्मात्र विधिवाक्य से बोधित नहीं हो सकता। 'वह किस प्रकार करना चाहिये' इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा विधिवाक्य को सिद्ध ही है। ऐसी दशा में विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य इन दोनों में आकांक्षा होने से और दोनों में परस्पर की आकांक्षा के दूरीकरण की समर्थ्य होने से एकवाक्यता सम्पन्न होती है। वाक्यार्थ-बोध में निराकांक्ष होने से पदैकवाक्यता का अभाव होने पर भी वाक्यार्थप्रतीति के उत्तरकाल में आकांक्षा के उत्थापन से वाक्यैकवाक्यता हो ही सकती है, जो इस प्रकार है—यतः शीघ्रगामी होने से शीघ्र फल देनेवाला वायु इस पशु का देवता है, इसलिए इस प्रशस्त वायव्य पशु का आलम्भन करे। इस अर्थवादवाक्य की तरह 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि वाक्यों की भी विधिशेषता कल्पनीय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानाच्च साक्षादेव परमानन्दप्राप्तिर्निःशेषदुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थो लभ्यत इति निराकाङ्क्षत्वान्नान्यशेषत्वसंभावना। प्रत्युत विधय एवान्तःकरणशुद्धिद्वारा तच्छेषतां भजन्त इति। तस्मात् प्रयोजनवदबाधिताज्ञातज्ञापकत्वेन वेदान्तानां स्वत एव प्रामाण्यादस्त्येव ब्रह्मेति न मीमांसकमतसिद्धिः।

तार्किकादीनां च मतं 'तत्त्वमसि' (छा० ६। ८। ७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १। ४। १०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २। ५। १९), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १। १) इत्यादिश्रुतिबाधितम्।

आदि की स्तुति के द्वारा उस अंश का पूरक होने से नष्टाश्वदग्धरथ-न्याय[1] से विधि और अर्थवाद की एकवाक्यता है—ऐसा निर्णय अर्थवादाधिकरण में किया गया है। वेदान्तवाक्य[2] से उत्पन्न हुए ज्ञान से तो साक्षात् ही परमानन्द की प्राप्ति एवं समूल दुःख की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इसलिए आकांक्षा न होने के कारण अन्यशेषत्व की सम्भावना नहीं है। किन्तु इसके विपरीत विधियाँ[3] ही अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्म-वाक्यों की शेषता को प्राप्त होती हैं। इसलिए सप्रयोजन, अबाधित एवं अज्ञात ब्रह्मरूप पदार्थ के ज्ञापक होने के कारण वेदान्त-वाक्यों में विधिशेषता[4] के बिना ही प्रामाण्य है; अतः ब्रह्म है। इस संदर्भ से यह सिद्ध हुआ कि मीमांसकों का मत युक्त नहीं है।

नैयायिक[5] आदि का मत भी 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है।

---

१. अर्थात् घोड़ेवाले दो रथों में से एक रथ के घोड़े मर गये और दूसरा रथ जल गया। वहाँ दूसरे रथ के घोड़े पहले रथ में जोड़कर जैसे काम चलाया जाता है, वैसे ही प्रकृत में वाक्यैकवाक्यता से विधिवाक्य और अर्थवाद-वाक्य का संयोजन करना चाहिये। इस प्रकार अर्थवादाधिकरण-सिद्धान्त को दिखाकर प्रकृत में उससे विषमता दिखाते हैं। २. अर्थवाद-वाक्य-प्रतिपाद्य अर्थ को विधिशेष मानने से विधि द्वारा ही फल हो सकता है। स्वतन्त्र रूप से साक्षात् किसी फल की कल्पना नहीं हो सकती। 'तत्त्वमसि', 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि वेदान्त-वाक्यों के विषय में यह नहीं है, क्योंकि वेदान्त-वाक्यजन्य आत्मतत्त्वज्ञान से परम पुरुषार्थ का लाभ होता है। इसलिए स्वतः फल होने से उसमें अन्यशेषत्व की शङ्का भी नहीं हो सकती। ३. 'विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृ० ४। ४। २२) इस श्रुति से यज्ञादि कर्म आत्मज्ञान की इच्छा के साधन हैं, यह प्रतिपादन किया जाता है। कर्म तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक पापनाश के द्वारा चित्तशुद्धिकर वैसी इच्छा को उत्पन्न करते हैं। उसी इच्छा का फल वेदान्त-वाक्यजन्य आत्मतत्त्वज्ञान द्वारा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है। इस दशा में कर्मविधियाँ ही वेदान्त-वाक्यों की शेषभूत हैं। 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणम्' आदि गीता (६.३) इसमें प्रमाण है। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' आदि श्रुति आत्मज्ञानमात्र से मोक्ष बताती है अतः कर्म मोक्ष का साक्षात् साधन हो ही नहीं सकता। नैष्कर्म्यसिद्धि में यह विषय विस्तार से चर्चित है। ४. अन्यशेषता के बिना। ५. आदिपद से पातञ्जलों का ग्रहण है। इसका खंडन 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२.१.३) सूत्र में है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों में जीवेश्वर की एकता का प्रतिपादन किया गया है। तार्किक और पातञ्जल जीवेश्वर की एकता नहीं मानते, इसलिए उनका मत श्रुतियों से बाधित है। क्योंकि तार्किक आत्मा को ज्ञान का आश्रय कहते हैं और 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति में आत्मा को ज्ञानरूप कहा गया है इसलिए भी तार्किक-मत श्रुति के विरुद्ध है। किंच तार्किक ईश्वर को केवल निमित्त मानते हैं तथा प्रपंच को सत्य मानते हैं जबकि श्रुति ईश्वर को अभिन्न निमित्तोपादान बताती है तथा प्रपंच को मायिक अर्थात् मिथ्या बताती है। इससे भी सभी तार्किकमत ग़लत हैं यह निश्चित होता है। भेदाभेदवादी त्रिदण्डियों के मत का खण्डन करते हैं—'एकमेव' इस ग्रन्थ से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (तै० ६। २। १), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (का० २। १। ११) इत्यादिश्रुतिबाधितं च भिन्नाभिन्नत्वम्।

क्षणिकत्वं च 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादिश्रुतिबाधितम्।

तत्र साधारणहेतुः

अत्र सर्वेषां मतस्यासत्त्वे प्रतिज्ञाते—विशुद्धात्मकत्वादिति हेतुः। निर्विकल्पकाद्वितीय-चैन्यरूपत्वादित्यर्थः। अत्र हेतुःविशिष्टानुभूत्येति। विशिष्टा सविकल्पकानुभूतिभ्यो व्यावृत्ता या तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्या अखण्डानुभूतिस्तयेत्यर्थः। तेन सर्वव्यापकमद्वितीयं परमानन्द-बोधरूपं च ब्रह्मेति सिद्धम्।।४।।

आत्मा व्यापकः

ननु 'स य एषोऽणिमा' (छा० ६। ८। ७), 'अणोरणीयान् (का० २। २०, श्वे० ३। २०) इति ब्रह्मणोऽणुत्वश्रुतेः 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' (का० ४।१२), 'आराग्रमात्रो

तथा भेद-अभेदवादियों का मत भी 'एकमेवाद्वि०'[1], 'नेह नाना०' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है। क्षणिक[2] विज्ञानवादियों का मत भी 'आकाशवत्सर्वगतश्च०' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है।

इस श्लोक में सांख्यादि समस्त मतों की असत्ता की प्रतिज्ञा में हेतु है—'विशुद्धात्मकत्वात्' अर्थात् निर्विकल्पक[3] अद्वितीय चैतन्यरूप होने से। इसमें हेतु है—'विशिष्टानुभूत्या'[4] अर्थात् सविकल्पक ज्ञानों से भिन्न 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से जायमान जो अखण्डानन्दरूप ज्ञान है, उससे। इस कथन से सर्वव्यापक, अद्वितीय, परमानन्दबोधरूप ब्रह्म है[5], यह सिद्ध हुआ।।४।।

'स[6] य०', 'अणोरणीयान्'[7] ब्रह्म के अणु-परिमाण का प्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियों से, 'अंगुष्ठ[8]-

१. जीव और ब्रह्म का भेद सत्य है और उनका अभेद भी सत्य है। इसी प्रकार जड और चेतन का भेद और अभेद भी सत्य है, यह भेदाभेदवादी त्रिदण्डियों का मत है। यह मत 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से बाधित है, क्योंकि इस श्रुति में आत्मा की एकता का प्रतिपादन है और 'नेह नाना०' इत्यादि श्रुति में आत्मभिन्न सब पदार्थों के अस्तित्व का निषेध है। इसी रीति से माध्व, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि के मतों का खण्डन समझ लेना चाहिये। ईसाई, मुसलमान आदि आधुनिकों के भी मतों की परीक्षा इन्हीं न्यायों से करके उनकी असंगतता बुद्धि में बैठा लेनी चाहिये। २. 'आकाशवत्' इस श्रुति में आत्मा नित्य कहा गया है, इसलिए क्षणिकत्व का अङ्गीकार श्रुति से बाधित है। समुदाया-धिकरण और अभावाधिकरण में (२.२.४,५) बौद्धों के पक्षों का निरास उपलब्ध है। क्षणिकता श्रुतिबाधित के साथ ही अनुभव से भी बाधित है क्योंकि 'आजन्म मैं वर्तमान हूँ' यह अबाधित अनुभव सभी को है। ३. 'तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्' (ब्र० बिं० ८) इस श्रुति में ब्रह्म निर्विकल्पक कहा गया है। निर्विकल्पक निर्विशेष को कहते हैं, अर्थात् 'ब्रह्म ऐसा है या वैसा' यह नहीं कहा जा सकता। किंच, निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकाल में ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व भासता ही नहीं, क्योंकि ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व उपाधि-परिकल्पित होने से मिथ्या है। सत्य ब्रह्मज्ञान से मिथ्याभूत पदार्थ का बाध हो जाता है। ४. इस श्लोक में 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ 'विशेषणयुक्त' नहीं है। 'खास' को भी विशिष्ट कहते हैं। सामान्य अनुभव सप्रपंच आत्मा का है अतः निष्प्रपंच अखण्ड आत्मा का ज्ञान 'खास' होने से विशिष्ट कहा गया है। अथवा 'मतं वाऽविशिष्टानुभूत्या' यों प्रश्लिष्ट अकार से अविशिष्ट अर्थात् निर्विशेष अनुभूति विवक्षित समझी जा सकती है। ५. उससे पृथक् जीव-ईश्वर-जगत् नहीं है यह भी निर्धारित हुआ। ६. प्रकृत सद्रूप ब्रह्म नामक जो पदार्थ है, वह अणिमा की पराकाष्ठा है, यह अर्थ है। ७. पूर्व प्रकृत ब्रह्म नामक परमात्मा अणु-पदार्थों से भी अणुतर है। ८. जीव नामक पुरुष अङ्गुष्ठ-परिमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिताणुजीवाभिन्नत्वाच्च न ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वमित्याशङ्क्य; 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'[1] (मु० २। २। ११), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'[2] (बृ० २। ५।१९) इत्याद्याः श्रुतयो निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरा दिक्।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।५।।

न चोर्ध्वमिति[3]। वियद्व्यापकत्वात्[4], 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेः। वियतो

मात्रः पुरुषः', 'आराग्रमात्रो०' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित अणुत्वविशिष्ट जीव के साथ अभेद होने से ब्रह्म में सर्वव्यापकता सम्भव नहीं है, ऐसी शङ्का करके; 'ब्रह्मैवेदममृतं०', 'तदेतत्' इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष ही ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, इसलिए पूर्वोक्त पक्ष को दृढ करते हुए भगवान् कहते हैं—

(मुझमें) न ऊर्ध्व है, न नीचे; न अन्दर है, न बाह्य; न मध्य है, न तिर्य्यक्; न पूर्व दिशा है, न पश्चिम-दिशा। आकाश के समान व्यापक होने से अखण्डैकरूप, एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

'आकाशवत्सर्वगतश्च०' इति श्रुति से वह आकाश के समान व्यापक है।[6]अथवा 'ज्यायान्०' इत्यादि

प्रश्न—अङ्गुष्ठ-परिमाण होने पर जीव अनित्य हो जायगा, क्योंकि मध्यम परिमाण पदार्थ अनित्य हुआ करता है, यह नियम है। ऐसी दशा में कृतनाश और अकृताभ्यागम-दोष की प्राप्ति हुआ करती है? उत्तर— 'अङ्गुष्ठमात्र' पद का स्वल्पपरिमाण के बोधन में तात्पर्य है। वह स्वल्पपरिमाण 'आराग्रमात्र' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से अणु-परिमाण ही स्वीकार करना चाहिये, यह आशय है। इसी बात को व्यक्त करते हैं—'आराग्र' इस ग्रन्थ से। 'आरा' लोह-शलाका का नाम है। उसका जो सूक्ष्म अग्रभाग तत्परिमाण अवर (जीव) आत्मा देखा गया है। इस प्रकार जीव यदि अणुपरिमाण है, तो उससे अभिन्न परमात्मा भी अर्थात् अणु-परिमाण सिद्ध होता है, यह पूर्वपक्षी का आशय है। १. अविद्यादृष्टिवाले पुरुषों को सामने, पीछे, दाहिने और बाँये, ऊपर और नीचे जो नामरूपात्मक जगत् प्रतीत होता है, वह यह अमृत ब्रह्म ही है। किंबहुना, यह अखिल जगत् महत्तम ब्रह्म ही है। २. यह ब्रह्म अपूर्व है, क्योंकि इसका पूर्व (कारण) नहीं है, वैसे ही यह ब्रह्म अनपर है, क्योंकि इसका कोई अपर (कार्य) नहीं है। किंच, यह ब्रह्म अनन्तर है, क्योंकि इसके अन्तराल (मध्य) में कुछ नहीं है। वैसे ही यह ब्रह्म अबाह्य है, क्योंकि इसके बाहर कुछ नहीं है। ३. 'मयि ऊर्ध्वादिकं येन सम्बन्धेन प्रसक्तं तेन सम्बन्धेन नास्ति।...येन केनापि सम्बन्धेन वियद् यथा सर्वत्र व्यापकं तथा तादात्म्येनात्मा। चकाराः विजातीयान्तरस्य सजातीयधर्मस्य च निषेधसमुच्चायकाः' न्या.र.। ४. आकाश की तरह व्यापक होने से।

प्रश्न—आकाश अपने मूलकारण प्रकृति और ब्रह्म में व्यापक नहीं है तथा प्रलयकाल में आकाश का नाश भी हो जाता है, इसलिए आकाश नित्य कैसे? उत्तर—बद्ध जीवों के प्रति श्रुति को उपदेश देना है, इसलिए बद्ध जीवों की दृष्टि से आकाश सर्वगत है—यह कथन है, क्योंकि हमारी दृष्टि से आकाश सर्वव्यापक और नित्य ही भासता है। 'इषुरिव सविता धावति' (बाण की तरह सूर्य भागता है) की तरह यह दृष्टान्त समझना चाहिये। ६. जिस किसी सम्बन्ध से व्यापकता कहनी होती तो आकाश कहने की विशेष आवश्यकता नहीं थी क्योंकि पृथ्वी आदि भी दृष्टान्त बनाये जा सकते थे; आकाश संयोग सम्बन्ध से जैसे सर्वव्यापक है—यह कहना हो तो भी दृष्टान्त असंगत है क्योंकि 'वियद्व्यापकत्व' को हेतु बनाकर जिस साध्य को सिद्ध कर रहे हैं वह है ऊर्ध्वादि सारे प्रपंचका निषेध, किन्तु यह साध्य आकाश में वर्तमान है ऐसा वादी मानते नहीं; अतः 'आकाश की तरह व्यापक' कहने में अस्वारस्य समझकर अर्थान्तर करते हैं—अथवा। 'आकाश की तरह' नहीं वरन् आकाश से भी व्यापक है अर्थात् अपरिच्छिन्न है, यह 'वियद्व्यापक' का अर्थ है। यह न्यायरत्नावली में समझाया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापकत्वादिति वा 'ज्यायानाकाशात्'[1] (छा० ३। १४। ३), 'महतो महीयान्' (क०२। २०) इत्यादिश्रुतेः। जीवस्यापि सकलदेहव्यापिचैतन्योपलब्ध्या महत्त्वेऽप्युपाधिधर्माध्यासे आराग्रमात्रत्वाभिधानम्, 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति श्रुतेः। ब्रह्मणश्च सूक्ष्मत्वाभिप्रायेणाणुत्वव्यपदेशात्[2]। शेषमतिरोहितार्थम्।।५।।

आत्मा चिदानन्दः

ननु ब्रह्मणो[3] जगदुपादानत्वेन उपादानोपादेययोश्चाभेदाद् विचित्रजगदभिन्नत्वेन ब्रह्मणो दुःखरूपत्वान्न तदभिन्नत्वेन जीवस्य परमपुरुषार्थप्राप्तिरित्याशङ्क्य; ब्रह्मणः

श्रुति से आत्मा आकाश से व्यापक है। 'महतो महीयान्' इस श्रुति से समस्त देह में व्यापक चैतन्य की उपलब्धि से जीव यद्यपि महत् है; तो भी 'बुद्धेर्गुणेन०'[4] इस श्रुति से उपाधि के धर्माध्यास से उसमें आराग्रमात्रत्व का अभिधान है। ब्रह्म में दुर्विज्ञेयता के अभिप्राय से अणुत्व का कथन है। शेष सब स्पष्ट है।।५।।

---

१. इस श्रुति को प्रमाण मानकर यदि परमात्मा की महत्ता स्वीकार करें, तो अणुत्वप्रतिपादक प्रागुक्त श्रुति से विरोध होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि श्रुति में अणु-शब्द का प्रयोग सूक्ष्मता के अभिप्राय से किया है। महत्त्व होने पर भी सूक्ष्मत्व विरुद्ध नहीं है। जैसे पृथ्वी आदि की अपेक्षा महत् होता हुआ भी आकाश पृथ्वी आदि की अपेक्षा सूक्ष्मतर है ही। प्रश्न—परमात्मा यदि महान् है, तो उससे अभिन्न जीव का भी महत्त्व अङ्गीकार करना चाहिये? उत्तर—महत्त्व इष्ट ही है, इसीलिए ह्रद में निमग्न पुरुष के सब अङ्गों में शैत्य की उपलब्धि होती है। जीव के अंगुष्ठ-परिमाण अथवा अणु-परिमाण होने पर सर्वाङ्ग में शैत्योपलब्धि नहीं हो सकती। प्रश्न—जीव के महत् होने पर देह के बाहर भी उसकी स्थिति होनी चाहिये? उत्तर—यह भी इष्ट ही है, इसीलिए योगी को योगबल से देशान्तरगत वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रश्न—इस रीति से घट-पट आदि में भी जीव की उपलब्धि होनी चाहिये? उत्तर—घट-पट आदि में जीव है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति बुद्धिरूप उपाधि के अधीन है। प्रश्न—जीव को महत् परिमाण मानोगे, तो आराग्रमात्र-श्रुति का विरोध होगा? तो उत्तर में कहते हैं—'जीवस्यापि' इस ग्रन्थ से। २. अणिमा, अणीयान् इत्याद्युदाहृतश्रुत्यादौ यद् ब्रह्माऽणुताकथनं तत्तस्य दुर्विज्ञेयतापरम्, इति न सर्वव्यापकताहानिरिति भावः।

३. जैसे मृत्तिका और घट का अभेद है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् का अभेद है, क्योंकि दोनों में कार्य-कारण-भाव तुल्य है और जगत् में प्रतिकूल शब्दादि पदार्थ दुःखस्वरूप प्रतीत होते हैं। इसलिए तादृश जगत् से अभिन्न ब्रह्म भी दुःखरूप होगा और ब्रह्म से अभिन्न जीव भी दुःखरूप होगा। यद्यपि जगत् में अनुकूल भी शब्दादिक पदार्थों की सत्ता है, इसलिए जीव सुखरूप भी हो सकता है, तथापि उसके साथ ही दुःखरूपता के होने से मोक्ष की असिद्धि है और यह अभेद स्वभावसिद्ध है। इसलिए अग्नि की उष्णता की तरह जब तक जीव का अस्तित्व है, तब तक दुःख का निवारण असम्भव है, यह पूर्वपक्षी का आशय है। वैष्णव भी आक्षेप करते हैं कि जैसे खाँड बनने में सुख नहीं वरन् चींटी बनकर खाँड खाने से सुख है वैसे ब्रह्मरूप होने में नहीं वरन् भक्ति से ब्रह्म को विषय करने में सुख है। इसका भी समाधान यहाँ समझ लेना चाहिये। खाँड जड होने से उसे अपना मिठास पता नहीं जबकि ब्रह्म चेतन होने से उसे आनंद सदा भासमान है अतः ब्रह्मरूप होने पर आनंद सदा भासमान रहने से ब्रह्म से अद्वैत ही पुरुषार्थ है। ४. यह अवर आत्मा अपने गुण से अपरिच्छिन्न होता हुआ भी उपाधिभूत बुद्धि के गुण से आराग्रमात्र देखा गया है, यह श्रुति का अर्थ है। तात्पर्य है कि अणु, अंगुष्ठमात्र, आराग्रमात्र आदि सूक्ष्मता अर्थात् समझने में अति कठिनता के अभिप्राय से कहा है न कि आत्मा को अव्यापक बताने के लिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वात् निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन कारणत्वव्यपदेशादध्यस्तेन च समं सम्बन्धाभावान्न तत्राऽनर्थलेशोऽप्यस्तीत्याह—

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।६।।

न[1] शुक्लमिति। कुब्जम्[2] अणु। पीनम् महत्। तेनाणु, महद् ह्रस्वं दीर्घमिति चतुर्विधपरिमाणनिषेधाद् द्रव्यत्वप्रतिषेधः। रूप्यत इति रूपं प्रमेयम्। अरूपमप्रमेयम्। तेन सर्वेषामेव द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थानां तत्तद्वाद्यभ्युपगतानां निषेधः। तथा च श्रुतयः—'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्' (बृ० ३। ८। ८) इत्याद्या 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' (का० ३। १५) इत्याद्याश्च

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। उपादान और उपादेय में अभेद होता है। इसलिए विचित्र जगत् के साथ अभेद होने से ब्रह्म भी दुःखरूप हो जायगा। उस दुःखरूप ब्रह्म के साथ अभेद होने से जीव को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होगी; ऐसी शङ्का करके कहते हैं—ब्रह्म स्वप्रकाश परमानन्दरूप है[3]। समस्त जगत्-भ्रम का अधिष्ठान होने से ब्रह्म में कारणता का व्यवहार होता है। अध्यस्त के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अधिष्ठानरूप ब्रह्म में अनर्थ का लेश भी नहीं है।

न शुक्ल है, न कृष्ण; न रक्त है, न पीत; न कुब्ज है, न पीन; न ह्रस्व है, न दीर्घ। स्वप्रकाश ज्योतिःस्वरूप होने से अप्रमेय एक अवशिष्ट अद्वितीय शिव मैं हूँ।

कुब्ज अर्थात् सूक्ष्म। पीन अर्थात् महत् (महापरिमाण), इससे अणु, महत् ह्रस्व और दीर्घ इन चार प्रकार के परिमाणों के निषेध से ब्रह्म में द्रव्यत्व का प्रतिषेध हो गया। साक्षी से जो भासित हो, वह रूप (प्रमेय) कहा जाता है। ब्रह्म इसके विपरीत है।[4] इसलिए तत्तत् वादियों से स्वीकृत द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों का निषेध हो गया। और 'अस्थूल०'[5] इत्यादि तथा 'अशब्द०' इत्यादि श्रुतियाँ भी सब अनर्थों से रहित परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन करती हैं।

---

१. यहाँ शुक्लादि अनेक वर्णों की उक्ति सब वर्णों के उपलक्षण के लिए है, इसलिए ब्रह्म में सर्वविध रूप का निषेध होने से पृथ्वीत्वादि का निषेध सिद्ध होता है। २. 'पीन' का प्रतिद्वन्द्वी होने से 'कुब्ज'-शब्द यहाँ अणु का वाचक है। पृथ्वी, जल, तेज आदि जो-जो द्रव्य हैं, वे अणु अथवा महत्, ह्रस्व अथवा दीर्घ अवश्य होते हैं। ब्रह्म में एक भी परिमाण नहीं है, इसलिए वह कोई नीरूप द्रव्य भी नहीं है। ३. ब्रह्म वास्तव में स्वयंप्रकाश परमानन्दरूप है, जगत् की उसमें प्रतीति होती है, वास्तव में जगत् की सत्ता नहीं है। ऐसी दशा में सत्य जगत् है ही नहीं तो ब्रह्म में उसकी कारणता कहाँ? इसलिए मोक्ष में कोई बाधा नहीं है, यह भाव है। जगत् का उपादान होने से जगत् का दुःख ब्रह्म में भी होगा—इसका जवाब दिया कि ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है अतः जैसे सर्पदोष से उसकी अधिष्ठान रस्सी में कोई दोष नहीं आता वैसे जगत् का दुःख ब्रह्म में नहीं आ सकता। अतः निर्दुःख परमानंद ब्रह्मभाव जीव के लिये परम पुरुषार्थ ही है। ४. ब्रह्म के रूप का निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए वह अरूप अर्थात् अप्रमेय है। नैयायिक लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा द्रव्यविशेष है। मन आदि द्रव्यों का उसके साथ संयोग है। बुद्ध्यादि गुण और पुण्य-पाप-जनक कर्म उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। जीव और ईश्वर के विषय में अन्यान्य मत पहले दिखाये हैं। वे सब मत आत्मस्वरूप के अप्रमेयत्व से निरस्त हो गये, क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है। नैयायिकादि आत्मा को प्रमेय मानते हैं, उनका भी यहाँ निरास हो गया। ५. 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्' यह पूरी श्रुति है। इसका यह अर्थ है—यह पूर्वप्रकृत अक्षरब्रह्म न स्थूल है, न अणु; न ह्रस्व है; न दीर्घ। इन चार परिमाणों के निषेध से द्रव्य-धर्म का निषेध होता है। इसलिए ब्रह्म द्रव्य नहीं है। किंच,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वानर्थशून्यपरमात्मस्वरूपं प्रतिपादयन्ति।

श्रौतस्याप्यर्थस्य न्यायेन निर्णयाय हेतुमाह—ज्योतिराकारकत्वादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेनाप्रमेयत्वात्। प्रमेयत्वे घटादिवज्जडत्वापत्तेः। 'एतदप्रमयं ध्रुवम्' (बृ० ४। ४। २०) इति श्रुतेश्चेत्यर्थः।।६।।

साधकतोपपादनम्

ननु[1] कस्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते—ब्रह्मणोऽब्रह्मणो वा? नान्त्यः, तस्य जडत्वादसत्त्वाच्च। न प्रथमः, उपदेशानर्थक्यात्, ब्रह्मभावस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। जीवस्य[2] स्वतो ब्रह्मभावेऽप्यविद्याव्यवधानं ज्ञानेन निवर्तत[3] इति चेत्? न; अविद्यानिवृत्तेरात्मभिन्नत्वे[4] द्वैतापत्तेर्ब्रह्मणोऽसिद्धिप्रसङ्गात्। तदुक्तं वार्तिके—

'अव्यावृत्ताननुगतं[5] वस्तु ब्रह्मेति भण्यते।
ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद् द्वितीये सति वस्तुनि।।'—इति।

श्रुति से प्रतिपादित अर्थ का भी न्याय से निर्णय[6] करने के लिए हेतु कहते हैं—ज्योतिःस्वरूप होने से। स्वप्रकाश ज्ञानरूप होने के कारण ब्रह्म अप्रमेय है। यदि उसे प्रमेय मानो, तो घटादि के समान उसमें भी जडत्व की आपत्ति हो जायगी। इस विषय में 'एतदप्रमयम्०'[7] इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है।।६।।

प्रश्न—'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से किसको ब्रह्मभाव का उपदेश होता है, ब्रह्म को अथवा ब्रह्मभिन्न को? अन्तिम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह जड और असत् है। प्रथम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म

वह न लोहित है, न स्निग्ध; न छाया है, न तम; न वायु है, न आकाश। वह सङ्ग से रहित है। वह रस, गन्ध, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मनस्, तेजस्, प्राण और मुख से रहित है। जिससे परिमाण किया जाय उसे 'मात्रा' कहते हैं। ब्रह्म से किसी का परिमाण नहीं होता, इसलिए वह अमात्र है। अन्तर-बाह्य से रहित सब विशेषों से रहित वह ब्रह्म है, वह एक ही अद्वितीय है। १. 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १। १) इस श्रुति में कहा है—ब्रह्म सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। इससे अर्थात् ही सिद्ध हो गया कि ब्रह्म से भिन्न पदार्थ सत्य नहीं, किन्तु असत् है। वैसे ही ब्रह्म से भिन्न ज्ञान नहीं, किन्तु जड है। इसलिए जड और असत् को ब्रह्मभाव का उपदेश व्यर्थ ही है, क्योंकि वचनशतक से भी अब्रह्म और असत् को ब्रह्मभाव का आपादन नहीं हो सकता, अन्धकार कभी तेज को प्राप्त नहीं हो सकता। २. ब्रह्म ही को ब्रह्मभाव का उपदेश है। जीव यद्यपि ब्रह्म ही है, तथापि 'तत्त्वमसि' श्रुति में जो जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है, उसका फल ब्रह्मत्व-प्राप्ति नहीं, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति है, यह आशय है। ३. 'निवर्त्यते'-इति पाठान्तरम्। ४. 'तत्त्वमसि' इस उपदेश की फलभूत जो अविद्या की निवृत्ति कही गयी है, वह ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्म से भिन्न है? प्रथम पक्ष में जीव ब्रह्मरूप है, उसे ब्रह्मत्व का उपदेश व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में 'तत्त्वमसि' इस उपदेश से उत्पन्न अविद्या-निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न होकर मोक्ष में रहती है, इसलिए मोक्ष में भी द्वैत तदवस्थ रहेगा। ५. जैसे घट से भिन्न पट से घट व्यावृत्त होता है, वैसे ही ब्रह्म से भिन्न यदि कोई वस्तु हो, तो ब्रह्म उससे व्यावृत्त होगा। सो तो है नहीं, इसलिए ब्रह्म अव्यावृत्त है। ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है—यह अर्थ है। और जैसे घटत्व अपने आश्रयीभूत अनेक घटों में एक अनुगत होता है, वैसे ही ब्रह्म किसी में अनुगत नहीं, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इसलिए ब्रह्म का कोई आश्रय नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म न तो किसी से व्यावृत्त है और न किसीमें अनुगत। बृहदारण्यकवार्तिक २.३. श्लो. २४० में शब्दभेद से यही कहा है। ६. यह मन्तव्य-विधि के अभिप्राय से है। 'न्याय' अर्थात् श्रुति व अनुभव से संगति बैठाने वाली युक्ति। स्वप्रकाशता चित्सुखाचार्यने 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' के प्रारंभ में सुस्पष्ट समझायी है। बृहदारण्यक के ज्योतिर्ब्राह्मण में (४.३.२) भी यह विस्तार से व्याख्यात है। ७. यद्यपि यह ब्रह्म प्रमेय (ज्ञेय) नहीं है, तथापि शश-शृङ्ग की तरह तुच्छ भी नहीं है, किन्तु ध्रुव (नित्य) है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिन्नत्वे चोपदेशानर्थक्यमित्युक्तम्।

अत्र, किं परमार्थतः फलाभावमभिप्रैषि, किं वा प्रतीतितोऽपि? तत्राद्यमिष्टापत्त्या परिहरति—

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाहं न चाऽयं प्रपञ्चः।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥७॥

न शास्तेति। शास्ता उपदेशकर्ता गुरुः। शास्त्रम् उपदेशकरणम्। शिष्यः उपदेशकर्म। शिक्षा उपदेशक्रिया। त्वम् श्रोता। अहम् वक्ता। अयम् सर्वप्रमाणसन्निधापितः प्रपञ्चो देहेन्द्रियादिरनर्थः परमार्थतो नास्तीत्यर्थः।

द्वितीयं निराकरोति — स्वरूपेति। अयमर्थः — यद्यप्यविद्यानिवृत्ति[1]रात्माऽनात्मा

को ब्रह्मभाव स्वतः सिद्ध है, इसलिए उपदेश व्यर्थ होगा। जीव में ब्रह्मत्व यद्यपि स्वतःसिद्ध है, तथापि ज्ञान से अविद्यारूपी व्यवधान की निवृत्ति की जाती है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अविद्यानिवृत्ति यदि आत्मरूप नहीं है, तो द्वैत की आपत्ति से अद्वितीय ब्रह्म की असिद्धि का प्रसङ्ग हो जायगा। वार्तिक में भी कहा है—'जो किसीसे व्यावृत्त नहीं, जिसमें कोई धर्म अनुगत नहीं, जो किसी धर्मी में अनुगत नहीं, ऐसी वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। दूसरी वस्तु की सत्ता में ब्रह्मार्थ दुर्लभ हो जायगा।' यदि अभिन्न मानो, तो उपदेश व्यर्थ होता है, यह कहा गया है।

उत्तर—यहाँ परमार्थतः फलाभाव (अलीक फल) में तुम्हारा अभिप्राय है या प्रातीतिक फलाभाव में भी? इनमें प्रथम पक्ष का इष्टापत्ति से परिहार करते हैं—

न शास्ता है, न शास्त्र; न शिष्य है, न शिक्षा; न तुम हो, न मैं और न यह प्रपञ्च ही है। स्वरूपज्ञान विकल्प को सहन नहीं करता, इसलिए एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

शास्ता—उपदेश करनेवाला गुरु। शास्त्र—जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है। शिष्य—उपदेश-भाजन। शिक्षा—उपदेश-क्रिया। तुम—श्रोता। मैं—वक्ता। सब प्रमाणों से उपस्थापित देह, इन्द्रिय आदि रूप यह प्रपञ्च परमार्थतः नहीं है। (परमार्थ अर्थात् व्यवहार-निरपेक्ष सत्य। उस स्तर पर न प्रपंच है न उसका अभाव ही है। प्रपंच, संसार-बंधन, जिस स्तर पर है उस व्यावहारिक स्तर पर उसकी निवृत्ति भी होती है यह भाव है।)

---

१. जैसे कभी वन में सायङ्काल के समय अपने साथियों से बिछुड़ा हुआ देवदत्त दूसरे दिन प्रातःकाल अपने घर आ गया। उसे देखकर चैत्र ने कहा—'देवदत्त ग्राम में आ गया है।' इसपर यदि कोई विकल्प करे कि पाँव से आया या किसी सवारी से? पहला पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि वह पङ्गु है। दूसरा भी ठीक नहीं, क्योंकि निर्जन वन में सवारी का मिलना असम्भव है। इसलिए विकल्प का असहिष्णु होने से उसका ग्राम में आगमन उपपन्न नहीं है। इस आगमन की अनुपपत्ति को परीक्षक लोग यथार्थ नहीं मानते, क्योंकि 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' यह न्याय है। यह प्रत्यक्ष देखकर कहता है कि देवदत्त आ गया है। तुम केवल तर्क से उसकी अनुपपत्ति की सम्भावना करते हो। प्रत्यक्ष दर्शन प्रबल है, इसलिए उसका आगमन निश्चित ही है। उपपत्ति में तुम्हें यत्न करना चाहिये। यदि तुम्हारी बुद्धि तर्क चाहती है, तो ऐसा तर्क करो कि अचानक कोई दयालु सिद्ध-योगी आ गया होगा। उसने उसकी पङ्गुता नष्ट कर दी होगी। अथवा कोई अश्वारोही अपने अश्व पर बिठाकर उसे ले आया होगा। इसलिए प्रत्यक्ष से उपलभ्यमान वस्तु में उससे विपरीत अर्थ के उपपादक विकल्प का अवसर नहीं है। वैसे ही प्रकृत में 'तत्त्वमसि' इस उपदेश से स्वरूपज्ञानरूप फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, इसलिए वहाँ 'अविद्यानिवृत्ति आत्मरूपा है, अथवा आत्मा से भिन्न?' इस विकल्प का अवसर ही नहीं। जैसे वहाँ दृष्टान्त में सिद्ध योगी अथवा कोई अश्वारोही उसको ले आया होगा, वैसे ही यहाँ भी यह तर्क करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेत्यादिविकल्पे किमपि फलं निरूपयितुं न शक्यते; तथापि स्वरूपावबोधो विज्ञानफलमनुभूयते। न चैतत्कथमिति विकल्पनीयम्, सर्वद्वैतोपमर्देन विकल्पासहिष्णुत्वात्। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम[1]। तथा च श्रुतिः (गौ० का० २। ३२)—

'न[2] निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।'—इति।

'ब्रह्म[3] वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १। ४। १०) इत्याद्या पूर्वमपि ब्रह्मस्वरूपस्यैव सतो जीवस्य ज्ञानाद् ब्रह्मभावं दर्शयति सर्वं च द्वैतं वारयति।।७।।

जाग्रदाद्यवस्थोपपादनम्

नन्वात्मनः स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वे सर्वदा भासमानत्वेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिव्यवस्था कथम्? न च भ्रान्त्यैव[4] व्यवस्थेति वाच्यम्। तथा सति सर्वस्यैव स्वप्नत्वापत्तेरिति[5] चेत्?

'स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः' इस वाक्य से अब दूसरे पक्ष का निरास करते हैं। यह तात्पर्य है—यद्यपि अविद्या-निवृत्ति आत्मरूप है या अनात्मरूप इत्यादि विकल्प से किसी फल का निरूपण नहीं किया जा सकता, तो भी स्वरूपावबोधरूपी ज्ञान का फल अनुभूत होता है। यह कैसे हो सकता है?—ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये। समस्त द्वैत का नाश होने से आत्मा में विकल्प है ही नहीं। प्रत्यक्षसिद्ध में अनुभवविरुद्ध तर्क का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

श्रुति भी है—'प्रपञ्च का न नाश होता है, न जन्म, न वह अनादि अज्ञान से युक्त है, न उसकी निवृत्ति के लिए अनुकूल श्रवण-मनन ही करता है, न मैं मुक्त होऊँ यह अभिलाषा रखता है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है।' 'ब्रह्म वा इदमग्र०' इत्यादि श्रुतियाँ पहिले भी ब्रह्म-स्वरूपता से ही विद्यमान जीव का ज्ञान से ब्रह्मभाव दिखलाती और समस्त द्वैत का निवारण करती हैं।।७।।

शंका—यदि आत्मा को स्वप्रकाश चैतन्यरूप मानो, तो उसके सर्वदा भासमान रहने से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की व्यवस्था कैसे होगी? भ्रान्ति से ही उनकी व्यवस्था है ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा

चाहिये कि अविद्यानिवृत्ति आत्मा से भिन्न नहीं है। वह पहले से ही आत्मा में सिद्ध है। उपदेश से केवल उसकी अभिव्यक्ति भर होती है। १. 'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाऽज्ञानकल्पितम्।।' इति वार्तिकम् १.४.१२७६ अत्रानुसन्धेयम्। २. निरोध=नाश, बद्ध=संसारी, साधक=शम-दमादिसाधन-सम्पन्न। इस वाक्य में पारमार्थिक वस्तुस्थिति का वर्णन किया गया है। चिन्मात्र परमार्थ है। प्रपञ्च का न नाश है, न उत्पत्ति है, न कोई संसारी है, न साधक, न मुमुक्षु और न मुक्त। यह सब द्वैतविलास भ्रान्ति ही है। यद्यपि यह परमाचार्य का कथन है तथापि श्रुतिमूलक होने से श्रुतितुल्य है। ब्रह्मबिन्दूपनिषत् में यह वाक्य है—'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च शासनम्। न मुमुक्षा न मुक्तिश्चेद् इत्येषा परमार्थता।।'(१०)। ३. जीवरूपता को प्राप्त हुए उस ब्रह्म ने भ्रम के अपनयनकाल में अपने ही स्वरूप का 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार किया। उससे सर्वदृश्यजात जगत् ब्रह्म ही हो गया, जैसे भ्रम के दूर होने पर प्रातिभासिक रजत शुक्ति हो जाता है। ब्रह्म का ही संसरण और मोक्ष है यह शांकर सिद्धान्त प्रसिद्ध है। ४. जैसे स्वप्न के मध्य जाग्रत् आदि की भ्रान्ति से कल्पना होती है। ५. ऐसी दशा में सर्वदा एक ही अवस्था होनी चाहिये। ऐसा मानने पर 'मैंने स्वप्न देखा था, मैं सो गया था' इस प्रकार अनुभूत अवस्थाविशेष का प्रबुद्ध पुरुष को स्मरण नहीं होना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न; लक्षणतस्त्रयाणामपि[1] स्वप्नत्वेऽपि प्रतिभासत आविद्यकविशेषसम्भवादसद्विलक्षणत्वेन[2] च सविशेषत्वाद् व्यवस्थोपपत्तेः। परमार्थतस्तु न कापि व्यवस्थेत्याह—

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिः न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्यात्मकत्वात् त्रयाणां तुरीयस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।८।।

दृग्दृश्यविवेकः

न जाग्रदिति। अत्र लयक्रमेण पौर्वापर्य्यनिर्देशः। तथाहि—अस्मिन् मते पदार्थो द्विविधः, दृक्, दृश्यं च। अन्यवादिपरिकल्पितानां पदार्थानामत्रैवान्तर्भावात्।

दृक्त्रैविध्यम्

तत्र दृक्पदार्थ आत्मा पारमार्थिक[3] एकः एव सर्वदैकरूपोऽप्यौपाधिकभेदेन

होने पर सब अवस्थाओं में (जाग्रत्, स्वप्न, सुषप्ति में) स्वप्न की आपत्ति हो जायगी। समाधान—ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आविद्यिकत्वरूप लक्षण से तीनों अवस्थाओं में यद्यपि स्वप्नत्व है, तथापि व्यावहारिक की अपेक्षा अविद्याकृत में विशेष सम्भव है। असद्विलक्षण होने के कारण अविद्याकृत विशेष है, अतः व्यवस्था की उपपत्ति हो गयी। परमार्थरूप से कोई व्यवस्था नहीं है। इसी बात को कहते हैं—

न मेरा जागरण है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न मैं विश्व हूँ, न तैजस हूँ, न प्राज्ञ। ये तीनों अविद्या के कार्य हैं; अतः इनमें चतुर्थ, एक, अवशिष्ट, अद्वितीय, शिव मैं हूँ।

यहाँ पर जाग्रत्[4] स्वप्न, सुषुप्ति का पौर्वापर्य-निर्देश लय-क्रम से है। वेदान्त-मत में पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) द्रष्टा[5] और (२) दृश्य। वैशेषिक आदि अन्य वादियों द्वारा परिकल्पित पदार्थों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

उनमें पारमार्थिक, अद्वितीय, नित्य, कूटस्थ, आत्मा दृक् पदार्थ है। यद्यपि वह एक है तथापि उपाधि द्वारा ईश्वर, जीव और साक्षी भेद से तीन प्रकार का है। उनमें (१) कारणस्वरूप अज्ञानोपाधि ईश्वर

१. स्वप्न आविद्यिक है। यह स्वप्न का लक्षण यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में समान है और 'त्रयः स्वप्नाः' (ऐ. ३.१२) आदि श्रुति से भी सिद्ध है; तथापि व्यवहार के अनुरोध से अविद्या के अनेक अवस्थाविशेषों की कल्पना करनी चाहिये। तन्मूलक ही सुप्त, प्रसुप्त और प्रबुद्ध ये व्यवहार होते हैं। प्रश्न—आत्मा निर्विशेष है, यह तुम्हारा सिद्धांत है, इसलिए उसमें सुषुप्ति आदि विशेष स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु आविद्यिक हैं, यह कहना होगा। अविद्यागत विशेष आत्मा में प्रतीत होते हैं, यह इसका तात्पर्य है। यह अविद्या सती है अथवा असती? आद्य पक्ष में अविद्या में विशेष बन सकते हैं, परन्तु अविद्या के सती मानने में द्वैत की प्राप्ति होगी, जो तुम्हें अभीष्ट नहीं है। द्वितीय पक्ष में अद्वैत की उपपत्ति तो हो सकती है, परन्तु विशेष नहीं बन सकते। उत्तर में कहते हैं—'असद्विलक्षणत्वेन' इस ग्रन्थ से। २. अविद्या सत् से विलक्षण है, इसलिए द्वैतापत्ति नहीं। असत् से विलक्षण है, इसलिए सविशेष है, अतः अविद्या से 'सुप्तः, प्रबुद्धः' इत्यादि व्यवस्था हो सकती है, यह भाव है। ३. भूत, भविष्य और वर्तमान में जिसका बाध नहीं होता। ४. जैसे पञ्चभूतों का आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इस प्रकार उत्पत्तिक्रम से निर्देश किया जाता है। अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल उत्पन्न होता है, इत्यादि उत्पत्ति-क्रम है। लयक्रम से वे ही भूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इस प्रकार विपरीत क्रम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। पृथ्वी का जल में लय होता है और जल का तेज में इत्यादि लयक्रम है। क्रमविशेष से निर्देश में वक्ता की इच्छा ही नियामक है। प्रकृत में लयक्रम के अनुरोध से जाग्रत् और विश्व प्रथम कहे हैं। जाग्रत् का स्वप्न में और स्वप्न का सुषुप्ति में लय होता है। वैसे ही विश्व का तैजस में और तैजस का प्राज्ञ में लय होता है। मुमुक्षु जीव का कर्त्तव्य है कि वह सांसारिक पदार्थों के मूलकारण तक का लय करे, इस अभिप्राय से आचार्यों ने लयक्रम का आदर किया है। ५. दृक् (चेतन-ज्ञान-स्वरूप) उससे भिन्न सब जड जगत् दृश्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिविधः—(१) ईश्वरो (२) जीवः (३) साक्षी चेति। तत्र—(१) कारणीभूताज्ञानोपाधिरीश्वरः (२) अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानोपहितो[1] जीवः। प्रपञ्चितञ्चैतदधस्तात्[2]। (३क) अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्षे[3] बिम्बचैतन्यं साक्षी। (३ख) बिम्बेश्वरपक्षे[4] च बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखस्वरूपवज्जीवेश्वरानुगतं सर्वानुसन्धातृ चैतन्यं साक्षीत्युच्यते।

है। (२) अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञानोपाधि जीव है। प्रथम श्लोक के व्याख्यान में यह प्रक्रिया विस्तारपूर्वक कही गयी है। (३क) 'अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है' इस पक्ष में बिम्ब-चैतन्य साक्षी है। (३ख) 'बिम्ब-चैतन्य ही ईश्वर है' इस पक्ष में तो बिम्बरूप और प्रतिबिम्बरूप दोनों मुखों में अनुगत मुखस्वरूप के समान जीव और ईश्वर में अनुगत सबका अनुसन्धान करनेवाला जो चैतन्य है, वह साक्षी कहा जाता है। (३ग) वार्तिककार के मत में ईश्वर ही साक्षी है, इसलिए जीव और ईश्वर के भेद से द्रष्टा ही दो प्रकार का है।

---

१. अन्तःकरणावच्छिन्न (अन्तःकरणरूप से परिणत) अज्ञानरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा जीव है। अथवा अज्ञान के अन्तःकरणरूप से परिणत होने के पूर्व उस परिणाम के योग्य अज्ञानगत संस्कारों से अवच्छिन्न और अज्ञान से उपहित आत्मा जीव है। २. प्रथम श्लोक में जीव और ईश्वर के स्वरूप के विचार-प्रकरण में प्रतिबिम्बवाद के स्वरूप के निरूपण के समय इसका निरूपण किया गया है। ३. अनुसन्धातृ-चैतन्य साक्षी कहा जाता है। वह सर्वदा सर्वत्र एकरूप है। उसका औपाधिक भेद भी सम्भव नहीं है। जहाँ औपाधिक भेद कहा जाता है, वह वास्तव में उपाधिमात्र में हुआ करता है। उपाधिसन्निधान से अन्यत्र प्रतीत होता हुआ भी उपाधिविशिष्ट ही उपधेय में प्रतीत होता है। उपाधि के सन्निहित होने पर भी केवल उपधेय में प्रतीत नहीं होता। जैसे अग्निकणरूप उपाधि के सम्बन्ध से भासमान भी उष्णता अग्निकणविशिष्ट ही जल में भासती है, अग्निकणसन्निहित केवल जल में नहीं, केवल जल तो शीत ही है। अग्निकणगत उत्कट उष्णता के प्रतिबन्ध से जल की शीतलता नहीं भासती, यह विषय अन्य है। प्रकृत में जीवशब्द और ईश्वरशब्द का अर्थ उपाधिविशिष्ट-चैतन्य है। उनमें से उपाधि में भेद प्रतीत हो, पर साक्षीशब्द के वाच्य केवल चैतन्य में भेद नहीं है। कारण विषयावभासकता ही साक्षिता है, वह अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य में सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तःकरण जड है। प्रश्न—साक्षिता अन्तःकरणादि साधन-सापेक्ष है। उत्तर—यह सत्य है, पर इससे क्या? इससे भी साक्षिता की चैतन्यमात्रनिष्ठता की हानि नहीं है। पत्नीत्व भर्तृसापेक्ष है, इतने से भर्तृविशिष्ट पत्नी में पत्नीत्व कोई नहीं मानता। इस प्रकार सब जीवों के तत्-तद्विषयक ज्ञान में और ईश्वर के सर्वविषयक-ज्ञान में सर्वदा सर्वत्र अनुसन्धातृ-चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में अनुगत एक ही साक्षी है। अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्ष में व्यष्टि-अविद्या-प्रतिबिम्बस्वरूप जीव कहना होगा। इस पक्ष में जीव-ईश्वर इन दोनों में अनुगत बिम्बचैतन्य साक्षी है, यह स्पष्ट ही है। जब अज्ञानोपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर और अज्ञान-प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है—पहिले कहे गये विवरणकार के इस पक्ष को स्वीकार किया जाय, तो उस पक्ष में भी जीव एवं ईश्वर दोनों में अनुगत चैतन्य साक्षी है। ४. जीवस्वरूप और ईश्वरस्वरूप कल्पित एवं औपाधिक हैं। कल्पना का कोई अधिष्ठान अवश्य कहना चाहिये। उस कल्पना का अधिष्ठान दोनों में अनुगत जो सामान्य चित्स्वरूप है, वही साक्षी है। जैसे बिम्बभूत देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्बमात्र का दर्शन होने पर भी 'यह देवदत्त का मुख है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही देवदत्त की प्रतिकृति का दर्शन होने पर भी वह प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए बिम्बभूत देवदत्तमुख, उसके प्रतिबिम्ब और उसकी प्रतिकृति—इन सबमें अनुगत देवदत्त के सामान्य मुखस्वरूप को अवश्य स्वीकार करना चाहिये, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। रत्नावली में प्रतिबिम्ब और बिम्ब की परिभाषा की है—'दर्पणाद्युपाध्यन्तर्गतत्वे सति औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे च सति बहिःस्थितस्वरूपकत्वं प्रतिबिम्बत्वम्। ...उपाध्यनन्तर्गतत्वे सति उपाध्यन्तर्गतरूपाऽभिन्नबहिःस्थितत्वं बिम्बत्वम्।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३ग) वार्त्तिककारमते[१] ईश्वर एव साक्षीति[२] द्वैविध्यमेव जीवेश्वरभेदेन दृशः।

ईश्वरत्रैविध्यम्

तत्रेश्वरस्त्रिविधः—स्वोपाधिभूताविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदात्। कारणीभूतसत्त्वगुणावच्छिन्नो[३] विष्णुः पालयिता। कारणीभूतरजउपहितो ब्रह्मा[४] स्रष्टा। हिरण्यगर्भस्तु[५] महाभूतकारणत्वाभावान्न ब्रह्म; तथापि स्थूलभूतस्रष्टृत्वात् क्वचिद्

इनमें ईश्वर भी अपनी उपाधिभूत अविद्या के तीन गुणों के भेद के द्वारा विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र भेद से तीन प्रकार का है। कारणस्वरूप सत्त्व-गुण से अवच्छिन्न (उपहित) दृक्-पदार्थ पालनकर्त्ता विष्णु है। कारणस्वरूप रजोगुण से उपहित दृक्पदार्थ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा है। यद्यपि हिरण्यगर्भ महाभूतों का कारण न होने से ब्रह्मा नहीं है, तथापि स्थूल भूतों की सृष्टि करने से कहीं-कहीं[६] ब्रह्मा शब्द का उसमें उपचार होता है।

---

१. उनके मत में उपाधि-सम्बन्ध से भासमान भी ईश्वरत्व उपाधिसन्निहित केवल चैतन्य में ही है, इसलिए साक्षी शब्द और ईश्वरशब्द का वाच्य एक ही है, क्योंकि उपाधिविशिष्ट में ही ईश्वरत्व है। इसका नियामक कोई हेतु नहीं है। इसलिए वार्तिककार के मत में चैतन्य के दो ही प्रकार हैं। २. 'अविद्यायां तद्वृत्तौ वा प्रतिबिम्बितो जीवः साक्षीति पक्षान्तरम् अद्वैतसिद्धावुक्तम्' ऐसा रत्नावलीकारने प्रथमश्लोकव्याख्या में (पृ.६३) बताया है। साक्षी के बारे में यह जो मत है कि 'मनस्तत्संस्काराऽन्यतरावच्छिन्नं चैतन्यं साक्षी' उसका निरास बिंदुकार स्वयं करेंगे। ३. जीव की उपाधि में भी सत्त्वादि गुण हैं, किन्तु वे त्रिगुणात्मक मूल-प्रकृति के कार्य हैं, इसलिए यहाँ पर कारणीभूत शब्द का अर्थ अकार्यभूत समझना चाहिये। इससे जीव की उपाधि में रहनेवाले सत्त्वादि गुणों के किसी कर्मविशेष अथवा सुखविशेष में कारणत्व होने पर भी उक्त विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के लक्षणों की जीव में अतिव्याप्ति नहीं है। ४. कारणीभूत रजोगुणावच्छिन्न जगत् का उत्पादक ईश्वर ब्रह्मा है। यह ईश्वरवाचक ब्रह्मशब्द पुलिङ्ग है और निरुपाधिक शुद्ध चैतन्यार्थक ब्रह्मशब्द नपुंसकलिङ्ग है। वैसे ही कारणीभूत तमोगुणावच्छिन्न जगत्संहारक ईश्वर रुद्र है। इस दशा में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र इनका केवल औपाधिक भेद है—एक ही ईश्वर तत्तत् गुणों की प्रधानता से उन-उन कार्यों को काल के अनुसार करता है, यह समझना चाहिये। ५. अद्वैत वेदान्ती के मत में सामान्य रूप से यह प्रक्रिया है—सब जड पदार्थ चेतन की उपाधि हैं। जड-व्यष्ट्युपाधिक चेतन 'जीव' कहा जाता है और जड-समष्ट्युपाधिक चेतन 'ईश्वर'। चेतन का उपाधिभूत वह जड-जात तत्तत्कालकृत अवस्थाभेद के कारण स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से भी पञ्चीकृत भूतात्मक दृश्यमान जगत् स्थूल है। तादृश स्थूल का कारणीभूत अपञ्चीकृत भूतात्मक सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म का भी कारणीभूत मूल-अज्ञान अव्याकृत है। इस प्रकार उपाधियों के त्रैविध्य से व्यष्टिसमष्ट्युपाधिक जीव एवं ईश्वर भी प्रत्येक में तीन-तीन प्रकार के हैं। उनमें स्थूलव्यष्ट्युपाधिक जीव 'विश्व' कहा जाता है, सूक्ष्मव्यष्ट्युपाधिक जीव 'तैजस' और अव्याकृतव्यष्ट्युपाधिक जीव 'प्राज्ञ' कहा जाता है। स्थूलसमष्ट्युपाधिक ईश्वर 'विराट्' कहा जाता है, सूक्ष्म समष्ट्युपाधिक ईश्वर 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है और अव्याकृत समष्ट्युपाधिक ईश्वर 'ईश' कहा जाता है। इसी ईश की तत्तद्गुणों की प्रधानता से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संज्ञा होती है। निरुपाधिक चेतन तो 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में प्रदर्शित है। इस दशा में सूक्ष्मभूतोपाधिक हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूतों का स्थूलरूप से परिणाम करने में समर्थ है। परन्तु अव्याकृत का सूक्ष्मरूप से परिणाम करने में उसकी सामर्थ्य नहीं है। इसलिए यहाँ पर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म भूतों की कारणता के अभाव से सब जगत् के उत्पादन में उसकी सामर्थ्य नहीं है। ६. जैसे 'स वै शरीरी प्रथमः...ब्रह्माग्रे समवर्तत' इस वायुपुराणवाक्य में (१.४.६९)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मेत्युपचर्यते। कारणीभूततमउपहितो रुद्रः संहर्त्ता। एवं चैकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः, श्रीभारतीभवान्याद्याः स्त्र्याकाराः, अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थमित्यवधेयम्[1]।

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य[2] निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं[3] ब्रह्मणो रूपकल्पना॥' (राम० पूर्व० १। ७)

जीवत्रैविध्यम्

जीवोऽपि त्रिविधः—स्वोपाध्यवान्तरभेदेन विश्वतैजसप्राज्ञभेदात्। तत्र (१) अविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो[4] जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः। (२) स एव

कारणस्वरूप तमोगुण से उपहित दृक्-पदार्थ संहार करनेवाला रुद्र है। इस प्रकार एक ही दृक्-पदार्थ के चतुर्भुज (विष्णु), चतुर्मुख (ब्रह्मा), पञ्चमुख (शिव), पुरुषाकार तथा भारती, भवानी आदि स्त्री-आकार और अन्य मत्स्य, कूर्म आदि अनन्त अवतार भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला ही से आविर्भूत होते हैं—यह जानना चाहिये। जैसाकि कहा गया है—'ज्ञानमात्रस्वरूप, अद्वितीय, निरवयव एवं शरीररहित भी ब्रह्म की अपने उपासकों की कार्यसिद्धि के लिए चतुर्भुज आदि रूप से कल्पना की जाती है।'

अपनी उपाधि के अवान्तर भेद द्वारा विश्व, तैजस और प्राज्ञभेद से जीव भी तीन प्रकार का है। उनमें १) अविद्या, उसके परिणाम अन्तःकरण और स्थूल शरीररूप उपाधियों से युक्त एवं जाग्रदवस्था का अभिमानी जीव 'विश्व' कहलाता है। २) वही यदि स्थूल शरीर के अभिमान से शून्य अविद्या तथा अन्तःकरणरूप दो

१. इस प्रसंग में रत्नावली में भक्ति के बार में सूक्ष्म विचार स्पष्टतः प्रकट किये गये हैं। अवतार ईश्वर के होते हैं यह वेदान्तमत श्रीमधुसूदन सरस्वती ने ही सुव्यक्त किया है। स्मार्तों में पंचदेवोपासनादि का प्रचलन इसी भाव से है कि ये सभी नामरूप एक परमेश्वर के ही हैं। वैष्णवों, शैवों, शाक्तों आदि से स्मार्तों में यह विलक्षणता है कि हम शिव-विष्णु-देवी आदि सभी को एक परमेश्वर की ही मूर्तियाँ मानते हैं। २. चिन्मय=ज्ञानमात्रस्वरूप, अद्वितीय=द्वितीयरहित, निष्कल=निरवयव, अशरीर=शरीररहित। एतादृश ब्रह्म की जो चतुर्भुज आदि मूर्त्ति-कल्पना है, वह केवल उपासकों के तत्तदभीष्ट की सिद्धि ही के लिए है। ३. उपासकों का 'कार्य' यही है कि वे इनमें से किसी रूप पर मन पूर्णतः एकाग्र कर लें। ऐसा हो जाने पर निरुपाधि परब्रह्म स्वयमेव प्रकट हो जायेगा। ४. अविद्या, उसका परिणाम अन्तःकरण और स्थूलशरीर इन तीन उपाधियोंवाला जीव विश्व-संज्ञक है। 'विश्' धातु प्रवेशार्थ है। जाग्रत्-अवस्था में स्थूलशरीरपर्यन्त जीव का प्रवेश होता है, इसलिए उसको 'विश्व' कहते हैं। स्वप्नावस्था में तो पहली दो उपाधियों से युक्त जीव 'तैजस' कहा जाता है, क्योंकि स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर में अभिमान नहीं होता। तैजस का अर्थ है तेजोमय। यद्यपि यह सर्वदा ही तेजोमय है, तथापि स्वप्न में स्थूल शरीर के अभिमान के त्याग से स्वयंज्योति हो जाता है, यह विशेष है। सुषुप्ति-अवस्था में तो न स्थूलशरीर उपाधि है और न अन्तःकरण, किन्तु अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न जो अविद्या है, तन्मात्रोपाधिक जीव 'प्राज्ञ' कहा जाता है। प्रकर्षेण (अत्यन्त) अज्ञ है, इसलिए इसको 'प्राज्ञ' कहते हैं। अथवा आत्मस्वरूप सम्पत्ति का नाम है—प्रज्ञा। सुषुप्ति-अवस्था में वह इसको प्राप्त है; इसलिए इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं। इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में केवल अविद्या ही उपाधि है, स्वप्न-अवस्था में अविद्या तो है ही, किन्तु उससे अधिक अविद्या का कार्य अन्तःकरण भी उपाधि है। जाग्रत्-अवस्था में उससे भी अधिक स्थूल शरीर उपाधि है। यद्यपि इस प्रकार विश्व, तैजस और प्राज्ञ का औपाधिक भी अत्यन्त भेद नहीं है, तथापि उपाधिभूत एक ज्ञान की कारणावस्था और कार्यावस्थारूप अवान्तर भेद से यह विश्व है, यह तैजस है, यह प्राज्ञ है—इस प्रकार का व्यपदेश होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजसः। (३) शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञः। एतेषां च स्वतन्त्रोपाधिभेदाभावेन स्वतन्त्रभेदाभावेऽप्यवान्तरोपाधिभेदादेकत्वेऽप्यवान्तरभेदो व्यवह्रियते।

साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयाख्य एकविध एव। तत्रोपाधिभेदेनापि न क्वचिद् भेदः, तदुपाधेरेकरूपत्वात्[1]।

दृश्यत्रैविध्यम्

अविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः[2] प्रपञ्चो दृश्यपदार्थः। तस्य[3] चापारमार्थिकत्वेऽपि व्यावहारिकसत्ताभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थम्; उपासनादौ तदुपयोगादिति। सोऽपि त्रिविधः—अव्याकृतमूर्त्तामूर्त्तभेदात्।

उपाधियों से युक्त होकर स्वप्न का अभिमानी हो तो 'तैजस' कहलाता है। ३) स्थूल शरीर और अन्तःकरणरूप दो उपाधियों से रहित और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अविद्यामात्र से उपहित सुषुप्ति का अभिमानी 'प्राज्ञ' कहलाता है। इनके स्वतन्त्र उपाधि (अविद्या) के भेद का अभाव होने के कारण यद्यपि स्वतन्त्र भेद का अभाव है, तो भी अवान्तर उपाधि के भेद से अभेद रहने पर भी भेद का व्यवहार होता है।

सबका निरीक्षण करनेवाला, सबमें अनुगत, 'तुरीय' नामक साक्षी तो एक ही है। उसमें उपाधि-भेद से भी भेद नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी उपाधि एक ही है।

अविद्या एवं अविद्या से व्याप्त (अविद्या-चैतन्य-सम्बन्ध आदि) अविद्या कार्यरूप प्रपञ्च दृश्य पदार्थ है। वह यद्यपि अपारमार्थिक है, तथापि उसकी व्यावहारिकी सत्ता को स्वीकार करने से उसका निरूपण स्वप्न के पदार्थों के निरूपण के समान व्यर्थ नहीं है, उपासना आदि में उसका उपयोग है। दृश्य भी अव्याकृत, मूर्त्त एवं अमूर्त्त भेद से तीन प्रकार का है।

---

१. चैतन्य में साक्षित्व का आपादक उपाधिरूप सत्त्वगुण सर्वत्र एक ही है। किंच, साक्षित्व चैतन्यमात्र का धर्म है, इसलिए उपाधि का सन्निधान होने पर भी साक्षी के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता। २. 'तत्' शब्द से अविद्या का परामर्श है। अविद्या और अविद्या से व्याप्त जो अविद्या का कार्य एतदुभयात्मक दृश्य पदार्थ है, क्योंकि मृत्तिका से घट की तरह कारण से कार्य का स्वरूप व्याप्त हुआ करता है अविद्या-चित् संबंध आदि अनादि पदार्थों को 'तद्व्याप्य' से समझना चाहिये जो तत्कार्य नहीं हैं। ३. अद्वैतवेदान्ती के मत में सकल प्रपञ्च आविद्यिक है, इसलिए स्वाप्न पदार्थों के तुल्य होने से उसका निरूपण व्यर्थ ही है, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—'तस्य चापारमार्थिकत्वे' इति से। सत्ता तीन प्रकार की हुआ करती है—पारमार्थिकी, व्यावहारिकी और प्रातिभासिकी। इनमें से ब्रह्म-सत्ता पारमार्थिकी है, आविद्यिक प्रपञ्च की सत्ता व्यावहारिकी एवं शुक्तिरजतादि की सत्ता प्रातिभासिकी है। इनमें प्रातिभासिक पदार्थ का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, क्योंकि शुक्तिरजत से कोई अलङ्कार नहीं बनाया जा सकता। पारमार्थिक आत्मैक्यरूप से स्थिति होने पर व्यावहारिक पदार्थ का उपयोग न हो, किन्तु उससे पहले उपासनादि व्यवहारदशा में व्यावहारिक पदार्थ का उपयोग होता ही है। आत्मा की उपासना भी व्यावहारिकी ही है, क्योंकि उपासना भेदगर्भा होती है। वह उपास्य-उपासकभाव के अधीन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१) अव्याकृतम्

तत्र[1] साभासाऽविद्या मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चबीजशक्तिरूपा, तदजन्यत्वेऽपि[2] तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वेन तद्व्याप्यैश्चैतन्यतत्सम्बन्धजीवेश्वरविभागचिदाभासैः सहानादित्वादव्याकृतमित्युच्यते।[3] सा च स्वयं जडाऽप्यजडेन चिदाभासेनोज्ज्वलिता पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता सती शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याख्यानि पञ्चमहाभूतानि जनयति। तत्र पूर्वपूर्वभूतभावापन्नाया अविद्याया उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् पूर्वपूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरभूतेष्वनुप्रवेशः।

इन तीनों में (१) चिदाभाससहित अविद्या, जो कि मूर्त, अमूर्त्त और समस्त जगत् की बीजशक्तिरूपा है, वही अव्याकृत है। अविद्या से अजन्य होने पर भी अविद्या की निवृत्ति से निवृत्त होनेवाले जो-जो अविद्या के व्याप्य अविद्या-चैतन्य-सम्बन्ध, जीवेश्वर विभाग और चिदाभास हैं, इनके साथ मिलकर वही साभास अविद्या अनादि होने से अव्याकृत कही जाती है। वह यद्यपि स्वयं जड है, तो भी चेतन चिदाभास से उज्ज्वल होकर

---

१. अविद्या, उसका चिति के साथ सम्बन्ध, जीवेश्वर विभाग और अविद्यागत चिदाभास—ये चार पदार्थ 'अव्याकृत' शब्द से कहे जाते हैं। 'अविद्या' ईश्वर की अलौकिक शक्ति है, वह जड होते हुए भी स्वरूप से स्वच्छ है, इसलिए उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उसको 'आभास' कहते हैं। चिति का यह आभास चित् नहीं है, इसलिए आभास का दृक्रूप प्रथम पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं होता। यह आभास जड भी नहीं है, तो इतने से भी वह चित्रूप नहीं है, क्योंकि वह चित् और जड एतत् उभय से विलक्षण ही है। ऐसे आभास के सहित अविद्या मूर्त्त-अमूर्त्त सकल प्रपञ्चों का उद्भावन करनेवाली ईश्वर की शक्ति ईश्वररूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। अव्याकृत शब्दवाच्य जो अविद्या आदि चार पदार्थ कहे गये हैं, उनमें से अविद्या से भिन्न तीन अविद्या के व्याप्य हैं।

शङ्का—(१) चित् और अविद्या का सम्बन्ध, (२) जीवेश्वर-विभाग और (३) चिदाभास ये तीनों पदार्थ अविद्या से व्याप्त कैसे हैं? क्योंकि घट मृत्तिका से उत्पन्न होता है, इसलिए वह मृत्तिका से व्याप्त होता है। पर ये तो अविद्या से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अविद्या की तरह अनादि ही हैं। उत्तर—जन्यत्व-व्याप्यता का नियामक नहीं है, क्योंकि स्वव्याप्यत्व में स्वजन्यत्व हेतु नहीं है, किन्तु स्वावस्थित्यधीन-अवस्थितिकत्व स्वव्याप्यत्व है। जैसे मृत्तिका की अवस्थिति होने पर ही घट की अवस्थिति देखी जाती है। मृत्तिका की निवृत्ति होने पर तो क्षणभर भी घट की स्थिति नहीं होती, किन्तु निवृत्ति ही होती है। इसलिए घट मृत्तिका का व्याप्य है। वैसे ही यहाँ अविद्या की अवस्थिति होने पर इन तीनों पदार्थों की अवस्थिति होती है, अविद्या की निवृत्ति होने पर तो इनकी क्षणभर भी अवस्थिति नहीं होती है। इसलिए ये अविद्या के व्याप्य हैं। इस प्रकार अविद्याव्याप्यत्व के प्रदर्शन से अविद्या की निवृत्ति के लिए मुमुक्षु द्वारा क्रियमाण यत्न में इन तीनों की निवृत्ति के लिए पृथक्-पृथक् यत्न की अपेक्षा नहीं है, यह सूचित होता है। २. चार 'तत्' शब्दों से अविद्या का परामर्श है। 'चैतन्यतत्सम्बन्ध' शब्द में पूर्वपद में द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष है। इसी प्रकार जीवेश्वर-विभाग शब्द में भी द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष है। यहाँपर जीव और ईश्वर का दृक्रूप प्रथम पदार्थ में ही अन्तर्भाव है। उनका विभागमात्र अव्याकृत है। इसी प्रकार चैतन्य-तत्-सम्बन्ध—यहाँ पर भी सम्बन्धमात्र अव्याकृत है, चैतन्य का तो दृक्रूप प्रथम पदार्थ में ही संग्रह हो चुका है। तच्छब्द से परामृष्टा अविद्या और साभासाविद्या पहले ही अव्याकृत पदार्थ में संगृहीत हो चुकी हैं। ३. अब अविद्या से जन्य अमूर्त्त पदार्थों को कहते हैं—'सा च' इस ग्रन्थ से। इस संदर्भ में विवरणाचार्य ने तीन तरह से समझाया है: क) ब्रह्म और माया बराबरी की प्रधानता रखते हुए परस्पर मिले रहकर प्रपंचकारण हैं। ख) प्रपंच का उपादान ब्रह्म ही है, उसकी उपादानता का निर्वाह कराने वाली शक्ति माया है अर्थात् उपादानता की अवच्छेदक माया है। ग) कारण माया है, ब्रह्म केवल अधिष्ठान है। ये तीनों ही सिद्धान्तानुसारी पक्ष हैं, अपनी समझ के अनुसार किसी एक का अनुसंधान साधक को करना चाहिये। 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' नामक लघुकाय किन्तु अत्यंत गंभीर ग्रन्थ में मधुसूदन स्वामी ने उक्त तीनों व्यवस्थाओं पर प्रभूत प्रकाश डाला है अतः बिन्दु में यह विस्तार नहीं किया। कुछ प्रतियों में यहीं 'अयं चाव्याकृतपदार्थईश्वरोपाधिः।' यह वाक्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमविद्यात एवान्धकारोऽपि भावरूप एव आवरणात्मा चाक्षुषज्ञानविरोधी आलोकनाश्यश्च झटिति महाविद्युदादिवदाविर्भवति तिरोभवति चेति सिद्धान्तः। संसारहेतुदेहानुपादानत्वाच्च न श्रुतिषु सृष्टिप्रक्रियायामाम्नात इत्यविरोधः। दिक्कालौ त्वप्रामाणिकत्वान्नोक्तौ; आकाशस्यैव दिग्व्यवहारहेतुत्वात्, 'दिशः श्रोत्रमि'ति श्रुतेश्च। कालस्त्वविद्यैव, तस्या एव सर्वाधारत्वादिति। अयञ्चाव्याकृतपदार्थ ईश्वरोपाधिः।

पूर्व-पूर्व संस्कार और जीवों के कर्मों से प्रेरित होती[1] हुई शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धस्वरूप[2] आकाश, वायु तेज, जल, पृथ्वीनामक पाँच महाभूतों को उत्पन्न करतीं है। पूर्व-पूर्व भूतों (आकाशादि) के स्वरूप को प्राप्त हुई अविद्या उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होती है[3]। इसलिए पूर्व-पूर्व भूतों के गुणों का उत्तर-उत्तर भूतों में प्रवेश होता है।

इसी प्रकार भावस्वरूप[4], आवरणरूप[5], चाक्षुषज्ञान का विरोधी आलोक से नष्ट होनेवाला अन्धकार

---

१. अनादि संस्काररूप से स्थित जीव के कर्मों से सहकृत होती हुई, यह अर्थ है। संस्कार तो अव्याकृत है ही, क्योंकि शक्ति-विशेषरूप होने से वह अविद्या के स्वरूप के अन्तर्गत है। उस अव्याकृत-चतुष्टय से अतिरिक्त यह पञ्चम संस्कार भी अव्याकृत ही है—यह कोई-कोई कहते हैं। २. अद्वैतवेदान्तियों के मत में गुण और गुणी का तादात्म्य ही है, इसलिए आकाश का सूक्ष्मस्वरूप शब्द ही है। इसी प्रकार वायु आदि का भी सूक्ष्मरूप स्पर्शादि ही है, यह समझना चाहिये। तादात्म्य अर्थात् ऐसा अभेद जो भेदप्रतीति को संभव रहने दे। अतः गुण-गुणी में भेद की प्रतीति हो जाती है यद्यपि हैं वे अभिन्न ही। ३. शब्दात्मक आकाशस्वरूप होती हुई अविद्या स्पर्शात्मक वायु को उत्पन्न करती है। इस तरह कारणस्वरूपान्तर्गत शब्द की कार्यरूप स्पर्शात्मक वायु में अनुवृत्ति होती है। इसलिए वायु शब्दस्पर्शोभयात्मक हो जाता है। तादृश वायुभाव को प्राप्त हुई अविद्या रूपात्मक तेज को उत्पन्न करती है। उनमें से भी पूर्व की तरह कारण के स्वरूपों की अनुवृत्ति से शब्दस्पर्शरूपात्मक तेज सिद्ध होता है। तेज से जायमान जल शब्दस्पर्शरूपरसात्मक होता है। उससे जायमान पृथ्वी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक होती है। यहाँ पर सारी अविद्या का आकाशरूप से परिणाम नहीं होता, किन्तु एकदेश से होता है। आकाश भी एकदेश से वायुभाव को प्राप्त होता है, वायु भी एकदेश से तेज को और तेज एकदेश से जल को और जल एकदेश से पृथ्वी को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर की अपेक्षा से पूर्व-पूर्व महान् सिद्ध होते हैं। यह न्याय 'तेजोऽतस्तथा ह्याह' (२.३.१०) सूत्र में निर्धारित है। यहाँ 'अविद्याया उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्' कहा है किन्तु अविद्या से अविद्यावान् ईश्वर ही विवक्षित है क्योंकि अज्ञातात्मा से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र अज्ञान-पदार्थ वेदांन्त में नहीं माना गया है। ४. वैशेषिक अन्धकार को तेज का अभावरूप मानते हैं। यह युक्त नहीं, क्योंकि 'नीलं तमश्चलति' इस प्रतीति के अनुरोध से अन्धकार की भावरूपता सिद्ध है। उक्त प्रतीति भ्रमरूप नहीं है, क्योंकि उसका बाध नहीं होता—जैसे 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाध का अनुभव होता है, वैसे 'न नीलं तमः' इस प्रकार बाध का अनुभव नहीं होता। अन्धकार चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, इसलिए उसे अतिरिक्त पदार्थ मानने में गौरव नहीं है। यह पञ्चपादिकाविवरण पृ.३७ (म. अनु. संस्थान) में निर्धारित है तथा अनेक प्रकरण ग्रन्थों में समर्थित है। ५. आवरणस्वरूप है, इसलिए वह चाक्षुषज्ञान का विरोधी है। शंका—अन्धकार यदि भाव-पदार्थ है, तो जैसे भावरूप आकाशादि की उत्पत्ति 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २। १। १) इत्यादि श्रुतियों में वर्णित है, वैसे ही अन्धकार की उत्पत्ति का वर्णन क्यों नहीं किया? उत्तर में कहते हैं—'संसारहेतुदेहानुपादानत्वात्' इत्यादि से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२) अमूर्तम्

तानि च सूक्ष्माण्यपञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतान्यमूर्ताख्यानि कारणैक्यात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकानि सत्त्वांशप्राधान्येन ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमेकं स्वच्छं द्रव्यं

भी अविद्या से ही बिजली की तरह झटपट आविर्भूत होता है और झट तिरोभूत हो जाता है। संसार-बन्धन[1] के कारणस्वरूप देह का उपादान न होने से श्रुतियों में सृष्टिप्रकरण में उसका कथन नहीं किया, इसलिए कोई विरोध नहीं है। दिशा[2] और काल तो अप्रामाणिक होने से पृथक् नहीं कहे गये। 'दिशः श्रोत्रम्'[3] इस श्रुति से आकाश को ही दिशा के व्यवहार का हेतु कहा गया है। काल तो अविद्या ही है, क्योंकि अविद्या ही सबका आधार है। यह अव्याकृत-पदार्थ ईश्वर का उपाधि है।

२) और वे[4] अमूर्त्त नामवाले सूक्ष्म अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कारण[5] की एकता से सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक

---

१. भाव यह है कि प्रधानतया भावों की उत्पत्ति के वर्णन में श्रुति की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु मुमुक्षु पुरुषों को मोक्ष के साधन आत्मतत्त्वज्ञान के लिए आत्मा का यथार्थ स्वरूप बताने में ही श्रुति का तात्पर्य है। संसाररूप बन्ध का कारण प्राणियों का नैसर्गिक देहात्मभ्रम जब तक निवृत्त नहीं किया जा सकता, तब तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शन नहीं हो सकता। अतः उस भ्रम के निवारण के लिए देहादि के मूलकारणों का प्रदर्शन करना चाहिये, इस अभिप्राय से श्रुति ने भौतिक देह के उपादान कारण आकाशादि की उत्पत्ति का वर्णन किया है। अन्धकार तो देह का उपादान नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति के वर्णन न करने से श्रुति की न्यूनता नहीं है। किञ्च, श्रुति में आकाश, वायु आदि की उत्पत्ति के वर्णन से परमाणुओं के नित्यत्व का भ्रम दूर हो जाता है, इसलिए कोई भी जड नित्य नहीं है, एक चेतन आत्मा ही नित्य है, इस अर्थ में श्रुति का तात्पर्य है। आत्मभिन्न सब भाव-पदार्थों की अनित्यता में श्रुति का तात्पर्य है। अन्धकार को तो वैशेषिक भी नित्य नहीं मानते। इसलिए अन्धकार की उत्पत्ति के कथन से उसका अनित्यत्व-साधन सिद्धसाधन ही है, अतः अन्धकार की उत्पत्ति में श्रुति उदासीन है।

२. शङ्का—भावरूप दिशा और काल की उत्पति के प्रदर्शन से उनका अनित्यत्व अवश्य दिखाना चाहिये, क्योंकि वैशेषिकादि दिशा और काल को नित्य मानते हैं। उत्तर—दिशा की उत्पत्ति तो 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २। १। १) यहाँ पर दिखायी है, क्योंकि दिशा आकाश से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। और काल अविद्या से अतिरिक्त नहीं है 'सा च तम आसीत्' (तै० ब्रा० २। ८। ६। ४) इत्यादि श्रुति में कहा है। 'अप्रामाणिकत्वात्' इसका 'पदार्थान्तरत्वेन अप्रामाणिकत्वात्' यह अर्थ है। अर्थात् दिशा और काल का व्यवहार तो संमत है पर इन्हें आकाशादि की अपेक्षा स्वतंत्र पदार्थ मानना व्यर्थ है। कुछ विचारक श्रौत प्रसंगों में संवत्सरादि काल की उत्पत्ति का स्पष्ट कथन सुनकर बिन्दुकार से इस बारे में मतभेद रखते हैं। सूतसंहिता में तो 'माया-आत्मा का संबंध काल है' ऐसा बताया है। ३. वैशेषिक भी श्रोत्र-इन्द्रिय को आकशरूप मानते हैं। 'दिशः श्रोत्रम्' इस श्रुति में दिशा से श्रोत्र की उत्पत्ति के कथन से दिशा श्रोत्र का उपादान कारण है, यह सिद्ध होता है। तथाच आकाशस्वरूप श्रोत्र का उपादान कारण आकाश ही होना चाहिये, इसलिए अर्थात् दिशा आकाशरूप है, यह सिद्ध होता है। ४. दृश्य का अव्याकृत भेद समझाकर अब उसके 'अमूर्त' नामक द्वितीय भेद को समझाते हैं। पञ्चीकरण को अप्राप्त पाँच भूतों के परस्पर मिश्रण को 'पञ्चीकरण' कहते हैं। उसका प्रकार आगे मूल में ही 'तत्र च प्रत्येकम्' इत्यादि ग्रन्थ से कहेंगे। ५. कारण के साथ कार्य की एकता लोक में देखी जाती है, क्योंकि घट मृत्स्वरूपता का त्याग नहीं करता। ब्रह्मसूत्रकार ने भी 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २। १। १४) इस सूत्र से कार्य का कारण के साथ अभेद कहा है। तथाच, जैसे चिकनी मृत्तिका से बनाया हुआ घट मृत्तिकारूप होने से चिकना ही होता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक अविद्या से सम्पादित पञ्चभूत त्रिगुणात्मक ही होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्ररूपमिव मिलित्वा जनयन्ति। तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानोंऽशोऽन्तःकरणम्। तच्च बुद्धिर्मन इति द्विधोच्यते। क्रियाशक्तिप्रधानोंऽशः प्राणः। स पञ्चधा—प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति।

एवमेकैकभूतेभ्यो ज्ञानक्रियाशक्तिभेदात् प्रत्येकमिन्द्रियद्वयं जायते। आकाशाच्छ्रोत्रवाचौ। वायोस्त्वक्पाणी। तेजसश्चक्षुष्पादौ। अद्भ्यो रसनपायू। पृथिव्या घ्राणोपस्थौ। अत्र 'तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति श्रुतेस्तैजसी वाक्। पादस्तु नाभस इति केचित्। शब्दव्यञ्जकेन्द्रियत्वेन श्रोत्रवद्वाचो नाभसत्वं, पादचिकित्सया च चक्षुषः स्वास्थ्यदर्शनाच्चक्षुर्वत् पादस्यापि तैजसत्वमिति युक्तमुत्पश्यामः। तेजोमयत्वश्रुतिस्तु, मनसः पञ्चमहाभूतकार्यस्यापि अन्नमयत्वश्रुतिरिव, तदुपकार्यतया व्याख्येया। मनसश्च पञ्चमहाभूतगुणग्राहकत्वेन तद्वत्त्वनिश्चयात् पञ्चमहाभूतात्मकत्वमित्यन्यदेतत्। एतेषाम्

हैं। ये अमूर्त पञ्चमहाभूत सत्त्व-अंश की प्रधानता से ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक एक स्वच्छ[1] द्रव्य को चित्ररूप की तरह मिलकर उत्पन्न करते हैं। उसका[2] ज्ञानशक्तिप्रधान अंश अन्तःकरण है। वह[3] अन्तःकरण ही बुद्धि और मन इन दो भेदों से कहा जाता है। क्रियाशक्तिप्रधान अंश प्राण है। वह[4] प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेद से पाँच प्रकार का है।

इस प्रकार एक-एक भूत से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के भेद से प्रत्येक की दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश[5] से श्रोत्र और वाणी, वायु से त्वचा और हस्त, तेज से नेत्र और पाद, जल से रसना और

१. कारणगत सत्त्व-अंश की अधिकता से उत्पन्न होने के कारण अन्तःकरण भी स्वच्छ है, जैसे रजत की मुद्रा अन्य धातुओं से मिश्रित होने पर भी रजत-अंश की अधिकता से राजत ही देखी जाती है। वह ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक होने से शक्तिद्वय से युक्त है, इसलिए चित्ररूप के सदृश है। २. ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक एक स्वच्छ द्रव्य का, यह अर्थ है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती के मत में प्राण और अन्तःकरण की एकता ही है, केवल शक्तिभेद से भेद का व्यपदेश होता है। जैसे दर्पण में दो भाग होते हैं —एक चमकदार, जो प्रतिबिंबन करता है और दूसरा उसका पिछला हिस्सा जो चमकदार नहीं होता किन्तु सामने वाले हिस्से के चमकने के लिए आवश्यक होता है ऐसे ही मन व प्राण अंतःकरण के भाग हैं ऐसा मानसोल्लासवार्तिक में समझाया गया है। ३. निश्चयात्मक वृत्तिवाले अन्तःकरण को 'बुद्धि' कहते हैं। अनिश्चयात्मक वृत्तिवाला अन्तःकरण 'मन' कहा जाता है। कामना, संकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, डर आदि भी मन या मनोवृत्ति बताये गये हैं। 'अहम्' इत्याकारक निश्चयविशेषात्मक वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप होने से 'अहंकार' बुद्धिविशेष ही है। संशयरूप अनिश्चयविशेषात्मक वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप होने से चित्त मनोविशेष है। ४. 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।।' इस प्रकार स्थान-भेद से उनका भेद समझना चाहिये। ५. कर्णविवर में कार्यकारी, ज्ञानशक्तिमान्, आकाशकार्य 'श्रोत्र' इन्द्रिय है। वैसे ही मुखविवर में कार्यकारी क्रियाशक्तिमान् आकाशकार्य 'वाक्' इन्द्रिय है। इसी प्रकार वायु प्रभृति चारों में प्रत्येक की दो-दो इन्द्रियाँ समझनी चाहिये। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शब्द आकाश का गुण है और श्रोत्र शब्द का ग्राहक है। शब्द का आश्रय होने ही से वह शब्द को ग्रहण करता है, क्योंकि शब्दग्राहकता का अवच्छेदक कोई धर्मान्तर वहाँ दृश्यमान नहीं है। इसलिए शब्द का आश्रय होने से श्रोत्र की आकाशरूपता स्वीकार करनी चाहिये। 'वाक्' इन्द्रिय तो शब्द की उद्भावक है, इसलिए वह भी आकाशरूप है, यह स्वीकार करना चाहिये। वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है, शब्द तो उसमें अपने कारण आकाश से आया है। इसलिए वायुगत स्वाभाविक गुण स्पर्श की ग्राहक, स्पर्श की आश्रय होने से, 'त्वक्' इन्द्रिय वायुरूप है। वायु में क्रियाशक्ति है। वह क्रियाशक्ति 'पाणि' इन्द्रिय में अधिक देखी जाती है। इसलिए 'पाणि' इन्द्रिय वायुरूप है। तेज का स्वाभाविक गुण रूप है, शब्द-स्पर्श तो उसमें कारण से अनुवृत्त हैं, स्वाभाविक नहीं। इसलिए तादृश रूप का ग्राहक होने से चक्षु रूपवान् है, अतः चक्षु तैजस् है। पादों में घृत आदि का सम्मर्दन करने से चक्षु का स्वास्थ्य देखा जाता है, इसलिए 'पाद' इन्द्रिय तेजोरूप है। जल का स्वाभाविक गुण रस है; शब्द, स्पर्श और रूप उसमें कारण से आते हैं। रस की ग्राहक होने से 'रसन' इन्द्रिय रस की आश्रय है; इसलिए रसनेन्द्रिय जल-स्वरूप है। 'पायु' इन्द्रिय भी जल की तरह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिष्ठातारो देवा अपि ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिप्रधानाः। दिगग्नी वातेन्द्रौ आदित्यविष्णू वरुणमित्रौ अश्विप्रजापती इति। तत्र ज्ञानशक्तिसमष्टिरन्तःकरणम्। क्रियाशक्तिसमष्टिः प्राणः।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि। त्वक्चक्षुषी स्वग्राह्यगुणाश्रयं द्रव्यमपि गृह्णीतः। श्रोत्रमपि चक्षुर्वद् गत्वा शब्दग्राहकम्, 'दूरे शब्द' इति प्रत्ययात्। वचनादानगतिविसर्गानन्दजनकानि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि। एतच्च सर्वं मिलित्वा सप्तदशकं लिङ्गं, ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भ इति, क्रियाशक्तिप्राधान्येन सूत्रमिति चोच्यते। अयममूर्त्तः पदार्थः कार्यत्वाद् व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव।

गुद (मलविसर्जनेन्द्रिय), पृथिवी से नासिका और उपस्थ (प्रजननेन्द्रिय)। यहाँ कुछ लोग 'तेजोमयी वाक्' इस श्रुति से वाणी को तैजस (तेज से उत्पन्न) कहते हैं। कोई पाद को नाभस (आकाश से उत्पन्न) कहते हैं। परन्तु हम तो यही युक्त समझते हैं कि शब्द-व्यञ्जक इन्द्रिय होने के कारण श्रोत्र के समान वाणी भी आकाशजन्य है। पाद की चिकित्सा करने से नेत्र की स्वस्थता देखी जाती है, अतः नेत्र के समान पाद भी तैजस है। वाणी में तेजोमयत्व[1] का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो, पञ्चभूतों के कार्यरूप मन में अन्नमयत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के समान, उसकी उपकारी होने से, व्याख्येय है। मन पाँच भूतों के गुणों का ग्रहण करता है, उसमें पञ्चमहाभूतगुणवत्त्व का निश्चय होने से पञ्चमहाभूतात्मकता सिद्ध है, यह बात दूसरी है (अर्थात् दर्शनान्तरों की मान्यताओं से पृथक् है)। श्रोत्र आदि के अधिष्ठाता देवता[2] भी ज्ञानशक्तिप्रधान एवं क्रिया-शक्तिप्रधान हैं। दिशा और अग्नि, वायु और इन्द्र, सूर्य और विष्णु, वरुण और मित्र, अश्विनीकुमार और प्रजापति—ये क्रम से श्रोत्र, वाणी आदि के अधिष्ठाता हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियों की समष्टि अन्तःकरण है और कर्मेन्द्रियों की समष्टि प्राण।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण करनेवाले श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमें से त्वचा[3] और नेत्र अपने से ग्रहण करने के योग्य गुण के आश्रयभूत द्रव्य का भी ग्रहण

मल की शोधक होने से जलस्वरूप है। पृथ्वी का स्वाभाविक गुण गन्ध है; शब्द, स्पर्श, रूप, रस उसमें कारण से अनुवृत्त हुए हैं। गन्ध की ग्राहक होने से 'घ्राण' इन्द्रिय गन्ध की आश्रय है, इसलिए घ्राण-इन्द्रिय पृथ्वीस्वरूप है। 'उपस्थ' इन्द्रिय गन्ध-विशेष की अतिशय व्यञ्जक होने से पृथ्वीस्वरूप है। बृहदारण्यकवार्तिक (पृ.७०६, म.अनु. सं.) में यह विस्तार द्रष्टव्य है। अन्य दर्शन इन्द्रिय-मन-प्राण की ऐसी व्यवस्था नहीं मानते, यह वेदान्त-संप्रदाय की व्यवस्थायें हैं। ब्रह्मसूत्रों में भी प्राण, इन्द्रिय आदि के बारे में काफी चर्चा उपलब्ध है। १. 'तेजोमयी वाक्' इस श्रुति में वाणी को तेजोमय कहना 'वाणी तेज से पुष्ट होती है' इस अभिप्राय से है। इसलिए उससे विरोध नहीं है। जैसे पञ्चभूतों के कार्य भी मन को 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छा० ६। ५। ४) इस श्रुति में अन्नभक्षण से प्रसन्नता होती है, इस अभिप्राय से मन 'अन्नमय' कहा गया है, वैसे ही 'तैजस पदार्थों के भक्षण से वाक्-इन्द्रिय का कार्य शब्दोच्चारण भलीभाँति सम्पन्न होता है', इस अभिप्राय से वाणी को 'तेजोमय' कहा गया है। शङ्का—'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इस श्रुति के अनुरोध से घटादि की तरह मन भी पार्थिव ही है। उत्तर—मन यदि पार्थिव हो, तो गन्धवान् होने से घ्राणेन्द्रिय की तरह गन्ध ही का ग्रहण करेगा, शब्दादि का नहीं। किन्तु वह शब्दादि का ग्रहण करता देखा जाता है। इसलिए शब्दादिग्रहणान्यथानुपपत्त्या मन में शब्दादि सभी गुण हैं, यह स्वीकार करना चाहिये। अतएव मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आश्रय होने से पाञ्चभौतिक सिद्ध होता है। २. श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से ज्ञानशक्तिप्रधान दिक्, वात, आदित्य, वरुण और अश्विनीकुमार देवता हैं, वैसे ही त्वक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रम से क्रियाशक्ति-प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति देवता हैं। प्राणों के देवता 'लघुवासुदेवमननम्' के आठवें वर्णक में बताये जा चुके हैं। क्योंकि बिना अधिष्ठातृ-चेतन के जड इंद्रियादि में प्रवृत्ति असंभव है तथा क्योंकि इंद्रियादि का अपरोक्ष ज्ञानादि हम जीवों को नहीं है इसलिये हम उनके अधिष्ठाता नहीं हो सकते इसलिये इनके अधिष्ठाता जीव से अलग मानने संगत हैं और श्रुति ने बताये भी हैं। ज्योतिराद्यधिकरण में (२.४. अधि.७) यह निर्णीत है। ३. श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण ये तीनों इन्द्रियाँ तत्तत् गुणमात्र का ग्रहण करती हैं। त्वक् इन्द्रिय तो स्पर्श और उसके आश्रय का ग्रहण करती है। चक्षुरिन्द्रिय भी रूप और उसके आश्रय का ग्रहण करती है।

शङ्का—प्रत्यक्षज्ञान में विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष की अपेक्षा है। ऐसी दशा में दूरस्थ पर्वतादि का चक्षु से ज्ञान कैसे होता है? उत्तर—चक्षु स्वयं लम्बा होकर पर्वत के समीप जाकर पर्वत को व्याप्त करता है, अथवा किरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३) मूर्तम्

तानि[1] च तादृशानि भूतानि भोगायतनं[2] शरीरं भोग्यञ्च[3] विषयमन्तरेण भोगं जनयितुमशक्नुवन्ति[4] जीवकर्मप्रयुक्तत्वात् स्थौल्याय पञ्चीकृतानि भवन्ति। तत्र च प्रत्येकं पञ्चभूतानि द्विधा विभज्यन्ते, तत्रैकैको भागश्चतुर्धा विभज्यते। तद्भागचतुष्टयञ्च स्वभागं विहायेतरभूतचतुष्टयार्धभागेषु प्रविशतीति स्वस्यार्धभागेनेतरेषामष्टमभागेन च पञ्चीकरणान्मेलनेऽप्याधिक्यादाकाशादिशब्दप्रयोगः।

करते हैं। श्रोत्र भी नेत्र के समान विषय के समीप जाकर शब्द का ग्रहण करता है, क्योंकि दूर में शब्द है—ऐसा ज्ञान होता है। बोलना, ग्रहण करना, चलना, मल त्यागना, आनन्द आदि क्रियाओं की जनक वाणी, हस्त, पाद, गुद, उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये[5] सब मिलकर सत्रहों का समुदाय-स्वरूप लिङ्गदेह ज्ञानशक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। यह[6] अमूर्त्त पदार्थ कार्य होने से व्यष्टि में एवं समष्टि में भी जीवोपाधि है।

अमूर्त्त और सूक्ष्म वे भूत भोगों के गृहरूप शरीर तथा भोग्य विषयों के बिना भोग[7] उत्पन्न करने में असमर्थ होते हुए जीव[8] के कर्मों से प्रेरित होकर स्थूल होने के लिए पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चीकरण में प्रत्येक[9] भूत के दो विभाग किये जाते हैं। उनमें से एक-एक भाग के चार-चार भाग किये जाते हैं। वे चार भाग अपने भाग को छोड़कर अन्य चार भूतों के आधे भाग में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अपने आधे भाग से अन्य चार भूतों के आठवें भाग से पञ्चीकरण द्वारा मिलने पर भी अपने भाग के आधिक्य से आकाश आदि शब्द प्रयोग होता है।

द्वारा पर्वत को व्याप्त करता है। इसी प्रकार श्रोत्र भी लम्बा होकर शब्द के समीप जाकर शब्द को व्याप्त करता है। शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है, इसलिए क्रम से श्रोत्रदेश में उत्पद्यमान ही शब्द को श्रोत्र ग्रहण करता है, यह वैशेषिकमत युक्त नहीं है; क्योंकि उस दशा में सर्वत्र श्रोत्रसन्निहित ही शब्द का ग्रहण होगा। तब 'दूर शब्द सुनाई देता है' ऐसी प्रतीति न होगी। इसलिए श्रोत्र ही शब्द के समीप जाता है, यह स्वीकार करना चाहिये। ध्यान रहे कि अनुभव का उपपादन यहाँ अभीष्ट है न कि भौतिकी या आयुर्विज्ञान की पद्धतियाँ खोजना! अतः 'सामने दीख रहा है', 'दूर में हल्ला है' आदि अनुभव तब सरलता से बुद्धिसंगत हो जाता है जब इंद्रिय को विषयस्थल में जाने वाला मानें।

१. अमूर्त्त=सूक्ष्मभूत। २. भोगायतन=शरीर। ३. पञ्चीकृत पञ्चभूतों के परिणामविशेष—भोग्य-विषय। ४. अशक्नुवन्तीति शतृप्रत्ययान्तम्। ५. ईश्वर की उपाधि अनादि अव्याकृत से उत्पद्यमान यह सब है। सूक्ष्म अपञ्चीकृत पञ्चभूत और उन सबके सात्त्विक अंशों से उत्पद्यमान ज्ञानशक्तिप्रधान अन्तःकरण, वैसे ही उन भूतों से उत्पद्यमान क्रियाशक्तिप्रधान प्राण, वैसे ही उन प्रत्येक के सात्त्विक अंशों से उत्पद्यमान ज्ञानशक्तिप्रधान पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वैसे ही उनसे उत्पद्यमान क्रियाशक्ति प्रधान पाँच कर्मेन्द्रियाँ—इन सत्रहों का समुदायरूप लिङ्गशरीर है। वह लिङ्गशरीर ज्ञानशक्ति की प्रधानता से 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। हिरण्य (सुवर्ण) की तरह प्रकाशजनक गर्भवाला, यह 'हिरण्यगर्भ' शब्द का अक्षरार्थ है। समष्टि-लिङ्ग-शरीराभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भरूप लिङ्गशरीर का अधिष्ठाता होने से हिरण्यगर्भ कहा जाता है, वैसे ही वही सत्रहों का समुदायरूप लिङ्गशरीर क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। सूत्र (तागा) की तरह सब पदार्थों में अनुस्यूत (सिला हुआ) होने से यह सूत्र कहा जाता है। लिङ्ग-समष्टि का अभिमानी जीव भी लिङ्गशरीररूप सूत्र का अधिष्ठाता होने से सूत्र कहा जाता है। ६. ये सब ईश्वर के बनाये हैं, इसलिए अपनी उत्पत्ति से पहले अपने उत्पादक ईश्वर के उपाधि नहीं हो सकते। अतः ये जीव ही के उपाधि हैं। सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ जीवविशेष (या जीवों की समष्टि) ही है। इस प्रकार अव्याकृत और अमूर्त्त इन दोनों पदार्थों को कहकर तृतीय मूर्त्त पदार्थ के प्रदर्शन के लिए आरम्भ करते हैं—'तानि चेति' से।। ७. उस परिणामविशेष ही से भूतों की भोगजनकता है, अन्य प्रकार से नहीं। ८. सूक्ष्मभूतों की स्थूलता पञ्चीकरण से होती है। इंद्रियगोचरता यहाँ स्थूलता है। सूक्ष्मभूत एवं उनकी अपंचीकृत दशा के कार्य इंद्रियों के विषय नहीं होते। पञ्चीकरण पाँचों भूतों के परस्पर मिश्रण को कहते हैं। वह मिश्रण सम विभाग से नहीं, किन्तु लोकप्रतीति के अनुसार विषमभाग से होता है। यदि सम-भाग से हो, तो 'यह पृथ्वी, यह जल' इत्यादि प्रतीति न होती। ९. आकाश के दो भाग करके फिर उन दोनों अर्धभागों में से एक अर्ध के चार समभाग करने चाहिये, इस प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चीकरणसमर्थनम्

अत्र[1] च 'त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) इति श्रुतेः 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।२०) इति सूत्राच्च त्रयाणामेव मेलनप्रतीतेश्च, त्रिवृत्करणमेव केचिन्मन्यन्ते। ते[2] वियदधिकरणन्यायेनैव निराकृताः। तथा हि—तैत्तिरीयके 'तस्माद्वा

यहाँ 'त्रिवृतं त्रि०' इस श्रुति से तथा 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' इस सूत्र से भी तीनों के ही मेलन की प्रतीति होने से कोई त्रिवृत्करण ही मानते हैं। उनका निराकरण वियदधिकरण-न्याय से किया गया है।

पाँच भाग हो जाते हैं। उनमें से एक भाग तो अर्द्धांश है, दूसरे चार अष्टमांश। वायु आदि चार भूतों के भी इसी प्रकार पाँच भाग करने चाहिये। उनमें से आकाश के अर्द्धांश में वायु आदि चारों भूतों का एक-एक अष्टमांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ 'आकाश' शब्द से कहा जाता है, क्योंकि आकाश का अंश उसमें अधिक है। उसी प्रकार वायु के अर्द्धांश में वायु से भिन्न आकाशादि चार भूतों का एक-एक अष्टमांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ उपलभ्यमान वायु कहा जाता है। इसी प्रकार तेज, जल पृथ्वी इनके भी प्रत्येक अर्द्धांश में तत्तत् से भिन्न चारों भूतों के प्रत्येक चार अष्टमांश जोड़ देने चाहिये। जिस भूत का जिसमें अर्द्धांश होता है, उसका उस शब्द से व्यपदेश होता है। यह 'पंचीकरण' नामक प्रकरणग्रन्थ के वार्तिकादि में स्पष्ट है। श्रीशंकरानंद जी ने आत्मपुराण में पंचीकरण और त्रिवृत्करण के विलक्षण अनुपात प्रतिपादित किये हैं जो प्रक्रियान्तर होने से स्वीकार्य हैं पर अधिकतम ग्रंथों में पंचीकरणवार्तिकोक्त अनुपात ही संमानित है। १. अब त्रिवृत्करणवादी वाचस्पति मिश्र के मत का अनुवाद करते हैं। आकाश और वायु का अन्य भूतों में मिश्रण नहीं, वैसे ही आकाश और वायु में अन्य भूतों का मिश्रण नहीं। किन्तु तेज, जल, पृथ्वी इन्हीं का परस्पर मिश्रण है। इसी को 'त्रिवृत्करण' कहते हैं। वह भी सम-विभाग से नहीं, किन्तु पञ्चीकरण की तरह विषम-विभाग से ही है। उसका प्रकार यह है—तेज के दो समभाग करके उन दोनों अर्द्ध-भागों में से फिर एक भाग के दो सम-विभाग करने चाहिये। इस प्रकार तीन भाग होते हैं। उनमें से एक भाग तो अर्द्धांश है, दूसरे दो चतुर्थांश, इस प्रकार जल और पृथ्वी के भी प्रत्येक भागत्रय करना चाहिये। भू-तलचतुर्थांशों को तेज के अर्द्धांश में जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ तेज-अंश की अधिकता से तेज कहा जाता है। वैसे ही जल के अर्द्धांश में तेज का एक चतुर्थांश और पृथ्वी का एक चतुर्थांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ जल-अंश की अधिकता से जल कहा जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी के अर्द्धांश में तेज का एक चतुर्थांश और जल का एक चतुर्थांश जोड़ देना चाहिये। यह पृथ्वी कहा जाता है। त्रिवृत्करण में प्रमाण 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) यह श्रुति है। 'उन तेज, जल और पृथ्वी में से एक-एक को त्रिवृत कर दूँ' इस प्रकार परमात्मा ने विचार किया, यह श्रुति का अर्थ है। जैसे तीन तन्तुओं से ग्रथित रज्जु त्रिवृत होती है। यहाँ पर वायु का उच्चारण न होने से पञ्चीकरण में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, यह समझा जाता है। प्रश्नोपनिषत् में(४.८) आकाश-वायु से पृथक् 'आकाशमात्रा-वायुमात्रा' का स्पष्ट गणन है जिससे सूक्ष्म आकाश-वायु स्थूल आकाश-वायु से अलग हैं यह पता चलता है। अतः स्थूलभिन्न आकाश-वायु न मानना श्रुति से ही बाधित है। शंकरानन्दस्वामी ने तो गर्भोपनिषद्-वचन से भी पंचीकरण सिद्ध कर दिखाया है। 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।२०) यह सूत्र भी त्रिवृत्करण में प्रमाण है। संज्ञा=नाम, मूर्त्ति=रूप, क्लृप्ति=कल्पना, त्रिवृत्कुर्वतः=परमात्मा की—यह अर्थ है। 'तासां त्रिवृतं' इस उक्त श्रुति के अनुरोध से त्रिवृत्करण परमात्मा ने किया है, इसलिए 'त्रिवृत्कुर्वतः' शब्द का अर्थ परमात्मा है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि नाम-रूप व्याकरण परमात्मा ही का कार्य है, जीव का नहीं। 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इस श्रुति में 'नामरूप-व्याकरण का कर्ता परमात्मा है।' इस उपदेश से, यह सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र में त्रिवृत्करण का अनुवाद है। किंच, तेज, जल, पृथ्वी ये रूपवान् हैं, इसलिए उनके मिश्रण की प्रतीति होती है। वायु और आकाश नीरूप हैं, उनके मिश्रण की प्रतीति नहीं होती। प्रतीति के अनुसार ही ऐसा है, यह निश्चय होता है—यह वाचस्पति मिश्र का आशय है। इस मत का निराकरण करते हैं। २. तैत्तिरीय-श्रुति में परमात्मा से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच भूतों की उत्पत्ति का क्रम से वर्णन किया है। छान्दोग्य-श्रुति में तो परमात्मा से तेज, जल, पृथ्वी इन तीनों ही भूतों की उत्पत्ति का वर्णन है। ऐसी दशा में इन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २। १। १) इति श्रुतेश्छान्दोग्ये त्रयाणां तेजोऽबन्नानां सृष्टिश्रवणेऽपि द्वयोरुपसंहारः। तेजःप्राथम्यपदार्थधर्मापेक्षया आकाशवायु-पदार्थयोर्बलीयस्त्वात्। छान्दोग्ये चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादनाद् आकाशवाय्वोरचेतन-योर्ब्रह्मकार्यत्वस्यावश्यवाच्यत्वात्। तत्र पञ्चानामेव सृष्टानां मेलनेऽप्यवयुत्याऽनुवादेन

देखिये—तैत्तिरीय उपनिषद् में 'तस्माद्वा' इस श्रुति से यद्यपि छान्दोग्योपनिषद् में तेज, जल और अन्न इन तीनों की सृष्टि का श्रवण है, तो भी दो का उपसंहार होता है। तेज के प्राथम्यरूप पदार्थ-धर्म की अपेक्षा आकाश और वायुरूप पदार्थों के बलवान् होने से एवं छान्दोग्य में 'एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है' ऐसी प्रतिज्ञा करने से अचेतन आकाश और वायु में ब्रह्मकार्यता अवश्य कहनी चाहिये। सृष्ट हुए पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों का मेलन होने पर भी समुदाय से एकदेश का पृथक् करके अनुवाद करने से त्रिवृत्करण-श्रुति की उपपत्ति हो जाती है। तीनों का ही मेलन होता है, ऐसी कल्पना करने पर तो वाक्यभेद-प्रसङ्ग हो

दोनों श्रुतियों का विरोध है। विरोध होने पर एक श्रुति की प्रमाणता को स्वीकार करके उसके बल से अन्य श्रुति का बाध अवश्य कहना चाहिये। बाधित श्रुति का भी सर्वथा अप्रामाण्य नहीं, किन्तु अध्याहार से अथवा लक्षणा से कथञ्चित् संगमन करना चाहिये। प्रकृत में किस श्रुति से किसका बाध हो, यह संशय है। क्या छान्दोग्य-श्रुति में प्रथम तेज की उत्पत्ति के वर्णन से उससे पूर्व परमात्मा ने किसी की उत्पत्ति नहीं की, इसलिए आकाश और वायु नित्य ही हैं, यह निश्चय करके तैत्तिरीय-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले आकाश और वायु का बाध करना चाहिये? 'सम्भूत' शब्द का लक्षणा से अभिव्यक्त अर्थ करके कथञ्चित् संगमन करना चाहिये अथवा तैत्तिरीयश्रुति के अनुरोध से तेज से पूर्व आकाश और वायु की उत्पत्ति का निश्चय करके 'तत्तेजोऽसृजत्' इस छान्दोग्य-श्रुति में उत्पत्ति-क्रम में प्रतीयमान तेज के प्राथम्य धर्म का बाध करना चाहिये? 'आकाशं वायुञ्च सृष्ट्वा' का अध्याहार करके श्रुति के अर्थ का संगमन करना चाहिये? ऐसा संशय होने पर द्वितीय पक्ष ही ग्राह्य है, क्योंकि छान्दोग्य-श्रुति के अनुरोध से निश्चय करने पर तैत्तिरीय-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले आकाश और वायुरूप धर्मीभूत पदार्थ के ही बाध ही कल्पना करनी होगी। तैत्तिरीय-श्रुति के अनुरोध से निश्चय करने पर तो छान्दोग्य-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले तेजरूप धर्मीभूत पदार्थ का बाध नहीं होता, क्योंकि तेज की उत्पत्ति तैत्तिरीय-श्रुति में भी वर्णित है। किन्तु उत्पद्यमान तेजोरूप पदार्थ में प्रतीयमान प्राथम्य-धर्म का ही बाध करना होगा। बाध अगतिक गति है, इसलिए दुर्बल प्राथम्य-धर्म के ही बाध की कल्पना करनी चाहिये। प्रबल आकाश, वायुरूप धर्मी पदार्थ के बाध की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

किञ्च, 'येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६। १। ३) इस श्रुति में एक परमात्मा के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा की है। आकाश और वायु के नित्य होने पर तो वह परमात्मा के कार्य नहीं हो सकते। इसलिए परमात्मा के ज्ञान से आकाश और वायु का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि मृत्तिका के ज्ञान से उसके कार्य घट का यथार्थ ज्ञान हुआ करता है, पट का नहीं। इसलिए इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। तथा च आकाश और वायु की परमात्मा से उत्पत्ति सिद्ध होती है, यह वियदधिकरण में सिद्ध किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुरोध से 'तत्तेजोऽसृजत्' इस छान्दोग्य-श्रुति का 'उस ब्रह्म ने आकाश और वायु की रचना करके तेज की रचना की' यह अर्थ पर्यवसन्न होता है। इस श्रुति में पाँचों भूतों की उत्पत्ति कहकर उसके अनन्तर यह पढ़ा गया है—'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६। ३। ३)। पूर्व में पाँच भूतों का प्रकरण है। उनमें से आकाश और वायु के त्याग में कोई कारण नहीं है। इसलिए 'त्रि'शब्द अधिक संख्या के व्यवच्छेद के लिए नहीं कहा गया है, किन्तु पूर्व तेज, अप्, अन्न, साक्षात् श्रुत हैं और तीनों रूपवान् हैं, इसलिए प्रधानता की विवक्षा से 'त्रि' शब्द का उच्चारण है। अतः पञ्चभूतों में से तीन भूतों का पृथक्कार करके अनुवादमात्र श्रुति ने किया है। अन्य की निवृत्ति में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार पञ्चीकरण श्रुतिविरुद्ध नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिवृत्करणश्रुतेरुपपत्तिः। त्रिवृतमेवेति[1] तु तत्कल्पनायां वाक्यभेदप्रसङ्गः। 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २। ४। २०) इति सूत्रं त्वनुवादत्वान्न पञ्चीकरणं न्यायसिद्धं बाधितुमुत्सहते। मेलनप्रतीतिश्च शरीरादौ पञ्चानामविशिष्टैव। 'पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानी'ति च भाष्यकारवचनम्। तस्मादलमनेनानात्मचिन्तनेनेति दिक्।

स्थूलदेहः

तानि च पञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतानि मूर्त्ताख्यानि मिलित्वैकं कार्यमिन्द्रियाणामधिष्ठानं भोगायतनमुत्पादयन्ति। तदेव शरीरमित्युच्यते तत्र सत्त्वप्रधानं देवशरीरम्। रजःप्रधानं मनुष्यशरीरम्। तमःप्रधानं तिर्यगादिस्थावरान्तशरीरम्। तस्य च शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वेऽपि चित्ररूपस्येव क्वचिन्न्यूनाधिकभावो भूतानां न विरुद्ध्यते। एवं

जायगा। 'त्रिवृत्कुर्वत०'[2] यह सूत्र अनुवाद होने से न्यायसिद्ध पञ्चीकरण का बाध करने में असमर्थ है। शरीर आदि में पाँचों की मेलन-प्रतीति[3] समान ही है। 'पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत' यह भाष्यकार का वचन[4] भी है। इसलिए इस अनात्मचिन्तन की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

मूर्त्त नामक वे पाँच पञ्चीकृत महाभूत मिलकर इन्द्रियों के अधिष्ठान (अर्थात् आश्रय), जिसमें रह कर जीव भोग कर सके ऐसे एक कार्य को उत्पन्न करते हैं, उसी को 'शरीर' कहते हैं। शरीरों में सत्त्वगुणप्रधान देवताओं का शरीर है, रजोगुणप्रधान मनुष्यों का शरीर है और पशु-पक्षियों से लेकर वृक्षपर्यन्तों का शरीर तमोगुणप्रधान है। वह शरीर यद्यपि पञ्चमहाभूत[5] का बना है, तथापि चित्ररूप[6] की तरह उसमें कहीं भूतों का

---

१. त्रिवृत्करण-श्रुति का तेज, अप्, अन्न इन तीनों के मेलन के प्रतिपादन में तात्पर्य समझकर विधिमुख से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये, अथवा आकाश और वायु इन दोनों के मेलन के निषेध में तात्पर्य समझकर निषेधमुख से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये, अथवा दोनों में तात्पर्य समझकर दोनों प्रकार से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये ? प्रथम पक्ष में तीनों के मेलन का कथन करने पर भी इतरों के निषेध के अभाव से पञ्चीकरण का निषेध नहीं होता है, क्योंकि 'देवदत्त वहाँ है' ऐसा कहने पर 'यज्ञदत्त नहीं है' यह निषेध प्रतीत नहीं होता। इसलिए प्रतियोगी के ज्ञान के बिना निषेध की उपपत्ति नहीं है। तृतीय पक्ष में स्पष्ट वाक्यभेद है, यह भाव है। एक वाक्य का अभिप्रेतार्थ एक ही होना चाहिये, अनेक अर्थों में तात्पर्य मानने को 'वाक्यभेद' नामक दोष मीमांसक मानते हैं। २. 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु' इस सूत्र का त्रिवृत्करण के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं, किन्तु नामरूप-व्याकरण ईश्वरकर्तृक है—यह उस सूत्र का अर्थ है। वहाँ पर 'त्रिवृत्कुर्वतः' शब्द से ईश्वर का निर्देश किया गया है, इसलिए त्रिवृत्कुर्वतः (परमेश्वर) से नामरूप की सृष्टि है, यह सूत्र का तात्पर्य है। इसलिए यह सूत्र त्रिवृत्करण में प्रमाण नहीं है। ३. यद्यपि मूर्तिमान् शरीरों में और आम्रफलादि में आकाश, वायु के नीरूप होने से प्रत्यक्ष के अभाव से उन दोनों का मेलन है अथवा नहीं—यह निश्चय नहीं हो सकता, तथापि मूर्तिमान् पदार्थों में स्पर्श और शब्द की उपलब्धि होने से शब्द और स्पर्श के द्वारा आकाश और वायु की प्रतीति होती ही है, यह भाव है। ४. 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थ में भाष्यकार ने यह कहा है। ५. यहाँ पञ्चीकरण में एक का अर्द्धांश और इतरों का अष्टमांश ऐसा कोई नियम नहीं, पञ्चभूतों की समता का भी निश्चय नहीं। किंतु प्रतीति के अनुसार पञ्चीकृत पञ्चभूतों के भागों की कल्पना करनी चाहिये। भूलोकस्थ प्राणियों के शरीर में पृथ्वी-अंश अधिक है, अन्य अंश अल्प हैं। मत्स्यादि जलचर प्राणियों के शरीरों में भी पृथ्वी-अंश अधिक है, वरुणलोकस्थ प्राणियों के शरीरों में तो जल-अंश अधिक है, अन्य अंश स्वल्प हैं। इसी प्रकार आदित्य आदि लोकों में भी समझना चाहिये। ६. नीला-पीला आदि अनेक रंग मिलाने से जो विलक्षण रंग तैयार होता है वह 'चित्ररूप' विवक्षित है। मिलाये रंगों के अनुपातभेद से तैयार रंग में अंतर आता है यह दृष्टांत अभिप्रेत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषया अपि पञ्चीकृतैकैकभूतजन्याश्चतुर्दशभुवनाख्या[1] ऊर्ध्वमध्याधोभावेन सत्त्वरजस्तमोंऽश-प्रधानाः। एतच्च सर्वं ब्रह्माण्डाख्यं विराडिति मूर्त्तमिति चोच्यते। अयमौपनिषदः[2] सृष्टिक्रमः।

प्रलयः

एतद्विपरीतो[3] लयक्रमः। मूर्तं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकं विराडाख्यं पृथिव्याद्येकैकभूतलयेनामूर्त्ते अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मके हिरण्यगर्भाख्ये स्वकारणे[4] लीयते। स एव च दैनन्दिनः प्रलयः। अमूर्तं चाव्याकृते परमेश्वरोपाधौ। अव्याकृतस्य त्वनादित्वेन कारणाभावान्न लयः। स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानं लय इति तल्लक्षणात्। अयमेव प्राकृतः प्रलयः। ब्रह्मज्ञानादुच्छेदस्त्वात्यन्तिकः प्रलयः। स च कारणक्रमेणैव[5] कारणोच्छेदादेव कार्योच्छेदात्। सर्वं च सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नसृष्टिप्रलयवदपारमार्थिकमपि वासनादाढर्याद्[6] व्यवहारक्षममिति न

न्यूनाधिकभाव हो जाय तो कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान होने से ऊर्ध्व-भाग में, रजोगुण प्रधान होने से मध्यभाग में और तमोगुणप्रधान होने से अधोभाग में विद्यमान चौदह भुवन नामक विषय भी पञ्चीकृत एक-एक भूत से उत्पन्न हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड विराट् एवं मूर्त कहा जाता है। यह उपनिषदों में उक्त सृष्टि का क्रम है।

इससे विपरीत लय-क्रम है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उसका कार्यरूप विराट् नामक मूर्त पृथिवी आदि प्रत्येक भूत के लय से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतरूप हिरण्यगर्भ नामक (अमूर्त) अपने कारण में लीन हो

१. मध्य में भूलोक रजोंऽशप्रधान है, अधः सप्तपाताल तमोंऽशप्रधान हैं। ऊपर भुवः आदि छः लोक सत्त्व-प्रधान हैं। २. अव्याकृत से अमूर्त उत्पन्न होता है, उससे मूर्त। इस प्रकार सृष्टिकम श्रौत है, यह अर्थ है। ३. लय=विनाश। उक्त लय दैनन्दिन, प्राकृत और आत्यन्तिक-भेद से तीन प्रकार का है। सकल मूर्त पदार्थों का विनाश दैनन्दिन प्रलय है, सकल अमूर्त पदार्थों का विनाश प्राकृत प्रलय है एवं अव्याकृतसहित सकल पदार्थों का विनाश आत्यन्तिक प्रलय है। मूर्त, अमूर्त और अव्याकृतरूपी अवस्थाविशेष के भेद से दृश्य जड-वर्ग तीन प्रकार का है, इसलिए उसका विनाश भी तीन प्रकार का है। लय का क्रम दो प्रकार का होता है। कार्य का किसी कारणान्तर से नाश होने पर उसका अपने कारण में लय देखा जाता है जैसे दण्ड के आघात से घट का नाश होने पर घट का मृत्तिका में लय होता है। कहीं कारण के नाश से कार्य का नाश देखा जाता है। जैसे तन्तुओं के नाश से पट का नाश। तीन प्रकार के प्रलयों में से दैनन्दिन और प्राकृत प्रलय में आद्य क्रम है। आत्यन्तिक प्रलय में द्वितीय क्रम है—यह व्यवस्था है। ४. मूर्त-पदार्थों की अपने कारण अमूर्त हिरण्यगर्भ में सूक्ष्मरूप से स्थिति दैनन्दिन प्रलय है। यहाँ अमूर्तरूप ही सूक्ष्मरूप है। अमूर्त-पदार्थों की अपने कारण अव्याकृत में सूक्ष्मरूप से स्थिति प्राकृत प्रलय है। यहाँ अमूर्त-पदार्थों के प्रकृति में जो संस्कार हैं, वही उनका सूक्ष्मरूप है। आत्यन्तिक प्रलय का तो यह लक्षण नहीं, क्योंकि वहाँ पहले मूलकारण का ही नाश हो जाता है। इसलिए उससे उत्तरकाल में नष्ट होनेवाले कार्य की सूक्ष्मरूप से कारण में स्थिति कैसे हो सकती है? किञ्च, आत्यन्तिक प्रलय का यही आत्यन्तिकत्व है, जो उसमें विनश्यमान पदार्थों के स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सभी रूपों का नाश हो जाता है। ५. 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' (२.३.१४) सूत्र इसमें प्रमाण है। ६. सत्यत्व वासनादाढर्य से, यह अर्थ है। अपारमार्थिक पदार्थ दो प्रकार के हैं—तुच्छ और मायिक। शशविषाणादि असत् तुच्छ हैं। सत्-असत् से विलक्षण शुक्तिरजतादि मायिक हैं। तुच्छ से व्यवहारसिद्धि भले ही न हो, पर मायिक से व्यवहार होता ही है। यद्यपि मृगतृष्णाजल से स्नानावगाहनादि व्यवहार नहीं होते, तथापि पिपासा से उसमें प्रवृत्तिरूप व्यवहार तो होता ही है। सब पदार्थों से सब व्यवहार होते हैं, यह कोई नियम नहीं है, इसलिए अपारमार्थिक पदार्थों से भी व्यवहारसिद्धि होती ही है। अतः जाग्रदादि अवस्था-विशेषों की अनुपपत्ति नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मायिकत्वेऽपि तुच्छत्वप्रसङ्गः। यथा चैतत्तथा व्यक्तमाकरे।

जागरणादिव्यवस्था

एवं स्थिते जागरणादिव्यवस्थोच्यते। इन्द्रियवृत्तिकालीनोऽर्थोपलम्भो जागरणम्।

जाता है।[1] यही दैनन्दिन प्रलय है। अमूर्त परमेश्वर की उपाधिरूप अव्याकृत में लीन हो जाता है। अव्याकृत अनादि है, उसका कोई कारण नहीं है, अतः उसका लय नहीं होता, क्योंकि लय का लक्षण है सूक्ष्मरूप से अपने कारण में रहना। जिसका कोई कारण ही नहीं, उसका लय कैसे? यह प्राकृत प्रलय[2] है। ब्रह्म-ज्ञान से जो उच्छेद है, उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। वह प्रलय कारण-क्रम से होता है, कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है। यद्यपि ये सभी सृष्टि, प्रलय आदि स्वप्न की सृष्टि एवं स्वप्न के प्रलय के समान अपारमार्थिक हैं, तो भी वासना की दृढता के कारण व्यवहार में समर्थ हैं, इसलिए मायापरिणाम होने पर भी तुच्छ नहीं हैं, यह बात भाष्यादि में स्पष्ट कही गयी है।

ऐसी स्थिति होने पर जागरणादि व्यवस्था कही जाती है : इन्द्रियों की वृत्ति के समय हुए पदार्थ-ज्ञान को जागरण कहते हैं।[3] जागरण में विराट् नामक मूर्त भोग्य का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणषट्क से व्यवहार किया जाता है, इसलिए वह व्यावहारिक है और विश्व नामक जीव से वह भोगा जाता है। देह-इन्द्रियादि में प्रवेश

---

१. साधकावस्था में प्रविलापन-चिन्तन करने के लिये लयक्रम समझना ज़रूरी है। बृहदारण्यक की एकायनप्रक्रिया में, उपदेशासाहस्री-गद्यभाग के परिसंख्यानप्रकरण में और पंचीकरण प्रकरण में यह चिन्तन समझाया गया है। २. दैनंदिन प्रलय 'प्राकृत', नहीं है। प्रकृति में संस्काररूप से रहने का नाम ही प्राकृत यहाँ विवक्षित है। दैनंदिन में पृथ्वी आदि संस्कार रूप से नहीं रहते क्योंकि पुराणादि में कहा है कि सौ सालों के अकालादि के कारण पृथ्वी आदि सूखे गोबर के पिण्ड के आकार वाली रह जाती है। अतः दैनंदिन में पिण्डादिरूपों से हिरण्यगर्भ में पृथ्वी आदि रहते हैं अत एव दैनंदिन में पृथ्वी आदि 'सूक्ष्म' रूप में रहते हैं, कि केवल 'संस्कार' रूप में। यह गौडब्रह्मानंदजी ने बताया है। ३. श्रोत्र आदि पाँच बाह्य इन्द्रियाँ एवं उनके वृत्तिरूपी व्यापार विवक्षित हैं। मन को विषयदेश के प्रति गमन करने के लिए मार्ग-प्रदान करना ही इन्द्रियों का व्यापार है। वह व्यापार उनके स्वरूप के उद्घाटन होने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। जैसे द्वारपाल से द्वार का उद्घाटन करने पर ही उस मार्ग से जनों का सञ्चार होता है, वैसे ही इन्द्रियों के द्वारोद्घाटन करने पर ही मन का विषयदेश में सञ्चार होता है। तादृश इन्द्रियव्यापारकालीन अर्थोपलम्भ (प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि तत्तद्विषयाकार मनोवृत्ति) जाग्रत्-अवस्था है। प्रत्यक्ष में घटाद्याकारमनोवृत्ति इन्द्रिय-व्यापारकालीन और इन्द्रिय-व्यापार-जन्या भी होती है। अनुमिति आदि में तो अग्न्याकार-मनोवृत्ति इन्द्रियव्यापार-कालीना है ही, इन्द्रिय-व्यापार-जन्या न हो, यह विषय अन्य है। इसीलिए इन्द्रिय-व्यापार-जन्या नहीं कहा, किन्तु इन्द्रिय-व्यापार-कालीना कहा है। अनुमिति आदि में अग्न्यादि ज्ञान-क्षण में भी इन्द्रियाँ मन को मार्गप्रदान करने के लिए उन्मुख हैं ही। उस क्षण में उस मार्ग से मन नहीं जाता, यह विषय अन्य है। एतावता उस काल में इंन्द्रिय-व्यापार नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रियों का स्वरूपोद्घाटन है ही। जैसे जनसञ्चरण-मार्ग और रेल का मार्ग जहाँ एक होता है, वहाँ जनसञ्चरण-मार्ग के द्वार को बन्द करने के लिए नियुक्त पुरुष रेल के आगमन के समय द्वार बन्द करके रेल के आगमन की प्रतीक्षा करता है। रेल तो क्षणमात्र में निकल जाती है, एतावता पुरुष का व्यापार क्षणमात्र ही है, यह नहीं। वैसे ही अनुमित्यादि स्थल में मन विषयप्रदेश में न जाय, यह विषय अन्य है। इन्द्रियों ने तो द्वारोद्घाटन कर ही दिया है। स्वप्न में इन्द्रियाँ मार्ग-प्रदान के उन्मुख नहीं रहतीं, उस समय मन स्वतन्त्रता से विचरता है। यदि समग्र जाग्रदवस्था में इंद्रियवृत्ति अवश्य रहती है यह अमान्य ही हो तो मूल के 'इन्द्रियवृत्ति'-शब्द से 'प्रमा' समझनी चाहिये अर्थात् प्रमाकालीन विषयोपलब्धि जाग्रत् है यह परिभाषा है। अतः नारायणेन्द्र सरस्वती ने पंचीकरणवार्तिकटीका में 'यद्वा' से व्याख्या की है 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानम्, अन्यच्च शास्त्रानुमानादिजन्यं ज्ञानं, सर्वं च जागरम् इति।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र मूर्त्तं विराडाख्यं भोग्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्केन[1] व्यवह्रियमाणत्वाद् व्यावहारिकं[2] विश्वाख्येन जीवेनोपभुज्यते। स च देहेन्द्रियादिषु प्रवेशाद् व्यापकत्वाद्वा विश्व इत्युच्यते। 'विश प्रवेशने, विष्लृ व्याप्तावि'ति च स्मरणात्। अत्र[3] यद्यपि विश्वेन अमूर्त्तमव्याकृतं चानुमानादिनाऽनुभूयते, तथापि[4] व्यावहारिकं सर्वं विश्वेनैव ज्ञायत इति नियमात् स्थूलशरीरोपाध्यभिमानित्वाच्च न तस्यावस्थान्तरव्यापकत्वम्। शुक्तिरजतादिज्ञानानाम-प्रामाणिकत्वात् तद्विषयस्याव्यावहारिकत्वेऽपीन्द्रियव्यापारकालीनत्वात् जागरणत्वोपपत्तिः। ज्ञानोत्पत्त्यादिप्रक्रिया चाधस्तादुक्तैव।

करने से अथवा व्याप्त करने से वह 'विश्व' कहलाता है, क्योंकि 'विश प्रवेशने, विष्लृ व्याप्तौ' यह स्मृति है। यद्यपि विश्व अनुमान आदि से अमूर्त और अव्याकृत का भी अनुभव करता है, तो भी व्यावहारिक सारे जगत् को विश्व ही जानता है, इस नियम से और स्थूल शरीररूप उपाधि का अभिमानी होने से उसमें स्वप्न-सुषुप्तिरूप अन्य अवस्थाओं की व्यापकता नहीं है। शुक्ति में रजतज्ञान आदि अप्रामाणिक हैं (क्योंकि वे अज्ञात विषय नहीं हैं) इसलिए उस ज्ञान का विषय शुक्तिरजत यद्यपि अव्यावहारिक है, तथापि (क्योंकि अधिष्ठानज्ञानादि के लिये तब इन्द्रियवृत्ति रहती ही है इसलिये) इन्द्रियों की वृत्ति के समय उत्पन्न होने से उसमें जागरणत्व की उपपत्ति हो जाती है। ज्ञान की उत्पत्ति-प्रक्रिया पहले कह चुके हैं।

---

१. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—ये छः प्रमाण हैं। इनका स्वरूप और उदाहरण 'वेदान्त-परिभाषा' में देखना चाहिये। कुछ आधुनिक शांकर-प्रक्रियामें भी छह से कम प्रमाण मानना चाहते हैं किंतु वह सभी सांप्रदायिक आचार्यों के लेख से विरुद्ध है। प्रकृत प्रसंग में न्यायरत्नावली में भी छहों का मानना उचित ठहराया है। २. अज्ञातसत्त्व वाला अबाध्य व्यावहारिक होता है। रत्नावली में कहा है 'अज्ञातविषयकधीविषयत्वेन अज्ञातत्वात्, ब्रह्मज्ञानात् पूर्वम् अबाध्यत्वाच्च प्रातीतिकाऽन्यदृश्यत्वेन व्यावहारिकम्।' ३. स्थूल पदार्थों को देखकर उनके कारणरूप अव्याकृत सूक्ष्म-पदार्थ और उनके कारण अव्याकृत-पदार्थ जाग्रत्-अवस्था में विश्वसंज्ञक जीव अनुमान और शब्दप्रमाण द्वार जान सकते हैं। वे ही पदार्थ स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्था में विद्यमान हैं, इसलिए उन अवस्थाओं में भी तादृश पदार्थ-साक्षात्कर्तृत्वरूप से विश्व का सम्बन्ध है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्था में अधिक कञ्चुक का प्रवेश होने पर भी अन्तर्गत कञ्चुक का त्याग नहीं है, अतः सूक्ष्म उपाधि और अव्याकृत उपाधि भी जाग्रत्-अवस्था में विद्यमान ही हैं। इसलिए जाग्रत्-अवस्था में भी जीव का तैजसत्व और प्राज्ञत्व है ही। अतः तैजस और प्राज्ञ को भी जाग्रत्- अवस्था में व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान भी होता है। इस दशा में विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों में से प्रत्येक की अवस्थात्रयव्यापकता प्राप्त होती है, यह प्रश्नकर्त्ता का आशय है। समाधान करते हैं—'तथापि' इस ग्रन्थ से। ४. स्थूलोपाध्यभिमानित्वरूप से व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान होता है, यह अर्थ है। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में जीव की सूक्ष्म उपाधि के होने से यद्यपि तैजसत्व है, परन्तु तैजसत्वरूप से वह 'प्रमाता' नहीं है; वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में अव्याकृत उपाधि के होने से जीव में यद्यपि प्राज्ञत्व है, तथापि वह प्राज्ञत्वरूप से 'प्रमाता' नहीं, किंतु विश्वरूप से प्रमाता है। इसी प्रकार स्वप्न-अवस्था में भी अव्याकृत उपाधि के होने से यद्यपि जीव का प्राज्ञत्व है, परन्तु प्राज्ञत्वरूप से वह ज्ञाता नहीं, किंतु तैजसत्वरूप से ही ज्ञाता है। सुषुप्ति-अवस्था में तो सूक्ष्म उपाधि के त्याग से जीव में तैजसत्व है ही नहीं, इसलिए तैजसत्वरूप से ज्ञातृत्व की शङ्का ही नहीं है। सुषुप्ति और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में भी स्थूल उपाधि के त्याग से जीव का विश्वत्व ही नहीं है, इसलिए विश्वत्वरूप से ज्ञातृत्व की शङ्का नहीं है। भाव यह है कि जाग्रत्-अवस्था में जीव में यद्यपि विश्वत्व की तरह तैजसत्व और प्राज्ञत्व है, तथापि उनका अस्तित्वमात्र है, उस रूप से प्रमातृत्व नहीं है, वैसे ही स्वप्न में जीव का तैजसत्व की तरह प्राज्ञत्व भी है, किंतु उसका अस्तित्वमात्र है, प्राज्ञत्वरूप से ज्ञातृत्व नहीं है। विश्वत्व का तो स्वप्न में अस्तित्वमात्र भी नहीं है, सुषुप्ति-अवस्था में तो प्राज्ञत्व का ही अस्तित्व है और उसी रूप से जीव का सुषुप्ति में प्रमातृत्व है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्नविचारः

एवं जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावाद् निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते, तदा च स्वप्नावस्था। तत्रान्तःकरणगतवासनानिमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः।

तत्र मन एव गजतुरगाद्याकारेण विवर्तते अविद्यावृत्त्या च ज्ञायत इति केचित्।

इस प्रकार जाग्रदवस्था में भोग उत्पन्न करानेवाले कर्मों[1] का क्षय होने पर स्वप्नावस्था में भोग करानेवाले कर्मों का उदय होने पर निद्रा-नामक तामसी वृत्ति से स्थूल देहाभिमान दूर होने पर तत्-तत् इन्द्रियों के देवताओं[2] का अनुग्रह न होने से बाह्य इन्द्रियों के निर्व्यापार होकर लीन हो जाने पर विश्व भी लीन हो जाता है—यह कहा जाता है; तब स्वप्नावस्था होती है। अन्तःकरणगत वासनाएँ ही जिसकी निमित्त हैं और बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति के अभावकाल में होनेवाला जो विषयों का ज्ञान है, उसे स्वप्न कहते हैं।

स्वप्न में[3] मन ही गज, तुरग आदि के आकार में परिणत होता और अविद्या की वृत्ति से जाना जाता है, ऐसा कोई लोग कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अविद्या ही शुक्तिरजतादि के समान स्वप्न के पदार्थों के आकार

---

१. कर्मपद कर्मजन्य अदृष्टपरक है, क्योंकि कर्म अदृष्ट को उत्पन्न करके उसके द्वारा इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में भोग देता है। अदृष्ट का भी स्वप्नकाल में सर्वथा क्षय नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के अनन्तर फिर जाग्रत् होने पर भोग देखा जाता है, किंतु पहरेदार की तरह कुछ समय तक अपने व्यापार से विराम होता है। इसीको 'अदृष्टक्षय' कहते हैं। २. आदित्य आदि देवता जीवों के सुख-दुख के भोग के लिए शरीरस्थ इन्द्रियों को सहायता देते हैं। स्वप्न-अवस्था में स्थूल देह का अभिमान नष्ट हो जाने से देवता इन्द्रियों को सहायता नहीं देते। इस अवस्था में इन्द्रियाँ तो रहती हैं, पर केवल रथ से वियुक्त किये हुए अश्वों की तरह निर्व्यापार होती हैं। इसलिए 'लीन' कही जाती हैं। जीव भी उस अवस्था में स्थूलदेहपर्यन्त प्रवेश और व्याप्ति के अभाव से 'विश्व' संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। इस अभिप्राय से स्वप्न में विश्व लीन हो जाता है, यह कहा जाता है। स्वाप्न-पदार्थों के स्वरूप का मतभेद से निरूपण करते हैं। ३. जाग्रत्-अवस्था में व्यावहारिक घटज्ञान-काल में मन घटाकार-सदृश आकार को ग्रहण करता है। 'इदं रजतम्' इस प्रातिभासिक रजत-ज्ञान-काल में तो अविद्या ही रजताकार के सदृश आकार को ग्रहण करती है, मन नहीं। उसी तरह स्वाप्न पदार्थाकार-सदृश आकार को अविद्या ही ग्रहण करती है, मन नहीं। इस अर्थ में तो विवाद नहीं है। किंतु वे स्वाप्न पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न हुए? इस विषय में दो मत हैं—'अविद्या के सहकार से केवल मन ही ने स्वाप्न पदार्थों की कल्पना की है, स्वाप्न पदार्थ किसी के परिणाम नहीं हैं' यह एक पक्ष है। 'जागर्ति में जैसे शुक्तिरजत-स्थल में शुक्ति को अधिष्ठान करके अविद्या रजताकार से परिणत होती है, वैसे ही स्वप्न में चैतन्य को अधिष्ठान करके अविद्या ही गजादि विषयाकार से परिणत होती है' यह द्वितीय पक्ष है। भाव यह है कि (१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक, (४) बौद्ध—इस प्रकार पदार्थ चार प्रकार के हैं। उनमें से प्रथम परमात्मा है। वह न किसी का विवर्त है, न किसी का परिणाम। इसीलिए सत्य है, अन्य तीन अनृत हैं। द्वितीय भूतभौतिक प्रपञ्च है, यह आत्मा का विवर्त और मूलाविद्या का परिणाम है। तृतीय रज्जु-सर्प आदि हैं, ये रज्ज्वादि के विवर्त अथवा रज्ज्वादि के अन्तर्गत चेतन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वप्नाद्यर्थाकारेण परिणमते ज्ञायते चाविद्यावृत्त्येत्यन्ये। कः पक्षः श्रेयान्? उत्तरः। अविद्याया एव सर्वत्राप्यर्थाध्यासज्ञानाध्यासोपादानत्वेन क्लृप्तत्वात्। मनोगतवासनानिमित्तत्वेन क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात्।

ननु मनसस्तदा दृश्याकारपरिणामानभ्युपगमे द्रष्टृत्वसम्भवेन आत्मनः स्वयं-

में परिणत होती है और अविद्या की वृत्ति से ही वह अर्थ ज्ञात होता है। इन दोनों पक्षों में कौन पक्ष श्रेष्ठ है? उत्तर[१]—पदार्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास के उपादानरूप से सर्वत्र अविद्या ही स्वीकृत है। कहीं पर मनोगत वासना स्वाप्न पदार्थों की निमित्त है। इसलिए स्वाप्न पदार्थों को कहीं पर (अर्थात् 'सधीः स्वप्नो भूत्वा' आदि स्थलों में) मन का परिणाम कहा गया है।

शङ्का[१]—यदि मन स्वप्न में दृश्य पदार्थों के आकार में परिणत नहीं होता, ऐसा स्वीकार करो, तो स्वप्न में मन के द्रष्टा होने से आत्मा में स्वयंज्योतिष्ट्व की असिद्धि हो जायगी। समाधान—यह बात नहीं है।

के विवर्त और तूलाविद्या के परिणाम हैं। चतुर्थ शशशृङ्ग आदि हैं। ये मन के विवर्त अथवा मन के अन्तर्गत चेतन के विवर्त हैं, किसी के भी परिणाम नहीं। प्रकृत में स्वाप्न गजादि पदार्थ उक्त चतुष्टय के मध्य चतुर्थ हैं—यह प्रथम पक्ष है। द्वितीय पक्ष में तो उक्त चतुष्टय के मध्य तृतीय हैं। यही पक्ष युक्त है, क्योंकि अद्वैत वेदान्तियों के दर्शन में जो-जो परिणाम होता है, वह किसी का विवर्त भी हुआ ही करता है। इस प्रकार परिणाम विवर्त का व्याप्य है। वैसे ही जो-जो विर्वत होता है, वह मूलाविद्या अथवा तूलाविद्या का परिणाम होता है, इस प्रकार विवर्त परिणाम का व्याप्य है—यह नियम है, क्योंकि परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म समनियत हैं। इसलिए स्वाप्न गजादि पदार्थ किसी के परिणाम नहीं, यह मत युक्त नहीं है। २. शुक्ति में मिथ्याभूत रजत का अध्यास 'अर्थाध्यास' है। यह रजत शुक्ति में अधिष्ठित है और अविद्या का परिणाम है। इसलिए रजत व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि रजत वहाँ है ही नहीं। अर्थ (रजतादि) के अध्यास (आरोप) को 'अर्थाध्यास' कहते हैं। वहीं पर मिथ्याभूत रजतज्ञान का अन्तःकरण में अध्यास 'ज्ञानाध्यास' कहा जाता है। यह ज्ञान अविद्या का परिणाम है और अन्तःकरण इसका अधिष्ठान है। यह ज्ञान व्यावहारिक अन्तःकरण का परिणामरूप नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रजत वहाँ है ही नहीं। इसलिए रजताकारसदृश आकारवाली व्यावहारिक मनोवृत्ति का वहाँ असम्भव है। ज्ञान (विषयाकार-सदृशाकाररूप वृत्ति) का अध्यास (आरोप) 'ज्ञानाध्यास' कहा जाता है। इस प्रकार अध्यासमात्र के प्रति अविद्या उपादान कारण सिद्ध होती है। इसलिए स्वप्न में भी ज्ञानाध्यास की तरह अर्थाध्यास भी अविद्या का ही परिणाम है, यह सिद्ध होता है।

१. भाव यह है कि जाग्रत्-अवस्था में घटादि-ज्ञानकाल में मन की सहायता से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसलिए जाग्रत्-अवस्था में आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्व से प्रकाशमान होना ही स्वयंज्योतिष्ट्व है। शुक्ति रजतादि-ज्ञान में भी स्वयंज्योतिष्ट्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि स्वप्न-अवस्था में यद्यपि मनोवृत्ति का अभाव है, तथापि अविद्यावृत्ति का वहाँ अङ्गीकार है। वह अविद्या की वृत्ति मन के संस्कारों की सहायता से अथवा इदमाकार मनोवृत्ति की सहायता से उत्पन्न होती है। इसलिए भ्रमस्थल में भी मन में ज्ञान की कारणता है। स्वप्नावस्था में तो 'अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४। ३। ९) इस श्रुति से स्वप्नकाल में आत्मा स्वयंज्योति कहा गया है। स्वप्न में मन ही गज, तुरग आदि के आकार में परिणत होता है। अतः मन का दृश्यकोटि में प्रवेश होने से दृश्यत्वरूप से ही उपयोग है, दृशिकरणतारूप से उपयोग नहीं। इसलिए आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व सिद्ध होता है। इसीलिए स्वप्न के गज, अश्व आदि विषय साक्षिभास्य कहे जाते हैं। परन्तु अविद्या ही शुक्ति-रजतादिरूप में और स्वाप्न गजादिरूप में परिणत होती है, इस द्वितीय मत में मन का दृश्यकोटि में प्रवेश नहीं है, इसलिए शुक्ति-रजतादि-ज्ञान की तरह स्वप्न-अवस्था में भी मन का उपयोग मानना होगा। अतः इस मत में स्वप्न-अवस्था में आत्मा स्वयंज्योति सिद्ध नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्योतिष्ट्वासिद्धिरिति चेत्? न; बहिरिन्द्रियवृत्त्यभावेन[1] तदानीं मनसोऽग्राहकत्वात्, तत्सहकारेणैव तस्य ग्राहकत्वनियमात्। सवृत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य प्रमातृत्वनियमात् तदाऽन्तःकरणसत्त्वेऽपि प्रमात्रभावः[2]।

किमधिष्ठानं[3] स्वप्नाध्यासस्य? मनोऽवच्छिन्नं जीवचैतन्यमित्येके। मूलाज्ञानावच्छिन्नं[4]

बाह्य-इन्द्रियों की वृत्तियों के अभाव से मन की ग्राहकता (द्रष्टृता) नहीं हो सकती, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों की सहायता से ही मन ग्राहक होता है, ऐसा नियम है। वृत्तिसहित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता होता है, यह भी नियम है। अतएव यद्यपि स्वप्नावस्था में अन्तःकरण विद्यमान है, तथापि वृत्ति के अभाव से उसमें प्रमातृत्व का अभाव है।

---

१. वृत्ति के अभाव से उस समय मन में प्रमातृत्व सम्भव नहीं है, इसलिए स्वाप्न प्रपञ्च प्रमातृभास्य नहीं, किंतु अविद्यावृत्ति के सहकार से साक्षिभास्य है। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थल में रजतांश भी अविद्यावृत्ति के सहकार से साक्षिभास्य ही है। इदमंश में मनोवृत्ति की अपेक्षा है, अतः इदमंश प्रमातृभास्य है। २. प्रमातृत्व का अर्थ है—ग्राहकत्व। अन्तःकरणावच्छिन्न जीव अथवा अन्तःकरणरूपोपाधिसहित चैतन्य उस समय ग्राहक नहीं है, किंतु अन्तःकरण के सन्निहित केवल चिन्मात्र साक्षी ही ग्राहक है। भाव यह है कि इस प्रकार स्वाप्न पदार्थों का परिणामी उपादान कारण अविद्या ही है, यह निश्चय करके अब उनके विवर्तोपादान-कारण का प्रश्नपूर्वक निरूपण करते हैं। ३. मन में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीवचैतन्य है, वही स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान है। जैसे जाग्रत्-अवस्था में जीव, शुक्तिरूप अधिष्ठान में अविद्या के परिणामभूत रजत की कल्पना करता है, वैसे ही स्वप्न में जीव स्व (जीव) में ही अविद्या-परिणामभूत स्वाप्न पदार्थों की कल्पना करता है। जिस जीव ने जिन पदार्थों की कल्पना की है, उसी को उन पदार्थों का ज्ञान होता है; अन्य जीवों को उनका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अन्य जीवों ने उनकी कल्पना नहीं की है। इसलिए स्वाप्न पदार्थ सर्वजीव-साधारण नहीं होते। जैसे शुक्ति में रजत भ्रान्त पुरुष ही को दीखता है, अन्य पुरुषों को नहीं दीखता, इसलिए शुक्ति में रजतज्ञान असाधारण है, वैसे ही स्वाप्न पदार्थ भी असाधारण ही होते हैं। ४. यद्यपि शुद्ध ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता, तथापि अनादि अध्यासरूप मूलाज्ञान से अवच्छिन्न अर्थात् आवृत होकर अशुद्ध की तरह होता हुआ स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान हो सकता है। अब द्वितीय पक्ष में दूषण का उद्भावन करके प्रथम पक्ष का उपपादन करते हैं—'तथाहि' इत्यादि 'न कोपि दोषः' (पृ. २४८) एतत्पर्यन्त ग्रन्थ से। जाग्रत्-अवस्था में जायमान ज्ञान से स्वाप्न पदार्थाध्यास निवृत्त होता है—यह सब पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है। अध्यास की निवृत्ति अधिष्ठान के विशेषरूप से जायमान यथार्थ ज्ञान से हुआ करती है। जैसे रजताध्यास के अधिष्ठानभूत शुक्ति के शुक्तित्वविशेषरूप से यथार्थ ज्ञान होने पर रजताध्यास की निवृत्ति होती है। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानोगे, तो जाग्रत्-अवस्था में उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान अवश्य मानना चाहिये। वह यथार्थ ज्ञान जब तक संसार है, तब तक बद्ध जीव को हो नहीं सकता, इसलिए जीव को प्रतिदिन जो स्वप्नभ्रम की निवृत्ति का अनुभव होता है, वह अनुपपन्न होगा। यदि स्वप्नभ्रम की निवृत्ति ही से जाग्रत् अवस्था में ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान की सत्ता स्वीकार करो, तो सकल द्वैत की निवृत्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि जाग्रत्-अवस्था में अनुभूयमान समस्त ही द्वैत अध्यासमूलक है। उस अनुभूयमान द्वैत की उपपत्ति के लिए जाग्रत्-अवस्था में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—यह स्वीकार करना चाहिये। इसलिए जाग्रदवस्था में व्यावहारिक प्रपञ्च-भ्रम की अनिवृत्ति की तरह स्वप्नभ्रम की भी अनिवृत्ति का प्रसङ्ग है, अतः मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है—यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। उस अधिष्ठान जीव का जाग्रत्अवस्था के प्रारम्भ क्षण में ही 'अहमस्मि' (मैं हूँ) इत्याकारक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। उससे स्वप्नभ्रम की निवृत्ति होती है। 'स हि कर्त्ता' इस श्रुति में भी 'स' शब्द से प्रकरणस्थ जीव का ग्रहण है। स्वप्न में जाग्रत् के सदृश रथ, अश्व आदि नहीं होते, तथापि वासनामय उन पदार्थों को जीव उस काल में भी उत्पन्न करता है, क्योंकि जीव उनका कर्त्ता है, यह उस श्रुति का अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मचैतन्यमित्यपरे। किं श्रेयः? मतभेदेनोभयमपि। तथा हि—जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमनिवृत्त्यभ्युपगमादधिष्ठानज्ञानादेव च भ्रमनिवृत्तेर्ब्रह्मचैतन्यस्य चाधिष्ठानत्वे संसारदशायां तद्ज्ञानाभावाद्, ज्ञाने वा सर्वद्वैतनिवृत्तेर्न जाग्रद्बोधात्स्वप्ननिवृत्तिः स्यात्। 'स हि कर्त्ता' (बृ० ४। ३। १०) इति जीवकर्तृत्वश्रुतेराकाशादिप्रपञ्चवत्सर्वसाधारणत्वापत्तेश्च[1] न मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमधिष्ठानम्।

स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान कौन है? कोई कहते हैं—अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान है। दूसरे लोग कहते हैं—मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान है। इनमें कौन पक्ष श्रेष्ठ है? मतभेद से दोनों ही श्रेष्ठ हैं। जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न के भ्रम की निवृत्ति का अङ्गीकार है। अधिष्ठान ज्ञात होने पर ही भ्रम की निवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि ब्रह्म-चैतन्य को ही अधिष्ठान मानो, तो संसार-दशा में उसके ज्ञान का अभाव होने से जाग्रत्काल में स्वप्न की निवृत्ति न होगी। यदि कहो कि ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान हो जाता है, तो सारे द्वैतप्रपञ्च की निवृत्ति हो जायगी। जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न की निवृत्ति नहीं हो सकेगी, 'स हि कर्त्ता०' इस जीवकर्तृत्व-प्रतिपादक श्रुति से मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य ही स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान है और ब्रह्म को स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान मानने पर आकाश आदि प्रपञ्च के समान स्वप्नादि पदार्थ भी सर्वसाधारण हो जायँगे। इसलिए मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान नहीं है।

शङ्का—इस श्रुति से जीव में कर्तृत्वमात्र प्रतीत होता है, अधिष्ठानत्व प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठान होने पर भी इस श्रुति का विरोध नहीं है। उत्तर—मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान होने पर उसके प्रति अज्ञानी जीव में कर्तृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही ईश्वर है। यद्यपि अनुमान और शब्द से ईश्वर का ज्ञान जीव को हो सकता है, तथापि वह परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। साथ ही भ्रम-प्रत्यक्ष में अधिष्ठान के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ईश्वर ही यदि स्वप्न का अधिष्ठान हो, तो स्वप्न-पदार्थकर्तृत्व ईश्वर में ही मानना होगा, इसलिए जीवकर्तृत्व-प्रतिपादक श्रुति का विरोध है। जीव को अधिष्ठान मानने पर तो स्व को स्व प्रत्यक्ष है ही, इसलिए जीव के कर्तृत्व की उपपत्ति होती है। जैसे शुक्ति-रजत-भ्रम-काल में शुक्ति का सामान्यरूप (इदंत्व अथवा चाकचिक्य) से ज्ञान होता है, भ्रमनिवृत्तिकाल में तो विशेषरूप शुक्तित्व से शुक्ति का ज्ञान होता है, वैसे ही जीव को स्वप्न-अवस्था में स्व का सामान्य ज्ञान होता है, जाग्रत्काल में तो विशेषरूप (मनोवच्छिन्नत्व) से ज्ञान होता है।

१. जैसे आकाशादि-प्रपञ्च ईश्वराधिष्ठानक और ईश्वरकर्तृक है, इसलिए वह एक ही सकलजीवसाधारणक है। अतः 'जो ही घट देवदत्त ने देखा वही मैंने भी' यह प्रत्यभिज्ञा भी सङ्गत होती है। वैसे ही स्वाप्न पदार्थ यदि ईश्वराधिष्ठानक और ईश्वरकर्तृक हों, तो वे भी सकलजीवसाधारण होंगे, परन्तु प्रत्यभिज्ञा वैसी नहीं होती, प्रत्युत जो गज स्वप्न में तूने देखा है, मैंने वह नहीं देखा, किंतु अन्य ही देखा है—ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए प्रतीति के अनुरोध से स्वप्न के पदार्थ जीवाधिष्ठानक और जीवकर्तृक हैं, ऐसा अङ्गीकार करना चाहिये। वेदान्त सिद्धान्त में यह स्वीकार है कि जिस कार्य का जो कर्त्ता हो वही उसका अधिष्ठान होता है। घटादि स्थल में भी कुलाल कपालाकार मनोवृत्ति द्वारा कपालावच्छिन्न चित् से अभिन्न होने से उपादान भी बन ही जाता है। यह नृसिंहाश्रमस्वामी ने 'वेदान्ततत्त्वविवेक' (पृ. ५५६) में, मधुसूदन स्वामी ने 'सारसंग्रह' (१.५००) में तथा गौडब्रह्मानंद जी ने न्यायरत्नावली में (पृ.१६०) स्पष्ट किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु जीवचैतन्यस्यानावृतत्वेन सर्वदा भासमानत्वात् कथमधिष्ठानत्वम्? सत्यम्; तत्रापि स्वप्नाध्यासानुकूलव्यावहारिकसंघातभानविरोध्यवस्थाज्ञानाभ्युपगमात्। स्वप्नदशायां चाहं मनुष्य इत्यादिप्रातीतिकसंघातान्तरभानाभ्युपगमात्। शय्यायां स्वपिमि इति शय्यान्तरभानवत्। भानसामग्र्यभावश्च तुल्य एव।

शङ्का[1]—अनावृत होने से जीवचैतन्य सर्वदा भासमान है, अतः वह अधिष्ठान कैसे हो सकता है? समाधान—ठीक है। वहाँ[2] पर भी स्वप्न-अध्यास के अनुकूल व्यावहारिक देह के ज्ञान के विरोधी अज्ञान का अवस्थाऽज्ञान स्वीकार है। 'मैं शय्या पर सो रहा हूँ' इत्यादि स्वप्नगत दूसरी शय्या के भान के समान स्वप्न-दशा में 'अहं मनुष्यः' इत्यादि जो ज्ञान है, वह प्रातिभासिक और देहान्तर का ज्ञान है ऐसा स्वीकार किया गया है।

---

१. अध्यासस्थल में अधिष्ठान का किसी अंश से प्रकाश और किसी अंश से अप्रकाश इन दोनों की अपेक्षा होती है। भ्रान्ति-समय में जिस अंश से अधिष्ठान का अप्रकाश उपयोगी है, उसी अंश से अधिष्ठान का प्रकाश भ्रान्ति की निवृत्ति के समय उपयोगी है। वहाँ मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठान होने पर मूलाज्ञान द्वारा आवरण होने से उसका अंश से अप्रकाश तो हो सकता है, परन्तु जाग्रत्-अवस्था में उस अंश से प्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि मूलाज्ञान मोक्षपर्यन्त बना रहता है। मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य के अधिष्ठान होने पर तो इसके विपरीत है। वहाँ अधिष्ठान का प्रकाश तो हो सकता है, परन्तु अप्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं ही स्व से अप्रकाशित नहीं हुआ करता, कारण वह स्व-दृष्टि से आवृत नहीं है, यह आशय है। २. अवस्था-अज्ञान अज्ञान का अवस्थाविशेष है और वह अवस्था-अज्ञान स्वप्न में गज, रथ आदि के अध्यास का जनक है। किञ्च, व्यावहारिक देहेन्द्रिय-संघात का भान—'मैं मनुष्य हूँ, मैं चक्षुष्मान् हूँ, ये मेरे स्त्री-पुत्र आदि हैं, यह घट है' आदि सर्वविध प्रतीति—उसका विरोधी है। ऐसा अवस्था-अज्ञान जाग्रदवस्था के अज्ञान से भिन्न है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा जाग्रत् और स्वप्न में जो विशेष प्रतीत होता है, वह उपपन्न नहीं हो सकता; क्योंकि जाग्रत्काल में जैसे जगत् और जीव प्रसिद्ध हैं, वैसे स्वप्नकाल में उपलब्ध नहीं होते। जाग्रत्-अवस्था में उपलभ्यमान जगत् का किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता। स्वप्न और सुषुप्ति में यद्यपि जाग्रत् के जगत् की उपलब्धि नहीं होती तथापि जाग्रत् में उपलभ्यमान जगत् मिथ्या है, यह अनुसन्धान स्वप्न में नहीं होता और न सुषुप्ति में बाधित ही होता है। स्वप्नावस्था में उपलभ्यमान जगत् का तो जाग्रत्-अवस्था में बाध होता है। वह बाध भी केवल अप्रतीतिरूप नहीं, किंतु 'स्वप्न में उपलभ्यमान जगत् मिथ्या है' इस प्रकार जाग्रत् में अनुसन्धान भी होता है। इस प्रकार जीवात्मा को अपने स्वरूप की उपलब्धि जाग्रत् और स्वप्न में समान नहीं होती, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप अन्तःकरणरूपी उपाधि से युक्त है। वह अन्तःकरण तीन प्रकार से उपाधि होता है—सवासन सवृत्तिक अन्तःकरण जाग्रत्अवस्था में उपाधि है। वृत्तिरहित सवासन अन्तःकरण स्वप्न में उपाधि है। सुषुप्ति में तो वृत्तिसहित अथवा वृत्तिरहित अन्तःकरण स्वरूप से उपाधि नहीं है, किंतु वासनामात्ररूप से अवतिष्ठमान अन्तःकरण उपाधि है। इस दशा में तत्तदवस्थावाले अन्तःकरणरूप उपाधि के अनुसार अवस्थात्रयविशिष्ट स्व-स्वरूप का जीव अनुभव करता है। जाग्रत्-अवस्था में 'मैं जाग्रत् हूँ' इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था के वैशिष्ट्य से अपने स्वरूप का अनुभव करता है। और अवस्थान्तर में अनुभूत अपने स्वरूप का स्मरण भी करता है, सुषुप्तिकाल में 'मैं अज्ञानी था', स्वप्नअवस्था में 'मैं ऐसा था' आदि। स्वप्न में तो ऐसा नहीं, 'मैं स्वप्न-अवस्था में हूँ' इस प्रकार स्वप्न-अवस्था के वैशिष्ट्य से अपने स्वरूप का अनुभव नहीं होता और अवस्थान्तर्गत अपने स्वरूप का 'मैं ऐसा था' इस प्रकार स्वप्न में अनुसन्धान भी नहीं होता। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न में जगत् की उपलब्धि और जीव की उपलब्धि समान नहीं होती। इस विषमता का कारण जाग्रत्-अवस्था के अज्ञान से भिन्न अवस्था-अज्ञान स्वप्न-अवस्था में सिद्ध होता है। उस अवस्था-अज्ञान से जाग्रत्-अवस्था में प्रतीयमान 'मैं मनुष्य हूँ' यह स्वरूप स्वप्न-अवस्था में आवृत हो जाता है। यही स्वप्न में जीव-स्वरूप का अंश से अप्रकाश है, इसलिए स्वाप्न प्रपञ्च का अधिष्ठान जीव ही सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नन्वहं मनुष्य इत्यादिव्यावहारिकसंघातज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वात् कथमज्ञाननिवर्तकता[1]? अवस्थान्तरान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पने सुषुप्तावपि[2] स्वप्नबाधकज्ञानमास्थीयेत। तच्चानिष्टम्, जाग्रत्त्वापत्तेरिति चेत्?साध्ववोचः। स्वप्नावस्थाऽज्ञानस्यैवान्तःकरणलयसहितस्य सुषुप्ति रूपत्वान्न तत्र तद्बाधः। जागरणे तु मिथ्यैव स्वप्नो-

व्यावहारिक विषयों के यथार्थज्ञान के कारण इन्द्रियरूप[3] सामग्री का अभाव तुल्य ही है।

शङ्का[4]—'अहं मनुष्यः' इत्यादि व्यावहारिक संघात-ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं होता, अतः उसमें अज्ञान

---

१. 'अज्ञानेति—स्वप्नप्रयोजकाऽज्ञानेत्यर्थः।' (न्या. र.)। २. 'सुषुप्तौ अविद्यावृत्तिरूपम् 'अहम्' इत्याकारकज्ञानं स्वप्नबाधकम् अङ्गी क्रियेत इत्यर्थः।' (न्या.र)। ३. शङ्का—इस प्रकार स्वप्न-अवस्था में भी जाग्रत्-अवस्था की तरह जीव को 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार जो उपलब्धि होती है, वह नहीं हो सकती। उत्तर—जाग्रत्-अवस्था में जो मनुष्य-देह प्रतीत होती है, स्वप्न की उपलब्धि तादृश देहमूलक नहीं है। किंतु जैसे अवस्था-अज्ञान से कल्पित गज, अश्व आदि पदार्थ स्वप्न में अन्य ही प्रतीत होते हैं और स्वप्न की शय्या जाग्रदवस्था की शय्या से भिन्न ही अवस्था अज्ञान से कल्पित होती है, वैसे ही स्वप्न-अवस्था की देह भी पाञ्चभौतिक व्यावहारिक देह से अन्य ही अवस्था-अज्ञान से कल्पित होती है। स्वप्न की 'अहं मनुष्य' यह उपलब्धि उसी स्वाप्न देहमूलक है।

शङ्का—जैसे जाग्रत्-अवस्था में शुक्ति-रजतस्थल में तूलाविद्या के परिणाम प्रातिभासिक रजत का अङ्गीकार है, वैसे रक्तस्फटिक-प्रतीतिस्थल में स्फटिक में रहनेवाली रक्तिमा तूलाविद्या का परिणाम है, यह अङ्गीकार नहीं किया जाता। किंतु सन्निहित जपाकुसुमगत रक्तिमा केवल तूलाविद्या से स्फटिकसम्बद्धत्वेन प्रतीत होती है, ऐसा अङ्गीकार किया जाता है; क्योंकि सन्निहित व्यावहारिक रक्तिमा से ही प्रतीति की उपपत्ति होने पर रक्तिमान्तर की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसीलिए 'वेदान्त-परिभाषा' में कहा है कि जहाँ आरोप्य असन्निकृष्ट हो, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति का अङ्गीकार है। वैसे ही स्वप्न में मन्दिर के अन्दर सोये हुए पुरुष के समीप गज, अश्व आदि न हों, वहाँ पर अवस्था-अज्ञान से कल्पित गज, अश्व आदि का स्वीकार हो और जहाँ पर शय्या भी समीपवर्त्तिनी शय्या से अन्यादृशी प्रतीत होती हो, वहाँ वह शय्या अवस्था-अज्ञान से कल्पित है, यह स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु जहाँ पर शय्या अथवा देह सन्निकृष्ट स्वरूप की अपेक्षा अन्यादृश प्रतीत नहीं होते, वहाँ शय्यान्तर और देहान्तर की कल्पना गौरवग्रस्त है। इस पर उत्तर देते हैं—'भानसामग्री' इत्यादि से। रक्त स्फटिक की प्रतीति जाग्रत्काल में होती है। उस समय इन्द्रियाँ सव्यापार हैं और मन सवृत्तिक। इसलिए जपाकुसुमगत रक्तिमा की स्फटिक में प्रतीति हो सकती है। किंतु स्वप्न में तो मन वृत्तिरहित है और इन्द्रियाँ लीन हो चुकी हैं। इसलिए ज्ञान की सामग्री के अभाव से सन्निकृष्ट देहादि की प्रतीति नहीं हो सकती, यह भाव है। वस्तुतस्तु 'रक्त स्फटिक' इस विशिष्ट पदार्थ की अनिर्वचनीय उत्पत्त्यादि स्वीकारना ही सम्प्रदाय-संमत है। ४. क्योंकि प्रमाणजन्य अधिष्ठान-ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। जैसे समीपवर्त्ती पदार्थ के 'इयं शुक्तिः' इस प्रमाणजन्य शुक्तिज्ञान से शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति होती है, वैसे ही यहाँ स्वप्नावस्थागत अवस्था-अज्ञान का निवर्तक अधिष्ठानभूत मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य का प्रमाणजन्य ज्ञान ही होगा और वह 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक व्यावहारिक देहेन्द्रियादि संघातज्ञान है, यह कहना होगा। परन्तु 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण का विषयपर्यन्त दण्डायमान जो भाग है, तदवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण है, यह पूर्व में कहा गया है। 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में तो अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वयं ही स्व का विषय है। इसलिए 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा नहीं है, किंतु अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य साक्षिभास्य ही है। ऐसी दशा में प्रमाण से अजन्य 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान स्वप्न के अवस्था-अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता, यह शङ्का करनेवाले का आशय है। शङ्का करनेवाला ही अपनी बुद्धि से सिद्धान्ती के किसी आशय की कल्पना करके उसका अनुवाद करके 'अवस्थान्तर' इस वाक्य से दूषण देता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽभादित्यनुभवादहमिति ज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वेऽपि यथार्थत्वाच्छरीरादिज्ञानस्य च प्रमाणजन्यत्वादवस्थाज्ञानविरोधित्वमनुभवसिद्धम्। विशेषाज्ञानं तु न प्रमाणजन्यवृत्तिमन्तरेण निवर्तते। साक्षिणश्चाविद्यानिवर्तकत्वाभावोऽविद्यासाधकत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्ध इति न किञ्चिदवद्यम्।

को हटाने की सामर्थ्य कैसे? दूसरी अवस्था[1] की अन्यथानुपपत्ति से 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में अज्ञान-निवर्तकता अङ्गीकार करो, तो सुषुप्ति में भी स्वप्न के बाधक ज्ञान का अङ्गीकार करना होगा। ऐसा मानना इष्ट नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में भी जागरणत्वापत्ति हो जायेगी। समाधान—ठीक कहते हो[2]। अन्तःकरण के लय से युक्त स्वप्नावस्था का जनक अज्ञान ही सुषुप्तिरूप है, इसलिए सुषुप्ति में स्वप्नावस्था का बाध नहीं हुआ[3]। जागरण में तो 'मिथ्या ही स्वप्न प्रतीत हुआ' इस ज्ञान से 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक ज्ञान यद्यपि प्रमाण से जन्य नहीं

---

१. शङ्का करनेवाले से कल्पित सिद्धान्ती का यह आशय है—स्वप्नावस्था का परित्याग करके ही जाग्रदवस्था की प्राप्ति होती है, ऐसा सर्वप्राणियों का अनुभव है। ऐसी दशा में 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्याय के अनुसार अवस्थान्तर की प्राप्ति में यत्न करना चाहिये। उक्त यत्न 'ज्ञान प्रमाणाजन्य होता हुआ भी स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है' इत्यादि कल्पनारूप है। परन्तु यदि ऐसी कल्पना की जाय, तो तुल्यन्याय से स्वप्न-अवस्था-परित्यागपूर्वक सुषुप्ति-अवस्था की प्रतिपत्ति के समय भी स्वाप्न अज्ञान की निवृत्ति के लिए उक्त ज्ञान का स्वीकार करना चाहिये। यदि स्वीकार करो, तो जाग्रत्-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था में कोई विशेष नहीं रह जाता। ऐसी दशा में स्वप्नाध्यास का जीवचैतन्य अधिष्ठान है, यह पक्ष दुर्घट ही है। २. स्वप्नावस्था से अवस्थान्तर (जाग्रत्रूप) की प्राप्ति जो प्रसिद्ध है, उसकी उपपत्ति के लिए प्रमाणाजन्य भी ज्ञान स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है—शङ्का करनेवाले की इस प्रकार की कल्पना समीचीन है, यह प्रशंसा का बीज है। किंतु उसका यह जो उत्तर कहा गया है कि सुषुप्ति में भी ऐसे ज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा, वह वस्तुस्थिति के अज्ञानमूलक है, क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी है कि जब जीव स्वप्न-अवस्था से सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त होता है, तब स्वाप्न अज्ञान निवृत्त नहीं होता। ऐसा यदि कहें, तो स्वप्न और सुषुप्ति में विशेष क्या रहेगा? उत्तर देते हैं—स्वप्न-अवस्था, जाग्रत्-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था की मध्यगत सन्धि-अवस्था है। जैसे दिन और रात्रि की सन्धि में सामान्य अन्धकार देखा जाता है। प्रातः और सायङ्काल के भेद से सन्धिकाल दो प्रकार का होता है। वहाँ पर प्रातःकाल का सामान्य अन्धकार तो निवृत्त हो जाता है और सायंकालिक सामान्यान्धकार निवृत्त नहीं होता, प्रत्युत गाढ हो जाता है। वैसे ही जाग्रदवस्था और सुषुप्ति-अवस्था इन दोनों की सन्धि में स्वाप्निकावस्था-अज्ञान है और वह भोगप्रद कर्म के अनुसार कभी निवृत्त होता है तो कभी दृढ हो जाता है। जब निवृत्त होता है, तब जाग्रत्-अवस्था होती है और जब दृढ होता है, तब सुषुप्ति-अवस्था होती है। वैसे ही जैसे दिन में आम्रत्वादि विशेषरूप से वृक्ष की प्रतीति होती है, जब सामान्य अन्धकार से उस विशेषरूप का आवरण हो जाता है, तब 'वृक्ष है' ऐसी प्रतीति होती है, गाढ अन्धकार में तो वृक्ष का स्वरूप भी आवृत हो जाता है; वैसे ही स्वाप्निक अज्ञान से अन्तःकरण की वृत्तियों का तिरोभाव (कार्यरूप को त्यागकर कारणरूप से स्थिति) हो जाता है। गाढ अज्ञान में तो अन्तःकरण के स्वरूप का भी तिरोभाव हो जाता है। सुषुप्ति-अवस्था में तो वासनामात्ररूप से ही अन्तःकरण जीव की उपाधि है, यह भाव है। ३. 'स्वप्नाऽवस्थाऽज्ञानस्य—स्वप्नाऽवस्थाऽधिष्ठानविषयकाऽज्ञानस्य, तस्यैव जीवेशादिभेदविषयकत्वस्वीकारात्। एवं च सुषुप्तौ साक्षिमात्रभास्य-जीवेशतद्भेदादेरभानमुपपद्यते। तत्र-सुषुप्तौ; तद्बाधः—स्वप्नावस्थाबाधः। यथार्थत्वाद्—अज्ञाताऽबाधितमनोऽवच्छिन्नचिद्विषयकत्वात्।' (न्या. र.)। सुषुप्तिप्रलययोरस्ति जीवेशभेद इति निरणायि विवरणे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति चाभ्युपगमाच्छुक्तिज्ञानेनेवव्यावहारिक-

है, तथापि 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक ज्ञान यथार्थ[1] तो है और शरीरादि-ज्ञान प्रमाणजन्य है। उसमें अवस्थाऽज्ञान-विरोधिता अनुभव से सिद्ध है। विशेष[2] अज्ञान तो प्रमाणजन्य वृत्ति के बिना निवृत्त नहीं होता।[3] साक्षी अविद्या का साधक है, इसलिए यह अविद्या का निवर्तक नहीं है यह धर्मिग्राहक मान से सिद्ध है[4]। इस प्रकार कोई दोष नहीं।

---

१. अहमंशविषयक ज्ञानकाल में अन्तःकरण दण्डायमान नहीं होता, इसलिए अहमंशविषयक ज्ञान प्रमाणाजन्य है, क्योंकि दण्डायमान अन्तःकरणभागावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण है। तथापि अहमंशज्ञान अयथार्थ नहीं है, क्योंकि विषय का बाध नहीं होता। अहङ्काररूपापन्न अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही वहाँ विषय है और वह साक्षिभास्य है, यह विषय अन्य है। ऐसी दशा में ज्ञान को जो अज्ञान का बाधक कहा जाता है, वह प्रमाणजन्यत्वरूप से नहीं, किंतु यथार्थत्वरूप से ही बाधक है। किञ्च, 'अहं मनुष्यः' यहाँ पर जो मनुष्य अंश का प्रत्यक्ष है, वह तो शरीरविशेष का ही प्रत्यक्ष है, क्योंकि शरीरविशेषवान् ही मनुष्य होता है। शरीरप्रत्यक्ष घटप्रत्यक्ष की तरह चक्षु आदि द्वारा अन्तःकरण की दण्डायमान वृत्ति की अपेक्षा करता है। इसलिए वह प्रमाणजन्य ही है, अतः स्वाप्निक अवस्था-अज्ञान का बाध हो ही सकता है।

२. प्रश्न—साक्षिभास्य अहमंश-ज्ञान प्रमाण से अजन्य होता हुआ भी यदि स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है, तो उसी अहमंश-ज्ञान से व्यावहारिक घटविषयक विशेषाज्ञान की भी निवृत्ति होनी चाहिये। क्योंकि स्वप्न का अवस्था-अज्ञान व्यावहारिक सब पदार्थों का आवरक (आवरण करनेवाला) है, इसलिए उसका निवर्तक अहमंश का ज्ञान भी व्यावहारिक एक-एक पदार्थ के आवरक विशेषाज्ञान का निवर्तक है, यह कथन युक्ति से विरुद्ध नहीं है। इस दशा में घटज्ञानकाल में घटावरणभंग के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। उत्तर देते हैं—'विशेषाज्ञानं तु' इस ग्रन्थ से। विशेषाज्ञान अर्थात् घटादि एक-एक को ही विषय करने वाला अज्ञान।

भाव यह है कि आवृत का प्रकाश होने पर अज्ञान की निवृत्ति होती है, यह युक्तियुक्त है। व्यावहारिक सकल पदार्थों का आवरक जो स्वप्न-अवस्था का सामान्य अज्ञान है, उससे पहले अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य ही आवृत होता है। उसके आवृत होने पर प्रमाता के अभाव से सकल व्यावहारिक पदार्थ आवृत की तरह हो जाते हैं। उसके अनन्तर जब अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य का 'अहम्' इत्याकारक प्रकाश होता है, तो उस प्रकाश से आवरण का नाश होने पर अर्थात् ही तादृश आवरणमूलक सकलपदार्थगत सामान्य आवरण का नाश हो जाता है। इस प्रकार घटावरक विशेष अज्ञान की घट में प्राप्त हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जैसे नेत्र के खुले रहने पर भी घट के स्वरूप के आवरक अन्धकार के नाश के लिए दीप की अपेक्षा होती है, वैसे ही घटावरक आवरण के नाश के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा है।

३. प्रश्न—जाग्रत्-अवस्था के आरम्भ में साक्षी स्वयं प्रकाशित होकर अहमंश का प्रकाश करता है। ऐसी दशा में उस साक्षिरूप प्रकाश से व्यावहारिक घट, पट आदि तत्तद्व्यक्तिविशेषावरक विशेषाज्ञान की और मूलाज्ञान की निवृत्ति क्यों नहीं होती? उत्तर देते हैं—'साक्षिणः' इस ग्रन्थ से। 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञान की सिद्धि होती है। अज्ञान साक्षिभास्य है, घटादि की तरह अन्तःकरण की वृत्ति से भास्य नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की वृत्ति बहिरिन्द्रियों के अधीन होती है। अज्ञान शब्द, स्पर्श आदि से विलक्षण है। उसका किसी बहिरिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है, इसलिए तादृश अज्ञान का भी ग्राहक साक्षी है। अतः साक्षिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अज्ञान की सिद्धि होती है। अज्ञान और साक्षी के ग्राह्य-ग्राहकभाव का अवलम्बन करनेवाले 'अहमज्ञः' इत्याकारक साक्षिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि साक्षी अज्ञान का निवर्तक नहीं और अज्ञान साक्षिस्वरूप प्रकाश से निवर्त्य नहीं है। ऐसी दशा में अज्ञानरूप धर्मी और साक्षी का ग्राहक जो प्रमाण है, वही उनमें रहनेवाले उक्त दोनों धर्मों का ग्राहक होता है। ४. अर्थात् जिस प्रमाण से निश्चित है कि साक्षी अविद्या का साधक है उसी प्रमाण से पता चल जाता है कि साक्षी अविद्या को मिटाने वाला नहीं है क्योंकि यदि वैसा होता तो जैसे ही वह अविद्या को सिद्ध करता तत्क्षण ही वह मिट जाती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संघातज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि पुनरपि कदाचिद्रजतभ्रमवन्न स्वाप्नाध्यासानुपपत्तिरिति जीवचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति पक्षे न कोऽपि दोषः।

यदा पुनर्ब्रह्मज्ञानादेवाज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमस्तदा रज्ज्वां दण्डभ्रमेण सर्पभ्रमतिरोधानवदधिष्ठानज्ञानाभावेऽपि जाग्रद्भ्रमेण स्वप्नभ्रमतिरोभावोपपत्ते ब्रह्मचैतन्यमेव स्वप्नाधिष्ठानमिति पक्षेऽपि न कश्चिद् दोषः। प्रतिजीवं स्वप्नाध्यासासाधारण्यं तु मनोगतवासनानामसाधारण्यादेव।

जैसे शुक्ति के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर फिर भी कभी रजतभ्रम हो जाता है, इसलिए मानना चाहिये कि जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान[1] (अर्थात् तूलाज्ञान या अवस्थाऽज्ञान) भी हैं। इसलिए स्वाप्नाध्यास की अनुपपत्ति नहीं होती। अतः जीवचैतन्य ही स्वप्न का अधिष्ठान है—इस पक्ष में कोई भी दोष नहीं है।

यदि[2] ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति अङ्गीकार है, उस पक्ष में रज्जु में दण्डभ्रम से सर्प के तिरोधान की तरह अधिष्ठान (ब्रह्म) के ज्ञान के न होने पर भी जाग्रत्-भ्रम से स्वप्न-भ्रम के तिरोभाव की उपपत्ति होने से ब्रह्मचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है, इस पक्ष में कोई भी दोष नहीं है।[3]

---

१. ननु 'अहं मनुष्यः' इस व्यावहारिक ज्ञान से स्वाप्न सामान्य-अज्ञान की निवृत्ति होने पर दूसरे दिन फिर स्वप्न-अवस्था की प्राप्ति कैसे होती है? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'यावन्ति ज्ञानानि' से। जैसे एक काल में शुक्तिज्ञान से शुक्ति के एक अज्ञान के नष्ट होने पर भी फिर कालान्तर में शुक्ति के अज्ञान से रजतभ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही एक 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से एक स्वाप्न सामान्याज्ञान के निवृत्त होने पर भी फिर अन्य स्वाप्न सामान्याज्ञान से स्वाप्न भ्रम की उपपत्ति अविरुद्ध है, यह भाव है। २. इस प्रकार मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य स्वप्न-अध्यास का अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष का उपपादन करके मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है, इस द्वितीय पक्ष का उपपादन करते हैं—'यदा पुनः' इस ग्रन्थ से। इस पक्ष में अधिष्ठानभूत ब्रह्म-चैतन्य का जाग्रत्-अवस्था में यथार्थ ज्ञान न होने से स्वाप्न सामान्याज्ञान का विनाश नहीं हो सकता, यद्यपि यह कहा जा सकता है, तथापि जाग्रत्-काल के 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से स्वाप्निक सामान्याध्यास का तिरोभाव तो हो ही सकता है। ब्रह्मचैतन्य स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है, इस पक्ष में 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान नहीं है, तथापि अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान ही भ्रम का विनाशक है, इस नियम की तरह अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान ही भ्रम का तिरोभावक है, इस नियम में कोई बीज नहीं है। जैसे रज्जु में उत्पन्न हुए सर्प भ्रम का उसके उत्तरकाल में उत्पन्न होनेवाले अयथार्थ भी दण्ड-भ्रम से तिरोभाव होता है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्था के 'अहं मनुष्यः' इस अयथार्थ ज्ञान से भी स्वप्न-अध्यास का तिरोभाव हो जाता है। जैसे रज्जुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से सर्प-भ्रम का विनाश होता है, वैसे दण्ड-भ्रम से सर्प-भ्रम का विनाश नहीं होता; क्योंकि दण्ड-भ्रम के उत्तरकाल में भी फिर कदाचित् क्षणमात्र में सर्प-भ्रम का सम्भव है। पूर्वप्रतीयमान सर्प से अन्य ही सर्प फिर प्रतीत होता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि कदाचित् अन्य का सम्भव होने पर भी उसका भी सम्भव है। पूर्वप्रतीयमान सर्प की फिर कभी प्रतीति नहीं होती—इस नियम में कोई बीज नहीं है।

प्रश्न—स्वप्नभ्रम का जाग्रत्-अवस्था में केवल तिरोभाव ही होता है, विनाश नहीं होता, ऐसा अङ्गीकार करने पर उसका फिर उत्थान होना चाहिये। उत्तर—तिरोभूत का उत्थान होता ही है, यह नियम नहीं है। एक दिन जिस स्वप्न का अनुभव हुआ है, उसका फिर कभी उत्थान नहीं होता, यह नियम देखा जाता है। इसका कारण स्वप्न-भ्रम का विनाश ही है, स्वप्न-भ्रम का तिरोभाव इसका कारण नहीं, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि उक्त नियम का व्यभिचार है। कभी ऐसा भी अनुभव होता है कि स्वप्न-भ्रम में प्रवृत्त हुए पुरुष को मध्य में क्षणमात्र जागर्ति होने पर फिर सद्यः स्वप्नदर्शन में पूर्व स्वप्नदृष्ट पदार्थों की अनुवृत्ति देखी जाती है। प्रश्न—मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य स्वप्न-अध्यास का अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष में जाग्रत्काल में 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से स्वप्न-भ्रम का विनाश ही होगा, इसलिए पूर्वदृष्ट स्वाप्न पदार्थों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। उत्तर—इष्टापत्ति ही है। पूर्व स्वप्नदृष्ट पदार्थों के सदृश ही पदार्थ फिर दूसरे स्वप्न में देखे जाते हैं, वे ही नहीं देखे जाते—इस पक्ष में ऐसा अङ्गीकार है। ३. प्रश्न—मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हो, तो उसमें कल्पित गज, अश्व आदि सर्वजीवसाधारण होने चाहिये। जैसे जाग्रति में एक ही गज अनेक देवदत्त, यज्ञदत्त आदि द्वारा देखा जाता है, वैसे ही स्वप्न में भी होना चाहिये। उत्तर देते हैं—'प्रतिजीवम्' इस ग्रन्थ से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनोवच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव वाऽधिष्ठानम्। एतस्मिन् पक्षेऽवस्थाऽज्ञानस्यैवावरकत्वाङ्गीकारान्न काऽप्यनुपपत्तिः। अत एव शास्त्रेषु क्वचित् क्वचित्तथा व्यपदेशः।

ननु मनोवच्छिन्नचैतन्यस्याधिष्ठानत्वे 'अहं गजः' इत्याद्यहङ्कारसामानाधिकरण्येनैव गजप्रतीतिः स्यात्, 'इदं रजतमि'ति शुक्तिसामानाधिकरण्येन रजतप्रतीतिवत्, न त्वयं गज इति। ब्रह्मचैतन्यस्याधिष्ठानत्वपक्षेऽपि 'गज' इत्याकारैव प्रतीतिः स्यान्न तु 'अयं गज' इति, तत्रापीदंकारास्पदीभूतबाह्यार्थाभावस्य समानत्वादिति चेत् ?

मनोगत[1] वासनाओं के असाधारण्य से ही प्रत्येक जीव का स्वप्नाध्यास भी असाधारण होता है।

अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न[2] ब्रह्मचैतन्य ही अधिष्ठान है। इस पक्ष[3] में भी अवस्था-अज्ञान ही आवरणकारक हुआ करता है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिए शास्त्र में कहीं-कहीं जीवचैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान है ऐसा व्यपदेश है।

शङ्का[4]—यदि मनोवच्छिन्न चैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानो, तो जैसे 'यह रजत है' यहाँपर शुक्ति के सामानाधिकरण्य से रजत की प्रतीति होती है, वैसे ही 'मैं गज हूँ' इस प्रकार अहङ्कार के सामानाधिकरण्य से ही गज की प्रतीति होनी चाहिये। 'यह गज है' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठानत्व-पक्ष में भी केवल 'गज' ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये, 'यह गज' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठानत्व-पक्ष में भी अहङ्कार के विषय बाह्य पदार्थों का अभाव समान है।

---

१. जैसे शुक्तिरजतावभासस्थल में जहाँ एक काल में अनेक पुरुष भ्रान्त होते हैं, वहाँ सब पुरुषों को एक रजत का अवभास नहीं होता, किन्तु प्रत्येक जीव की वासनाओं के भेद से जितने भ्रान्त पुरुष हैं, उतने ही वहाँ आविधिक रजत उत्पन्न होते हैं। प्रतीति प्रत्येक को एक की ही होती है, वैसे ही स्वप्न के समय में समझना चाहिये। इस प्रकार मन में प्रतिबिम्बित जीवचैतन्य अथवा मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है। इन दोनों पक्षों का उपपादन करके तृतीय पक्ष दिखाते हैं—'मनोवच्छिन्नम्' इस ग्रन्थ से। २. प्रतिबिम्बितस्वरूप जीव से अन्य बिम्बभूत जो ब्रह्मचैतन्य वही मनोवच्छिन्न होकर स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है, यह अर्थ है। अवच्छेदवादी जीव का यही स्वरूप मानते हैं। इसलिए प्रतिबिम्बवाद के अभिप्राय से प्रथम पक्ष और अवच्छेदवाद के अभिप्राय से तृतीय पक्ष है। प्रश्न—ब्रह्मचैतन्य मूलाज्ञानावच्छिन्न होने से यद्यपि आवृत है, तथापि मनोवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य सदा ही अनावृत है। वह कैसे अधिष्ठान हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं—'एतस्मिन्नपि' इस ग्रन्थ से। ३. 'अपि' शब्द से प्रथम पक्ष का समुच्चय होता है। जैसे मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष में अवस्थाऽज्ञान आवरक माना गया है, वैसे ही तृतीय पक्ष में भी समझना चाहिये, यह भाव है। पक्षत्रय में भी प्राचीन ग्रन्थकारों की सम्मति दिखाते हैं—'अत एव' इस ग्रन्थ से। ४. उक्त तीनों पक्षों में से प्रथम पक्ष और तृतीय पक्ष में मनोवच्छिन्न चैतन्य स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है। वह जीवरूप अधिष्ठान 'अहम्' (मैं) इत्याकारक प्रतीति का विषय होकर भासता है। ऐसी दशा में जैसे इदंता से प्रतिभासमान शुक्तिरूप अधिष्ठान में तादात्म्य से अध्यस्त रजत भी 'इदं रजतम्' इस प्रकार इदन्ता से भासता है, वैसे ही अहंता से भासमान जीवचैतन्यरूप अधिष्ठान में तादात्म्य से अध्यस्त स्वाप्निक गज आदि अहंता से ही भासमान होने चाहिये, अर्थात् 'अहं गजः' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, 'अयं गजः' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। पर होती है इसके विपरीत। 'मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है' इस द्वितीय पक्ष में तो अधिष्ठान का अहंता से प्रतिभास ही नहीं होता। इसलिए यद्यपि 'अहं गजः' इस प्रतीति का प्रसङ्ग नहीं है, तथापि मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न; आद्ये पक्षेऽहङ्कारस्य शुक्तिवदधिष्ठानावच्छेदकत्वाच्छुक्ती रजतमितिवद् 'अहं गज' इति न भ्रमाकारप्रसंगः। अहमिति ज्ञानस्य 'इयं शुक्तिरि'ति ज्ञानस्येव भ्रमविरोधित्वात्। इदमंशस्य च भ्रमाविरोधिन एव तत्र भानाभ्युपगमात्। स्वप्ने तु 'गज' इत्याकारवद् 'अयमि'त्याकारोऽपि कल्पित एव। उभयाकारबाधेऽप्यधिष्ठानीभूतचैतन्यस्याबाधान्न शून्यवादप्रसंगः। जाग्रद्दशायामपि शुक्तीदङ्कारविलक्षणस्य प्रातीतिकस्यैव रजतेदङ्कारस्य भानाभ्युपगमाच्च, 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' (सं० शा० १। ३६) इति न्यायात्। शुक्तीदमंशभानपक्षेऽपि नेदमंशसत्यत्वमध्यासे प्रयोजकम्, किन्त्वधिष्ठानसत्यत्वम्। अधिष्ठानं च तत्राज्ञातं शुक्तिचैतन्यमिवात्रापि साक्षिचैतन्यं विद्यत एवेत्युपपादितम्। तस्मान्न पक्षद्वयेऽपि काप्यनुपपत्तिः।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। प्रथम[1] पक्ष में अहङ्कार शुक्ति के समान अधिष्ठान का अवच्छेदक है, इसलिए जैसे 'शुक्ति रजत है' ऐसा भ्रम का आकार नहीं होता, उसी प्रकार 'मैं गज' ऐसा भ्रम का आकार नहीं होता। 'शुक्ति' इत्याकारक ज्ञान के समान 'मैं' इत्याकारक ज्ञान (स्वप्न-) भ्रम का विरोधी है। शुक्तिरजतस्थल में भ्रम के अविरोधी इदमंश का ही भ्रम में भान माना जाता है। स्वप्न[2] में तो 'गजः' इत्याकारक ज्ञान के

अधिष्ठान का इदंतारूप से प्रतिभास नहीं होता। इसलिए 'अयं गजः' यह प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। ऐसी दशा में जीवचैतन्य अधिष्ठान हो अथवा ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान हो, इदंरूप से प्रतीयमान बाह्य अर्थ ही अधिष्ठान नहीं है। इसलिए स्वाप्न गजादि की 'अयं गजः' इस रीति से इदंता से प्रतीति नहीं होनी चाहिये, यह आशय है। १. जैसे संयोग सम्बन्ध से घट का भूतल अधिष्ठान है, वैसे अध्यास का अधिष्ठान संयोगादि सम्बन्ध से नहीं हो सकता। किन्तु जैसे घर का मध्यभाग आवृत होकर अन्धकार का अधिष्ठान होता है, वैसे ही अध्यास का अधिष्ठान भी आवृत होकर ही हो सकता है। ऐसी दशा में अध्यासस्थल में अध्यास का अधिष्ठान जिस स्वरूप से आवृत होता है, वही स्वरूप अधिष्ठान का अवच्छेदक होता है। जैसे शुक्ति में रजताध्यासस्थल में शुक्तित्व अधिष्ठान का अवच्छेदक है। रजत-संस्कार से सहकृता अविद्या रजत के विरोधी अधिष्ठानगत शुक्ति-अंश का आवरण करती है, रजत के अविरुद्ध अधिष्ठानगत इदमंश का आवरण नहीं करती। वह अधिष्ठानावच्छेदक शुक्तित्व अध्यासकाल में आवृत है, इसलिए जबतक अध्यास है तबतक शुक्तित्व की प्रतीति नहीं होती। वैसे ही 'जीवचैतन्य अधिष्ठान है' इस पक्ष में अहंत्व अधिष्ठान का अवच्छेदक है, इसलिए अहंत्व की अप्रतीति युक्त ही है क्योंकि अधिष्ठानभूत जीवचैतन्यगत 'अहम्-अंश' गजादि संस्कार का विरोधी है और अविद्या अपने सहकारीभूत संस्कारों के अविरोधी जो अधिष्ठानगत अंश हैं, उनके वैशिष्ट्य से अधिष्ठान के स्वरूप का आवरण नहीं करती। इसीलिए रजतभ्रम में अधिष्ठानभूत शुक्तिगत इदमंश रजतसंस्कार का विरोधी नहीं है। अतएव 'इदं रजतम्' इस प्रकार इदमंश की प्रतीति होती ही है। प्रश्न—उक्त रीति से अधिष्ठानभूत जीवचैतन्यगत अहमंश गजादि-संस्कार का विरोधी है, इसलिए अहमंश की प्रतीति भले ही न हो, परन्तु 'अयं गजः' इस प्रकार अध्यस्त गज के सामानाधिकरण्य से इदमंश की जो प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती; क्योंकि मतभेद से स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान जीवचैतन्य अथवा ब्रह्मचैतन्य हो, दोनों ही पक्षों में अधिष्ठानभूत चैतन्य में इदमंश का अभाव है। उत्तर में कहते हैं—'स्वप्ने तु' इस ग्रन्थ से।

२. जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रातिभासिक रजतप्रतीतिस्थल में रजतांशमात्र अध्यस्त है, इदमंश तो अधिष्ठानभूत शुक्तिगत ही भासता है। स्वप्न में 'अयं गजः' इस प्रतीति में ऐसा नहीं। यहाँ गजांश और इदमंश ये दोनों ही अध्यस्त हैं, इसलिए अनुपपत्ति नहीं है। प्रश्न—इस प्रकार इदमंश और गजांश दोनों के कल्पित होने से असत्य होने पर दोनों का ही बाध होगा। उस दशा में कुछ शेष नहीं रहेगा, इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग है ? उत्तर देते हैं—'उभयाकार' इत्यादिसे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र च स्वाप्निकपदार्थभोक्ता तैजस इत्युच्यते, पित्ताख्यतेजःप्रधानत्वात्। आदित्यादिज्योतिरन्तरेणापि भासकत्वादिति वा।

सुषुप्तिः

एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनान्तःकरणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था। 'न किञ्चिदवेदिषमि'ति कारणमात्रोपलम्भः सुषुप्तिः। तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्थाऽज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्युपेयते।

समान 'अयम्' (यह) इत्याकारक ज्ञान भी कल्पित ही है। 'अयम्' और 'गजः' इन दोनों[1] आकारों के बाधित हो जाने पर भी अधिष्ठानभूत चैतन्य के बाधित न होने से शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं हुआ। 'जाग्रद्-दशा[2] में भी अध्यस्त का ही भ्रम में भान होता है' इस न्याय से शुक्ति के इदंकार से भिन्न प्रातिभासिक रजत के इदङ्कार के भान का ही स्वीकार है। शुक्ति के इदमंश का भान होता है, इस पक्ष में भी इदमंश की सत्यता अध्यास में प्रयोजक नहीं है किन्तु अधिष्ठानसत्यत्व ही प्रयोजक है। भ्रम-स्थल में जैसे अज्ञात शुक्तिचैतन्य अधिष्ठान है, उसी प्रकार यहाँ अज्ञात साक्षिचैतन्य अधिष्ठान विद्यमान ही है, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए[3] दोनों पक्षों में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

स्वप्नावस्था में स्वप्न के पदार्थों का भोक्ता जीव पित्तनामक तेजःप्रधान होने के कारण अथवा सूर्यादि ज्योति के बिना ही भासक होने के कारण 'तैजस' कहलाता है।

इस प्रकार जाग्रदवस्था एवं स्वप्नावस्था के भोग से परिश्रान्त हुए जीव के उक्त दोनों अवस्थाओं के

---

१. भ्रान्त को जो प्रतीति होती है, उसीमें से कोई अंश भ्रम की निवृत्ति के उत्तरकाल में अवशिष्ट रहता है, इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है, यह भाव है। प्रश्न—इस रीति से जाग्रत्-अवस्था के 'इदं रजतम्' इस भ्रम में और स्वप्न के 'अयं गजः' इस भ्रम में उक्त रीति से वैलक्षण्य का अङ्गीकार करने पर भ्रम के दो रूप हो जाएँगे। उत्तर—हाँ, कोई हानि नहीं है। यदि सर्वत्र इस प्रकार का ही भ्रम होता है यह आग्रह हो, तो जागर्ति में भी स्वप्न की तरह अंशद्वय के अध्यास का अङ्गीकार करना चाहिये, इसमें कोई हानि नहीं है। यही कहते हैं—'जाग्रद्दशायामपि' इत्यादि ग्रन्थ से।

२. प्रश्न—इस प्रकार इदमंश के असत्य होने पर अध्यास ही सिद्ध नहीं होता ? उत्तर—यह भ्रम है। वास्तव में अधिष्ठान की सत्यता अध्यास में प्रयोजक है, न कि भ्रमावस्था में प्रतीयमान अधिष्ठानगत किसी अंश की सत्यता अध्यास में प्रयोजक है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसी बात की पुष्टि करते हैं—'शुक्तीदमंश' इत्यादि ग्रन्थ से।

३. यद्यपि अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वाप्नाध्यासका अधिष्ठान है, यह प्रथम पक्ष है, मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान है, यह द्वितीय और अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य यह तृतीय पक्ष है। ये तीनों पक्ष पहले दिखाये गये हैं, तथापि द्वितीय और तृतीय पक्ष में अवच्छेदक का भेद होने पर भी अवच्छेद्य का भेद नहीं है, इसलिए उन दोनों पक्षों के ऐक्य को लेकर दो पक्षों का कथन उपपन्न हो सकता है। अथवा तृतीय पक्ष और प्रथम पक्ष में अवच्छेद्य का बिम्ब-प्रतिबिम्बभेद से भेद होने पर भी अवच्छेदक अन्तःकरण की एकता से उन दोनों पक्षों की एकता को लेकर दो पक्षों की उपपत्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार प्रसङ्ग से स्वाप्निक पदार्थों के उपादान-कारण और स्वाप्नाध्यास के अधिष्ठान का निरूपण करके स्वप्नावस्था में भोक्ता के स्वरूप को दिखाते हैं—'अत्र च' इत्यादि ग्रन्थ से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहङ्काराभावाच्च नैका विशिष्टवृत्तिः, सुषुप्त्यभावप्रसङ्गाच्च। अतएव वृत्तिरूप-

कारणरूप कर्मों के नष्ट होने पर ज्ञानशक्ति से अवच्छिन्न सवासन अन्तःकरण की कारणरूप से[1] स्थिति होने पर जीव का विश्राम-स्थान सुषुप्ति-अवस्था है। इस प्रकार 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्याकारक कारणरूप[2] अज्ञानमात्र की उपलब्धि सुषुप्ति है। सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न के भोग्य पदार्थों का ज्ञान न होने पर भी अविद्या की साक्ष्याकार, सुखाकार तथा अज्ञानाकार तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं।[3]

सुषुप्ति में अहङ्कार के अभाव से[4] एक विशिष्ट वृत्ति नहीं होती, क्योंकि विशिष्ट वृत्ति होने से सुषुप्ति

---

१. कारणीभूत अज्ञानगत संस्काररूप से, यह अर्थ है। २. 'कारणमात्र से अवस्थान सुषुप्ति है' ऐसा लक्षण करने पर प्रलय में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए प्रलय का वारण करने के लिए 'उपलम्भ' पद दिया है। भाव यह है कि प्रलयकाल में अविद्या मूलस्वरूप से ही स्थित होती है। उस समय उसकी कोई वृत्ति नहीं होती। सृष्टिकाल में तो अविद्या की अज्ञानाकार प्राथमिक वृत्ति होती है। यह अज्ञानाकार वृत्ति जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में बनी रहती है, क्योंकि अवस्थात्रय में भी 'मैं मूलब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता' ऐसी प्रतीति होती है। यह प्राथमिक अविद्यावृत्ति व्यावहारिक शब्दादि-ज्ञान के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसके होते हुए ही जागरण में शब्दादि पदार्थों का ज्ञान देखा जाता है। इसलिए केवल प्राथमिक अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति-अवस्था का उपपादन नहीं हो सकता। किन्तु व्यावहारिक शब्दादिज्ञान का निरोध करनेवाली अवस्थाविशेषभूत अज्ञानाकार अविद्या की अन्य वृत्ति सुषुप्ति-अवस्था में अवश्य माननी चाहिये, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में साक्ष्याकार और सुखाकार अविद्या की अन्य वृत्ति अवश्य होती है, यह कल्पना करनी चाहिये। इसीलिए जाग्रदवस्था में 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' यह अनुसन्धान बन सकता है। उक्त अनुसन्धान सुषुप्तिस्थ अनुभव से जन्य है, इसलिए उक्त अनुसन्धान के अनुसार सुषुप्तिकाल के अनुभव में चार अंशों की कल्पना करनी चाहिये—सुख-अंश, अहमंश, स्वापांश और अज्ञानांश। इनमें से अहमंश की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में वृत्तिसहित अन्तःकरण का लय हो चुका है और अहमंश अन्तःकरण की वृत्तिविशेषमूलक है। जाग्रत्काल के 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस अनुसन्धान में अहमंश का प्रवेश तो इतर तीन अंशों की तरह अनुसन्धान का विषय होकर नहीं, किन्तु अनुसन्धान का आश्रय होकर है और वह आश्रयरूप अहङ्कार जाग्रत् अवस्था में अनुसन्धानकाल में है ही, इसलिए 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याकारक अनुसन्धान की अनुपपत्ति नहीं है। अवशिष्ट जो तीन अंश हैं, तदाकार से अविद्या की तीन वृत्तियाँ होती हैं—सुख, स्वाप और अज्ञान-वृत्ति। प्रश्न—उक्त अनुसन्धान के अनुरोध से स्वापाकार-वृत्ति का भी निर्देश करना चाहिये था, उसका निर्देश न करके केवल साक्ष्याकार-वृत्ति का निर्देश किया है, इसका क्या कारण है? उत्तर—जिस स्वापाकार-वृत्ति का निर्देश करना चाहिये, वह वृत्ति साक्षिरूप ही है, इसलिए साक्षिरूप से उसका निर्देश हो गया, क्योंकि कारणमात्रोपलम्भ सुषुप्ति है, यह स्वाप-पद का अर्थ है। सुषुप्ति-अवस्था में कारण-अज्ञान का जो उपलम्भ है, वह साक्षिरूप ही है। जाग्रत्-काल का उपलम्भ मनोवृत्तिरूप है। स्वप्नकाल का उपलम्भ तो अविद्याकल्पित मनोवृत्तिरूप है। इसी प्रकार प्रातिभासिक रजत का उपलम्भ भी अविद्याकल्पित मनोवृत्तिरूप ही है। सुषुप्ति-काल का उपलम्भ तो कथमपि मनोवृत्तिरूप नहीं, किन्तु साक्षिरूप ही है। ३. यह विषय पञ्चपादिकाविवरण (पृ. १७१ म. अनु. सं.) में द्रष्टव्य है। अद्वैतसिद्धि और लघुचंद्रिका (पृ. ५५६, निर्णय.) में भी इस संदर्भ पर चर्चा अनुसन्धेय है। ४. विशिष्ट एक वृत्ति की उपेक्षा करके सुषुप्ति-अवस्था में वृत्तित्रय का अङ्गीकार क्यों किया जाता है, ऐसी शङ्का करके समाधान करते हैं—'अहङ्काराभावात्' इस सन्दर्भ से। परस्पर सम्बद्ध हुए दो पदार्थों में से एक का अन्य के साथ वैशिष्ट्य हुआ करता है। असम्बद्धों का वैशिष्ट्य नहीं हुआ करता। उक्त तीन वृत्तियों के मध्य साक्षी तो असङ्ग चैतन्यमात्ररूप है, अतः उसका किसीके साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता। सुख और अज्ञान ये दोनों अहमर्थ के धर्म हैं। इस प्रकार जैसे आम के फल में द्रव्य के धर्म रूप और रस में एक का अन्य के साथ वैशिष्ट्य नहीं होता, वैसे ही सुख और अज्ञान का परस्पर वैशिष्ट्य नहीं हो सकता। जैसे रूप और रस के वैशिष्ट्य से आम्रफलरूप द्रव्य की प्रतीति हुआ करती है, वैसे ही यहाँ सुख और अज्ञान के वैशिष्ट्य से उनके आश्रय अहमर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्योपलम्भस्याभावान्न प्रलयेऽतिव्याप्तिः, तत्र तत्कल्पनाबीजाभावात्। इह च सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषमिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात्। अननुभवे परामर्शानुपपत्तेः। अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः। स्मरणे तत्तोल्लेखनियमाभावाच्च।

के अभाव की आपत्ति हो जायगी। इसलिए वृत्तिरूप ज्ञान का अभाव होने से[1] प्रलय में अतिव्याप्ति नहीं हैं, क्योंकि प्रलयकाल में वृत्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। सुषुप्ति-अवस्था में तो सुप्तोत्थित पुरुष का 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' (मैं सुख से सोया, मुझे कुछ पता नहीं चला) यह स्मरण[2] प्रमाण है। सुषुप्तिकाल में यदि अज्ञान का अनुभव न होता तो सुप्तोत्थित पुरुष को उक्त स्मरण नहीं हो सकता। सुषुप्ति-अवस्था के अज्ञान के अनुभवकाल में अन्तःकरण का सम्बन्ध[3] नहीं था, इसलिए अनुभव से उत्पन्न हुए पूर्वोक्त स्मरण में तत्ता (वह-पने) का उल्लेख के न होने पर भी स्मरणत्व की अनुपपत्ति नहीं हैं[4]। और स्मरण में तत्ता के उल्लेख का नियम भी नहीं है।[5]

की प्रतीति करनी चाहिये। वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सुख और अज्ञान के आश्रयीभूत अहमर्थ की सुषुप्ति-अवस्था में अहंभाव से प्रतीति नहीं होती। अहंभाव से प्रतीति का अङ्गीकार करने पर तो सुषुप्ति का ही अभाव हो जायगा, यह आशय है।

१. 'मैं सुख से सोया, कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति के अनुरोध से सुषुप्ति-अवस्था में अविद्यावृत्ति के अङ्गीकार से सुषुप्ति और प्रलय का वैलक्षण्य सिद्ध है, यह तात्पर्य है। २. परामर्श स्मरण है। स्मरण अनुभवजन्य हुआ करता है, इसलिए स्मरणरूप कार्य से स्वकारणीभूत सुषुप्ति के अनुभव का अनुमान किया जाता है। अनुभव वृत्तिरूप है, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में अविद्या की वृत्ति सिद्ध होती है। प्रश्न—जाग्रत्-अवस्था में जायमान 'सुख से सोया' इत्यादि ज्ञान स्मरणरूप नहीं है, जिससे वह स्वकारणीभूत अनुभव का अनुमान करवा सके। 'वह देवदत्त उस मन्दिर पर बैठकर ऐसा कह रहा था' इत्याकारक जो स्मरण होता है, उसमें देवदत्तादि का तत्ता (वह) से उल्लेख देखा जाता है। सुषुप्ति के सुख का तो जागर्ति में 'तत्सुखम्' इस प्रकार तत्ता से अनुसन्धान नहीं होता, इसलिए जाग्रदवस्था का 'सुख से सोया' यह भी स्मरण ही नहीं है। उत्तर देते हैं—'अन्तःकरण' इत्यादि ग्रन्थ से। ३. उपराग=वृत्ति। ४. स्मरणमात्र में तत्तोल्लेख का नियम हम नहीं मानते, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। जाग्रत्-काल में जो अनुभव होता है, वह अन्तःकरण की वृत्ति के काल में होता है, इसलिए तादृश अनुभवजन्य स्मरण में तत्ता का उल्लेख हो। स्मरणमात्र में तत्ता का उल्लेख आवश्यक नहीं है। किञ्च, वैशेषिकादि भी स्मरण में तत्तोल्लेख के नियम को अङ्गीकार नहीं करते, यह दिखाते हैं—'स्मरण' इत्यादि से। ५. तात्पर्य यह है कि अनुभव संस्कारद्वारा स्मरण में हेतु है, यह सर्वसम्मत है। संस्कार एकअनुभवजन्य होता हुआ भी एक 'प्रकार' का नहीं होता। जैसे स्थूल, गौर और रक्त उष्णीषवान् देवदत्त कभी देखा गया। दूसरे दिन जैसा उसका स्मरण होता है, एक मास या वर्ष के अनन्तर वैसा स्मरण नहीं होता। अधिक काल होने पर तो कभी 'गौर है' ऐसा स्मरण होता है, 'स्थूल अथवा कृश' ऐसा स्मरण नहीं होता। कभी 'उष्णीषवान्' ऐसा स्मरण होता है, 'रक्त अथवा पीत' ऐसा स्मरण नहीं होता। इस प्रकार जाग्रत्-काल के अनुभव से जन्य स्मरण में संस्कारों के अनुसार कभी तत्ता का उल्लेख होता है, कभी नहीं भी होता। एतावता उसके स्मरणत्व की हानि नहीं होती। यदि कोई तत्ता के उल्लेख के नियम में हठ करके 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह ज्ञान स्मरण नहीं, किन्तु अनुभव ही है, ऐसा कहे, तो उसका समाधान करते हैं—'जाग्रद्दशायाम्' इत्यादि से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाग्रद्दशायामस्वाप्समित्यनुभवानुपपत्तेश्च। लिङ्गाभावेनाश्रयासिद्ध्या चानुमानस्यासंभवात्। अहङ्कारस्तु उत्थानसमय एवानुभूयते। सुषुप्तौ लीनत्वेन तस्याननुभूतत्वात्स्मरणानुपपत्तेः।

जाग्रद्-दशा[1] में पूर्वोक्त स्मरण का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय—सुख और अज्ञान—उस समय में विद्यमान नहीं है। लिङ्ग[2] के अभाव एवं आश्रय की असिद्धि से यह ज्ञान अनुमान भी नहीं हो सकता। अहङ्कार का ज्ञान तो उत्थान के समय में ही होता है। सुषुप्ति में[3] लीन होने के कारण उसका अनुभव न होने से स्मरण नहीं हो सकता।

---

१. क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, इनमें से अन्यतम (कोई एक) होता है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रत्यक्ष तो है नहीं, क्योंकि उस काल में स्वाप है नहीं, कारण प्रत्यक्ष का विषय विद्यमान हुआ करता है। जाग्रत्-काल में स्वाप विद्यमान नहीं है। सादृश्यज्ञान का अभाव होने से वह उपमिति नहीं है। शब्दज्ञानमूलक न होने से वह अनुभव शाब्द भी नहीं है। अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का तो यहाँ सम्भव ही नहीं है यह स्पष्ट ही है। अब यह अनुमितिरूप भी नहीं है, इसका प्रतिपादन करते हैं—'लिङ्गाभावेन' इत्यादि सन्दर्भ से। २. भूतकालिक स्वाप का ज्ञापक कोई चिह्न जागृति में नहीं देखा जाता। नेत्र-संकोचादिरूप स्वाप के कार्य का नियमपूर्वक ज्ञान नहीं होता। 'अहं स्वापवान्' यह अनुमिति का आकार कहना होगा, सो हो नहीं सकता; क्योंकि अहमर्थ और स्वाप इन दोनों का परस्पर विरोध है, इसलिए एककाल में दोनों हो नहीं सकते। अहंभाव तो स्वाप के नष्ट होने पर ही प्रकट होता है। सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण लीन होता है, इसलिए अन्तःकरण के वृत्तिविशेष अहङ्कार की सुषुप्ति में स्थिति नहीं हो सकती। इससे पर्वत में धूम को देखकर घर में आकर पर्वत का स्मरण करके जैसे कोई अग्नि का अनुमान करता है, वैसे ही जागृति में स्वापकालिक अहंभाव का स्मरण करने से अनुमिति होती है, इसका खण्डन हो गया। यही कहते हैं—'सुषुप्तौ' इस ग्रन्थ से। ३. प्रश्न—सुषुप्ति में यदि अहंभाव नहीं है, तो सुषुप्तिस्थ अनुभव से जन्य 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण में अहंभाव की प्रतीति कैसे होती है ? उत्तर—'सुखमहमस्वाप्सम्' यहाँपर स्वाप जैसे स्मरण का विषय होकर प्रतीत होता है, वैसे अहंभाव स्मरण का विषय होकर प्रतीत नहीं होता; किन्तु स्मरण का आश्रय होकर प्रतीत होता है, यह पहले कह चुके हैं। प्रश्न—स्मरण की आश्रयता से भी अहङ्कार का प्रवेश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अहङ्कार स्मरण का आश्रय नहीं हो सकता। किन्तु साक्षिचैतन्य ही स्मरण का आश्रय हो सकता है, क्योंकि अनुभविता (अनुभव का आश्रय) ही स्मर्त्ता (स्मरण का आश्रय) हुआ करता है, यह नियम है। यहाँ अनुभविता साक्षिचैतन्य है, अहङ्कार नहीं; क्योंकि सुषुप्तिअवस्था में अहङ्कार लीन हो जाता है। प्रश्न—ज्ञान मनोवृत्ति को कहते हैं। स्मरण भी ज्ञानविशेष है, इसलिए स्मरण मनोवृत्तिरूप है, यह अवश्य वक्तव्य है। ऐसी दशा में जैसे 'अहं घटं जानामि' यहाँ चैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण पहले अहङ्काररूप से परिणाम को प्राप्त होकर पश्चात् चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा विषय-देश में जाकर विषयाकार हो जाता है, वैसे ही स्मरण-स्थल में भी चैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण पहले अहङ्काररूप में परिणत होकर पश्चात् पूर्वानुभूत विषयाकार से परिणत होता है। इस प्रकार वृत्तिरूप स्मरण का अहङ्कार ही आश्रय है। अनुभविता ही स्मर्ता हुआ करता है, इस नियम का तो अनुभविता साक्षिचैतन्य में अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से उपपादन करना चाहिये। उत्तर—इस दृष्टान्त में विषमता है। घटादिविषयक प्रमाज्ञान में अहङ्कारात्मक मन की वृत्ति हो सकती है। अप्रमास्थल में ऐसा नहीं हो सकता। शुक्तिरजतज्ञान में प्रातिभासिक रजताकारा मनोवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वास्तव में वहाँ रजत नहीं है। जैसे वास्तव में पञ्चकोणवाले खेत में किसी पुरुष को त्रिकोणत्व की भ्रान्ति होने पर भी उस खेत में प्रविष्ट जल पञ्चकोणाकार को ही ग्रहण करता है, कभी भी त्रिकोणाकार ग्रहण नहीं करता, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता का आश्रय मन व्यावहारिक ही वस्तु के आकार को ग्रहण कर सकता है। प्रातिभासिक वस्तु के आकार को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ के सदृश आकार ग्रहण करना उन दोनों पदार्थों के सम्बन्ध से हो सकता है और व्यावहारिक का व्यावहारिक के ही साथ सम्बन्ध हो सकता है, प्रातिभासिक के साथ नहीं। ऐसी दशा में मन और उसकी वृत्ति के कार्य-कारण-भाव में कार्यतावच्छेदक प्रमात्व ही है (मन से प्रमावृत्ति ही उत्पन्न होती है)। मन और उसकी वृत्ति के कार्य-कारण-भाव में यदि ज्ञानत्व अवच्छेदक हो, तो प्रातिभासिक रजत में दोष होगा, क्योंकि शुक्ति-रजतप्रतिभास में रजताकार मानसी वृत्ति भी रजत की तरह अविद्यापरिणामभूत काल्पनिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

स्मरणादिवृत्तिविचारः

मुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन रक्तं मुखमिति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहं सुखमस्वाप्समिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः, न पुनरहं सुखीतिवदाश्रयतया, स्मृतिसंशयविपर्ययाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमात्। अहङ्कारस्य च प्रमाणजन्यज्ञानाश्रयत्वनियमात् प्रमात्वेनैव तत्कार्यतावच्छेदात्। अप्रमात्वावच्छेदेन चाविद्याया एव कारणत्वात्। अत एव अनाप्त-

मुख[1] के प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में समीपवर्ती जपापुष्प की लालिमा के अध्यास से 'रक्तं मुखं' (लाल मुँह) ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही जाग्रत्-काल में स्मरण का आश्रय साक्षि-चैतन्य ही अहङ्कार का[2] आश्रय है। इसलिए अहङ्कार के साथ सामानाधिकरण्य की 'सुखमस्वाप्सम्' ऐसी प्रतीति होती है। 'अहं सुखी' इस ज्ञान के समान आश्रयतया प्रतीति नहीं होती। क्योंकि स्मृति[3], संशय और विपर्यय साक्षि-चैतन्य के

ही है। इसीलिए अर्थाध्यास की अपेक्षा अतिरिक्त ज्ञानाध्यास का अंगीकार है। प्रश्न—शुक्ति-रजतज्ञान में यदि मनोवृत्ति काल्पनिक (आविधिक) है, तो उस वृत्ति से उत्पन्न होनेवाला संस्कार भी मन में काल्पनिक ही होगा, व्यावहारिक नहीं। फिर व्यावहारिक मन से उसका स्मरण कैसे होता है ? उत्तर—व्यावहारिक मन के तादात्म्य ही से काल्पनिक (आविधिक) मन का अध्यास होता है, इसलिए काल्पनिक मनोवृत्ति से जायमान संस्कार काल्पनिक मनोध्यास के अधिष्ठानभूत वास्तविक (व्यावहारिक) मन में ही उत्पन्न होता है। अतः व्यावहारिक मन से शुक्तिरजत का स्मरण हो सकता है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में मूल साक्षी में तादात्म्य से अध्यस्त अविद्याकल्पित साक्षी सुख और अज्ञान का अनुभव करता है, इसलिए उससे जायमान संस्कार मन के कारण अज्ञानविशिष्ट मूलसाक्षी में ही उत्पन्न होता है। इससे जाग्रदवस्था में कार्यभूत मनोविशिष्ट साक्षी से उसका स्मरण हो सकता है। जैसे सर्पभ्रम से किये हुए दण्डप्रहार से उत्पन्न हुई विशीर्णता रज्जु में ही होती है, वैसे ही यह समझना चाहिये। इस प्रकार शुक्तिरजतज्ञान की तरह स्मरण भी प्रमा नहीं है, इसलिए स्मरण मन का परिणाम नहीं है। किन्तु स्मरण के विषयभूत सब पदार्थ साक्षिभास्य ही होते हैं। जाग्रत्-काल के अनुभव से जायमान स्मरण भी मन का परिणाम नहीं है; क्योंकि प्रमात्वाभाव इसमें भी तुल्य ही है। इस प्रकार अहंकार स्मरण का आश्रय नहीं है, अतः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण में अहंभाव का स्मरण की आश्रयता से भी प्रवेश नहीं कहा जा सकता। यद्यपि साक्षीचैतन्य ही सर्वत्र स्मरण का आश्रय है, तथापि अध्यस्ताहङ्कार (जिस साक्षी में अहङ्कार का अध्यास है) ही साक्षिचैतन्य स्मरण का आश्रय होता है। इसलिए स्मरण और अहङ्कार इन दोनों का एक ही साक्षिचैतन्य में सामानाधिकरण्य (दोनों का एक ही आश्रय) है। अतः अहङ्कार की स्मरणाश्रयता से प्रतीति होती है। इस प्रकार अहङ्कार के वास्तव में स्मरण का आश्रय न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। यही 'मुखप्रतिबिम्बाश्रये' इस दृष्टान्त से उपपादन करते हैं। १. जैसे अध्यस्त लौहित्य और प्रतिबिम्ब इन दोनों का आश्रय दर्पण है, प्रतिबिम्ब लौहित्यका आश्रय नहीं है; तथापि लौहित्य और प्रतिबिम्ब का एक दर्पण में सामानाधिकरण्य है। अतः लौहित्य की आश्रयता से मुख की 'रक्तं मुखम्' ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँपर स्मरण और अहंकार दोनों का आश्रय एक साक्षिचैतन्य है, इसलिए स्मरण और अहङ्कार का एक साक्षिचैतन्य में सामानाधिकरण्य होने से स्मरण की आश्रयता से अहङ्कार की प्रतीति होती है। २. साक्षिचैतन्य सुषुप्ति में अनुभूत सुखादि का जाग्रत् में अहङ्काराश्रयत्वेन स्मरण करता है। ३. यथार्थानुभव को ही 'प्रमा' कहते हैं। स्मृति तो अनुभव ही नहीं है, इसलिए यथार्थ अथवा अयथार्थ कोई भी स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और विपर्यय अनुभव तो हैं, परन्तु यथार्थ नहीं हैं। इसलिए वे भी प्रमा नहीं हैं। अप्रमाज्ञान मनोवृत्तिरूप नहीं होता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाक्यादिजन्यपरोक्षविभ्रमोऽप्यविद्यावृत्तिरेवेत्यभ्युपगमो वेदान्तविदाम्। तत्रान्तःकरणवृत्ति-जनकसामग्रीसम्भवेऽपि प्रमात्वाभावावरोधेन अन्तःकरणस्यासामर्थ्यात्।

आश्रित हैं—ऐसा नियम है। और अहङ्कार प्रमाणजन्य ज्ञान का आश्रय है—ऐसा भी नियम है। अहङ्कारजन्य ज्ञान प्रमा है, अविद्याजन्य ज्ञान अप्रमा है। प्रमारूप ज्ञान ही अहङ्कारजन्य है। इस नियम से[1] अनाप्त वाक्य[2] आदि से उत्पन्न हुआ परोक्ष-भ्रम भी अविद्यावृत्ति[3] है (अप्रमा है), ऐसी वेदान्तियों की स्वीकृति

किन्तु अविद्यावृत्तिरूप होता है और उसका आश्रय साक्षी होता है। सारांश यह है कि ज्ञान वृत्तिरूप है, वृत्ति प्रमा और अप्रमा भेद से दो प्रकार की है। अन्तःकरणवृत्ति प्रमा है। अविद्यावृत्ति अप्रमा है। इस दशा में ज्ञान अहङ्कार का कार्य प्रमारूप से ही होता है और अविद्या का कार्य अप्रमारूप से। 'अविद्याकार्यता' यहाँ 'कार्यता' साक्षात् समझनी चाहिये, इससे प्रमाज्ञान के अन्तःकरण द्वारा अविद्या-कार्य होने पर भी साक्षात् उसमें अविद्याकार्यता नहीं है। १. प्रमारूप ज्ञान के अहङ्कार का कार्य होने से। २. अयथार्थ-वक्ता से उच्चरित जो शब्दभ्रमात्मक ज्ञान होता है, वह अविद्यारूप ही है ऐसा प्राचीन वेदान्तियों ने स्वीकार किया है। यद्यपि उस समय जाग्रत्-अवस्था में स्थित अन्तःकरण विषयाकार के सदृश आकार को ग्रहण करने योग्य है, तथापि विषय के आकार के सदृश आकार को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि वहाँपर प्रमात्व का अभाव प्रतिबन्धक है। इस प्रकार भ्रमात्मक समस्त ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं हैं, किन्तु अविद्या ही की साक्षात् वृत्ति है। इसी प्रकार संशय और स्मृतिरूप ज्ञान भी प्रमा न होने से भ्रमज्ञान की तरह अविद्यावृत्तिरूप ही हैं। ३. आशय यह है कि उक्त रीति से प्रत्यक्षभ्रम में विषय सत्य नहीं है, इसलिए विषय के साथ मन के सम्बन्ध का अभाव होने से भ्रम मनोवृत्तिरूप नहीं है। अनुमानादि-भ्रम में विषय के अस्तित्वाभाव से मन की वृत्ति नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों में सत् अनुमान में भी विषयप्रदेश में मन के गमन का अभाव होने से मनोवृत्ति के लिए विषयसम्बन्ध आवश्यक नहीं है। जिस कारण-सामग्री से अनुमानप्रमा में अपने स्थान में अवस्थित मन की अग्न्याकारा वृत्ति उत्पन्न होती है, वह कारण-सामग्री अनुमानभ्रम में भी है ही। इसलिए सदनुमान की तरह अनुमानभ्रम में भी मनोवृत्ति सम्भव हो सकती है, किन्तु प्रत्यक्ष-भ्रम में मनोवृत्ति की असम्भवता पहले कह चुके हैं। अतः भ्रम के साजात्य से अनुमानादिभ्रम में भी अविद्या-वृत्ति ही उचित है। अन्यथा मन और मन की वृत्ति के कार्य-कारणभाव में ज्ञानत्व को कार्यता का अवच्छेदकत्व होने पर प्रत्यक्ष-भ्रम का संग्रह हो जायगा। प्रमात्व को कार्यतावच्छेदक मानेंगे, तो अनुमानादि भ्रम का असंग्रह होगा। इसलिए कार्यतावच्छेदक का अननुगम दुर्वार है। अतः प्रमात्व को ही अहङ्कार (मन) का कार्यतावच्छेदक कहना चाहिये। इसलिए अनुमानादि-भ्रम में प्रमात्वाभाव से अवरुद्ध हुआ मन अपनी वृत्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रश्न—स्मृति अविद्यावृत्ति हो, परन्तु वह किस अविद्या की वृत्ति है ? मूलाविद्या की अथवा तूलाविद्या की ? उत्तर—स्मरण मूलाविद्या की ही वृत्ति है, क्योंकि तूलाविद्या का व्यवहारकाल ही में बाध देखा जाता है। 'नायं सर्पः' इस प्रत्यक्ष से व्यवहारकाल ही में उसका अविद्यात्व सिद्ध हो जाता है। यदि स्मरण तूलाविद्या का परिणाम होता, तो उसका बाध होना चाहिये था। पर व्यवहारकाल में उसके बाध का अनुभव नहीं होता, इसलिए स्मरण मूलाविद्या की ही वृत्ति है। प्रश्न—जैसे तूलाविद्या रज्जुस्वरूप का आश्रयण करके सर्पाकार होती है और रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य को आश्रय करके स्फुरणरूप से परिणत होती है, वैसे ही यह मूलाविद्या किसको आश्रय करके स्मृतिरूप में परिणत होती है, उसका आश्रय जीव है अथवा साक्षी ? प्रथम पक्ष में आत्माश्रय-दोष की आपत्ति है, क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य को ही 'जीव' कहते हैं। अन्तःकरण अविद्या का कार्य है और अविद्या के आश्रित है। वही अन्तःकरण जीवस्वरूप के अन्तर्गत होकर अपनी आश्रयभूता अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है ? क्योंकि कोई भी अपने कंधे पर स्वयं आरोहण नहीं कर सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण के प्रयोजक संस्कार साक्षी में नहीं हैं। संस्कार अन्तःकरण ही में उत्पन्न हुआ करते हैं, क्योंकि वे अनुभव से जन्य हैं। विषयाकार अन्तःकरण में चैतन्य के स्फुरण को 'अनुभव' कहते हैं। वह अनुभव अपने अधिकरण अन्तःकरण में ही संस्कारों को उत्पन्न कर सकता है, अन्यत्र नहीं। उत्तर—स्मरणरूप अविद्यावृत्ति का साक्षी ही आश्रय है। साक्षी में संस्कारों के न होने पर भी कोई क्षति नहीं; क्योंकि संस्कार स्मरण के निमित्तकारण हैं, उपादान-कारण नहीं। निमित्त-कारण का कार्य के साथ किसी प्रकार से सम्बन्ध आवश्यक है, आश्रयता से ही नहीं। संस्कारों का स्मरण के साथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। अनाप्तवाक्यादि-स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति को पैदा करनेवाली सामग्री यद्यपि वर्तमान है, तो भी प्रमात्व के अभावरूपी अवरोध से अन्तःकरण में असमर्थता हो जाती है। क्योंकि अन्तःकरण प्रमाज्ञान का ही आश्रय हुआ करता है।

स्वाश्रयोपहितचिदाश्रितत्वरूप सम्बन्ध है ही। यहाँ स्व-शब्द का अर्थ संस्कार है, उसका आश्रय अन्तःकरण, तदुपहित तत्सन्निहित केवल चैतन्य है। यही 'साक्षी' शब्द का वाच्य है, उसकी आश्रितता स्मृतिरूप अविद्यावृत्ति में है ही। प्रश्न—मिथ्याभूत शुक्तिरजतानुभव से जायमान संस्कार कहाँ उत्पन्न होते हैं ? उत्तर—तूलाविद्या का परिणाम जो रजत है, तादृशरजताकारा तूलाविद्या में उसी अविद्या से परिकल्पित जो चित्स्फुरण है, वह मिथ्यानुभव है। वास्तव में चित्स्फुरण इदमाकार अन्तःकरण में होता है। उसी चित्स्फुरण (मिथ्यानुभव) की रजत के आकार को धारण करने वाली अविद्या अपने में ही कल्पना कर लेती है। तज्जन्य संस्कार जो अविद्या में उत्पन्न हुए हैं, वे भी अन्तःकरण में पर्यवसन्न होते हैं, क्योंकि वहाँपर इदमाकार अन्तःकरण तादृशरजताकारा अविद्या का अधिष्ठान है। इस प्रकार प्रमाजन्य संस्कारों की तरह भ्रमजन्य भी संस्कार अन्तःकरणाश्रित होते हुए स्वाश्रयोपहितचिदाश्रितत्वरूप सम्बन्ध से साक्षी में स्मरणाकार अविद्यावृत्ति को उत्पन्न कर सकते हैं। किञ्च, यथार्थानुभवजन्य अन्तःकरण में उत्पद्यमान संस्कार अन्तःकरणोपादानकारणीभूत मूलाविद्या में उत्पन्न होते हुए अन्तःकरण में देखे जाते हैं। वैसे ही भ्रमस्थल में भी तूलाविद्या में उत्पद्यमान होते हुए संस्कार तूलाविद्या के उपादानकारणीभूत मूलाविद्या में उत्पन्न होते हुए ही तूलाविद्या में देखे जाते हैं। जैसे लाक्षा-सम्बन्ध से उत्पद्यमान पट की रक्तिमा पटोपादानकारण तन्तुओं में उत्पन्न होती हुई ही पट में देखी जाती है। अन्यथा पट के नाश के उत्तरकाल में तन्तुओं में रक्तिमा का उपलम्भ कैसे होता ? ऐसी दशा में भ्रम प्रमा दोनों प्रकार के अनुभवों से जन्य मूलाविद्या में उत्पद्यमान संस्कार उसी अविद्या की तत्तद्विषयाकार स्मरणरूप वृत्ति को उत्पन्न कर सकते हैं, यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। अन्यथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के वृत्ति-शून्य होने पर अन्तःकरण में रहनेवाले संस्कार उस समय गजाश्वाकार अविद्यावृत्ति में कैसे उपयुक्त हो सकते हैं ? स्वप्नकालीन गजाश्वादि-ज्ञान-जन्य संस्कार वृत्ति-शून्य अन्तःकरण में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? और किस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण के लीन होने पर कारणरूप से स्थित अन्तःकरण में सुषुप्तिकालीन सुखादिज्ञानजन्य संस्कार उत्पन्न हो सकते हैं ? संशयात्मक ज्ञान अविद्या की वृत्ति है। स्थाणु में स्थाणु-पुरुषात्मक कोटिद्वय का संशय होने पर वास्तव में वहाँ पुरुष नहीं है, इसलिए पुरुषाकार मनोवृत्ति नहीं हो सकती। दूरत्वादि दोष से उत्थापित तूलाविद्या (स्थाणु का ज्ञान) तो अपने से कल्पित पुरुष के आकार को जैसे ग्रहण कर सकती है, वैसे ही अपने से अकल्पित वहाँ विद्यमान स्थाणु के आकार को भी ग्रहण कर सकती है, क्योंकि कोई बाधक नहीं है। शुक्तिरजतादि भ्रमात्मक प्रत्यक्षज्ञान तूलाविद्या (शुक्ति का अज्ञान) की साक्षात् वृत्ति है, यह कहा ही है। इसी प्रकार भ्रमात्मक परोक्षज्ञान भी तूलाविद्या की ही वृत्ति है, जैसे धूलि-कदम्ब में धूमभ्रम से जायमान अग्निरहित देश में अग्नि का ज्ञान, गोसादृश्यभ्रम से जायमान गवयभिन्न प्राणी में 'अयं गवयः' यह ज्ञान है, 'कृपण' शब्द के उच्चारण होने पर भी कृपाण-शब्द के भ्रम से जायमान खड्गज्ञान होता है, क्योंकि प्रातिभासिक रजत की तरह उक्त उदाहरणों में भी तत्तत् स्थल में अविद्यमान अग्नि, गवय और खड्ग के आकार को मन नहीं ग्रहण कर सकता। यद्यपि प्रमात्मक परोक्षज्ञान में विषयदेश में प्राप्त होने के बिना ही मन विषयाकार को ग्रहण कर लेता है, इसलिए विषय की सत्ता और असत्ता से विषयाकार-ग्रहण में कोई विशेष नहीं है; तथापि प्रमात्मक परोक्षज्ञानस्थल में देश अथवा काल से दूर विषय की स्थिति अवश्य है, इसलिए उस विषय का आकार ग्रहण करने के लिए मन समर्थ हो सकता है, क्योंकि वहाँ पर विषयाकार ग्रहण करने के लिए मन को प्रमाण की सहायता है। प्रमाण यथार्थव्याप्यज्ञान, सादृश्यज्ञान और शब्दज्ञान है ही। परोक्षभ्रम में यथार्थ प्रमाण नहीं है, इसलिए वहाँ पर मनोवृत्ति विषयाकार नहीं हो सकती। किन्तु अविद्या की ही वृत्ति होती है—यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर कोई ग्रन्थकार कहते हैं कि 'असुर, अधर्म, अज्ञान, अविद्या' आदि शब्दों में 'न' विरोधार्थक है। इसीलिए सुरविरोधीरूप किसी भावपदार्थ को 'असुर' शब्द कहता है, सुरत्वाभावमात्र से मनुष्य, पशु आदि सभी सुरभिन्नों का बोध नहीं कराता। इसी प्रकार अधर्मादि शब्दों में। वैसे ही अप्रमा-शब्द प्रमात्वाभावमात्र से प्रमाभिन्न सब ज्ञानों का बोध नहीं कराता, किन्तु प्रमाविरोधी कतिपय ज्ञानों का ही बोध कराता है। 'सिंहोऽयं माणवकः' (यह बालक सिंह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामादिषु[1] ब्रह्माध्यासस्त्विच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणा मनोवृत्तिरेव कामादिवत्। तदुक्तम्[2]—'अत एव चोदनाजन्यत्वान्मानसी क्रियैवैषा न ज्ञानम्' इति।

एतेन तर्कस्यापि मनोवृत्तित्वं व्याख्यातम्। व्याप्यारोपेण[3] व्यापकप्रसञ्जनात्मकस्य

नामादि में जो ब्रह्माध्यास है, वह तो इच्छाधीन है, अतः वह कामादि के समान भ्रम और प्रमा से विलक्षण मनोवृत्तिरूप ही है। कहा भी है—'चोदनाजन्य होने से यह मानसिक क्रिया ही है, ज्ञान नहीं है।'

है), 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः' (यह ब्राह्मण सूर्य है) इत्यादि आहार्यारोपस्थलीय ज्ञान प्रमाभिन्न होता हुआ भी 'अप्रमा'-शब्द से नहीं कहा जाता। यह ज्ञान प्रमा नहीं है, क्योंकि बालक में सिंहत्व का और ब्राह्मण में सूर्यत्व का वास्तव में अभाव है। भ्रम भी नहीं है, क्योंकि सिंहत्व के विरोधी अधिष्ठानगत बालकत्व का ज्ञान है। इसलिए यह ज्ञान भ्रम, प्रमा से विलक्षण ही है। नाम में ब्रह्मारोपस्थल में भी ऐसा ही समझना चाहिये। तर्क भी ऐसा ही है। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप ही तर्क है जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होने पर यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता इत्यादि रूप। यहाँ पर अग्नि का ज्ञान अनावृत है, इसलिए भ्रम नहीं। और प्रमा भी नहीं है, क्योंकि वहाँ अग्नि का अभाव नहीं है। ऐसा भ्रम-प्रमाविलक्षण ज्ञान प्रमाज्ञान की तरह मन की ही वृत्ति है। अविद्या की साक्षात् वृत्ति नहीं है, क्योंकि जैसे प्रातिभासिक रजतादि ज्ञानस्थल में इन्द्रियदोषादि अविद्याविशेष के उत्थापक होते हैं, वैसा यहाँ कोई दोष है नहीं। जैसे मृत्तिका का घट और शराव के प्रति स्वातन्त्र्येण कारणत्व है, वैसे ही प्रमाज्ञान और भ्रम-प्रमाविलक्षण उक्त ज्ञान के प्रति मन में स्वातन्त्र्येण कार्यत्व-कारणत्व दोनों हैं। स्मरणात्मक ज्ञान तो प्रमा का विरोधी नहीं, किन्तु आहार्य आरोप की तरह भ्रमप्रमा से विलक्षण मनोवृत्ति को ही 'स्मृति' कहना चाहिये। किंतु यह उनका कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अप्रमाशब्द में 'नञ्' विरोधार्थक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। किञ्च, स्मृति संस्कारजन्या होती है और संस्कार मनोवृत्ति को उत्पन्न नहीं करा सकता, क्योंकि यह सामर्थ्य प्रमाणों में ही है। संस्कार में तादृश सामर्थ्य का अंगीकार करोगे तो अयथार्थ स्मृतिस्थल में भी मनोवृत्ति की कल्पना करनी पड़ेगी और प्रत्यक्ष भ्रमादि दोषों में भी तादृश सामर्थ्य की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिए प्रमा का विरोधी न होने पर भी स्मृति प्रमाणजन्य नहीं है, इसलिए वह प्रमा नहीं है, वहाँ पर मनोवृत्तिग्राहक प्रमाण का अभाव होने से स्मृति अविद्या की ही वृत्ति है। प्रश्न—स्मृति की तरह आहार्यारोपस्थलीय ज्ञान में भी प्रमात्व का अभाव होने से मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिये ? उत्तर—आहार्यारोप ज्ञान ही नहीं, क्योंकि ज्ञान वही हुआ करता है, जिसकी न विधि हो सके न निषेध, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्षादि साधन-सामग्री के अभाव में विधि होने पर भी ज्ञान नहीं हो सकता और सामग्री के सद्भाव में निषेध भी ज्ञान को रोक नहीं सकता। आहार्यारोप तो करने, न करने एवं विपरीत करने के योग्य है। इसलिए आहार्यारोप मानसी क्रिया ही है, वह ज्ञानरूप मनोवृत्ति नहीं। किन्तु काम-सुखादि की तरह संकल्पविशेषात्मक ज्ञान से अतिरिक्त मनोवृत्ति ही है। स्मृति तो संस्कार का उद्बोध न होने पर सैकड़ों विधियों के होने पर भी नहीं हो सकती और संस्कार का उद्बोध होने पर तो सौ निषेध होने पर भी रुक नहीं सकती, इसलिए स्मृति ज्ञानरूप ही है। इस प्रकार प्रमात्व का आभास होने से और मनोवृत्ति-ग्राहक प्रमाण के अभाव से स्मृति अविद्यावृत्ति ही है, यह सिद्ध हुआ। यह सब अभिप्राय लेकर कहते हैं—'नामादिष्विति' से।

१. अभिप्राय यह है कि 'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७। १। ५) इस श्रुति में ब्रह्मभावना से नाम की उपासना का प्रतिपादन है। वहाँ पर बालक में सिंहाध्यास की तरह नाम में ब्रह्म का अध्यास न भ्रम है, न प्रमा; किन्तु कामादि की तरह स्वतन्त्र मनोवृत्ति है। २. श्रीमच्छङ्कराचार्यजी का शारीरक भाष्य (ब्र० सू० भा० १। १। ४) में यह कथन है। 'चोदनाजन्यत्वात्' का अर्थ 'विध्यधीनेच्छाजन्यप्रयत्नसाध्यत्वात्' है। पंचपादिका पृ. ११५ भी द्रष्टव्य है। ३. यदि अग्नि न होती, तो धूम भी न होता, यह तर्क का आकार है। यहाँ पर धूमाभाव के व्याप्य अग्न्यभाव का पर्वत में आरोप है। वास्तव में वहाँ अग्नि का अभाव है ही नहीं। अग्नि के अभाव का आरोप करके उसके व्यापक धूमाभाव का आरोप भी धूम की सत्ता में ही किया जाता है। इसलिए यह तर्क विचाररूप स्वतन्त्र मनोवृत्ति है, विषयाकार अन्तःकरण का परिणामरूप ज्ञान नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तर्कस्येच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणत्वादिति। अत एव मनननिदिध्यासनसहिते श्रवणाख्ये वेदान्तवाक्यविचारे 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिविधिरुपपद्यते।

अन्वयव्यतिरेकचतुष्टयम्

तस्य चतुर्विधान्वयव्यतिरेकादितर्करूपत्वात्। दृग्दृश्यान्वयव्यतिरेकः, साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकः, आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकः, दुःखिपरमप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेक

भ्रम एवं प्रमा के विलक्षण होने के कारण तर्क भी मनोवृत्तिरूप ही है, क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोपरूप तर्क भी इच्छा के अधीन होने के कारण भ्रम तथा प्रमा से विलक्षण ही है। इसलिए[1] मनन-निदिध्यासनसहित श्रवणरूप वेदान्त-विचार में ब्रह्म श्रोतव्य है, मन्तव्य है और ध्येय है, इत्यादि विधि उपपन्न होती है। मनन-निदिध्यासन-सहित श्रवणरूप वेदान्त-विचार चार प्रकार का[2] अन्वयव्यतिरेक आदि

---

१. ज्ञानविलक्षण स्वतन्त्र मनोवृत्तिविशेष तर्क है, ऐसा अङ्गीकार करने से—यह अर्थ है। ज्ञान की न विधि हो सकती है, न निषेध; क्योंकि वह इच्छा के अधीन नहीं और सामग्री होने पर उसे कोई रोक भी नहीं सकता। तर्क की तो विधि हो सकती है, क्योंकि वह ज्ञान से विलक्षण है। 'श्रोतव्यः' इस श्रुति में तर्कविशेष का ही विधान है, क्योंकि 'शब्द सुना है' ऐसी प्रतीति से सिद्ध श्रोत्रेन्द्रियजन्य श्रावणप्रत्यक्षरूप श्रवण विधेय नहीं है, किन्तु तर्करूप है। मनन और निदिध्यासन भी तर्करूप ही हैं। उनमें से आत्मा की एकता की सम्भावना का उपपादक तर्क श्रवण है। इस श्रवण से असम्भावना और विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। आत्मा की एकता के निश्चय का उपपादक तर्क मनन है। इस मनन से संशय निवृत्त होता है। आत्मा की एकता के प्रत्यक्ष का उपपादक तर्क निदिध्यासन है, इससे आत्मा की एकता के साक्षात्कार का निश्चय हो जाता है। यह बात संक्षेपशारीरक १.४८१ आदि में भी प्रतिपादित है। २. दृक् और दृश्य, अन्वय और व्यतिरेक। दृक् और दृश्य के अन्वय और व्यतिरेक जिसमें हों, ऐसा विग्रह है। इसी प्रकार साक्षी और साक्ष्य इत्यादि में भी है। भाव यह है कि अन्वय और व्यतिरेक तर्क में बहुत उपकारक होते हैं, क्योंकि उनसे कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। अनुमान के उपजीव्य व्याप्ति का निश्चय भी अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। और अन्वय-व्यतिरेक ही साहित्यशास्त्र में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के विभाग को सिद्ध करते हैं—यह काव्यप्रकाश के नवम, दशम उल्लास के अन्त में कहा है। एकता और भेद का ज्ञान भी अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। अन्वय नाम सम्बन्ध का है, व्यतिरेक नाम अभाव का। दो पदार्थों का सम्बन्ध तो भेद से होता है। एक ही पदार्थ का अपने ही अवस्थाविशेषविशिष्ट के साथ सम्बन्ध तादात्म्य से होता है। सम्बन्ध नियत हो, तो वह तर्क का उपजीव्य होता है। अनियत सम्बन्ध अकिञ्चित्कर है। जैसे—राजगृह में गौ की सत्ता होने पर अश्व की भी सत्ता होती है। दरिद्र के गृह में गौ का अभाव होने पर अश्व का भी अभाव होता है। परन्तु मध्यम अवस्थावाले गृहस्थ के गृह में गौ का अभाव होने पर भी अश्व का दर्शन और अश्व का अभाव होने पर भी गौ का दर्शन होता है। इसलिए गौ और अश्व का सम्बन्ध नियत नहीं है। उससे गौ और अश्व के कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं हो सकता। नियत सम्बन्ध कार्यकारी होता है। जैसे अग्नि की सत्ता में धूम की सत्ता और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव; अथवा जैसे दण्ड की सत्ता में घट की सत्ता और दण्ड के अभाव में घट का अभाव। यहाँ पर धूमोत्पत्तिकालिक अग्नि और धूम का जो सम्बंध है, वह नियत है। घट के उत्पत्तिकाल में दण्ड और घट का सम्बन्ध नियत है। अग्नि की सत्ता होने पर धूम की सत्ता होती ही है, इस प्रकार कारण-अंश में सम्बन्ध का नियम नहीं है, क्योंकि अयोगोलक में व्यभिचार देखा जाता है। व्यतिरेक में भी अग्न्यभाव के होने पर धूमाभाव होता ही है, इस प्रकार कार्याभावांश में नियम है, न कि धूमाभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर ही अग्न्यभाव होता है, इस प्रकार कारणाभाव-अंश में, क्योंकि अयोगोलक में ही व्यभिचार है। कारण-अंश में सम्बद्ध एवकार से बोधित नियम से कार्य का ही इस प्रकार नियम हुआ करता है कि 'धूम अमुक स्थल में ही है', क्योंकि जिसके साथ एवकार का सम्बन्ध हो, उससे अन्य पदार्थ में नियम होता है, यह न्याय है। इस प्रकार 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्' इस अन्वय का 'यत्सत्त्वे एव यत्सत्त्वम्' इस नियम में तात्पर्य है, वैसे ही 'यदभावे यदभावः' इस व्यतिरेक का 'यदभावे यदभाव एव' इस नियम में तात्पर्य समझना चाहिये। इन अन्वय-व्यतिरेकों से धूम और अग्नि के कार्य-कारण-भाव का निश्चय होता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती, इस अर्थ को बालक भी जानते हैं। इस प्रकार कार्य-कारणभाव का निश्चय होने पर उनके ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव का भी निश्चय हो जाता है। धूम की सत्ता होने पर अग्नि की सत्ता होती है, यह अन्वय है। धूम की सत्ता होने पर ही अग्नि की सत्ता होती ही है, इस ज्ञाप्य-अंश में अवधारण है। धूमाभाव के होने पर ही अग्न्यभाव होता है, यह व्यतिरेक है और यहाँ धूमाभाव के होने पर ही अग्न्यभाव होता है, इस प्रकार ज्ञापकाभाव-अंश में अवधारण होता है। दोनों स्थानों में अवधारण का विपर्यय होने पर अयोगोलक में व्यभिचार है। इन अन्वय-व्यतिरकों से अग्नि और धूम के ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव का निश्चय होता है, क्योंकि ज्ञाप्य के बिना ज्ञापक के स्वरूप की ही सिद्धि नहीं होती। इस अर्थ को बालक भी जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का विभाग भी जाना जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर भी 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्', 'यदभावे यदभावः' इस प्रकार उक्तरूप अन्वयं-व्यतिरेक से ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का निश्चय होता है। अब अवस्था-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक वस्तु की एकता के साधक होते हैं, यह कहा जाता है। उसमें दो कल्प हैं—कहीं पर दोनों की परस्पर के तादात्म्य से प्रतीति और कहीं पर दोनों में से एक की अन्य के तादात्म्य से प्रतीति और अपर की तादात्म्य से अप्रतीति। 'तादात्म्य से प्रतीति' इसका 'भेद से प्रतीति नहीं' यह अर्थ है। प्रथम कल्प का उदाहरण जाति-व्यक्ति है। घटत्व-जाति घट-व्यक्ति से पृथक् नहीं दिखायी जा सकती और घट-व्यक्ति भी घटत्व-जाति से पृथक नहीं दिखायी जा सकती। यहाँ पर जाति और व्यक्ति की एकता ही है, उन दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। द्वितीय कल्प का उदाहरण है—सुवर्ण और अंगुलीयक। यहाँ पर अंगुलीयक सुवर्ण से पृथक् नहीं दिखाया जा सकता। सुवर्ण तो अङ्गुलीयक-अवस्था से पृथक् दिखाया जा सकता है, इसलिए यहाँ पर सुवर्ण से अङ्गुलीयक का पृथक् अस्तित्व नहीं है। सुवर्ण का तो पृथक् अस्तित्व है ही। सुवर्ण के ही अस्तित्व से अङ्गुलीयक में अस्तित्व की प्रतीति होती है। यहाँ पर सुवर्ण का अङ्गुलीयक में अन्वय और अङ्गुलीयक का सुवर्ण में व्यतिरेक है। मृद्घटादि विषय में भी इसी प्रकार मृदादिकों के अस्तित्व से घटादि के पृथक् अस्तित्व का निवारण करना चाहिये। एतादृश तर्क मानसक्रियारूप है, इसलिए इच्छा के अधीन होने से करने, न करने और विपरीत करने योग्य है। इसलिए 'श्रोतव्यः' इस श्रुति में तर्करूप श्रवण का विधान है, श्रावण ज्ञानमात्र का विधान नहीं, क्योंकि पूर्वकथित रीति से ज्ञान विधेय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २। ४। ५) इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० १। १) इस श्रुति में जो आत्मा की एकता कही है, उसीका 'द्रष्टव्य' इस पद से साक्षात्कार कहा जाता है, क्योंकि आत्म-शब्द की प्रत्यभिज्ञा है। और साक्षात्कार की विधि नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय-प्रकाशादि साधन-सम्पत्ति की सत्ता में विधि न होने पर भी साक्षात्कार हो जाता है और साधन-सम्पत्ति के अभाव में विधि होने पर भी साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिए साक्षात्कार-विधि का साक्षात्कार के साधन में पर्यवसान है। कहा भी है—

'विधेयत्वेन निर्दिष्टे विधिः स्यात् कुण्ठितो यदि। प्रयोक्तृतात्पर्यवशात् साधने पर्यवस्यति।।'

अर्थात् 'विधेय में यदि विधि कुण्ठित हो जाये, तो प्रयोक्ता के तात्पर्य के वश से विधि का उसके साधन में पर्यवसान होता है।' जैसे 'घटं पश्येत्' (घट को देखे) ऐसा कहने पर विधि का पर्यवसान चक्षुःसन्निकर्ष में होता है। प्रश्न—इस दशा में भी यहाँ पर विधि की अनुपपत्ति ही है, क्योंकि आत्मा की एकता के साक्षात्कार का कोई साधन नहीं। यदि कोई साधन हो, तो साध्य-साधनभेद के विद्यमान होने से आत्मा की एकता का साक्षात्कार ही नहीं हो सकता, क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वही आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है, जिसमें साक्षात्कर्त्ता, साक्षात्कारविषय, साक्षात्कार और तत्साधन इस प्रकार का कोई भेद प्रतीत न होता हो। उत्तर—आत्मा के साक्षात्कार का कोई साधन नहीं है, यह सत्य है। प्रतिबन्ध के निवारक में यहाँ साधनत्व का उपचार है। जैसे निघर्षण से दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। यहाँ पर निघर्षण प्रतिबिम्बका साधन है, क्योंकि यद्यपि दर्पण स्वभाव से ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, तो भी उसके प्रतिबन्धकरूप मल को दूर करने में निघर्षण का उपयोग है। 'आत्मा द्रष्टव्यः' यहाँ पर आत्मा से भिन्नत्वेन ज्ञायमान पदार्थ में जायमान प्रवृत्ति को दूर करना चाहिये—इसमें तात्पर्य है। विषयों में आसक्ति ही आत्मा की एकता के साक्षात्कार की प्रतिबन्धिका है। यही 'शारीरक' के 'समन्वयाधिकरण' के भाष्य में श्रीमदाचार्य शङ्कर ने कहा है—'किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वाक्यानि ? स्वाभाविकप्रवृत्ति-विषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः' इति। यद्यपि इस प्रकार विषयदोषदर्शन से विषयासक्ति की निवृत्ति होने पर उदासीनता हो सकती है, तथापि उदासीनतामात्र से आत्मैक्यसाक्षात्कार नहीं होता, उसके लिए क्या करना चाहिये ? इसपर श्रुति कहती है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति। यहाँ पर श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन मानसक्रियारूप हैं। इसलिए इनका विधान हो सकता है। प्रश्न—श्रवण की विधि कैसे ? वह तो श्रावणप्रत्यक्षरूप ज्ञान ही है, मानसी क्रिया नहीं। इसका उत्तर कोई ऐसा करते हैं—श्रवण में विधि अनुपपन्न होती हुई श्रवण के साधन गुरूपसदनादि में पर्यवसन्न होती है। वास्तव में 'श्रोतव्यः' इसका श्रावणप्रत्यक्षमात्र में तात्पर्य नहीं, क्योंकि श्रवणेन्द्रियमात्रसाध्य श्रवण तो पशु-पक्ष्यादिसाधारण हैं। इसलिए 'श्रोतव्यः' इस श्रुति का अर्थभावना में भी तात्पर्य है। अर्थभावना मानसी क्रिया है, ज्ञानरूप नहीं। वह तर्कविशेषरूप है, यह पहले कह चुके हैं। साधक-बाधक युक्तियों के अनुसन्धानपूर्वक चिन्तन को 'मनन' कहते हैं। यदि वह चिन्तन अनवरत किया जाय, तो उसे 'निदिध्यासन' कहते हैं। ये श्रवण, मनन आदि तीनों तर्कविशेषरूप ही हैं, यह पहले कहा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' (बृ० २। ४। ५), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों का अर्थ जिस समय गुरु लोग कहें, उस समय आत्मा की एकता की भावना करनी चाहिए। प्रश्न—आत्मा की एकता कैसे हो सकती है, क्योंकि उसकी एकता का कभी अनुभव भी नहीं हुआ, भावना तो दूर रही। प्रत्युत अनुभव के अनुसार आत्मा की एकता के विरुद्ध आत्मभेद की ही सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशा में आत्मा की एकता की भावना कैसे ? उत्तर—उक्त असम्भावना और विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए श्रुति ने कृपापूर्वक 'श्रोतव्यः' कहा है। उसके अनन्तर संशय की निवृत्ति के लिए 'मन्तव्यः' और आत्मसाक्षात्कार के निश्चय के लिए 'निदिध्यासितव्यः' कहा है। आत्मा की एकता के निश्चय के उपपादक तर्कविशेष को मनन कहते हैं और आत्मा की एकता के साक्षात्कार के उपपादक तर्कविशेष को निदिध्यासन कहते हैं। वह तर्क दृग्दृश्यान्वय-व्यतिरेकादिरूप है। जैसे घट में मृत्तिका का अन्वय नियत है, मृत्तिका में घट का अन्वय नियत नहीं, क्योंकि मृत्तिका कभी भी घट से व्यभिचरित नहीं होती, घट तो मृत्तिका का व्यभिचारी है, इसलिए मृत्तिका अन्वयिनी और घट व्यतिरेकी है। इन अन्वय-व्यतिरेकों से जैसे मृत्तिका की अपेक्षा घट का पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही दृशि की अपेक्षा दृश्य का पृथक् अस्तित्व नहीं है, क्योंकि दृश्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए दृश्य में दृशि का सम्बन्ध नियत है। दृशि में तो दृश्य का सम्बन्ध नियत नहीं है, क्योंकि दृशि स्वरूप से ही दृक्रूप है। दृश्य घट-पटादि तो स्वरूप से पृथिव्यादि विशेषरूप पार्थिव घट-पटादिरूप ही हैं। वे स्वरूप से दृश्य नहीं हैं, दृशि के सम्बन्ध से दृश्यता को प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में दृश्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए दृश्यों का दृशि की अपेक्षा पृथक् अस्तित्व नहीं है, अर्थात् दृश्यत्व मिथ्या है। प्रश्न—घटादिगत दृश्यत्व के मिथ्या होने पर भी स्वरूप से घटादि सत्य हैं। ऐसी दशा में आत्मा की एकता की सिद्धि कैसे हो सकती है ? उत्तर—घटादि के सत्य होने पर भी आत्मा की एकता के साक्षात्कार में कोई बाधक नहीं है। घटादि के सत्य होने पर भी एकता के साक्षात्कार के विरोधी दृश्यत्व के मिथ्या होने से द्वैत की प्रतीति नहीं हो सकती। द्वैत-प्रतीति ही एकता के साक्षात्कार की विरोधिनी है, क्योंकि घटादि पदार्थ आत्मा की एकता के विरोधी हैं, आत्मा की एकता के साक्षात्कार के विरोधी नहीं। तादृश साक्षात्कार का विरोधी तो उनका दृश्यत्व अथवा साक्ष्यत्व है। दृश्यत्व और साक्ष्यत्वरूप से जब द्वितीय वस्तु नहीं है, तब आत्मा की एकता के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षात्कार में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वास्तव में तो घटादि पदार्थ स्वरूप से भी मिथ्या ही हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेकानुगत तर्क से घटादि मिथ्या सिद्ध होते हैं। दृश्यत्व की तरह तुल्यन्याय से द्रष्टा का द्रष्टृत्व भी मिथ्या ही है। इस प्रकार अन्वयी साक्षी से साक्ष्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए साक्ष्य का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् साक्ष्यत्व मिथ्या है, साक्षी तो सत्य है। वह द्रष्टा नहीं, किन्तु दृक्रूप है। इसीलिए उसका साक्ष्य में नियत अन्वय है। इसी प्रकार आगमापायी (उत्पत्तिविनाशशाली) घटादि में उनकी अवधिभूत मृत्तिका का अन्वय नियत है, मृत्तिका में तो घट का अन्वय व्यभिचारी है। इसलिए मृत्तिका में घट का व्यतिरेक है। ऐसी दशा में आगमापायी घट का उसकी अवधिभूता मृत्तिका के अस्तित्व की अपेक्षा पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् आगमापायी मृत्तिका का अवस्था-विशेषरूप यह घट नामवाला पदार्थ मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। अवस्था-विशेष के मिथ्या होने पर उसका सहभावी 'घट' यह नाम भी मिथ्या सिद्ध होता है। इस प्रकार नाम-रूपात्मक सकल जगत् के मिथ्या होने पर आत्मा की एकता की सिद्धि में कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार आत्मभिन्न सकल जड-जगत् का मिथ्यात्व और आत्मा की एकता का सत्यत्व तर्क से सिद्ध हो गया। प्रश्न—एक भी आत्मा यदि स्वरूप और अवस्थाविशेषवत्त्व से सत्य है, तो दुःखित्व-अवस्थाविशिष्ट भी आत्मा सत्य होगा। ऐसी दशा में मोक्ष में दुःख की निवृत्ति कैसे ? इसलिए आत्मसाक्षात्कार होने पर भी मोक्ष दुर्घट ही है। उत्तर—आत्मा स्वरूप से ही सत्य है, अवस्थाविशेषवत्त्व से तो आत्मा भी मिथ्या ही है। यह दुःखित्व और परमप्रेमास्पदत्व के अन्वय-व्यतिरेक से सहकृत तर्क द्वारा सिद्ध होता है। जब-जब आत्मा की दुःखित्वावस्था होती है, तब-तब नियम से आत्मा परमप्रेमास्पद होता ही है। और परमप्रेमास्पदत्व का अनुसन्धान करने पर दुःख का दुःखत्व ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप परमप्रेमास्पद का सब अवस्थाओं में आत्मा में नियम से अन्वय है। दुःखित्व-अवस्था तो आत्मा के स्वरूप की व्यभिचारिणी है, क्योंकि दुःखित्वावस्था सदा नहीं रहती। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा दुःखी है, क्योंकि आत्मभिन्न किसी पदार्थ में दुःख सम्भव नहीं है। परन्तु दुःखी होता हुआ भी आत्मा परमप्रेमास्पद ही है। 'पञ्चदशी' में कहा है—

'तत्प्रेमाऽऽत्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि। अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः।।१।।' (१। ८)

क्योंकि जो पुरुष जिस समय अपने आत्मा में दुःखित्व का अनुसन्धान करता है, उसी समय उसे आत्मा में परमप्रेमास्पदत्व का भी अनुसन्धान होता ही है। मूर्छावस्था में आत्मा के परमप्रेमास्पदत्व का अनुसन्धान नहीं है, परन्तु वहाँ पर दुःखित्व का भी अनुसन्धान नहीं है। आत्मा स्वरूप से ही परमप्रेमास्पद है, किसी धर्मान्तर से नहीं। ऐसी दशा में परमप्रेमास्पदत्व आत्मा का स्वरूप ही है। दुःखित्व-अवस्था में भी उसका अन्वय रहता है, इसलिए परमप्रेमास्पदत्व सत्य है और दुःखित्वावस्था मिथ्या है—यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार सुखित्व-अवस्था भी मिथ्या ही है। किंतु मुमुक्षु को स्वरूप से वह त्याज्य नहीं है, प्रत्युत दुःख के सम्बन्ध से त्याज्य होती है। इसलिए सुखित्व-अवस्था के मिथ्या होने पर भी उसका यहाँ पर निर्देश नहीं किया। मुख्यतया त्याज्य दुःख है और वह मिथ्या है, इसलिए उसका त्याग भी सुकर है। अतएव दुःखित्वावस्था का यहाँ प्रदर्शन किया है। उक्त चतुर्विध तर्कों और इसी प्रकार के अन्य सब तर्कों का मूलभूत सर्वोपजीव्य अनुवृत्त-व्यावृत्तान्वय-व्यतिरेकरूप तर्क है। दृश्य में दृशि अनुवृत्त है। दृशि में तो दृश्य व्यावृत्त है। साक्षी साक्ष्य में अनुवृत्त है, किंतु साक्ष्य साक्षी से व्यावृत्त है। आगमापायी में उसकी अवधि की अनुवृत्ति है और अवधि में आगमापायी की व्यावृत्ति है। दुःखी में परमप्रेमास्पद का सम्बन्ध है, लेकिन परमप्रेमास्पदस्वरूप में दुःखित्व का अभाव है। अब और दूसरी योजना कहते हैं—दृक् और दृश्य का क्रम से अन्वय और व्यतिरेक में सम्बन्ध है, अर्थात दृशि का अन्वय में और दृश्य का व्यतिरेक में सम्बन्ध है। 'अन्वय' शब्द का अर्थ सम्बन्ध और 'व्यतिरेक' शब्द का अर्थ अभाव है। इसी प्रकार साक्षी-साक्ष्यादि में क्रम से अन्वय समझना चाहिये। इस तर्क-चतुष्टय से मूल कारण में भावरूपत्व, चिद्रूपत्व, नित्यत्व और आनन्दरूपत्व सिद्ध होता है। दृशि का सब पदार्थों से सम्बन्ध है। इसलिए दृशि भावरूप है। दृश्य पदार्थ आदि और अन्त में अभावग्रस्त होने से मध्य में भी अभावरूप ही हैं। इससे शून्यवाद का निरास हो गया। तथाहि—कारण ही विशेष-अवस्था को पाकर कार्य बनता है। उन-उन अवस्था-विशेषों में कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति; समन्वयाऽध्यायाऽविरोधाध्याय-साधनाध्यायफलाध्यायाः।[1] अनुवृत्तव्यावृत्तान्वय-व्यतिरेकोऽपि पञ्चमः। एतच्च सर्वेषां वेदान्तानुकूलतर्काणां चतुर्लक्षणमीमांसाप्रतिपादितानामुपलक्षणमित्यभियुक्ताः। विस्तरस्तु वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः।

तर्करूप ही है। (१) दृग् और दृश्य का अन्वय-व्यतिरेक। (२) साक्षी और साक्ष्य का अन्वय-व्यतिरेक। (३) आगमापायी (घटादि) और उसके अवधिरूप (मृत्तिका आदि) का अन्वय-व्यतिरेक। (४) दुःखी और परम प्रेमास्पद का अन्वय-व्यतिरेक। ये क्रमशः शारीरकमीमांसा के चारों अध्यायों से निर्दिष्ट विचार हैं। इनसे अतिरिक्त (५) अनुवृत्त और व्यावृत्तों का भी अन्वय-व्यतिरेक पाँचवाँ है। चतुर्लक्षणमीमांसा[2] में प्रतिपादित सभी वेदान्त के अनुकूल तर्कों का यह उपलक्षण है। इसका विस्तार 'वेदान्तकल्पलतिका' (पृ. १७१ आदि) में देखना चाहिये।

का स्वरूप से सम्बन्ध है। जैसे प्रातिभासिक रजत शुक्ति का ही अविद्याकृत अवस्थाविशेष है, वैसे ही सकल दृश्य पदार्थ दृशि के ही अविद्याकृत अवस्थाविशेष हैं। अतः दृक्रूप भाव-पदार्थ की कारणता सिद्ध होती है। इसलिए अर्थात् ही शून्यवाद का निरास हो गया। इसी प्रकार सकल साक्ष्य पदार्थ साक्षी के अवस्थाविशेष ही हैं। इसलिए मूल कारण साक्षीरूप सिद्ध होता है। साक्षी चैतन्यमात्रस्वरूप है, इससे प्रधान-परमाण्वादि जडकारण-वादों का निरास हो गया। इसी प्रकार सकल अनित्य पदार्थ नित्य के अवस्थाविशेष हैं, इसलिए मूलकारण के नित्य सिद्ध होने पर क्षणिकवाद का निरास हो गया। इसी प्रकार दुःखित्व सकलपरमप्रेमास्पद का अवस्था-विशेष है, इसलिए मूलकारण आनन्दमय है—यह सिद्ध होता है। इससे आत्मा के सुख-दुःख स्वाभाविक हैं, इस स्वभाववाद का निरास हो गया। १. 'समन्वया....ध्यायाः' इति वाक्यांशः केषुचिन्नापि दृश्यते। २. यहाँ 'लक्षण' शब्द अध्यायवाचक है। चतुर्लक्षणी = चतुरध्यायी। उक्त चतुर्विध तर्कों तथा तन्मूलक अन्य तर्कों का भी अवलम्बन करके श्रीमद्बादरायणाचार्य ने अध्याय चतुष्टयात्मक ब्रह्ममीमांसा-शास्त्र की रचना की है। उनमें से दृग्दृश्यान्वय-व्यतिरेकरूप प्रथम तर्क का अनुसरण करके ब्रह्मसूत्रकार ने 'समन्वय' नामक प्रथम अध्याय में श्रुतियों का अद्वैत ब्रह्म में समन्वय दिखाया है। प्रधान (प्रकृति) दृश्य है और उक्त तर्क से दृश्य के मिथ्यात्व का निश्चय है, इसलिए प्रधान जगत् का मूलकारण है, इस प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है—इसका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से आचार्य ने कथन किया है। इसी प्रकार 'अविरोध' नामक द्वितीय अध्याय में प्रधानता से द्वितीय तर्क का अनुसरण करके द्वैतदर्शनों का निराकरण किया है, क्योंकि सब द्वैतदर्शन भेदमूलक हैं और भेद स्वयंप्रकाश नहीं, किन्तु परप्रकाश है। इसलिए भेद का कोई साक्षी है—यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि भेद की सत्ता में साक्षी ही तो प्रमाण हो सकता है। अतः भेद साक्ष्य है और साक्ष्य पदार्थ उक्त तर्क से मिथ्या है, यह सिद्ध हो चुका है, इसलिए भेद मिथ्या है। वैसे ही 'साधन' नामक तृतीय अध्याय में प्रधानता से तृतीय तर्क का अनुसरण करके मोक्ष के साधनों का विचार किया है। अन्तरङ्ग-बहिरङ्गरूपी साधनों का उपयोग तभी हो सकता है, यदि वैराग्य हो। वैराग्य विषयों में दोषदर्शन से स्थिर होता है। सब दोषों में से मिथ्यात्व मुख्य दोष है। शब्द-स्पर्शादि आगमापायी सकल पदार्थों के मिथ्यात्व का निश्चय उक्त तर्क से होता है। जब मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, तब विषयों में आसक्ति शिथिल हो जाती है। उस समय श्रवणादि साधनों का उपयोग होता है। इसी प्रकार 'फल' नामक चतुर्थ अध्याय में प्रधानता से चतुर्थ तर्क का अनुसरण करके मोक्षावस्था में सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप की सम्पत्ति फल बतलाया है। चतुर्थ तर्क से जब दुःखित्वावस्था मिथ्या निश्चित हो जाती है, तब परमप्रेमास्पद आत्मस्वरूप की सम्पत्ति होती है—यह समझना चाहिये। 'वेदान्तकल्पलतिका' श्रीमधुसूदन सरस्वती द्वारा ही रचित एक प्रकरण ग्रंथ है जिसमें अद्वैतसिद्धांत के अनेक रहस्यों पर चिंतन उपलब्ध है। इस प्रकार क्रमप्राप्त सुषुप्ति का लक्षण और सुषुप्ति-अवस्था में परस्पर से असम्बद्ध अविद्या की तीन वृत्तियों का उपपादन करके और उसके प्रसङ्ग से प्रमाज्ञान अन्तःकरण की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राज्ञः

तदेवं सुषुप्त्यवस्थायामस्त्यानन्दभोगः। तद्भोक्ता च सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञ इत्युच्यते; प्रकर्षेण अज्ञत्वात्, तदानीं विशेषावच्छेदाभावेन प्रकृष्टज्ञत्वाद्वा। तदा चाऽन्तःकरणस्य लयेऽपि तत्संस्कारेणावच्छेदान्न जीवाभावप्रसङ्गः। न वा सर्वज्ञत्वापत्तिः।

इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में आनन्द का उपभोग[1] है। उक्त आनन्द का उपभोग करनेवाला[2] सुषुप्ति-अवस्था का अभिमानी जीव अत्यन्त[3] अज्ञ होने के कारण; या सुषुप्ति में सुखाकार, अज्ञानाकार आदि तीन वृत्तियों से अन्य विषयविशेष का अवच्छेद न होने से प्रकृष्ट ज्ञानवान् होने के कारण; प्राज्ञ[4] कहलाता है।

वृत्ति है और प्रमाभिन्न सब ज्ञान अविद्या की वृत्ति हैं, यह उपपादन करके अब सुषुप्ति-अवस्था के अभिमानी जीवात्मा के स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं—'तदेवम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

१. आनन्द-भोग = सुखाकारवृत्ति। २. उसका आश्रय। ३. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में क्रम से अज्ञान की वृद्धि होती है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है। पक्षान्तर कहते हैं—'तदानीं' इस ग्रन्थ से। ४. 'प्रज्ञ' को ही 'प्राज्ञ' कहते हैं। यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय है। रज्जु में रज्जु के स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले सर्पाभास की अपेक्षा केवल रज्जु के स्वरूप का अज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे भय, स्वेद और कम्प नहीं होते। साथ ही जिस पुरुष को केवल रज्जु के स्वरूप का अज्ञान ही है, उसको यदि कोई दूसरा पुरुष कह दे कि यह रज्जु है, तब उसी समय रज्जु के स्वरूप का अज्ञान अनायास नष्ट हो जाता है। किन्तु जिसको रज्जु में सर्प का भ्रम है, उस पुरुष को रज्जु के स्वरूप का ज्ञान करवाने के लिए उसका भ्रम भी दूर करना पड़ता है, क्योंकि रज्जु का स्वरूप सर्परूप अविद्या के परिणामविशेष से ढका हुआ है। वस्त्रधारी पुरुष की अपेक्षा दिगम्बर पुरुष शीघ्र स्त्री का वेष धारण कर सकता है। ऐसी दशा में सुषुप्ति-अवस्थावाला प्रत्यक् आत्मा आत्मस्वरूप के ज्ञान में जाग्रत् जीव की अपेक्षा बहुत निकटवर्ती है, यह भाव है। किञ्च, सुषुप्ति-अवस्था में यद्यपि त्रिपुटी होती है, क्योंकि सुख साक्षिभास्य है, तथापि उस त्रिपुटी का त्रिपुटीस्वरूप से भान नहीं होता। क्योंकि साक्षी को सुखवृत्तियों का सम्बन्ध उस समय विद्यमान होता हुआ भी अकिञ्चित्कर है। कारण, सम्बन्ध करानेवाला अहङ्कार सुषुप्ति-अवस्था में लीन हो चुका है—यह पहले कह चुके हैं। इसलिए ऐसी त्रिपुटी का, जो पहले ही त्रिपुटीरूप से प्रतीत नहीं होती, उच्छेद करना सहज है। जैसे कन्या की जीवित-अवस्था में मूर्ख भी जामाता छोड़ा नहीं जा सकता, कन्या के मर जाने पर उसको छोड़ना कुछ भी कठिन नहीं होता ! प्रश्न—जीव को जीवत्व देनेवाली उपाधि अविद्या अथवा अन्तःकरण है, ये दो पक्ष पहले कहे जा चुके हैं। अविद्या जीव की उपाधि है, इस पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था में भी अविद्या का विलय न होने से मोक्षपर्यन्त जीवभाव बना रहता है। अन्तःकरण जीव का उपाधि है, इस पक्ष में तो सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण का विलय होने से जीवभाव नहीं रहता, प्रत्युत जैसे प्रतिबिम्बवाद में दर्पणरूपी उपाधि का नाश होने पर प्रतिबिम्बभाव से रहित होकर मुख केवल बिम्बरूप ही रहता है, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण के विलीन होने पर, प्रतिबिम्बभाव से रहित होने पर, चैतन्य केवल बिम्बभूत ईश्वरस्वरूप ही है। इसलिए उस समय जीव में सर्वज्ञता होनी चाहिये। अवच्छेदवाद में भी जैसे मठान्तर्वर्त्ती घटाकाश घट का नाश होने पर मठाकाशस्वरूप ही हो जाता है, वैसे ही अविद्यापरिणामभूत अन्तःकरण से अवच्छिन्न चेतन अन्तःकरण का नाश होने पर अविद्यावच्छिन्न चैतन्य स्वरूप ही है। अवच्छेदवाद में वही ईश्वर है, इसलिए उसका जीवभाव न रहने से सुषुप्ति अवस्था में सर्वज्ञता होनी चाहिये, यह दोष अवच्छेदवाद में भी तदवस्थ है। उत्तर देते हैं—'तदा च' इत्यादि ग्रन्थ से। विवरण पृ. १६१-२ में यह सन्दर्भ प्रकाशित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईशाभेदप्रतिपादनं च शरीरेन्द्रियाद्यभिमानरहितत्वेनोपचारात्। तत्संस्कारस्य च निमित्तकारणत्वेन साक्ष्याश्रितकार्योपादानकोटावप्रवेशान्न तद्भेदेन साक्षिभेदः।

उस समय अन्तःकरण[1] के लीन हो जाने पर भी अन्तःकरण के संस्कार का सम्बन्ध होने से जीव के अभाव का प्रसङ्ग नहीं होता और सर्वज्ञत्वापत्ति भी नहीं होती। सुषुप्ति में 'सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुति द्वारा ईश्वर का[2] अभेद प्रतिपादित हुआ है, वह शरीर, इन्द्रिय आदि के अभिमान न रहने के कारण औपचारिक है। अन्तःकरण के संस्कार[3] स्मृति में निमित्तकारण हैं। साक्षिमात्र के आश्रित होने के कारण स्मृतिरूप कार्य के उपादान-कोटि में प्रवेश न होने से संस्कारों के भेद से भी साक्षी का भेद नहीं हुआ।

---

१. यद्यपि सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण नहीं है, तथापि अन्तःकरण के संस्कार अविद्या में विद्यमान हैं। उन संस्कारों से अवच्छिन्ना ही अविद्या सुषुप्ति-अवस्था में जीव की उपाधि है। जैसे दग्ध रज्जु बन्धन में असमर्थ होती हुई भी सम्वलन (ऐंठन) के संस्कार का त्याग नहीं करती, वैसी ही स्थिति सुषुप्ति में अविद्या की है, यह भाव है। प्रश्न—इस प्रकार सुषुप्ति में जीवभाव के स्थिर होने पर 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६। ८। १) इस श्रुति में सुषुप्ति-अवस्था में जीव का ईश्वर से जो अभेद प्रतिपादन किया है, वह असङ्गत होगा ? इसपर उत्तर देते हैं—'ईशाभेद० इस ग्रन्थ से। २. सुषुप्ति-अवस्था में उक्त रीति से जीवत्वप्रापक अविद्यारूपी उपाधि के विद्यमान होने से उस काल में वस्तुतः जीव का ईश्वर के साथ अभेद नहीं होता, किन्तु उस समय केवल ईश्वर की तरह जीव में शरीर के अभिमान का अभाव होता है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में श्रुतियों में प्रतिपादित जीव-ईश्वर का अभेद गौण है। जैसे अधिक सम्पत्ति होने पर, 'यह पुरोहित राजा बन गया है' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में जीव और ईश्वर की एकता भी समझनी चाहिये। जाग्रदवस्था में भी अन्तःकरणरूपी उपाधियों के भेद से ही जीव-ईश्वर का भेद है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण की तरह उन अन्तःकरणों के अविद्यागत नाना संस्कार विद्यमान हैं। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में भी औपाधिक भेद विद्यमान है। जीवत्वप्रापक उपाधि अविद्या है, इस पक्ष में तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जीवेश्वर का अभेद अभीष्ट ही है। प्रश्न—सुषुप्ति-अवस्था में संस्कारों की सत्ता को स्वीकार करने पर तादृश संस्कारों के अनुरूप ही 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मृति होती है, यह अङ्गीकार करना होगा, क्योंकि स्मरण आदि संस्कार के अनुरूप हुआ करते हैं—यह प्रसिद्ध ही है और स्मृति, संशय, विपर्यय इनका आश्रय साक्षी है, यह पहले कह चुके हैं। ऐसी दशा में जैसे प्रातिभासिक रजत अपने आश्रयीभूत शुक्ति के स्वरूप के अन्तर्गत जो शुक्ति का आकार है, उसके अनुरूप ही देखा जाता है, वैसे ही यहाँ पर स्मृति आदि स्वाश्रयीभूत साक्षी के स्वरूप के अन्तर्गत संस्कारों के अनुरूप ही हैं, यह कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संस्कार यदि साक्षी के स्वरूप के अन्तर्गत हों, तो संस्कारों के नानात्व से साक्षी के भेद का प्रसङ्ग होगा। साक्षी का भेद तो इष्ट नहीं है, क्योंकि साक्षी एकविध ही है, यह पहले कह चुके हैं। ऐसी दशा में यहाँ व्यवस्था कैसे होगी ? ऐसी शङ्का करने पर उत्तर देते हैं—'तत्संस्कारस्य च' इत्यादि ग्रन्थ से। ३. साक्षी के आश्रित जो स्मरणादि कार्य हैं, उनके उपादान-कारणस्वरूप, यह अर्थ है। भाव यह है कि संस्कारादि उपाधि के सन्निहित भी साक्षी चिन्मात्ररूप ही है, उपाधिविशिष्ट नहीं। स्मरण का उपादान-कारण साक्षिमात्र है, यह वार्तिककार का मत है। दूसरे आचार्य यह मानते हैं कि साक्षी चिन्मात्र ही है, स्मरण तो साक्षी और अन्तःकरण-संस्कार इन दोनों के आश्रित रहता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि स्मरण तो साक्षीमात्र में ही रहता है। साक्षी का स्वरूप अन्तःकरणसंस्कारविशिष्ट चैतन्य है। इनमें से वार्तिककार ही का मत समीचीन है। इतर दोनों मतों में अन्तःकरण के संस्कार स्मरण के आश्रय कहे हैं, यह सम्भव नहीं, क्योंकि स्मरण मूलाविद्या का वृत्तिविशेष है और मूलाविद्या के परिणामभूत अन्तःकरण-संस्कार उसके आश्रय हैं, ऐसा कहने पर आत्माश्रय-दोष होता है। किञ्च, अन्य मत में संस्कारों का साक्षी के स्वरूप में प्रवेश ही नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार साक्ष्य हैं। अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जागरणे त्वन्तःकरणस्य प्रमात्राश्रितकार्योपादानकोटौ प्रवेशात्तद्भेदेन प्रमातृभेद एव। साक्षिण एव चाधिकोपाधिविशिष्टस्य प्रमातृत्वान्नानुसन्धानानुपपत्तिरिति।

'मातृमानप्रभेदेऽपि प्रतिदेहं न भिद्यते।
साक्षी बाह्यार्थवद् यस्मात्स आत्मेत्युच्यते ततः।।

जागरण[1] में तो अन्तःकरण का प्रमाता में रहनेवाले स्मरणरूपी कार्य के उपादानकोटि में प्रवेश है, इसलिए अन्तःकरण के भेद से प्रमाताओं का भेद ही है। मनःस्वरूप उपाधि से विशिष्ट साक्षी[2] ही प्रमाता है। अतः स्मरण की कोई अनुपपत्ति नहीं हुई। 'प्रत्येक देह में प्रमाता[3] एवं प्रमाण का भेद

मत भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्मरण वृत्तिविशेषविशिष्ट अविद्या में चैतन्य के स्फुरण को कहते हैं। स्फुरण का आश्रय चैतन्यमात्र है। क्योंकि जडवस्तु मूर्त्त हो अथवा अमूर्त, धर्म हो अथवा धर्मी, किसी भी अवस्था में स्वयं स्फुरित नहीं होती। एक ही चैतन्य का सर्वत्र तत्तद् घटादिरूप से स्फुरण होता है। स्मरणावस्था में संस्कारों का प्रकाश कभी नहीं होता। संस्कार तो केवल अविद्या की वृत्ति के ग्रहण में कारणमात्र हैं, एतावता संस्कार कथमपि स्फुरण के आश्रय नहीं हो सकते। इतने प्रबन्ध से स्मरणरूप 'कार्यभूत' अविद्यावृत्ति का उपादान-कारणरूप आश्रय केवल साक्षी ही है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में जीवभेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है, यह सिद्ध हो गया। प्रश्न—संस्कार स्मृति के निमित्तकारण हैं, ऐसा मानने पर स्मरणरूपी कार्य संस्कारों के स्वरूप के अनुसार कैसे हो सकता है ? क्योंकि घट अपने निमित्तकारणभूत दण्ड में रहनेवाली स्थूलता अथवा कृशता का अनुसरण नहीं करता। स्मरण तो संस्कारों के अनुरूप हुआ करता है, संस्कारों को निमित्त मानने में वह उनके अनुरूप नहीं हो सकता। उत्तर—स्मरणरूप अविद्या-वृत्ति का उपादान-कारण विवर्त्तोपादान और परिणामी उपादान के भेद से दो प्रकार का है। प्रथम साक्षीमात्र है और द्वितीय अविद्या है। संस्कार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हुए भी तादृश अन्तःकरण की मूलकारणीभूत अविद्या में पर्यवसन्न होते हैं, यह कहा है। ऐसी दशा में परिणामी उपादानकारणीभूत अविद्यागत संस्कारों के स्वरूप का अनुसरण स्मरणरूपी कार्य के लिए युक्त ही है। प्रश्न—इस दशा में 'संस्कारों का कार्य की उपादानकोटि में प्रवेश नहीं है' मूलकार की यह उक्ति असङ्गत होगी। उत्तर—यहाँपर कतिपय ग्रन्थकार कहते हैं कि मूलकार को उपादानपद से विवर्तोपादान विवक्षित है। दूसरे लोग कहते हैं कि संस्कारों के परिणामी उपादानकारणीभूत अविद्यागत होने पर भी संस्कार उपादानकारण के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं हैं, क्योंकि वार्तिककार के मत में भी घटोपादानकारणीभूत मृत्तिका में वर्तमान मृत्तिकात्वजाति उपादानकारण के स्वरूप में अन्तर्गत नहीं है, प्रत्युत अन्यथासिद्ध होने से मृत्तिकात्वजाति घट का निमित्तकारण भी नहीं है। प्रकृत में स्मरण के निमित्तकारणीभूत संस्कार उपादानकारण में रहते हुए अपने स्वरूप के अनुसार ही कार्य को उत्पन्न करते हैं। १. इन्द्रियवृत्तिकालीन अर्थोपलम्भ को 'जागरण' कहते हैं, वहाँपर घटादि पदार्थों का जो उपलम्भ है, वही प्रमाता में रहनेवाला कार्य है। वह उपलम्भ अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन है। इसलिए प्रमाता के उपाधिभूत अन्तःकरण का प्रमाज्ञान के उपादानभूत प्रमाता के स्वरूप में प्रवेश आवश्यक ही है। ऐसी दशा में अर्थात् ही अन्तःकरण के भेद से प्रमाता का भेद सिद्ध होता है। प्रश्न—सर्वानुसन्धाता साक्षी तो एक है, प्रमाता जीव तो प्रत्येक शरीर में अन्तःकरण के भेद से भिन्न ही है। इस प्रकार प्रमाता ओर साक्षी का भेद सिद्ध है, तब प्रमाता से अनुभूत पदार्थ का साक्षी को स्मरण कैसे होता है ? क्योंकि अन्य से अनुभूत पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं हुआ करता। उत्तर देते हैं—'साक्षिण एव' इस ग्रन्थ से। २. अधिक उपाधि है वृत्तिसहित मन; इसलिए साक्षी और प्रमाता का सर्वथा भेद नहीं, किंतु चिन्मात्र साक्षी ही अधिक कञ्चुक में प्रवेश करने से प्रमाता बन गया है। उक्त अर्थ में वार्तिककार की सम्मति दिखाते हैं—'मातृमान०' इत्यादि ग्रन्थ से। संक्षेपशारीरक ३.१३२ में भी यह समझाया है। ३. मनुष्य, पशु, पक्षी आदि देहभेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यभिचारो मिथो यद्वत्प्रमात्रादेः ससाक्षिकः।
सर्वमात्राद्यभावस्य साक्षित्वान्न तथाऽऽत्मनः।।' (बृ० वा० ३। ४। ५४, ५५)

इति वार्तिककारपादैर्व्यवहारदशायामपि साक्षिभेदनिराकरणात् सुषुप्तौ तद्भेदकल्पनं केचिन्मन्यन्ते; तन्महामोह एवेत्यवधेयम्।

होने पर भी बाह्य घटादि के समान साक्षी का भेद नहीं होता, वह साक्षी आत्मा कहा जाता है। जैसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का परस्पर व्यभिचार ससाक्षिक है, वैसे ही आत्मा का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि आत्मा प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता के अभाव का साक्षी है।' इस प्रकार वार्तिककार महोदय ने व्यवहार-दशा में भी साक्षिभेद का निराकरण किया है, अतः सुषुप्ति में भी साक्षी के भेद की जो कल्पना करते हैं, यह उनका महामोह ही समझना चाहिये।

शङ्का[1]—कदाचित् किसीको 'दुःखमहमस्वाप्सम्' ऐसा स्मरण होने से क्या सुषुप्ति में दुःख का अनुभव भी होता है ? समाधान[2]—नहीं, सुषुप्ति में दुःख की सामग्री है ही नहीं इसलिए दुःख का अनुभव नहीं होता।

से और उनमें भी देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहभेद से प्रमाता और प्रमाण का भेद होने पर भी जैसे बाह्य घटादि पदार्थ का भेद नहीं हुआ करता, वैसे ही साक्षी का भी भेद नहीं होता। इस कारण साक्षी ही आत्मा कहा जाता है। 'अतति सर्वं व्याप्नोति' (सब में व्याप्त है)—यह आत्म-शब्द का निर्वचन है। जैसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इनका परस्पर भेद ससाक्षिक (साक्षिभास्य) अथवा अज्ञानावच्छिन्न साक्षिभास्य है, वैसे आत्मा और साक्षी का भेद ससाक्षिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण, प्रमाता आदि का और उनके अभावों का वह स्वयं साक्षी है, तो उसके भेद का साक्षी और कौन होगा? यह अर्थ है। प्रमाता और साक्षी के भेद का यदि कोई साक्षी हो तो उसका भी और साक्षी होना चाहिये। ऐसी दशा में अनवस्था दोष है। यदि कोई साक्षी नहीं है, तो साक्षी के भेद की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में भी साक्षी का भेद नहीं है, तो सुषुप्ति में साक्षी का भेद नहीं इसमें कहना ही क्या है। इस प्रकार जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहों का भेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है, वैसे ही जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है। किन्तु सर्वत्र सर्वज्ञ चिन्मात्ररूप एक ही साक्षी है, यह सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ-सन्दर्भ से सिद्ध हुआ कि 'वेदान्त-परिभाषा' में जो साक्षिभेद माना है, वह समीचीन नहीं है। १. जैसे जाग्रत्-अवस्था में जायमान 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण के अनुरोध से सुषुप्ति में सुखाकार अविद्यावृत्ति का अङ्गीकार करते हैं, वैसे ही कदाचित् जाग्रत्काल में जायमान 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण के अनुरोध से सुषुप्ति में दुःखाकार अविद्यावृत्ति की भी कल्पना करनी चाहिये, यह आशय है। २. सुषुप्ति-काल में देह का अभिमान नहीं है और मन का विलय हो चुका है, इसलिए बाह्य वैषयिक दुःख के अनुभव की सामग्री ही नहीं। यद्यपि इसी प्रकार बाह्य वैषयिक सुख के अनुभव की भी सामग्री सुषुप्ति-अवस्था में नहीं है; तथापि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३। ९। २८) 'आनन्द आत्मा' (तै० २। ५। १) इत्यादि श्रुतियों में आत्मा नित्य सुखस्वरूप कहा गया है और सुषुप्ति-अवस्था में कारण-देह से आन्तर सुख का भोग भी होता ही है। आत्मा नित्य सुखस्वरूप है, इसमें सुषुप्तिस्थ अनुभव भी प्रमाण है, यह बात वार्तिक में कही गयी है।

'स्वानन्दाभिमुखः स्वापे बोद्ध्यमानोऽत एव च। पीड्यते स्त्र्यादिसंपर्कसुखविच्छेदतो तथा।।'

(बृ. सम्बन्धवा०, श्लो० १०२१)

श्लोक का आशय यह है—'सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा स्वरूपानन्द के अभिमुख होता है, इसीलिए जगाने से पीडित होता है।' प्रश्न—इस प्रकार कदाचित् जायमान 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण की क्या गति होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'शय्यादेरिति' इस ग्रन्थ से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुषुप्तौ दुःखविचारः

ननु दुःखमहमस्वाप्समिति कस्यचित्कदाचित्परामर्शात् सुषुप्तौ दुःखानुभवोऽप्यस्तु? न; तदानीं दुःखसामग्रीविरहेण तदभावात्। सुखस्य चात्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। शय्यादेरसमीचीनत्वेन[1] च दुःखमित्युपचाराद् दुःखमहमस्वाप्समिति प्रत्ययोपपत्तिः।

अथवा[2] अवस्थात्रयस्यापि त्रैविध्याङ्गीकारात् सुषुप्तावपि दुःखमुपपद्यते। तथाहि—प्रमाज्ञानं[3] जाग्रज्जाग्रत्। शुक्तिरजतादिविभ्रमो जाग्रत्स्वप्नः। श्रमादिना स्तब्धीभावो[4] जाग्रत्सुषुप्तिः। एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः[5] स्वप्नजाग्रत्। स्वप्नेऽपि[6] 'स्वप्नो मया दृष्ट' इति बुद्धिः स्वप्नस्वप्नः। जाग्रद्दशायां[7] कथयितुं न शक्यते, स्वप्नावस्थायां च यत् किञ्चिदनुभूयते तत्स्वप्नसुषुप्तिः। एवं सुषुप्त्यवस्थायामपि सात्त्विकी या सुखाकारा[8] वृत्तिः सा सुषुप्तिजाग्रत्। तदनन्तरं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शः। तत्रैव[9] या राजसी वृत्तिः सा सुषुप्तिस्वप्नः। तदनन्तरमेव दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शोत्पत्तिः। तत्रैव या

सुख आत्मस्वरूप होने से नित्य है, अतः उसका अनुभव होता है। शय्या आदि के असमीचीन होने से दुःख होता है, अतः उपचार से 'दुःखमहमस्वाप्सम्' यह प्रतीति होती है।

अथवा तीनों अवस्थाओं को तीन-तीन प्रकार की मानने से सुषुप्ति में भी दुःख उपपन्न हो सकता है। प्रत्येक के तीन-तीन भेद ये हैं—प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान जाग्रत् में जाग्रत् है। शुक्ति में रजत-भ्रम आदि जाग्रत् में स्वप्न है। परिश्रम आदि से शरीर का स्तब्ध हो जाना जाग्रत् में सुषुप्ति है। ऐसे ही स्वप्न में मन्त्र

---

१. सुषुप्ति के पूर्व जाग्रत्-अवस्था के अन्त में शय्या की कठोरता से जो हस्त-पादादि अवयवों का सन्निवेशविशेष होता है, उससे जिस दुःख का अनुभव होता है, सुषुप्ति-अवस्था में उस दुःखानुभव की अनुवृत्ति का आरोप करके उक्त स्मरण का उपपादन करना चाहिये। वास्तविक दुःख की तो सुषुप्तिकाल में गन्ध भी नहीं है। अब बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ज्योतिर्ब्राह्मण में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने जो कहा है, उसके अनुसार पक्षान्तर कहते हैं—'अथवा' इत्यादि से। २. इन्द्रियवृत्तिकालीन अर्थोपलम्भ जागरण है, इन्द्रियवृत्ति के अभावकाल में वासनामात्र से पैदा हुआ पदार्थ का ज्ञान स्वप्न है और कारणमात्र से अर्थोपलम्भ सुषुप्ति है। ये तीनों अवस्थाएँ पदार्थों के त्रैविध्य से फिर प्रत्येक जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भेद से त्रिविध हैं, क्योंकि व्यावहारिक, प्रातिभासिक और अज्ञानमय इस प्रकार पदार्थ भी त्रिविध हैं। इस प्रकार संकलन (जोड़) से नौ अवस्थाएँ होती हैं—(१) जाग्रत्-जाग्रत्, (२) जाग्रत्-स्वप्न, (३) जाग्रत्-सुषुप्ति, (४) स्वप्न-जाग्रत्, (५) स्वप्न-स्वप्न, (६) स्वप्न-सुषुप्ति, (७) सुषुप्ति-जाग्रत्, (८) सुषुप्ति-स्वप्न और (९) सुषुप्ति-सुषुप्ति। ३. प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान, यह अर्थ है। ४. जिस अवस्था में अहमाकार-वृत्ति से भिन्न कोई वृत्ति नहीं होती, किन्तु अज्ञानविशेष की उपलब्धि होती है, वैसी अवस्था, यह अर्थ है। ५. यह मन्त्र व्यावहारिक सत्य होता है, जिसका जाग्रत् में भी उपयोग देखा जाता है। कोई सिद्ध पुरुष अथवा देवता स्वप्न में उपदेश करते हैं। जाग्रत् में भी उसका स्मरण बना रहता है। ६. जहाँ एक स्वप्न में अवान्तर स्वप्न का दर्शन होता है, वहाँ पर स्वप्नद्रष्टा को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, वही स्वप्न-स्वप्न है। ७. जैसे तूने वहाँ कौन-सा सुवर्ण का अलङ्कार देखा था ? देवदत्त के ऐसा प्रश्न करने पर यज्ञदत्त कहता है—मैंने सुवर्ण देखा था ऐसा तो स्मरण है, अमुक अलङ्कार था ऐसा स्मरण अब नहीं होता। यद्यपि सुवर्ण-दर्शन के समय अलङ्कार-दर्शन आवश्यक ही है, तथापि अलङ्कार का दर्शन सामान्य हुआ था, निरीक्षण नहीं हुआ था। इसलिए उससे संस्कार उत्पन्न न होने से संस्कारजन्य स्मृति नहीं होती। वैसे संस्कार का अजनक जो स्वप्न में अर्थोपलम्भ है, वह स्वप्न-सुषुप्ति है। ८. सुख आत्मस्वरूप है, इसलिए वह सत्य है। अतः आत्मस्वरूप सुख का जो उपलम्भ है, वह सुषुप्ति-जाग्रत् है। ९. राजसी वृत्ति से प्रातिभासिक दुःख का उपलम्भ सुषुप्ति-स्वप्न है। शय्यादि के असमीचीन होने से होनेवाले दुःख का सुषुप्ति में उपचार है, इस प्रथम पक्ष में और 'अथवा' इत्यादि से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

तामसी वृत्तिः सा सुषुप्तिसुषुप्तिः। तदनन्तरं गाढं मूढोऽहमिति परामर्शः, यथा चैतत् तथा वाशिष्ठवार्तिकामृतादौ स्पष्टम्।

सप्रणवमुपासनम्

एवमध्यात्मं[1] विश्वः। अधिभूतं विराट्। अधिदैवं विष्णुः। अध्यात्मं जाग्रत्। अधिदैवं पालनम्। अधिभूतं सत्त्वगुणः। एवमध्यात्मं तैजसः। अधिभूतं हिरण्यगर्भः। अधिदैवं

आदि की प्राप्ति स्वप्न में जाग्रत् है। स्वप्न में भी मैंने स्वप्न देखा, ऐसी बुद्धि स्वप्न में स्वप्न है। स्वप्नावस्था में जो कुछ अनुभव हुआ, यदि वह जाग्रत्-अवस्था में न कहा जा सके, तो वह स्वप्न में सुषुप्ति है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में भी जो सात्त्विकी सुखाकारा वृत्ति है, उसे सुषुप्ति में जाग्रत् कहते हैं। तदनन्तर 'सुखमहमस्वाप्सम्' ऐसा स्मरण होता है। वहाँपर जो राजसी वृत्ति होती है, वह सुषुप्ति में स्वप्न है। तदनन्तर ही 'दुःखमहमस्वाप्सम्' ऐसे स्मरण की उत्पत्ति होती है। वहाँपर जो तामसी वृत्ति है, वह सुषुप्ति में सुषुप्ति है। उसके पश्चात् 'गाढं मूढोऽहम्' ऐसा स्मरण होता है। जिस प्रकार यह प्रक्रिया है वह 'योगवासिष्ठ' (निर्वाण. सर्ग १६५) 'वार्तिकामृत' (४.३.१०५४) आदि में स्पष्ट है।

इस प्रकार विश्व अध्यात्म है। विराट् अधिभूत है। विष्णु अधिदैव है। अध्यात्म विश्व को अनुभूयमान जाग्रदवस्था अध्यात्म है। पालन अधिदैव है, सत्त्वगुण अधिभूत है। तैजस अध्यात्म है। हिरण्यगर्भ अधिभूत

उपपादित इस द्वितीय पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था में वस्तुतः दुःख नहीं है, यह तो समान ही है। विशेष इतना है कि प्रथम पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था से पूर्व विद्यमान दुःख के संसर्ग की सुषुप्ति में केवल कल्पना होती है और द्वितीय पक्ष में सुषुप्त्यवस्था में अपूर्व दुःख की कल्पना होती है। 'एवमस्मिन्मते' यहाँसे आरम्भ करके 'स्पष्टम्' एतदन्त प्रबन्ध से 'न जाग्रत्' इत्यादि अष्टम पद्य के अर्थ के प्रदर्शन के लिए पद्यघटक 'जाग्रत्' आदि पदार्थों का विवेचन हो गया। और वे सब पदार्थ अविद्यात्मक हैं, इसका भी उपपादन हो गया। अब प्रसङ्गवश अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत इनकी एकता के भावनापूर्वक उपासना का प्रकार दिखाते हैं—'एवमध्यात्मम्' इत्यादि से।

१. एक दृक्पदार्थ आत्मा ही पारमार्थिक है, उस आत्मा में अविद्या से कल्पित सब दृश्य पदार्थ प्रातीतिक एवं मिथ्याभूत हैं। ऐसी दशा में दृश्य के अवान्तर-भेद अव्याकृत आदि और उन उपाधियोंवाले ईश्वर आदि दृशि के भेद और सत्त्वादि गुणों के भेद से विष्णु, ब्रह्मा, रुद्ररूप भेद और उनके कार्य अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूप भेद और जाग्रत् आदि अवस्थाभेद—ये सब कल्पनामात्र शरीरवाले मिथ्याभूत ही हैं। इस प्रकार एकता की भावना करने से हिरण्यगर्भ-लोक की प्राप्ति होती है और अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा क्रम-मुक्ति होती है। उपाधि के विलय से एकता का साक्षात्कार होने पर तो साक्षात् सद्यः (उसी काल में) ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है—'अध्यात्मम्' यहाँपर आत्म-शब्द शरीरवाची है। शरीर यानी स्थूलशरीर, लिङ्गशरीर और कारणशरीर, इन सबमें अधिकार करके स्थित शारीर आत्मा और उसकी सब अवस्थाएँ भी 'अध्यात्म-शब्द' से कही जाती हैं। भूत यानी स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर इन सब भूतों में अधिकार करके स्थित अव्याकृत आदि पदार्थ और उनके सत्त्वादि गुण 'अधिभूत'-शब्द से कहे जाते हैं। दैव यानी सत्त्व, रज, तमोमय गुणवर्ग का अधिकार करके स्थित देवता और उनके कार्य 'अधिदैव'-शब्द से कहे जाते हैं। उनमें उद्भूत सत्त्वगुण, स्थूल जड समष्टि विराट्, सत्त्वप्रधान जाग्रदवस्था, सत्त्वप्रधान स्थूल-जड-व्यष्ट्यभिमानी विश्वरूप जीव और सात्त्विक-कार्य-पालनकर्तृ विष्णुदेवता यह एक समूह है। उद्भूत रजोगुण सूक्ष्म-जड-समष्टि हिरण्यगर्भ रजः प्रधान स्वप्नावस्था, रजःप्रधान सूक्ष्म-जड-व्यष्ट्यभिमानी तैजस नामवाला जीव और राजस-कार्य-सृष्टिकर्तृ ब्रह्मदेवता यह द्वितीय समूह है। उद्भूत तमोगुण सूक्ष्मतर अव्याकृत नामक जड-समष्टि, तमःप्रधान सुषुप्त्यवस्था, तमःप्रधान सूक्ष्मतर जड-व्यष्ट्यभिमानी 'प्राज्ञ' नामवाला जीव और तामसकार्य-प्रलयकर्तृ रुद्रदेवता यह तृतीय समूह है। ॐकार के अवयव अकार, उकार और मकार ये तीन वर्ण हैं। ये तीनों वर्ण क्रम से इन तीनों समूहों के वाचक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मा। अध्यात्मं स्वप्नः। अधिदैवं सृष्टिः। अधिभूतं रजोगुणः। एवमध्यात्मं प्राज्ञः। अधिभूतमव्याकृतम्। अधिदैवं रुद्रः। अध्यात्मं सुषुप्तिः। अधिदैवं प्रलयः। अधिभूतं तमोगुणः।

एवमध्यात्माधिभूताधिदैवानामेकत्वात् प्रणवावयवत्रयसहितानामुपहितानामेतेषामैक्योपासनया हिरण्यगर्भलोकप्राप्तिः, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा क्रममुक्तिश्च। एतत्सर्वोपाधिनिराकरणेन साक्षिचैतन्यमात्रज्ञानेन तु साक्षादेव[1] मोक्ष इति।

है। ब्रह्मा अधिदैव है। स्वप्न अध्यात्म है। सृष्टि अधिदैव है। रजोगुण अधिभूत है। इसी प्रकार प्राज्ञ अध्यात्म है। अव्याकृत अधिभूत है। रुद्र अधिदैव है। सुषुप्ति अध्यात्म है। प्रलय अधिदैव है। तमोगुण अधिभूत है। इस प्रकार ॐकार के अकार, उकार और मकाररूप अवयवों के सहित एकत्व से ज्ञात अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव की एकता की उपासना से हिरण्यगर्भलोक की[2] प्राप्ति होती है और अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा क्रममुक्ति होती है। उपास्य-उपासकरूप उपाधि के त्यागपूर्वक साक्षिचैतन्यमात्र के ज्ञान से तो साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति होती है।

इनकी एकता की भावना इस प्रकार करनी चाहिये—अकार वाचक और उसका वाच्य प्रथम समूह; वाच्य और वाचक का अभेद होने से वाच्य की अपेक्षा वाचक अकार के भेद से भावना का त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय समूह के वाचक उकार के वाच्य द्वितीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना त्यागनी चाहिये। इसी प्रकार मकार की भी तृतीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना का त्याग करना चाहिये। उसके अनन्तर प्रथम समूह की अपने कारणीभूत द्वितीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना का त्याग करना चाहिये; क्योंकि कार्य और कारण की एकता हुआ करती है। उसी प्रकार द्वितीय समूह की स्वकारणीभूत तृतीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना न करनी चाहिये और समूह में भी समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की भेद-भावना का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर आत्मा की एकता की भावना से अभ्यास से उत्तरोत्तर क्रम से मूर्त्त, अमूर्त्त और अव्याकृत इन सबके मिथ्यात्व का निश्चय होकर जब आत्मा की एकता का निश्चय दृढ हो जाता है, उस समय इस पुरुष के सब दोष दूर हो जाते हैं। तब सत्यलोक में जाकर शुद्धान्तःकरण प्रलय के समय में मूर्त्त, अमूर्त्त पदार्थों के विलय को तब प्रत्यक्ष देख लेता है, उस समय मिथ्यात्व का संस्कार अत्यन्त दृढ हो जाता है। उस समय निर्विकल्प अखण्ड ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार करके अव्याकृत में सर्वथा अभिमान का नाश हो जाने से प्राणी बन्ध से मुक्त हो जाता है। जैसे कोई कार्यार्थी पुरुष जाता हुआ मार्ग में रज्जु-सर्प को देखकर भय से लौटकर चलना बन्द कर देता है। जब कोई आप्त पुरुष कहता है कि 'सर्प नहीं है', उस समय आगे चलता तो है, परन्तु जबतक दूरत्वादि दोष बना हुआ है, तबतक धीरे-ही-धीरे चलता है। दूरत्वादि दोष के दूर हो जाने पर तो जब सर्प का विलय हो जाता है, तब रज्जु-साक्षात्कार से अभय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह समझना चाहिये। यह क्रम मुक्ति है। जिसको पूर्वपुण्यों के पुञ्जों के समूह के परिपाक से किसी दयालु ब्रह्मज्ञानी ने आत्मतत्त्व का उपदेश किया और उसी समय जिस पुण्यात्मा को आत्मज्योति का साक्षात्कार हो जाता है, उसको तो सद्यः (उसी क्षण) ही अविद्यामय, मूर्त्त, अमूर्त्त, अव्याकृतरूप सकल प्रपञ्च का युगपत् (एक ही काल में) ही विलय होने पर सद्योमुक्ति होती है, यह जीवन्मुक्ति है। यही कहते हैं—'एतत्सर्वोपाधि०' इति सन्दर्भ से।

१. प्रणवोपासना का अन्य उपासनाओं से वैशिष्ट्य 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण' (१.३.४) से सत्यार्पित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निष्कर्षः

तदेवं[1] त्रयाणामप्यवस्थात्रयसहितानां विश्वतैजसप्राज्ञानामविद्यात्मकत्वाद् दृश्यत्वेन च मिथ्यात्वादनुपहितः केवलः साक्षी तुरीयाख्योऽहमस्मीत्यर्थः। एवं व्यवहारतः सर्वव्यवस्थोपपत्तेः परमार्थतः कस्या अपि व्यवस्थाया अभावान्न काऽप्यनुपपत्तिः। विस्तरेणैतत् प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते।।८।।

साक्षिसत्यता

ननु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासहितानां त्रयाणामपि तदभिमानिनां मिथ्यात्वात्तत्साक्षिणोऽपि मिथ्यात्वं स्यादविशेषादित्याशङ्क्य; विशेषाभिधानेन साक्षिणः सत्यत्वमाह—

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिं अवस्थाओं से युक्त विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों अविद्यात्मक होने से दृश्य हैं, अतः मिथ्या हैं। इसलिए उपाधिरहित केवल 'तुरीय' नामक मैं हूँ, यह अर्थ हुआ। इस प्रकार व्यवहार से सब व्यवस्थाएँ हो जाती हैं। किन्तु परमार्थतः किसी भी व्यवस्था के न होने के कारण कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। इस बात का हमने 'वेदान्त-कल्पलतिका' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, इसलिए यहाँ पर हम विराम करते हैं।।८।।

शङ्का—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्थायुक्त जाग्रदादि अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों के मिथ्या होने से साक्षी भी मिथ्या होना चाहिये, क्योंकि मिथ्यापेक्षा, अविद्याजन्यत्व और दृश्यत्व दोनों स्थानों में समान[2] है। ऐसी शङ्का करके साक्षी में विशेषता[3] का अभिधान कर उसकी सत्यता सिद्ध करते हैं—

---

१. 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६।१४।२) इस न्याय से प्रारब्ध-कर्म की समाप्ति होने पर देहपात के अनन्तर विदेह-मुक्ति होती है, यह समझना चाहिये। इस प्रकार प्रकृत अष्टम श्लोक के पूर्वार्द्ध में स्थित जाग्रत् आदि पदार्थ के स्वरूप का विवेचन करके, प्रसङ्ग से उपासना और मोक्ष का प्रतिपादन करके अब श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं—'तदेवम्' इस सन्दर्भ से। २. जैसे जाग्रदादि अवस्थाएँ परस्पर व्यभिचारी होने से मिथ्या हैं, इसीलिए उनके अभिमानी विश्वादि को भी मिथ्या जाग्रदादि अवस्था की अपेक्षा होने से, मिथ्या कहा है। वैसे ही साक्षित्व भी साक्ष्य की अपेक्षा रखता है और साक्ष्य मिथ्या है, इसलिए मिथ्या साक्ष्य की अपेक्षा रखनेवाला साक्षी भी मिथ्या होना चाहिये, यह शङ्का का आशय है। ३. 'अतोऽन्यदार्त्तम्' (बृ० ३।४।२) इस श्रुति में साक्षी से व्यतिरिक्त सब पदार्थों के मिथ्यात्व के कथन से, यह अर्थ है। भाव यह है कि साक्षी का साक्षित्व यद्यपि साक्ष्यसापेक्ष होने से मिथ्या है, इसलिए साक्षित्वरूप से साक्षी के मिथ्या होने पर भी चिन्मात्रस्वरूप से वह मिथ्या नहीं है, क्योंकि सत्य और मिथ्या ये दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं। यदि मिथ्या से व्यतिरिक्त कोई सत्य न हो, तो मिथ्याभूत पदार्थ का मिथ्यात्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। प्रश्न—चिन्मात्रस्वरूप से विश्वादि को भी सत्य कहते हैं। उत्तर—विश्वादि का स्वरूप अन्तःकरणादि उपाधिविशिष्ट है, केवल नहीं है। इसलिए उपाधि के मिथ्या होने से उपाधिविशिष्ट सत्य कैसे हो सकता है ? प्रश्न—इस प्रकार भी विश्वादि के स्वरूप के अन्तर्गत चिन्मात्र सत्य है, तो जैसे चिन्मात्ररूप से साक्षी को सत्य कहते हो, वैसे ही चिन्मात्ररूप से विश्वादि भी सत्य होने चाहिये। उत्तर—विश्वादि के स्वरूपान्तर्गत जो चिन्मात्र है, उसीको साक्षी का सत्यस्वरूप कहते हैं, क्योंकि साक्षी ही अधिक कञ्चुक में प्रवेश करने से ईश्वरत्व और जीवत्व को प्राप्त हुआ है, यह पहले कह चुके हैं। वहाँपर सर्वकञ्चुकों के मिथ्या होने पर भी जिसने कञ्चुकों को ग्रहण किया है, कञ्चुकों के अन्तर्गत उस किसीको अवश्य सत्य मानना चाहिये, जो सर्वान्तर्गत है। उसीका 'साक्षी' शब्द से प्रतिपादन किया है, यह समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपि[1] व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात् स्वतःसिद्धभावादनन्याश्रयत्वात्।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।९।।

अपीति। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः[2]' (बृ० ३। ४। २) इति साक्षिणं प्रकृत्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३। ४। २) इति श्रुतेः साक्षिणोऽन्यत्साक्ष्यं सर्वं जगत्तुच्छम्, न तु साक्षी। बाधावधित्वाद्[3] भ्रमाधिष्ठानतया[4] ज्ञातत्वाच्च तद्बाधग्राहकाभावाच्च[5] इत्याद्यनुक्तसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः।

साक्षी से अन्य समस्त जगत् तुच्छ है। साक्षी तुच्छ नहीं है, क्योंकि वह व्यापक है, पुरुषार्थरूप है, स्वतःसिद्ध भाव-पदार्थ है, स्वतन्त्र है। एक अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इस श्रुति से साक्षी के प्रकरण में 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति से साक्षी से अतिरिक्त साक्ष्य समस्त संसार तुच्छ है, साक्षी तुच्छ नहीं। क्योंकि बाध का अवधि होने से, भ्रम का अधिष्ठान होने के कारण ज्ञात होने से, साक्षी के बाध के ग्राहक का अभाव होने से इत्यादि श्लोक में अनुक्त हेतुओं के समुच्चय के लिए 'अपि'-शब्द का उपादान है।

---

१. 'तदन्यत्' यहाँ 'तत्' शब्द से पूर्वप्रकृत सबके साक्षी तुरीय का परामर्श होता है। साक्षी से अन्य यह समस्त जगत् तुच्छ (मिथ्या) है, यह तृतीय पाद का अर्थ है। जगत् के तुच्छत्व में 'तदन्यत्' यह हेतुगर्भ विशेषण है और वह 'अतोऽन्यदार्त्तम्' (बृ० ३। ४। २) इस श्रुति को हृदय में रखकर कहा गया है। 'तदन्यत्' इससे कथित साक्षी का पर्युदास यद्यपि उक्त श्रुति से सिद्ध है; तथापि उसीको सिद्ध करने के लिए व्यापकत्वादि हेतु कहे हैं। 'अपि' शब्द से बाधावधित्व आदि का संग्रह करना चाहिये। २. लौकिकी रूपाभिव्यञ्जक दृष्टि के द्रष्टा (व्याप्ता) दृशिरूप साक्षी को तू नहीं देख सकता, अर्थात् वह साक्षी दृशि का कर्म नहीं। इसी साक्षी की अपेक्षा अन्य सब आर्त्त (विनाशी) मिथ्या है, यह अर्थ है। ३. जैसे 'नेदं रजतम्' कहने पर यदि रजत नहीं है तो क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर 'यह अमुक वस्तु है' यदि ऐसा उत्तर न दिया जाय, तो रजत का बाध ही सिद्ध नहीं होता। कारण जबतक बाध का अवधि अमुक पदार्थ है, यह नहीं जाना जाता, तबतक 'रजत है' यह भी सम्भावना हो सकती है। इसलिए बाध सर्वत्र सावधि है, यह सिद्ध होता है। निरवधि बाध का तो स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में बाध का अवधिभूत साक्षी बाधरहित सिद्ध होता है। साक्षी भी बाधित है, ऐसी यदि कल्पना करोगे तो उसके बाध की अन्य अवधि की कल्पना करनी होगी। ऐसी दशा में अनवस्था का प्रसंग होगा। ४. जैसे शुक्ति-रजत-भ्रम में अधिष्ठानभूत शुक्ति का शुक्तित्वविशेषरूप से ज्ञान यद्यपि भ्रम का विरोधी है, तथापि उसी शुक्ति का सामान्य इदन्त्वरूप से ज्ञान भ्रम के लिए आवश्यक ही है। क्योंकि गाढ अन्धकार में सामान्य इदंत्वरूप से शुक्तिरूपी अधिष्ठान का अज्ञान होने पर भ्रम नहीं हुआ करता। जो जगद्भ्रम का सामान्यरूप से ज्ञायमान अधिष्ठान है, वही साक्षी है। यदि उसे भी भ्रान्तिकल्पित कहोगे, तो उस भ्रम के अधिष्ठानभूत किसी अन्य की कल्पना करनी पड़ेगी, इसलिए अनवस्था का प्रसङ्ग है। ५. जैसे 'नेदं रजतम्' इस प्रकार असत्य रजत का बाध प्रतीत होता है, वैसे ही साक्षी के असत्य होने पर उसका बाध कहना होगा। किन्तु वह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि साक्षी का बाध विकल्प सहन नहीं करता। अर्थात् साक्षी के बाध का कोई साक्षी नहीं है, अथवा है ? प्रथम पक्ष में साक्षी के न होने से बाध अप्रमाण ही होता है। यही बात 'पञ्चदशी' में श्रीविद्यारण्य मुनि ने कही है—'बाधः किं साक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते।' (३। २९) बिना साक्षी के भी यदि वस्तु की सिद्धि हो, तो सर्वत्र अव्यवस्था होने से व्यवहार का ही लोप हो जायगा। बाध का साक्षी है, इस द्वितीय पक्ष में 'मैं मूक हूँ' इस कथन की तरह वदतो व्याघात होता है। जैसे यदि मूक है, तो कथन नहीं और कथन है, तो मूक नहीं, वैसे ही यदि बाध का साक्षी है, तो साक्षी का बाध नहीं और साक्षी का बाध है, तो साक्षी नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'अथ[1] यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः परिच्छिन्नत्वतुच्छत्वयोः समव्याप्तत्वात् परिच्छिन्नत्वनिवृत्त्या तुच्छत्वनिवृत्तिरित्याह—व्यापकत्वादिति। 'सर्वं[2] खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति सर्वात्मत्वोपदेशेन देशकालापरिच्छिन्नत्वात्। आकाशादीनां च देशकालपरिच्छिन्नत्वेऽप्यापेक्षिकमहत्त्वात्तेन व्यापकत्वोपचारात्।

मोक्षः पुमर्थः

ननु सर्वव्यापकत्वेन नित्यत्वाद्भावरूपत्वाच्चात्मा न दुःखनिवृत्तिरूपः। नापि सुखरूपः, सुखस्यानित्यत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वानुपपत्तेः। तथा चाऽऽत्मस्वरूपो मोक्षोऽपुरुषार्थ एव ? इत्याशङ्क्य; नेत्याह—हितत्वप्रयोगादिति। हितत्वम् पुरुषार्थत्वम्, 'तदेतत्प्रेयः[3] पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृ० १।४।८), 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।२३।१), 'एष एव परमानन्दः' (बृ० ४।३।३३), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (३।९।२८) इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य परमानन्दरूपत्वोपदेशात्।

'अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' इस श्रुति से परिच्छिन्नत्व और तुच्छत्व के समव्याप्त होने के कारण परिच्छिन्नत्व की निवृत्ति होने से तुच्छत्व की निवृत्ति हो सकती है, इस आशय से कहा—व्यापक होने से। अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सभी आत्मा है) इस उपदेश से आत्मा देश-काल से अपरिच्छिन्न है। आकाशादि यद्यपि देश-काल से परिच्छिन्न हैं, तो भी पृथिव्यादि की अपेक्षा महत्त्व होने से उनमें व्यापकत्व का व्यवहार लाक्षणिक है।

शङ्का[4]—सर्वव्यापक होने के कारण नित्य और भावरूप होने से आत्मा दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है। और सुखरूप भी नहीं है; क्योंकि सुख अनित्य है; अतएव वह नित्य आत्मस्वरूप नहीं हो सकता। तथाच दुःखनिवृत्तिरूप एवं सुखरूप न होने से आत्मस्वरूप मोक्ष अपुरुषार्थ ही है। समाधान—नहीं, आत्मा में पुरुषार्थत्व के प्रयोग से आत्मा पुरुषार्थ है। कारण 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा०', 'यो वै भूमा०'[5], 'एष एव पर',[6] 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि श्रुतियों से उसमें परमानन्दरूपत्व का उपदेश है।

१. छान्दोग्य के सप्तम अध्याय के चौबीसवें खण्ड में 'यत्र नान्यत्पश्यति स भूमा यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' यह कहा है। भूमा=व्यापक। अल्प=अव्यापक या परिच्छिन्न। अमृत=अविनाशी। मर्त्य = विनाशी। 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' इस श्रुति से 'जो-जो परिच्छिन्न है, वह-वह विनाशी है' यह व्याप्ति कही जाती है। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इस पूर्ववाक्य से 'जो-जो अपरिच्छिन्न है, वह-वह अविनाशी है' यह व्याप्ति सिद्ध होती है।
२. 'खलु' यह अव्यय वाक्यालङ्कार में अथवा निश्चय-द्योतन में प्रयुक्त होता है। 'यह सब ब्रह्म ही है' यह श्रुत्यर्थ है। 'बृहत्' याने व्यापक होने से इसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। इस श्रुति में असङ्कुचितार्थक 'सर्व'-शब्द से चतुर्दशभुवनात्मक सब देशों और भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानात्मक सब कालों का संग्रह है। इस प्रकार देश-काल से व्यापक वस्तु देश-काल से अपरिच्छिन्न ही सिद्ध होती है। तथा च साक्षी अपरिच्छिन्न, अविनाशी ब्रह्मरूप होने से सत्य सिद्ध होता है।
३. वह यह साक्षी आत्मा पुत्र से भी, हिरण्यरत्नादि धन से भी प्रियतर है। वैसे ही लोक में पुत्र, धन आदि की अपेक्षा अधिक प्रियत्वेन प्रसिद्ध जो शरीरादि हैं, उनसे भी यह साक्षी आत्मा प्रियतर है, क्योंकि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा आन्तर पदार्थ अधिक प्रिय हुआ करता है। आत्मा तो आन्तरों का भी आन्तर है, क्योंकि 'अतति सर्वम् अन्तर्व्याप्नोति' इस निरुक्ति से आत्मा सर्वान्तर है—यह अर्थ है। ४. अब क्रमप्राप्त फलाध्याय के तात्पर्य का संग्रह करेंगे। ५. जो 'भूमा' (निरतिशय महान्) है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं, क्योंकि अल्प अधिक तृष्णा का हेतु है और तृष्णा दुःख का बीज है। इसलिए अल्प में सुख नहीं, किन्तु भूमा में ही सुख है, यह अर्थ है। ६. आत्मा आनन्दरूप होने से मोक्षस्वरूप है। अतएव सुख की इच्छावाले मुमुक्षु पुरुष आत्मस्वरूप मोक्ष की इच्छा करते हैं। इसीलिए मोक्ष पुरुषार्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्य च नित्यत्वेऽपि लोके धर्मजन्यतत्तदन्तःकरणवृत्तिव्यङ्ग्यतया तदुत्पत्तिविनाशोपचारः। अज्ञानव्यवहितस्य च तस्याप्राप्तस्यैव ज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्त्या प्राप्तिरिव भवतीति तदुद्देशेन मुमुक्षुप्रवृत्तेरुपपत्तिः। अध्यस्तस्य प्रपञ्चस्य दुःखस्वरूपस्याऽधिष्ठानत्वात् स एवाभावः इति दुःखाभावरूपत्वेनापि तस्य पुरुषार्थता।

ननु मोक्षे सुखं संवेद्यते न वा ? नाद्यः; तदानीं देहेन्द्रियाद्यभावेन तद्व्यञ्जकाभावात्। व्यञ्जकाभावेऽपि तत्संवेदनाभ्युपगमे संसारदशायामपि तथा प्रसङ्गात्। न द्वितीयः; अपुरुषार्थत्वापत्तेः, ज्ञायमानस्यैव तस्य पुरुषार्थत्वात्। अत एव शर्करातद्भोजिनोरिवेति वैष्णवंमन्यानामुद्गार इति चेत् ?

नेत्याह—स्वतःसिद्धभावादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वादित्यर्थः। यद्यपि संसारदशायामविद्यावृतस्वरूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते; तथापि विद्यया अविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव परमानन्दरूपेण प्रकाशत इति न व्यञ्जकापेक्षा।

उसके नित्य होने पर भी धर्मजन्य तत्-तत् अन्तःकरण की वृत्ति से अभिव्यक्त होने के कारण वृत्ति के नाश एवं उत्पत्ति से उसमें नाश एवं उत्पत्ति का व्यवहार होता है। पर वह मुख्य नहीं, लाक्षणिक है। अज्ञान का व्यवधान है, इसलिए वह अप्राप्त की तरह प्रतीत होता है; किन्तु ज्ञानमात्र से जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब हुए की तरह प्रतीत होता है। इसलिए प्राप्ति के उद्देश्य से मुमुक्षु की प्रवृत्ति बन सकती है। दुःखरूप प्रपञ्च का अधिष्ठान होने से वह आत्मा ही दुःखरूप प्रपञ्च का अभाव है; अतः दुःखाभावरूप होने से भी वह पुरुषार्थ है।

शङ्का—मोक्ष में सुख का ज्ञान होता है या नहीं ? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि मोक्ष में देह, इन्द्रिय आदि का अभाव होने से सुख का कोई व्यञ्जक नहीं है। व्यञ्जक के न होने पर भी मोक्ष-सुख के ज्ञान का अङ्गीकार करोगे, तो संसार-दशा में भी मोक्ष के सुख के ज्ञान का प्रसङ्ग हो जायगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञायमान ही सुख पुरुषार्थ हुआ करता है। उस दशा में मोक्षसुख अपुरुषार्थ हो जायगा। अतएव[1] 'शर्करा और उसके भोक्ता की तरह' यह वैष्णवंमन्यों (अपने को वैष्णव माननेवालों) का उद्गार है।

समाधान—नहीं, यह बात नहीं है। क्योंकि वह (सुख) स्वप्रकाश[2] ज्ञानरूप है। यद्यपि संसार-दशा में अविद्या से आवृत होने के कारण आत्मा परमानन्दरूप से ज्ञात नहीं होता; तथापि विद्या से अविद्या की निवृत्ति होने पर स्वप्रकाश होने के कारण स्वयं ही परमानन्दरूप से प्रकाशित होता है। इसलिए उसे व्यञ्जक की अपेक्षा नहीं है।

---

१. जीव-ब्रह्म की एकता को न सहन करते हुए द्वैतवादी माध्वसम्प्रदायी इस प्रकार कहते हैं। उनका मत है कि मोक्ष-अवस्था में जीव यदि ब्रह्मस्वरूप हो, तो ब्रह्म सुखरूप है, इसलिए उससे अभिन्न जीव भी सुखरूप होगा। ऐसी दशा में जीव को सुख का प्रकाश न होगा, क्योंकि उसे सुख का ज्ञान नहीं है। इसलिए मोक्ष-अवस्था में ब्रह्म-भेद ही से जीव की स्थिति है, ऐसा कहना चाहिये। तभी ब्रह्मस्वरूप सुख का जीव को ज्ञान हो सकता है। जैसे शर्करा खानेवाले को माधुर्य के ज्ञान से सुख होता है, शर्करा में मिली और शर्करारूप बनी मृत्तिका को वह सुख नहीं होता। रत्नावली में कहा है 'यथा शर्करा स्वरूपेण न सुखप्रकाशः, तत्प्रयोजकस्य शर्करासंवेदनस्य अभावात्; किन्तु तद्भोजिनस्तत्संवेदनवतः। एवं विष्णुभावापन्नस्य सुखरूपत्वेऽपि न सुखप्रकाशः; तत्संवेदनाऽभावात्; किन्तु तद्भेदेन अवस्थितस्य 'अयं विष्णुः सकलकल्याणगुणो मत्सेव्य' इति संवेदनवतः। तस्माद् विष्णुभावो न मोक्षः।' यों क्योंकि विष्णु की स्थिति जीवों से भी गयीबीती मानते हैं इसलिये वे वैष्णव नहीं केवल ढोंगी हैं यह भाव है। २. वैशेषिकों की तरह हम आत्मा को ज्ञान का आश्रय नहीं मानते, किन्तु वह ज्ञानस्वरूप ही है। इसलिए जीव को ज्ञानस्वरूप होने से उक्त शङ्काकलङ्क का अवकाश नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु सुखस्य स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेऽपि नाऽऽत्मरूपता, ज्ञानस्य धात्वर्थरूपतया क्रियात्वेन साश्रयत्वात्, जानामीति प्रतीतेर्ज्ञानमहमस्मीत्यप्रतीतेश्च। तथा च कथमद्वैतवादः? इत्याशङ्क्य; नेत्याह—अनन्याश्रयत्वादिति। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यादिश्रुतेः स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूप एवाऽऽत्मा। अन्तःकरणतादात्म्याध्यासेन च तद्वृत्तौ ज्ञानाध्यासात् जानामीति तदाश्रयत्वप्रतीतिः। धात्वर्थत्वमुत्पत्तिविनाशवत्त्वं चान्तःकरणवृत्तेरेवेति ज्ञप्तिरूपमुख्यज्ञानस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन अन्याश्रयत्वाभावान्न द्वैतापत्तिः। तेन ज्ञानसुखात्मक आत्मा सत्यस्तद्भिन्नं सर्वं जगदसत्यमिति सिद्धम्।।९।।

जगत्तुच्छता

ननु सर्वस्य जगतस्तुच्छत्वे तन्निषेधेनाऽऽत्मतत्त्वप्रतिपत्तिर्न स्यात्। न हि शशविषाणं निषिद्ध्यते ! क्वचित्प्रमितं क्वचिन्निषिद्ध्यत इति न्यायात्। तथा च निषेधानुपपत्त्यैव न जगत्तुच्छमिति ? नेत्याह—

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद् न वा केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि।।१०।।

अत्यन्ताऽभेदः

न चैकमिति। एकत्वसंख्यायोग्येकम्। तदपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वसंख्यायोगि द्वितीयम्। तत एकाभावे द्वितीयं कुतः स्यात् ? द्वितीयं च तृतीयादीनामुपलक्षणम्। ननु

शङ्का—स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप होने पर भी सुख आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान धात्वर्थ होने से क्रिया है, क्रिया कर्ता के आश्रित हुआ करती है; और 'जानामीति प्रतीतेः' मैं जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है, 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती। ऐसी दशा में अद्वैतवाद कैसे ? समाधान—नहीं, 'अनन्याश्रयत्वात्'। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानं', 'विज्ञानमानन्द०' इत्यादि श्रुतियों से स्वयंप्रकाश ज्ञान आनन्दरूप ही आत्मा है। और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञान का अध्यास होता है, इसलिए 'जानामि' इस रूप से ज्ञान की आश्रयता प्रतीत होती है। धात्वर्थता और उत्पत्ति-विनाशवत्ता अन्तःकरण की वृत्ति में अर्थात् वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य में ही है। अतः ज्ञप्तिरूप, चिद्रूप मुख्यज्ञान सर्वाधिष्ठान है, और किसीके आश्रित नहीं है। इसलिए द्वैत की आपत्ति नहीं। अतः ज्ञानसुखस्वरूप आत्मा सत्य है, उससे भिन्न सब जगत् असत्य है।९।।

शङ्का—समस्त जगत् के तुच्छ होने से उसके निषेध से आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं होगी। शश (खरगोश) के सींग का निषेध नहीं होता ! कहीं पर जिस वस्तु का यथार्थ ज्ञान हुआ है, उसीका कहीं निषेध होता है। ऐसी स्थिति में निषेध की अनुपपत्ति से ही जगत् तुच्छ नहीं है।

श्लोक से समाधान करते हैं—एक भी नहीं है, उससे अन्य द्वितीय कहाँ से होगा ? आत्मा में केवलत्व (एकत्व) भी नहीं है। अकेवलत्व (अनेकत्व) भी नहीं है। न शून्य है, न अशून्य है। अद्वैत होने से सब वेदान्तों से सिद्ध को मैं कैसे कहूँ ?

एक—एकत्वसंख्या जिसमें हो। द्वितीय—अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न द्वित्व संख्या वाला। एक के अभाव में द्वितीय कैसे होगा ? यहाँपर द्वितीय, तृतीय आदि का उपलक्षण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६। २। १) इति श्रुत्यैकत्वं प्रतिपाद्यते ? नेत्याह—न वा केवलत्वमिति। केवलत्वमेकत्वम्, तस्याविद्यात्मकत्वात्। यद्यात्मन एकत्वं श्रुत्या न प्रतिपाद्यते, तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणवशादनेकत्वमेव स्यादिति ? नेत्याह—न चाकेवलत्वमिति। अकेवलत्वमनेकत्वम्। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४।४।१९।) 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६। २। १।), 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २। ३। ६) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

तर्हि सर्वप्रतिषेधाच्छून्यमेव स्यादिति ? नेत्याह—न शून्यमिति। 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २। ६। १), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १। १), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६। २। १) इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६। ८। ७) इत्यादिश्रुतिभिः सत्यत्वप्रतिपादनात् सर्वाधिष्ठानत्वात् सर्वबाधावधित्वाच्च। तर्हि सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्मवदपि स्यात् ? नेत्याह—न चाशून्यमिति। एकमद्वितीयमिति पदद्वयेन सर्वभेदप्रतिषेधेऽप्येवकारेण धर्मधर्मिभावादिभेदप्रतिषेधात्।

शंका—'एकमेवा०' इस श्रुति से एकत्व का प्रतिपादन होता है। समाधान—आत्मा में एकत्व भी नहीं है, एकत्व अविद्यारूप है। शंका—यदि एकत्व आत्मा में श्रुति से प्रतिपादित नहीं है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणवश उसमें अनेकत्व होगा ? समाधान—नहीं, 'नेह[1] नानास्ति०', 'एकमेवाद्वि[2]०', 'अथात आदेश[3]' इत्यादि श्रुतियों से उसमें अनेकत्व भी नहीं है।

शंका—तब तो सबके प्रतिषेध से वह शून्य ही ठहरा। समाधान—नहीं, वह शून्य नहीं है। 'असन्नेव स भवति', 'सत्यं ज्ञान०', 'सदेव[4] सोम्य' इत्यादि उपक्रम करके, 'ऐतदात्म्यमिदम्[5]' इत्यादि श्रुतियों से सत्यत्व के प्रतिपादन से, सब भ्रमों के अधिष्ठान होने से एवं सब बाधों के अवधि होने से भी वह शून्य नहीं है। शंका—तो सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि धर्मवान् वह होगा ? समाधान—वह अशून्य (धर्मवान्) भी नहीं है। 'एकम्' और 'द्वितीयम्' इन दो पदों से सबका निषेध करने पर भी एवकार से धर्म-धर्मी के भेद का भी निषेध किया है। सबमें हेतु दिया—अद्वैत होने से। दो प्रकार को प्राप्त हुआ द्वीत कहलाता है। उसका भाव द्वैत है।

---

१. नाना (अनेक) इस ब्रह्म में कुछ भी अनेक नहीं है, यह अर्थ है। रत्नावल्याम्—''विनञ्भ्यां नानञौ न सह' (५. २. २७) इत्यनेन सूत्रेण नसहशब्दार्थे भेदादौ वर्तमानाभ्यां नानञ्प्रत्ययौ भवत इत्यर्थकेन नञ्शब्दात् स्वार्थिक-नाञ्प्रत्ययान्ताद् नानापदनिष्पत्तेः तस्य भेदार्थकत्वात्।' इति व्याख्यातम्। २. इस श्रुति में 'एकम्' पद का एकत्वसंख्या के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं, किन्तु एकत्व के विरुद्ध जो नानात्व है, उसके निषेध में तात्पर्य है। ३. अथ = सत्यस्वरूप के निर्देश के अनन्तर, जिस कारण साक्षिचैतन्य का ही अवशेष रहता है, इसलिए उस साक्षी का ही आदेश (निर्देश या कथन) किया जाता है। वह निर्देश क्या है ? इसके उत्तर में श्रुति कहती है—'नेति-नेति' से। शङ्का—'नेति-नेति' इस निर्देश से सत्य साक्षी ब्रह्म का निर्देश कैसे हो सकता है ? उत्तर—जहाँ प्रतियोगी-विशेष का निर्देश किये बिना न-शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ सबका निषेध सिद्ध होता है। नाम, रूप, कर्म, जाति, गुण आदि उपस्थित हैं। इनमें कोई भी विशेष सांक्षिचैतन्य ब्रह्म में नहीं है। इसलिए वह ईदृश (ऐसा) है, तादृश (वैसा) है—इस प्रकार उस सत्य साक्षी ब्रह्म का निर्देश नहीं हो सकता। अतः 'नेति-नेति' इस प्रकार निषेधरूप से श्रुति की प्रवृत्ति होती है। ४. हे सौम्य ! यह पुरोदृश्यमान सकल जगत् सृष्टि के पहले सत्-स्वरूप ही था। श्रुति में एक और अद्वितीय कहकर भी एव-शब्द जोड़कर आत्यंतिक अद्वैत का प्रतिपादन किया है। ५. 'एतत्' शब्द से प्रकरण-स्थित सत्-रूप ब्रह्म का परामर्श होता है। 'यह सब जंगत् ब्रह्मस्वरूप ही है और वह ब्रह्म सत्य है, वही आत्मा है और तू वही सत् ब्रह्म है'—इस प्रकार उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वत्र हेतुमाह—अद्वैतकत्वादिति। द्विधा इतं द्वीतम्, तस्य भावो द्वैतम्। तदुक्तं वार्तिके—'द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते[1]।' इति (बृ० वा० ४। ३। १९६) न विद्यते द्वैतं द्विधाभावो यत्र तदद्वैतमित्यक्षरार्थः, 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः' (बृ० ४। ३। ३२) इति श्रुतेः। प्रतियोगिज्ञानस्यैव लाघवेन अभावबुद्धौ कारणत्वात् द्वैतस्य चानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारेण च प्रत्यक्षादिवेद्यत्वान्निषेधोपपत्तिरित्यर्थः।

वार्तिक में कहा है—'दो प्रकार को प्राप्त वस्तु को 'द्वीत' कहते हैं। उसके भाव को द्वैत कहते हैं।' जिसमें द्वैत या द्विधाभाव नहीं है, वह 'अद्वैत' कहलाता है—यह अक्षरार्थ है। इस अर्थ में 'सलिल[2] एको द्रष्टा०' यह श्रुति प्रमाण है। लाघव से अभाव-बुद्धि में प्रतियोगी[3] के ज्ञान की कारणता है। द्वैत शश-शृङ्ग के समान असत् नहीं है, किन्तु सत्-असत्-विलक्षण होने से अनिर्वचनीय[4] है, यह बात हम पहले स्वीकार कर आये हैं। इसलिए उसके प्रत्यक्षादिवेद्य[5] होने के कारण उसके निषेध की उपपत्ति हो गयी।

१. इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—'तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते।' २. सलिल (जल) की तरह आचरण करनेवाला अर्थात् निर्मल। यद्यपि आत्मा वास्तव में दृक्रूप है, तथापि अविद्या के आधाराधेयभाव की कल्पना से लोक में सांसारिक पुरुषों से द्रष्टा समझा जाता है। सांसारिक पुरुषों को ही श्रुति ने बोध कराया है, इसलिए उनके अनुसार आत्मा के द्रष्टृत्व का अनुवाद करके उसका अद्रष्टापन से निषेध किया है। अथवा 'अद्रष्टा' ऐसा ही पदच्छेद करना चाहिये। इसमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि यह सुषुप्ति-अवस्थास्थित आत्मा के स्वरूप का वर्णन है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा निर्मल है। अविद्या और अविद्याजन्य प्रपञ्च ये ही आत्मा के मल हैं। सुषुप्ति-अवस्था में अविद्या शान्त हो जाती है, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा निर्मल रहता है। अविद्या के शान्त होने से ही आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थ के अदर्शन से आत्मा एक दृङ्मात्ररूप है। यहाँ निर्मलत्व-बोधन से विजातीय अन्य का राहित्य कहा जाता है। आत्मा के विजातीय हैं—अविद्या, अविद्याजन्य प्रपञ्च और आत्मगत धर्म। उनका निषेध होने से आत्मा में स्वगतभेदराहित्य और विजातीयभेदराहित्य सिद्ध हो गया। एक-पद से नाना आत्मवाद का निरास हो गया, इसलिए सजातीयभेदराहित्य भी सिद्ध हो गया—यही दृढ करने के लिए 'अद्वैत' यह उक्ति है। 'द्विधा इतम् = गतं द्वीतम्' (द्विप्रकारम्)—जैसे सैन्य द्विधाभूत होता है, वैसे ही पारमार्थिक नित्य वस्तु चित्-अचित् के भेद से द्विधाभूत है और चिद्वस्तु जीव-ईश-भेद से द्विधाभूत है। यह द्वैतवादियों का दर्शन है। द्वीत का भाव 'द्वैत' (द्विप्रकारत्व) है। ऐसा कोई भी द्वैत आत्मा में नहीं है, इसलिए आत्मा अद्वैत है, यह श्रुति का अर्थ है। सर्व-जगत् के मिथ्या होने पर वह कहीं भी प्रमाज्ञान का अविषय होने से प्रमित नहीं है, इसलिए उसका निषेध नहीं बन सकता; क्योंकि 'किसी स्थल में प्रमित (प्रमाज्ञान के विषय) का किसी स्थल में निषेध हुआ करता है' इस न्याय से शङ्का करके उत्तर में कहते हैं—'प्रतियोगिज्ञानस्यैव' से। ३. 'किसी स्थल में ज्ञात का किसी स्थल में निषेध हुआ करता है'—लाघव से न्याय का यह स्वरूप अङ्गीकार करना चाहिये। 'प्रमात्व' विशेषण देने में गौरव है। ४. जैसे शशशृङ्ग कालत्रय में भी विद्यमान न होने से तुच्छ है, वैसा जगत् तुच्छ नहीं है, किन्तु शुक्ति-रजतादिवत् अविद्याकल्पित या प्रातिभासिक है। शुक्ति-रजत-स्थल में 'रजत सत् है' यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस प्रतीति से उसका निषेध होता है। रजत असत् भी नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिकाल में 'इदं रजतमस्ति' इस प्रकार सत्रूप से प्रतीति भी होती है। जैसे प्रातिभासिक रजत सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है, वैसे ही यह सारा जगत् अनिर्वचनीय है, यह भाव है। उसमें विशेष इतना है कि शुक्ति-रजत तूला अविद्या का परिणाम है और जगत् है मूला-अविद्या का परिणाम। ५. शङ्का—यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से जगत् की सत्ता बोधित होती है, तो उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु मिथ्या नहीं हुआ करती। यदि प्रमाणसिद्ध है तो मिथ्या नहीं, मिथ्या है तो प्रमाणसिद्ध नहीं—इस प्रकार दोनों का विरोध है। उत्तर—विषय-भेद से एक ही जगत् में दोनों का विरोध नहीं है। प्रमाणों से व्यावहारिक सत्ता का बोधन होता है और पारमार्थिक सत्ता का अभाव होने से मिथ्यात्व है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्माऽविषयः

तर्ह्येतादृश आत्मा अङ्गुलिनिर्देशेनैव प्रतिपाद्यतामिति ? नेत्याह—कथं ब्रवीमि ! इति। किमाक्षेपे। अद्वैतकत्वेन वागविषयत्वात् 'अवचनेनैव प्रोवाच' (नृ० ता० उ० ७), 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २। ४। १), 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृ० ३। ४। १) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

शंका—इस प्रकार के आत्मा को अंगुलि के निर्देश से बताओ।

समाधान—अंगुलि के निर्देश से उसे कैसे कहूँ ? अद्वैत होने से वह वाणी[1] का अविषय है। इस विषय में 'अवचनेनैव[2] प्रोवाच', 'यतो[3] वाचो नि०', 'न[4] विज्ञा०' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

उसके वचनागोचर होने से वेदान्तों का ब्रह्म में प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो अविषय[5] आत्मा में भी तदाकारवृत्तिमात्र से उसकी अविद्या की निवृत्ति कर देने के कारण वेदान्तवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध है। अतः आत्माऽद्वैत सकल उपनिषदें सिद्ध करती हैं।

---

१. वाच्य-वाचकभावरूप द्वैत भी उसमें नहीं है, यह भाव है। २. ब्रह्म-जिज्ञासु शिष्य द्वारा पूछे गये गुरु ने अवचन से ही उस शिष्य को ब्रह्म का बोध कराया। ब्रह्म वाणी का अविषय है, इसलिए वाणी से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता, इस अभिप्राय से ब्रह्मज्ञानी होता हुआ भी गुरु चुप हो गया। बृहस्पति के सदृश प्रवक्ता ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी सद्भाव से प्रश्न करने पर भी गुरु कुछ उत्तर नहीं देता। इसलिए 'ब्रह्म ऐसा है या वैसा' इस प्रकार कथमपि कहा नहीं जा सकता। गुरु के इस अभिप्राय को जानकर शिष्य को ज्ञान हो गया कि 'ब्रह्म वाणी का अविषय होने से निर्विशेष है', यह श्रुति का अर्थ है। ३. वाक्, मन आदि सब जगत् के कारण जिस ब्रह्म से मनसमेत श्रुतिरूप सब वाणियाँ निवृत्त हो जाती हैं, वे श्रुतियाँ ब्रह्म को प्राप्त होकर उसका प्रतिपादन करके कृतकृत्य होकर निवृत्त होती हैं—इस कल्पना की व्यावृत्ति के लिए 'अप्राप्य' (न प्राप्त होकर) यह कहा है। क्योंकि ब्रह्म वाणी से कहा नहीं जा सकता और मन से उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, यह भाव है। ४. विज्ञाति (लौकिक बुद्धि-वृत्ति) के विज्ञाता (व्याप्त आत्मा) को तू नहीं जान सकता, यह श्रुत्यर्थ है। ५. 'पञ्चदशी' के तृप्तिदीप-प्रकरण में विद्यारण्य मुनि ने कहा है—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता। स्वयं-स्फुरणंरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते।।' (७। ९१-९२)

इसका अर्थ यह है—आत्म-भिन्न घटादि विषयों के प्रत्यक्षकाल में बुद्धि अपनी वृत्ति से घट को व्याप्त करती है और बुद्धिगत चिदाभास भी घट को व्याप्त करता है। उनमें से पहली 'वृत्ति-व्याप्ति' कही जाती है। उस वृत्ति-व्याप्ति से घटादिविषयगत अज्ञानजन्य आवरण का नाश होता है। चिदाभास की व्याप्ति को 'फल-व्याप्ति' कहते हैं। उस फल-व्याप्ति से घटादि विषय का प्रकाश होता है, क्योंकि जड होने से घटादि का स्वतः प्रकाश नहीं हो सकता। ब्रह्मसाक्षात्कार-काल में तो एक वृत्ति-व्याप्ति की ही अपेक्षा है, द्वितीय फल-व्याप्ति की अपेक्षा नहीं। क्योंकि जीव-ब्रह्म की एकता अज्ञान से आवृत है। उस अज्ञानकृत आवरण के नाश के लिए 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणभूत वेदान्त-वाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धिवृत्ति की व्याप्ति की तो अपेक्षा है। किन्तु आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः आत्मा के प्रकाश के लिए फलव्याप्ति की अपेक्षा नहीं। वहीं पर कहा है—

'स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत्। फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।।' (७। ९०)

आत्मासाक्षात्कार-काल में साक्षी स्वयंप्रकाश होता हुआ भी घट आदि की तरह बुद्धिवृत्ति से व्याप्त होता ही है। 'एतदप्रमयम्' (बृ० ४। ४। २०) आदि शास्त्रों में 'अप्रमेय' शब्द से प्रमाविषयत्व का जो निषेध है, वह फल-व्याप्ति ही का निषेध है, वृत्तिव्याप्ति का निषेध नहीं, यह अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'वागविषयत्वे वेदान्तानां कथं तत्र प्रामाण्यमिति चेद् ? अविषयेऽप्यात्मनि तदाकारवृत्तिमात्रेण तदविद्यानिवर्तकत्वादित्याह—सर्ववेदान्तसिद्धमिति।

तथा च श्रुतिः—

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।'

(केनोप० २। ३)

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।'

(केनोप० १। ५)

इत्यादिरविषयत्वमात्मनो दर्शयति। तदेवं वेदान्तवाक्यजन्याखण्डाकारवृत्त्या अविद्यानिवृत्तौ तत्कल्पितसकलानर्थनिवृत्तौ परमानन्दरूपः सन् कृतकृत्यो भवतीति सिद्धम्।।१०।।

उक्त विषय में 'यस्यामतं०'[1], 'यन्मनसा०'[2] इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा के अविषयत्व को[3] दिखाती हैं। इस प्रकार वेदान्त-महावाक्यों से उत्पन्न हुई अखण्डाकार-वृत्ति से अविद्या की निवृत्ति होने पर और अविद्या से कल्पित समस्त अनर्थ की निवृत्ति होने पर परमानन्दरूप होता हुआ कृतकृत्य होता है, यह बात सिद्ध हुई।।१०।।

---

१. 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' इत्याकारक ज्ञानवाला पुरुष ब्रह्म को जान सकता है और 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' इत्याकारक ज्ञानवाला पुरुष नहीं जान सकता—यह जो पूर्व में कहा है, उसपर कैसे विश्वास किया जाय ? क्योंकि विरोध है। इस शङ्का के निरास के लिए 'यस्यामतम्' आदि कहते हैं। जो विद्वान् ब्रह्म को अमत (ज्ञातृज्ञेयादिभाव से अनधिगत) समझता है, वह ब्रह्म में ज्ञातृज्ञेयादिभाव को न समझनेवाला ब्रह्मज्ञानी है। इसके विपरीत जो ब्रह्म में ज्ञातृ-ज्ञेयादिभाव समझता है, वह कर्तृकर्मादि भेदज्ञानवाला पुरुष वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता, क्योंकि ज्ञातृ-ज्ञेयादि द्वैत-बुद्धिवाले पुरुषों को ब्रह्म अविज्ञात है और ज्ञातृ-ज्ञेयादि द्वैतबुद्धि से रहित पुरुषों के लिए ब्रह्म यथार्थरूप से ज्ञात है। कारण यह ब्रह्मज्ञान निर्विकल्पक, निर्विशेष अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्काररूप स्वसंवेद्य है। त्रिपुटी के प्रतिभासकाल में उसकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए उक्त शङ्का का अवकाश नहीं है।

२. जिस वस्तु का मन से मनन (निश्चय) नहीं हो सकता, क्योंकि वह मन को भी मनन-सामर्थ्य देनेवाला है, उसके मनन करने में मन कैसे समर्थ हो ? प्रत्युत उस वस्तु से मन मत (अपने व्यापार में समर्थ) होता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। उसीको तू ब्रह्म समझ। एवकार से व्यवच्छेद्य (निषेध के योग्य) पदार्थ को श्रुति ही स्पष्ट करती है—'नेदम्' इत्यादि से। लौकिक जन जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं, क्योंकि उपास्य वस्तु मनोगम्य और भेदभाव से युक्त होती है। ब्रह्म वैसा नहीं, यह अर्थ है। इस प्रकार अद्वैत परमात्मा प्रमा का विषय नहीं है। इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्यों का अविद्याकृत आवरण की निवृत्ति में उपयोग सिद्ध होता है। ३. गौडस्वामिनः 'चिद्रूपस्यैव मुख्यज्ञानरूपत्वेन तदीयसम्बन्धस्यैव मुख्य-'विषयता'-रूपत्वेन तत्सामान्याऽभावं फलविषयत्वनिराकरणद्वारा दर्शयति। वृत्तेः आकाराख्य-सम्बन्धस्तु न मुख्य-'विषयता', इति तस्य ब्रह्मणि स्वीकारेऽपि न विरोध इति भावः।' इति व्याचक्षते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समङ्गलं ग्रन्थसमाप्तिः

न स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध।
विनापि तैः संग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च।।१।।
लघुरपि बह्वर्थवहश्चिन्तामणिरिव निबन्धोऽयम्।
मधुसूदनेन मुनिना विहितो गुणिनां विनोदाय।।२।।
यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद् गुरोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि।।३।।
बहुयाचनया मयायमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः।
यददुष्टमिहास्ति यच्च दुष्टं तदुदाराः सुधियो विचारयन्तु।।४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविश्वेश्वरभगवत्पादशिष्य-श्रीमन्मधुसूदनमुनि-वरविरचितः

सिद्धान्तबिन्दुः समाप्तः।

मैं उन महर्षि व्यासदेव की स्तुति नहीं करता, जिन्होंने सूत्रों से भी अशेष पदार्थों का ग्रथन नहीं किया है। उन सूत्रों के बिना भी जिन्होंने सकल पदार्थों का संग्रथन किया, उन शङ्कर भगवान् एवं आचार्य सुरेश्वर को नमस्कार करता हूँ।[1]।१।।

लघु होता हुआ भी चिन्तामणि की[2] तरह बहुत पदार्थों को धारण करनेवाला यह निबन्ध मधुसूदन मुनि ने गुणियों के विनोद के लिए रचा है।।२।। इसमें जो कुछ समीचीनता है, वह तो गुरु की ही है, मेरी नहीं। और जो कुछ असमीचीनता है वह मेरी ही है, गुरु की नहीं[3]।।३।। बहुत प्रार्थना से यह अल्प निबन्ध मैंने 'बलभद्र' के लिए[4] रचा है। इसमें जो अदुष्ट है और जो दुष्ट है, उदार पण्डित उस पर विचार करें।।४।।

---

१. व्यासजी ने सूत्रों की सहायता से भी सब पदार्थों का सम्यक् ग्रथन नहीं किया। भाष्य-वार्त्तिककारों ने तो सूत्रों की सहायता के बिना ही सर्वपदार्थों का सम्यक् ग्रथन किया, यह व्यतिरेक-ध्वनि है। सूत्र-शब्द धागा और संग्रहवाक्य दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः श्लेषमूलक व्यतिरेकालंकार यहाँ रत्नावली में बताया है। वास्तव में सूत्रकार श्रीबादरायण भाष्य-वार्त्तिककारों के भी उपजीव्य होने से सकल आचार्यों से स्तुत्य हैं। इसलिए 'न स्तौमि' यह कथन 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रक्रमते, अपि तु स्तुत्यं स्तोतुम्' (क्योंकि निन्दा निन्द्य वस्तु की निन्दा के लिए नहीं की जाती, अपितु स्तुत्य की स्तुति करने के लिए की जाती है) इस न्याय से यह निन्दा भाष्य-वार्त्तिककारों की स्तुति के आधिक्य में पर्यवसन्न है। क्योंकि भाष्य-वार्त्तिककार निबन्धकारों के मार्गप्रदर्शक हैं। अथवा इस श्लोक का यह अर्थ करना चाहिए—जिन व्यासदेव ने सब पदार्थों का सूत्ररूप से सम्यक् ग्रथन किया, उन व्यासदेवजी की स्तुति नहीं करता यह नहीं, किन्तु स्तुति करता ही हूँ। स्तुति से नमस्कार का आक्षेप है। न केवल सूत्रकार को ही नमस्कार करता हूँ, किन्तु भाष्यकार और वार्त्तिककार को भी नमस्कार करता हूँ, यह अर्थ है। इस पक्ष में 'नञ्द्वय' का 'स्तौमि' के साथ अन्वय करने से दूरान्वय क्लिष्ट है। २. चिन्तितार्थप्रद मणिविशेष। अथवा नव्यन्यायका महान् ग्रन्थ 'चिन्तामणि' प्रसिद्ध है, उसीके समान प्रकृत प्रबन्ध है, इसमें अक्षर-स्वल्पतारूप विशेष भी है जो नैयायिकों में 'लाघव' नामक गुण माना जाता है। तात्पर्य है कि बिन्दुग्रंथ चिन्तामणि से भी बेहतर है। इसका गाम्भीर्य न्यायरत्नावली में प्रकाशित ही है। ३. चिन्तामणि से तुलना करना औद्धत्य नहीं वास्तविकता है यह स्पष्ट करने के लिये अपना अतिविनय प्रकट किया। ४. श्रीमधुसूदन सरस्वती का कृपापात्र सेवक ब्रह्मचारी बलभद्र नाम वाला था।

।। सटिप्पण सिद्धान्तबिन्दुभाषानुवाद सम्पूर्ण।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi